वेलि क्रिसन रुकमणी री

राठौड़ महाराज पृथ्वीराजजी कृत

अनुवादक

स्वर्गीय महाराज श्रीजगमालसिंहजी साहब

संशोधक तथा सम्पादक

ठाकुर रामसिंह, एम० ए०

पं० सूर्यकरण पारीक, एम० ए०

प्रयाग

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०

१९३१

प्राक्कथन

'वेलि' के किसी किसी दोहले का अर्थ समझने में यदि मुझे कठिनाई पड़ती अथवा कहीं शंका होती तो मैं विशेषत: स्वर्गीय श्रीरामदानजी चारण की और कभी कभी संस्कृत और डिंगल के ज्ञाता ठाकुर श्रीहनुमंतदानजी चारण, गेरसर, की सम्मति ले लिया करता था। बीकानेर में स्वर्गीय रामदानजी अपने ढंग के एक ही व्यक्ति थे। उनका व्यक्तित्व बहुत चमत्कारपूर्ण था। वह जन्मान्ध थे, उन्होंने किसी पाठशाला में शिक्षा नहीं पाई थी, तो भी उन्होंने अपने अथक परिश्रम, अदम्य उत्साह, अपूर्व स्मरणशक्ति और प्रकाण्ड बुद्धि के कारण संस्कृत साहित्य और दर्शन का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

राजस्थान के वीरत्वपूर्ण कथानक और गीत तो सदा उनकी जिह्वा पर रहा करते थे। डिंगल भाषा और आधुनिक राजस्थानी भाषा पर तो उनको जन्मसिद्ध अधिकार सा था। उनकी मानसिक आँखें खुल गई थीं— कुछ न देखते हुए भी वह सब कुछ देखते थे—वह प्रज्ञाचक्षु थे। ब्रजभाषा के भी वह एक अच्छे कवि और मर्मज्ञ थे। उनकी बातें सरसता, विनोद और वाक्चातुर्य से परिपूर्ण होती थीं। सभी प्रकृति के मनुष्य और विशेषत: सहृदय और साहित्यप्रेमी सज्जन उनसे मिलकर परम प्रसन्नता और आनन्द लाभ करते थे। जिससे उनकी एक बार बातचीत हो जाती वह उनको कभी नहीं भूलता और न वह ही कभी उसको भूलते। अपने इसी सौजन्य से प्रेरित होकर वह सदा मेरे यहाँ आते और मुझको 'वेलि' के सम्बन्ध में सम्मति और सहायता देकर प्रोत्साहित करते रहते थे।

मैं उनके इस उपकार को कभी नहीं भूल सकता। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दे।

जब मैं 'वेलि' के दोहलों का अन्वयार्थ, भावार्थ और शब्दार्थ अपनी बुद्धि के अनुसार लिख चुका तो मैंने श्रीमान् ठाकुर रामसिंहजी, एम० ए०, विशारद, और पंडित श्रीसूर्यकरणजी पारीक, एम० ए०, विशारद, को इसका पूर्ण अधिकार दे दिया कि वे अपनी इच्छा और सुविधा के अनुसार इसको घटा-बढ़ा कर, जैसा उचित समझें वैसा रूप देकर और इसका संशोधन और सम्पादन करके जहाँ और जैसा चाहें प्रकाशित करा दें। इन सज्जनों ने अपना अमूल्य समय लगाकर, बड़ा परिश्रम और खोज करके मेरी टीका की काया ही पलट दी और भूमिका, नोट, पाठान्तर, शब्दकोष प्राचीन टीकाएँ इत्यादि देकर इस ग्रन्थ की रोचकता और उपयोगिता बढ़ा कर इसको विद्वानों और साहित्य-प्रेमियों के सम्मुख रखने योग्य बना दिया। मेरी टीका सहित यह ग्रन्थ लगभग ३०० पृष्ठ का होता। अब इसका कलेवर द्विगुणित से भी अधिक हो गया है। सम्पादकों ने अधिकांश दोहलों के मेरे किये हुए अन्वय और अर्थ बदल दिये हैं और ८-१० को छोड़ कर बाकी के सब दोहलों के मेरे लिखे हुए भावार्थ भी अनावश्यक समझ कर निकाल दिये हैं, जिसका उत्तरदायित्व इन्हीं पर है क्योंकि मैं तो इनको सब कुछ करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे चुका था।

पंडित श्रीनरोत्तमदासजी स्वामी, एम० ए०, विशारद, ने वेलि का शब्दकोष बनाया और डिंगल के व्याकरण-विषयक अपने विचार लेखबद्ध करके दिये जिसके लिए मैं और दोनों सम्पादक उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

क्योंकि यह ग्रन्थ जल्दी में छपने जा रहा है इसलिए यह संभव ही नहीं अनिवार्य सा ही दीख पड़ता है कि इसमें बहुतसी छोटी

बड़ी त्रुटियाँ रह जायँगी। ऐसी परिस्थिति में विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वह इसके दोषों की ओर न जाकर इसकी उपयोगिता पर विचार करने की कृपा करेंगे; विशेषत: यह ध्यान रखते हुए कि यह डिंगल का पहला ही काव्यग्रन्थ है जो टीकासहित प्रकाशित किया गया है। शीघ्रता के कारण जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनको दूसरे संस्करण में सुधारने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

जगमालसिंह

विषय-सूची

विषय-सूची

भूमिका

भूमिका ।

स्वनामधन्य महाराज पृथ्वीराज के उज्ज्वल यशस्वी नाम से कौन भारतीय परिचित नहीं है ? जिस

महाराज पृथ्वीराज

समय मुग़ल-साम्राज्य के आतंक ने हिन्दू-सूर्य्य महाराणा प्रताप के अटल पराक्रम और निस्सीम धैर्य्य को भी विचलित करने में कुछ बाकी न रखा था, और जिस समय अकबर जैसे अतुल बलधारी और विचक्षण सम्राट् से विरोध करने के परिणाम में महाराणा को अपने प्राण की रक्षा के लिये निस्सहाय वन वन में भूखे-प्यासे रह कर भटकना पड़ता था और इस असह्य दुःख द्वारा पीड़ित होकर जब वे अकबर की अधीनता स्वीकार करने को विवश हो गये थे, उस समय यदि किसी महापुरुष की अन्तरात्मा ने अखण्ड ज्योतिर्मय ओज का प्रकाश करते हुए, महाराणा के हृदय की आत्मग्लानि एवं आन्तरिक म्लानता और दैन्य के आवरणरूपी अन्धकार को हटाने का प्रयत्न किया तो वह श्रेय महाराज पृथ्वीराज के उस इतिहास एवं साहित्य-प्रसिद्ध पत्र को ही है कि जिसके एक एक अक्षर को पढ़कर आज भी भारतवासी अपने हृदय में आशा, स्फूर्त्ति, उत्साह, स्वदेश-गौरव और आत्म-बल का दीपक जला सकते हैं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि महाराज

पृथ्वीराज का दैन्य उस समय महाराणा प्रताप की अपेक्षाकृत समुन्नत एवं स्वच्छन्द दशा से कहीं विशेष बढ़ा चढ़ा था। न कोई इनके निज की सैन्य थी और न कोई प्रबल सहायक ही ऐसा था कि जिस पर विश्वास करके ये स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न कर सकते थे। ऐसी दशा में रहते हुए भी भारतीय स्वतंत्रता का निशिदिन जाप करनेवाले इन वीर-शिरोमणि क्षत्रियपुत्र के हृदय में, भारतीय स्वतन्त्रता का झंडा सम्हालनेवाले एकमात्र नेता महाराणा प्रताप के धर्म-हठ के प्रति निस्सीम श्रद्धा और सहानुभूति थी, जो उनके द्वारा लिखे हुए उक्त पत्र से प्रत्यक्ष प्रमाणित होती है। इन्हीं वीर महापुरुष महाराज पृथ्वीराज के काव्यात्मक व्यक्तित्व का स्वरूप निदर्शन करने एवं उनकी एक मुख्य काव्य-रचना का परिचयात्मक विवेचन कर रसिकों का हृदय तृप्त करने के हेतु हमारा यह प्रयास है।

महाराज पृथ्वीराज और हिन्दी-साहित्य

महाराज पृथ्वीराज एक उच्च श्रेणी के कवि थे। उन्होंने पिंगल और डिंगल दोनों भाषाओं में काव्य-रचना की और अनेक ग्रंथ रचे, परन्तु "वेलि" और कई एक डिंगल गीत तथा कुछ फुटकर डिंगल और पिंगल कविताओं को छोड़कर अन्य ग्रंथों के नाम केवल सुने जाते हैं; वे देखने में नहीं आये। अब तक हिन्दी-जगत् में महाराज पृथ्वीराज का नाम केवल अपनी फुटकर हिन्दी कविता के लिए ही प्रसिद्ध है। परन्तु वास्तव में देखा जाय तो डिंगल में लिखे काव्य की अपेक्षा हिन्दी-भाषा में उनकी प्रतिभा का सहस्रांश भी प्रतिफलित नहीं हो पाया है। यही कारण है कि ज्ञान के अभाव में हिन्दी-काव्य के ज्ञाता, रसिक एवं मर्मज्ञ अब तक उनको साधारण कोटि के कवियों की श्रेणी में गिनते हैं। अब यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो राजस्थानी डिंगल भाषा भी शैशवकालीन हिन्दी का

एक ऐसा ही पृथक् रूप है जैसा कि ब्रजभाषा, मागधी, अवधी इत्यादि अन्यान्य प्रान्तीय रूप। सूर, विद्यापति, तुलसी, चंद और जायसी को हिन्दी के कवियों की श्रेणी और एक शृंखला में गिनना यही प्रमाणित करता है कि कविवर पृथ्वीराज को केवल अपनी हिन्दी-कविता के लिए ही नहीं वरन् डिंगलकाव्य के लिए भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यथायोग्य स्थान मिलना चाहिए। परन्तु हमें यह जानकर अत्यन्त खेद होता है कि जहाँ पृथ्वीराज-रासो के प्रणेता हिन्दी के आदि कवि चंदबरदाई के विषय में हिन्दी के विद्वानों में अपेक्षाकृत अच्छी जानकारी है, वहाँ महाराज पृथ्वी-राज के विषय में, जो हमारी समझ में महाकवि चंद की अपेक्षा काव्य-शक्ति में किसी प्रकार न्यूनतर नहीं कहे जा सकते, हिन्दी-भाषा के साहित्यज्ञों का ज्ञान अत्यन्त सीमित एवं नहीं के तुल्य है। यहाँ तक कि हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध वर्त्तमान इतिहासकार मिश्र-बन्धुओं ने अपने मिश्रबन्धुविनोद भाग १ पृष्ठ ३०७ में महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में अत्यन्त संकुचित विवरण लिखकर अपना उत्तरदायित्व पूरा करना चाहा है और इनको "साधारण श्रेणी" के कवियों में गिनाया है। हमारा विश्वास है कि उक्त विवेचनात्मक विवरण लिखकर मिश्रबन्धुओं ने इस कवि के सम्बन्ध में केवल अपने तत्सम्बन्धी ज्ञान के अभाव का परिचय दिया है। उचित होता यदि ऐसी विवश अवस्था में, जब इतिहासकार को अपने विषय पर पूरा अधिकार न हो, तो वह केवल अपने पूर्वाधिकारियों का आश्रय लेकर अथवा अपनी अक्षमता को स्पष्टत: प्रकट करता हुआ केवल अपने साधारण ज्ञान का परिचय देता। इसके विपरीत किसी कवि का पूर्णत: ज्ञान न रखते हुए उसके काव्य-गुण-दोष के सम्बन्ध में अपनी आलोचनात्मक सम्मति प्रकट कर देना केवल अनधिकार चेष्टा कही जा सकती है। हमारा तो विचार है कि महाराज

पृथ्वीराज की "वेलि क्रिसन रुकमणी री" ग्रंथ का परिचय रखते हुए भी यदि कोई आलोचक उन्हें साधारण श्रेणी का कवि कहे तो उसकी वह आलोचना वही आशय रखेगी जो आशय जोतिर्मय सूर्य को अंधकार-मय कहने से प्रकट होता है।

महाराज पृथ्वीराज उत्कृष्ट श्रेणी के कवि थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी (versatile genius) थी। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में महाकवि भवभूति ने वीर, शृंगार और करुण, तीन पृथक् पृथक् रसों और शैलियों में महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तर-रामचरित जैसे उत्तम दृश्य-काव्यों की रचना करके अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया; और जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के वर्त्तमान काल की प्रगतियों के विधायक और आचार्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने साहित्य के सब अंगों को भरेपूरे करके साहित्य में अमर यश कमाया, उसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने भी पृथक् पृथक् शैलियों, विषयों और रसों में काव्य-रचना करके राजस्थानी और हिन्दी-साहित्य का मुख उज्ज्वल किया। इस दृष्टि से देखने पर और काव्य-साहित्य की उत्तमता की कसौटी पर कसने पर हम इन कविवर को राजस्थानी के किसी भी कवि से किसी प्रकार न्यून नहीं बल्कि बहुत से काव्य-गुणों में अधिक ही पाते हैं। हमारी निजी यह धारणा है कि राजस्थानी भाषा के काव्य-क्षेत्र में ये कवि-सम्राट् हैं और अपनी बराबरी नहीं रखते।

राजस्थान

वर्तमान काल में चाहे इसकी कितनी ही अधोगति क्यों न हो गई हो, यह राजस्थान देश पूर्वकाल में भारतीय गौरव की अतीत स्मृतियों का ख़ज़ाना रहा है। जिनके हृदय में सच्ची वीरता के उच्च आदर्श के प्रति, सत्य-संकल्प की दृढ़ता के प्रति, अदम्य उत्साह-पूर्ण ओजस्वी जीवन के प्रति और साथ ही सभ्यता-पूर्ण विनम्रता

और सच्ची धार्मिकता के प्रति श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिए आज भी यह राजस्थान की पुण्यभूमि तीर्थस्थल है। इसकी वीरता के आदर्श का डंका संसार भर में बज चुका है; इसके राजर्षियों का गुण-गान आज भी संसार मुक्तकंठ से करता है। एक समय था जब इस पवित्रभूमि के गाँव गाँव में स्पार्टा थी, और इसके पर्वतों की घाटी घाटी में थर्मापायली। सच्ची सहृदयता, परमार्थपूर्ण शौर्य्य (chivalry) और सभ्यता के जो भक्त हैं उन यूरोपीय विद्वानों और सहृदयों ने भी इस भूमि के गुणगान किये हैं और इस पुण्य-भूमि के एक ओर से दूसरे छोर तक परिभ्रमण करके, इसके प्रत्येक धूलिकण को मस्तक पर चढ़ाया है—इसका आदर किया है। जब बाहरी जगत् का इस भूमि का यह गर्व है, तो भारतीय जनता के हृदय में तो इसके प्रति निस्सीम भक्तिभाव होना ही चाहिए।

जिस राजस्थान ने वीरता, सत्यव्रतपालन, सभ्याचरण और धार्मिक वृत्ति में भारतीय सभ्यता का सदियों तक झंडा फहराया है, उसके समुज्ज्वल इतिहास में साहित्योन्नति का पृष्ठ कोरा नहीं, वरन् सुवर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। जिस देश का इतिहास उज्ज्वल और गौरवपूर्ण घटनाओं से भरा पूरा हो, उसका साहित्य-कोष रिक्त हो, ऐसा होना सम्भव नहीं है। परन्तु खेद तो इस बात का है कि राजस्थान-निवासी जनता की निश्चेष्टता और अज्ञान के कारण इस ओर पिछले कुछ समय से बहुत कम प्रकाश डाला गया है। यह जाग्रति का युग है। प्रबोध और विवेकरूपी सूर्योदय की प्रखर किरणें राजस्थानी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के घने अंधकार-मय जंगल में भी भेदन कर चुकी हैं। आशा की जा सकती है कि न केवल राजनैतिक परिस्थिति की दृष्टि से बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी बहुत शीघ्र, राजस्थान में युगपरिवर्तन होनेवाला है।

राजस्थानी भाषा और साहित्य

'राजस्थानी' यह नाम प्राचीन नहीं आधुनिक है। भाषा-विज्ञान में सुभीते के लिए भाषा-शास्त्रियों ने यह नाम रखा है। इसमें राजपूताने में बोली जानेवाली तमाम बोलियाँ शामिल हैं। राजपूतानी, डिंगल, मारवाड़ी आदि इस भाषा के अन्य नाम हैं। राजस्थान प्रांत का ही दूसरा नाम राजपूताना है, जिससे यह राजपूतानी कहलाती है। राजपूताने का एक बड़ा भाग मरुस्थल होने के कारण मारवाड़ कहलाता है और बोलचाल में यह शब्द तमाम राजपूताने के अर्थ में भी आता है। इस कारण समस्त राजपूताने की भाषा भी मारवाड़ी के नाम से पुकारी जाती है। 'डिंगल' यह अपेक्षाकृत प्राचीन नाम है। जब व्रज-भाषा का आविर्भाव हुआ और उसमें भी कविता होने लगी तो राजस्थानी और व्रज में फ़र्क़ बताने के लिए व्रज को पिंगल और उसके नाम-साम्य पर राजस्थानी को डिंगल कहने लगे। अतः डिंगल का मतलब प्राचीन काल की, या उसके ढंग पर लिखी हुई, साहित्यिक राजस्थानी से है। आजकल की साहित्यिक राजस्थानी को डिंगल नहीं कहेंगे। चारण, भाट वग़ैरह लोग आजकल भी डिंगल में कविता किया करते हैं। डिंगल का प्रसिद्ध उदाहरण चंद का पृथ्वीराजरासो है। आधुनिक काल में बूँदी के चारण कवि मिसर सूर्यमल ने वंशभास्कर नाम का एक महाकाव्य इसी डिंगल में लिखा है। जन साधारण में डिंगल का आदर कम रहता था परन्तु राजदरबारों में इसे ख़ूब आदर मिलता था। डिंगल-कविता में काव्य-सम्मत विशेष शब्द ही प्रयुक्त किये जाते हैं और छंद के सुभीते के अनुसार तोड़-मरोड़ लिये जाते हैं। इस प्रकार डिंगल प्राचीन राजस्थानी का साहित्यिक रूप है जो बाद में चलकर स्थिर (stereotyped) हो गया। पिछले कई वर्षों से डिंगल बोल-चाल की भाषा से एवं साहित्यिक भाषा से अधिकाधिक दूर पड़ने

लगी है और आजकल तो संस्कृत एवं प्राकृत की भाँति कृत्रिम एवं मृत-भाषा मात्र रह गई है।

यहाँ पर राजस्थानी की उत्पत्ति एवं आरंभ के विषय का कुछ थोड़ा सा उल्लेख कर देना उचित होगा। प्राचीन आर्य्यों की भाषा वैदिक संस्कृत थी। उससे धीरे धीरे संस्कृत निकली। भाषा में परिवर्तन होना एक प्राकृतिक नियम है। धीरे धीरे संस्कृत में भी परिवर्तन होने लगा। यास्क एवं पाणिनि की संस्कृत से कात्यायन की संस्कृत अधिक विकसित जान पड़ती है एवं कात्यायन की संस्कृत से पातंजलि की संस्कृत और भी अधिक विकास कर चुकी थी। इसके अतिरिक्त साधारण लोग शिक्षितों की भाँति भाषा की शुद्धता का विशेष ध्यान नहीं रखते जिससे धीरे धीरे उनका उच्चारण शिष्टों के उच्चारण से दूर पड़ता जाता है। संस्कृत का धीरे धीरे एक दूसरा रूप हो गया जिसे जनसाधारण बोलता था। दोनों भेदों को जुदा जुदा बताने के लिए एक का नाम संस्कृत और दूसरे का प्राकृत पड़ गया। इनका संबंध उस काल में संभवत: वही था जो आजकल हिंदी और उसकी बोलियों का है। पढ़े लिखे लोग हिन्दी बोलते हैं परन्तु जनसाधारण, यद्यपि हिन्दी समझ सकते हैं, अपनी प्रान्तीय बोली ही बोलते हैं। पाली सबसे पुरानी प्राकृत है। बौद्ध-धर्म्म की पुस्तकें इसी पाली भाषा में लिखी गई हैं। अशोक के ज़माने तक जनसाधारण में यही भाषा प्रचलित थी। पाली के बाद प्राकृतों का विकास हुआ। धीरे धीरे प्राकृतों में साहित्य-रचना होने लगी और वे शिष्ट लोगों के बोलने की भाषायें बन गईं। उनका व्याकरण बना और शुद्ध प्रयोगों का ध्यान रखा जाने लगा। पर जन-साधारण की भाषा बदलती गई और प्राकृतें अब उस रूप को पहुँचीं जो आजकल अपभ्रंश कहलाता है। अपभ्रंशों में भी नागर और आवन्ती अपभ्रंश ने धीरे धीरे साहित्य में पैर दिया और इसमें संदेह नहीं कि उनमें अच्छा

साहित्य वर्तमान था। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचंद्र ने अपभ्रंश के अनेक प्रचलित गीतों का संग्रह अपने प्राकृत व्याकरण में किया है। जब अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई तो जन-साधारण की भाषा ने विकास करते हुए आधुनिक देशी भाषाओं का रूप धारण किया। राजस्थानी का विकास सबसे पहले नागर एवं आवन्ती अपभ्रंशों से हुआ।

उन दिनों समस्त पश्चिमोत्तर भारत एक विचित्र उथल पुथल की दशा में था। राजपूत लोगों की कार्य्यशीलता वहाँ अचानक जाग उठी। बड़े बड़े साम्राज्य क़ायम हुए। साहित्य-धारा में वीररस की बाढ़ आई। काव्य-सरिता बह चली और राजस्थानी में भी ख़ूब काव्य लिखे गये। इस प्रकार अपने जन्मकाल के थोड़े ही दिनों बाद राजस्थानी एक साहित्यिक भाषा हो गई।

तत्कालीन राजस्थानी का अपभ्रंश से पूरी तरह पिंड नहीं छूटा था और अपभ्रंश मिश्रित साहित्यक राजस्थानी बाद में जाकर डिंगल कहलाने लगी। डिंगल भाषा वीररस के लिए बड़ी उपयुक्त थी। इस-लिये राज-दरबारों में इसे खूब आश्रय मिला। यहाँ तक कि राज-दरबारों में बहुत काल पीछे तक भी, जब कि डिंगल बोल-चाल की भाषा नहीं रह गई और बोधगम्य भी अपेक्षाकृत कम होने लगी थी, इसका दौरदौरा रहा और चारण भाट आदि इस समय भी डिंगल में कविता किया करते हैं। राज्याश्रय न रहने से अब धीरे धीरे यह लुप्त हो रही है। जनसाधारण में तो यह पहले ही बोधगम्य नहीं रह गई थी और फिर आज-कल हिन्दी का प्रचार बढ़ जाने से हम डिंगल की प्राचीन पद्धति (traditions) को भूलते जा रहे हैं जिससे उसका समझना और भी कठिन हो गया है।

भाषा-विज्ञान के अनुसार राजस्थानी संस्कृतोत्पन्न आर्य्य-भाषाओं के वर्ग में आती है। राजस्थानी पश्चिमी हिन्दी का सबसे

बड़ा विभाग है। व्रज एवं गुजराती इसकी सगी बहनें हैं जिनसे यह बहुत मिलती है। डाक्टर ग्रिअर्सन ने इसको अन्तरंग शाखा में सम्मिलित किया है पर लिखा है कि बहिरंग भाषाओं का प्रभाव भी इस पर बहुत पड़ा है। डाक्टर साहब का उक्त बहिरंग एवं अन्तरंग वर्गीकरण सर्वसम्मत नहीं है। कुछ विद्वान् भाषाओं के संयोगात्मक एवं विच्छेदात्मक (synthetic and analytic) दो भेद करके राजस्थानी को विच्छेदात्मक भाषाओं की श्रेणी में रखते हैं। सच पूछा जाय तो दोनों विभागों में विभेददर्शक विशेषतायें कोई हैं ही नहीं।

राजस्थानी भाषा का जन्म विक्रम की दसवीं शताब्दी के आस-पास हुआ है। उसका विकास-काल तीन कालों में बाँटा जा सकता है—

१—प्राचीन राजस्थानी—विक्रमीय १६ वीं शताब्दी पर्यन्त।

२—माध्यमिक राजस्थानी—विक्रमीय १९ वीं शताब्दी तक।

३—आधुनिक राजस्थानी—वि० १९ वीं शताब्दी से अब तक।

राजपूतों के उत्थान के साथ ही राजस्थानी का विकास प्रारम्भ हुआ। चारण लोगों ने इसकी ख़ूब उन्नति की। इसी समय हिन्दी की दो और शाखायें हाथ पाँव चलाने लगीं। मुसलमानों ने खड़ी बोली को अपनाया और साधु, महात्मा, कृष्णभक्त वैष्णवों ने व्रज भाषा को। खड़ी बोली तो उस समय विशेष उन्नति नहीं कर सकी, पर कृष्णभक्ति ने व्रज को शीघ्र ही उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। राजस्थानी कवियों ने भी व्रज में लिखना शुरू किया। डिंगल का भी ख़ूब ज़ोर रहा, यद्यपि वह बोलीजानेवाली भाषा से धीरे धीरे दूर पड़ने लग गई थी। इस काल के अन्त में भाषा-विज्ञान की दृष्टि से राजस्थानी में कई एक परिवर्तन हुए जो मुख्यतया वर्ण-सम्बन्धी परिवर्तन थे। इस काल में गुजराती

राजस्थानी से जुदा हुई। माध्यमिक काल में बोलचाल की राजस्थानी ने पर्याप्त उन्नति की। बहुत से गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थ इस काल में लिखे गये:—

राजस्थानी भाषा की चार मुख्य शाखायें हैं:—

राजस्थानी की शाखायें

(१) मालवी—यह दक्षिण राजस्थान एवं मालवा प्रान्त की बोली है। इस बोली में साहित्य नहीं के बराबर है।

(२) मेवाती—दक्षिणी हिसार, भिवाणी आदि ज़िलों में बोली जाती है। इसमें साहित्य बिलकुल नहीं लिखा गया है। बांगड़ू की भाँति यह बड़ी कर्णकटु एवं कर्कश भाषा है।

(३) ढूँढाड़ी या जयपुरी—जयपुर, अलवर, हाड़ोती आदि में बोली जाती है। इसमें अच्छा साहित्य है एवं वर्तमान राजस्थानी का गद्य-साहित्य तो सर्वथा इसीमें है।

(४) मारवाड़ी—राजस्थानी की सबसे बड़ी शाखा है। समस्त पश्चिमोत्तर, दक्षिण तथा मध्यराजस्थान में यह बोली जाती है। इसे ही हम standard राजस्थानी कह सकते हैं। इसमें बहुत विस्तृत साहित्य विद्यमान है। इसमें मेवाड़ी, थली आदि अनेक उपशाखायें हैं जो सब साहित्यसम्पन्न हैं। ख़ास मारवाड़ी अर्थात् जोधपुरी बड़ी मधुर तथा उदात्त बोली है।

लिपियाँ—मुख्यतया तीन लिपियों में राजस्थानी लिखी जाती है :—

(१) वाणीका, वाणियावाटी या महाजनी—इसे व्यापारी काम में लाते हैं। इसमें मात्रायें नहीं लगतीं एवं यह (short-hand) सूक्ष्मलिपि का काम देती है।

(२) कामदारी—यह राजकीय दफ़्तरों आदि में प्रयुक्त होती है।

(३) शास्त्री—देवनागरी लिपि का राजस्थानी रूप है। साहित्य में यह प्रयोग की जाती है। आज-कल देवनागरी अक्षर भी ख़ूब प्रचलित हो गये हैं और ज़्यादातर उन्हीं का उपयोग किया जाता है।

राजस्थानी हिन्दी एवं गुजराती के मध्य की भाषा है पर वह हिन्दी की अपेक्षा गुजराती से विशेष सादृश्य रखती है। वाक्य-विन्यास, रचना, संगठन, शब्दावली आदि में गुजराती से बहुत अधिक मिलती है। 'वेलि' में यह मेल बहुतायत से प्रकट होता है। फिर भी राजस्थान में गुजराती की अपेक्षा हिन्दी अधिक समझी जाती है। कारण यह है कि राजस्थान का दिल्ली से प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है और इसके अलावा कुछ वर्ष पहले तक यहाँ की अधिकांश रियासतों की राजभाषा फ़ारसी थी। इस समय भी राजस्थान की रियासतों में राजभाषा उर्दू या हिन्दी ही है।

राजस्थानी का साहित्य

राजस्थानी का साहित्य बहुत प्राचीन है और साथ ही साथ विस्तृत भी है। आरम्भ में राजस्थानी का राजपूत राजाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वह उनके यहाँ पली तथा फली-फूली। जब भारत की अन्य देश-भाषायें अभी गर्भ में ही थीं, राजस्थानी में एक फलता-फूलता साहित्य विद्यमान था। केवल वीर-काव्य ही नहीं छोटे छोटे गीत यानी lyrics भी वर्तमान थे। गीत-साहित्य (ballad literature) राजस्थानी को अपभ्रंश से बपौती के रूप में मिला था। ये गीत बड़े लोक-प्रिय होते हैं और साधारण जनता के हृदयों को आकर्षण करने की बड़ी शक्ति रखते हैं।

राजस्थानी कविता हमेशा जनप्रचलित रही है। वह पढ़े जाने के लिए नहीं, गाये जाने के लिए लिखी जाती थी। अनेकों कवितायें

जनसाधारण की ज़बान पर रहती थीं और प्रायः उन्हीं के जीवन-व्यापारों से सम्बन्ध रखती थीं। वीररसात्मक कवितायें प्रायः राजा आदि से सम्बन्ध रखती थीं, जो जनसाधारण के सर्व-प्रिय वीर (heroes) हुआ करते थे। ऐसी कविताओं से राजस्थान का प्रत्येक घर परिचित रहता था। लोग पढ़े-लिखे नहीं होते थे, तो भी वे इनके सुनने, याद करने एवं गाने के बड़े प्रेमी हुआ करते थे।

पद्य-साहित्य ही नहा, गद्य-साहित्य भी राजस्थानी में आरम्भ से लिखा जाता रहा है। माध्यमिक काल में तो गद्य ने बड़ी भारी उन्नति की। यहाँ तक कि हिन्दी के प्राचीनतम गद्य के उदाहरण राजस्थानी के ही हैं। प्रत्येक रियासत अपनी ख्यात बराबर लिखाती रहती थी और ये ख्यातें गद्य में हुआ करती थीं। प्रत्येक बात का विस्तृत वर्णन उनमें रहता था। राजस्थानी की एक प्रसिद्ध ख्यात मूता नैणसी नाम के एक व्यक्ति की लिखी हुई है। इसमें समस्त राजस्थान का इतिहास दिया गया है। राजस्थानी की ये ख्यातें मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास के लिखने में अमूल्य सहायता देंगी और अनेक अन्धकाराच्छन्न बातों पर प्रकाश डालेंगी, इसमें कोई शक नहीं है। इनके अलावा राजस्थान का कथा-साहित्य भी बहुत विस्तृत है। हज़ारों कहानियों की पुस्तकें राजस्थानी में पाई जायँगी जो बृहत्कथासंग्रह की कहानियों से किसी क़दर कम रोचक न होंगी।

राज़स्थानी का एक बहुत बड़ा महाकाव्य पृथ्वीराजरासो है। यह महाकवि चन्द का बनाया हुआ है। परन्तु बाद में इसमें बहुत कुछ घटाया बढ़ाया गया है। यह महाकाव्य हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है। विक्रम की सत्रहवीं सदी में बीकानेर के महाराज पृथ्वीराज ने राजस्थानी में एक अमर काव्य लिख कर श्रीकृष्ण का

यशोगान किया। इसका नाम "वेलि क्रिसन रुकमणी रा" है। डिंगल राजस्थानी में एक महाकाव्य कुछ वर्षों पूर्व बूँदी के चारण मिसर सूर्यमल ने लिखा है जिसका नाम वंश-भास्कर है।

अब हम डिंगल को छोड़ कर बोलचाल की राजस्थानी की तरफ़ आते हैं। इसमें अनेकों गीत समय समय पर बने और बहुत से नष्ट हो गये पर यदि इस समय भी उनका संग्रह किया जाय तो कई जिल्दें भर जायँ। राजस्थानी का सन्त-साहित्य भी बड़ा विस्तृत है। महात्मा रैदास, मीराबाई, दादूदयाल, बाबा दयालजी, हरिदास, चन्द्रसखी आदि अनेकों सन्त कवियों ने राजस्थानी में अमर कविता की है। आज इनकी कविता का घर घर प्रचार है। महात्मा कबीर, सूर, तुलसी, नानक आदि के पद भी अनूदित होकर राजस्थानी साहित्य के अंग बन गये हैं। इन सबमें अमर कवयित्री मीरा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने राजस्थानी, व्रज एवं गुजराती तीनों भाषाओं में बड़ी ही सुमधुर कविता की है। राजस्थान के घर घर में इनकी कविता सुबह शाम गाई जाती है। स्त्रियों में इसका विशेष रूप से प्रचार है। चन्द्रसखी एवं बखतावर नाम के दो बड़े ही भावुक कवि इसी ज़माने में हुए। चन्द्रसखी ने शिशु व बाल्यजीवन को चित्रित करने में कमाल किया है। सूरदास ने बालक-जीवन को चित्रित किया है, तो इन्होंने बालिका-जीवन को। छोटी बालिका के मनोभावों को वर्णन करने में इन्हें बड़ी सफलता मिली है।

इस काल के दो और प्रसिद्ध काव्यों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है। पद्मभक्त नाम के कवि ने रुक्मिणी-मंगल नाम का एक बड़ा महाकाव्य बनाया जिसमें रुक्मिणीहरण का वर्णन है। इसकी शैली बड़ी सरल और सुन्दर है। सभी वर्णन सजीव हैं। साधारण जन-समाज में आज भी इसका बहुत प्रचार है और

जनता रात्रि को इकट्ठी होकर इसकी पवित्र कथा का आस्वादन करती है। दूसरा काव्य एक लकड़हारे का बनाया हुआ है। इसका नाम है 'नरसी रो माहेरो'। रुक्मिणी-मंगल की भाँति इसका भी ख़ूब प्रचार है और लोग रात को इकट्ठे होकर इसको सुनते और प्रसन्नता लाभ करते हैं। इसी ज़माने में राजिया, भैरिया, किशनिया, बीँजरा, नाथिया, जेठवा, नागजी आदि के दोहे बने, जिनका राजस्थान में ख़ूब प्रचार है।

राजस्थान के समस्त राजा एवं रानियाँ कविता से बड़ा भारी प्रेम रखते आये हैं और बहुतों ने स्वयं कविता भी की है। महारानी मीराबाई का नाम ऊपर आ चुका है।

अब हम आधुनिक राजस्थानी की ओर आते हैं। राजस्थानी का वर्तमान साहित्य बड़ी ही हीनावस्था में है। हिन्दी-प्रचार के कारण राजस्थानी को लोग बिलकुल भूल गये हैं। इस समय के सबसे बड़े लेखक श्रीयुत शिवचन्द्र भरतिया हैं। आपने राजस्थानी गद्य-पद्य में अनेक उपयोगी एवं अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। आपने राजस्थानी में नाटक का सूत्रपात किया और आधुनिक भावों को साहित्य में भरने का ख़ूब प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त राजस्थानी में इस काल में और भी कई लेखक हुए एवं हैं जो चुपचाप अपना कार्य कर रहे हैं। इनमें कोड़ीमल मालू तथा पंचराज सम्पादक श्रीकलंत्रीजी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। राजस्थानी में कई पत्र भी निकले थे पर दुर्भाग्यवश कोई चल न सका। 'पंजराज' का स्थान इन सबमें अच्छा है।

राजस्थान के इतिहास-साहित्य में खोज करने और प्रामाणिक इतिहास लिखने में रायबहादुर श्रीगौरीशंकर हीराचंद ओझा, तथा श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने

राजस्थान-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। जोधपुरनिवासी श्री रामकरणजी की सेवायें भी सराहनीय हैं। बीकानेर में 'प्रेमाश्रम' साहित्य-संस्था के अन्तर्गत राजस्थानी विद्वानों की एक मंडली पिछले कई वर्षों से राजस्थानी साहित्य का पुनरुद्धार करने के लिए पर्याप्त परिश्रम कर रही है। आशा की जाती है, इनके परिश्रम के फल से राजस्थानी का साहित्य-भंडार सुसज्जित होगा।

चरित्रनायक का चरित्र

महाराज पृथ्वीराजजी का जन्म मिती मार्गशीर्ष कृष्णा १ संवत् १६०६ को हुआ। ये महाराज रायसिंहजी बीकानेर-नरेश के छोटे भाई तथा राव कल्याणमलजी के पुत्र थे। ये बालपन से ही विद्याव्यसनी, शूरवीर एवं धर्मनिष्ठ थे। इनके वैयक्तिक चरित्र के विषय में विवेचन करते हुए हमें अँगरेज़ कवि शेक्सपियर के वैयक्तिक चरित्रोन्नति के आदर्श का स्मरण होता है। महाराज पृथ्वीराज के लक्षणों और जीवनचरित्र को दृष्टिगत करते हुए हम हैमलेट की भाँति उन्हें "courtier, soldier and scholar" इस गुण-वाचक समस्त पद से निस्संकोच विभूषित कर सकते हैं। उनके अद्वितीय शूरवीर और स्वाभिमानी होने में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। जो व्यक्ति समस्त भारत की शक्तियों को नतमस्तक करनेवाले मुग़ल साम्राज्य की शक्ति के अधिकृत रहते हुए भी अपनी और अपने देश की स्वतन्त्रता की कल्पना कर सके उसके शौर्य्य के आदर्श में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। महाराज पृथ्वीराज उच्च कोटि के विद्वान् थे, इस बात का प्रमाण उनकी कविता के गंभीर भावों से मिलता है। उनकी "वेलि" की सविस्तर समीक्षा करते हुए हम आगे चलकर बतावेंगे कि उन्हें संस्कृत-साहित्य और काव्य, भारतीय दर्शनशास्त्र, ज्योतिष्, छंद,

संगीतशास्त्र, कला इत्यादि अनेक भारतीय शास्त्रों का अच्छा ज्ञान था। वे उत्कृष्ट भक्तों की श्रेणी में गिने जाते थे। नाभाजी की भक्तमाल में इनके भक्ति-पूर्ण काव्य के विषय में लिखा है—

सवैया, गीत, श्लोक वेलि दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्यप्रमाण विविध विध गायो हरिजस॥

परि दुख विदुष सश्लाघ्य वचन रसना जु उचारैं।
अर्थ विचित्रन मोल सबै सागर उद्धारैं॥

रुक्मिणी लता वर्णन अनुप वागीश वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुण प्रथीराज कविराज हुव॥

इसी प्रकार कर्नल टाड ने इनके व्यक्तित्व के विषय में लिखा है :—

"Prithiraj was one of the most gallant chieftains of the age and like the Troubadour princes of the West, could grace a cause with the soul-inspiring effusion of the Muse, as well as aid it with his sword—in nay, the assembly of the Bards of Rajasthan the palm of merit was unanimously awarded to the Rathore Cavalier."

अर्थात् पृथ्वीराज अपने समय के क्षत्रियों में एक श्रेष्ठ वीर थे। वे पाश्चात्य ट्रूबेडार वीर कवियों की तरह, अपनी ओजस्विनी कविता से मनुष्यों के हृदय को स्फूर्त्त और प्रोत्साहित कर सकते थे तथा आवश्यकता पड़ने पर हाथ में तलवार लेकर उत्साह और उत्तेजनापूर्वक रणक्षेत्र में डट सकते थे। बहुत कहना व्यर्थ है।

राजस्थान के भट्टकवियों के समुदाय में काव्यगुणोत्कर्ष के सर्वोच्च पुरस्कार के भागी उस समय के कवियों-द्वारा, यही राठौर वीर श्रेष्ठ समझे जाते थे।

इनकी उत्साह-प्रदायिनी, ओजस्विनी और बलवती कविता की तुलनात्मक आलोचना करते हुए कर्नल टॉड उसमें दस सहस्र घोड़ों का बल बताते हैं। कर्नल टॉड के इस वाक्य को प्रमाणित करने के लिए साहित्य-प्रेमियों को "वेलि" ग्रन्थान्तर्गत ११३-१३७ छन्दों के भावों की उत्तेजक शक्ति एवं ओजगुण गौरव को अथवा उनके द्वारा लिखे प्रताप के प्रति पत्र के दोहों को देखना चाहिए।

प्रसिद्ध टीकाकार तथा गवेषक डाक्टर एल० पी० टैसीटरी ने महाराज पृथ्वीराज के काव्यगुणोत्कर्ष का विवेचन करते हुए उनको "Horace in Dingal" डिंगलकाव्य के होरेस कवि के सदृश कहा है। काव्य में उत्साह, अदम्य, ओजगुण और स्फूर्ति-प्रवाह के लिए लैटिन में होरेस कवि प्रख्यात हैं।

महाराज पृथ्वीराज के व्यक्तित्व का पूर्णरूपेण निदर्शन करना हमारे लिए कठिन कार्य है। हम यहाँ पर उनके व्यक्तित्व की विलक्षण समष्टि में प्रधान रूप से विद्यमान कई एक विशेष गुणों का विवेचन करेंगे। उनकी चरित्र-गाथाओं को दृष्टिगत रखते हुए हमारे दृष्टिकोण में सर्व-प्रथम (१) उनका अदम्य, स्वाभिमानपूर्ण स्वदेश-प्रेम, (२) स्वतन्त्रता के भावों से परिपूर्ण उनकी आदर्श-वीरता, (३) ईश्वर के प्रति उनकी अटल और अनन्य भक्ति, (४) गंभीर विद्वत्ता, (५) सांसारिक प्रेम के आडम्बर से घिरे रहते हुए भी उच्च, आदर्श-प्रेम के प्रति श्रद्धा तथा उस आदर्श प्रेम से प्रेरित उच्च श्रेणी की काव्यमयी भावनायें—ये गुण आते हैं। हम संक्षेप में इन गुणों का कुछ विवरण "वेलि" के पाठकों के सामने रखते हैं।

स्वदेश-प्रेम और वीरता

इतिहास से पता लगता है कि महाराज पृथ्वीराज अकबर बादशाह के बड़े कृपापात्र थे और सदा उन्हीं के पास रहा करते थे। परन्तु अकबरनामे में इनका नाम केवल दो तीन बार से ज्यादा नहीं आया है। इससे तथा अन्य कई एक कारणों से प्रकट होता है कि उस कुटिल नीतिज्ञ बादशाह का इनको कृपापात्र बनाना केवल एक राजनीतिक बहाना था। हृदय में तो वह इन जैसे स्वाभिमानी, स्वतन्त्रता प्रिय वीर क्षत्रिय से अवश्य डरता रहा होगा। यही कारण हो सकता है कि या तो वह इनको सर्वदा अपने पास रखता था अथवा बड़ी बड़ी लड़ाइयों में नियुक्त किये रखता था। भला, ऐसे स्वाभिमानी, स्वदेश-प्रेमी क्षत्रिय को यदि अवकास और स्वच्छन्दता मिल जाय तो एक के बदले दो प्रताप मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस करने को न तैयार हो जायँ। जब बादशाह ने स० १६३८ में अपने विद्रोही भाई मिरज़ा हकीम से लड़ने के लिए काबुल पर धावा किया उस समय पृथ्वीराज सेना के अग्रभाग में विद्यमान थे। इस युद्ध में विशेष शूर-वीरता का परिचय देने के लिए पुरस्कारस्वरूप इनको पूर्वीय राजस्थान में गौगराना प्रान्त की जागीर प्रदान की गई थी। इसके पश्चात सं० १६५३ में अहमदनगर की लड़ाई में भी ये सेना के प्रधान पद पर नियुक्त होकर गये थे। ये तो सब मुग़ल-इतिहास के उदाहरण हैं। हमारी समझ में पृथ्वीराज की वीरता को ये दृष्टान्त इतना ज्वलन्त रूप से प्रमाणित नहीं करते जितना कि उनकी प्रताप के प्रति लिखी हुई प्रसिद्ध पत्रिका के भाव, जो हम पाठकों के अनुशीलनार्थ संक्षेपतः नीचे उद्धृत करते हैं:—

"इस बात को सुनकर कि महाराणा प्रतापसिंह जैसे अटल स्वाभिमानी, धर्मव्रत, स्वदेशभक्त क्षत्रिय ने अत्यन्त दुखित होकर अकबर

जैसे महाशक्तिशाली कूटनीतिज्ञ सम्राट के अति असामर्थ्य और दीनावस्था को प्रकट करते हुए सन्धि-पत्र प्रेषित करने का विचार किया है, पृथ्वीराज को विश्वास न हुआ। अपने अविश्वास को उन्होंने अकबर के समक्ष प्रकट किया और परिणामत: बादशाह से इस विषय में सत्यासत्य निर्णय करने की आज्ञा प्राप्त की और यह अपूर्व उत्साहित और ओजस्वी पत्र लिखा:—

धर बाँकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणां नरिन्दा घेरियो, रहे गिरंदा राण ॥ १ ॥

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओझकै, जाण सिराणैं साँप ॥ २ ॥

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रतापसी ॥ ३ ॥

अकबर एकण बार, दागल की सारी दुनी।
अणदागल असवार, रहियो राण प्रतापसी ॥ ४ ॥

अकबर घोर अँधार, ऊँघाणा हिन्दू अबर।
जागै जगदाधार, पोहरै राण प्रतापसी ॥ ५ ॥

हिन्दूपति परताप, पत राखौ हिन्दुवाण री।
सहे विपति सन्ताप, सत्य शपथ करि आपणी ॥ ६ ॥

चौथौ चीतोड़ाह, बाँटो बाजन्तीतणू।
दीसै मेवाड़ाह, तो सिर राण प्रतापसी ॥ ७ ॥

चम्पो चीतोड़ाह, पौरष तणो प्रतापसी।
सौरभ अकबरशाह, अडियल आभिड़या नही ॥ ८ ॥

पातल् खाग प्रमाण, साँची सांगाहरतणी ।
रही सदा लग राण, अकबरसूँ ऊभी अणी ॥ ९ ॥
अइरे अकबरिया, तेज तिहालो तुरकड़ा ।
नम नम नीसरिया, राण बिना सह राजवी ॥ १० ॥
सह गावड़िये साथ, एकण बाड़ै बाड़िया ।
राण न मानी नाथ, ताँडै साँड़ प्रतापसी ॥ ११ ॥
पातल् जो पतशाह, बोलै मुख हूँता वयण ।
सिहर पछमदिश माँह, ऊगै कासपरावसुत ॥ १२ ॥
पटकूँ मूछां पाण, कै पटकूँ निज तन कराँ ।
दीजे लिख दीवाण, इण दो महली बात इक ॥ १३ ॥

इस पत्र का प्रभाव प्रताप के हृदय पर इतना गम्भीर हुआ कि उन्होंने तत्क्षण अपने संकल्प को पलट दिया और यह उत्तर लिख कर पृथ्वीराज को भेज दिया:—

तुरक कहासी मुख पतो, इण तन सूँ इकलिङ्ग ।
ऊगै जाँही ऊगसी, प्राची बीच पतङ्ग ॥ १ ॥
खुशी हूँत पीथल् कमध, पटको मूछाँ पाण ।
पछटण है जेतै पतो, कमला सिर केवाण ॥ २ ॥
साँग मूँड़ सहसी सको, सम जस सहर सवाद ।
भड़ पीथल जीतां भलां, वैण तुरक सूँ बाद ॥ ३ ॥

समय बड़ी क्रूर शक्ति है, जो किसी का आधिपत्य नहीं स्वीकार करती। हमें विश्वास है, यदि पृथ्वीराज को उसी परिस्थिति की स्वतंत्रता का अनुभव करने का मौक़ा होता, जैसा कि प्रताप को उस समय था, तो वे अवश्य अपनी सहज, क्षत्रियोचित सच्ची वीरता का परिचय देते और भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम के इतिहास में सदा

के लिए महाराणा की तरह एक समुज्ज्वल उदाहरण छोड़ जाते। महाराज पृथ्वीराज जैसे वीर थे वैसे ही वीर क्षत्राणी उनकी धर्म-पत्नी थी। एक कथा प्रचलित है कि अकबर बादशाह के राज्य में, वर्ष में एक बार, राजधानी में नौरोज़ नाम का बीभत्स मेला हुआ करता था। साम्राज्य की राजनैतिक परिस्थिति को जानने के लिए यह मेला एक साधन-मात्र कहा जा सकता है। इस मेले में सब प्रकार के यात्री और साम्राज्य के लोग एकत्रित होते थे और उनकी बातचीत, हलचल, ढंग विचारों आदि का गुप्त रूप से निरीक्षण कर बादशाह राज्य की सच्ची परिस्थिति जानने की चेष्टा किया करता था। इसी मेले के अन्तर्गत एक महिलाओं का मेला भी होता था जिसमें बड़े बड़े हिन्दू घरानों, राजा, रईसों, और उमराओं की स्त्रियाँ राजाज्ञा द्वारा सम्मिलित होती थीं। बादशाह गुप्त-वेश में मेले में जाता था और अपनी रूप-सौन्दर्य्य देखने की वासना को तृप्त किया करता था। महाराज पृथ्वीराज की पत्नी अत्यन्त सुंदरी थी। बादशाह ने उसे कुदृष्टि से देखा। तदुपरान्त पापाचार का एकान्त में प्रस्ताव करने पर बादशाह की जो दशा उस वीर क्षत्राणी ने की थी वह सब को विदित है। बीकानेर की ख्यात में लिखा है कि इस समय रानी के धर्म को बचाने के लिए राजबाई नामक चारण-कन्या सहायता के लिए उप-स्थित हुई थी जो स्वयं दैविक शक्ति रखती थी और जिसने महाराज पृथ्वीराज की सौजन्य और वीरता पर प्रसन्न होकर दुःख पड़ने पर उनको सहायता देने का वरदान दिया था।

भक्ति

महाराज पृथ्वीराज एक उच्च कोटि के वैष्णव भक्त थे। इनका नाम भक्तमाल में श्रेष्ठ भक्तों की गणना में आता है। भारतवर्ष के तत्कालीन इतिहास से पता लगता है कि उस समय वैष्णवसम्प्रदाय के विभिन्न मतों के गुरुओं ने भक्ति-गाथा का चक्र चलाकर मुग़ल-

साम्राज्य-रूपी कराल काल के गाल में कवलित होते हुए हिन्दू-धर्म को बचाने तथा उसके संगठन एवं एकीकरण में जो प्रयास किया वह समस्त भारत के छिन्न-भिन्न वीरात्माओं की शस्त्र-शक्ति-द्वारा स्वतंत्र होने के प्रयास से कहीं ज्यादा उपादेय तथा देशहित संरक्षक सिद्ध हुआ। आरम्भ ही से इस भक्ति-स्रोत की प्रबल धारा ने समस्त उत्तरी भारत को व्याप्त कर लिया। पूर्व में मैथिल भक्त कवि विद्यापति ठाकुर, पश्चिम की ओर राजस्थान में मीराबाई तथा गुजरात में प्रसिद्ध भक्त कवि नरसी मेहता ने कृष्ण-भक्ति के संदेश को सुनाकर जनता के हृदय में आस्तिकता, धर्माभिमान और आत्मबल का गौरव उत्पादित कर दिया था। इस भक्ति की निर्मल धारा ने न केवल जड़-प्राय धर्म में नूतन शक्ति और स्फूर्ति का संचार किया और ब्राह्मणों के सत्वहीन धर्म के ढोंग को हटा कर भक्ति की निर्मल शक्ति से हिन्दू-धर्म को जीवनमय किया परन्तु साथ ही अपने भक्तिमय हृदय के उद्गारों को विशेषत: हिन्दी-भाषा में प्रकट कर इस भक्ति-प्रवाह के नेताओं ने हिन्दी-साहित्य के स्थायी कोष को अखण्ड सम्पत्ति से समायुक्त कर दिया। बहुत शीघ्र इस भक्ति-स्रोत की तीन प्रमुख शाखायें उत्तर भारत में विस्तृत हो गई। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग गुरु रामानन्दजी ने मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजी की भक्ति-गाथा को गाकर भारतीय जीवन में नवीन जाग्रति का बीज-वपन कर दिया था। हिन्दी के परम सौभाग्य से इन गुरुवर तथा इनके शिष्यों ने अपने भक्तिपूर्ण उद्गार मुख्यत: हिन्दी-भाषा में ही प्रकट किये। आगे चल कर, तुलसीदासादि भक्त कवि इन्हीं के सम्प्रदाय में हुए। भक्ति की दूसरी शाखा कृष्णभक्ति के रूप में प्रकट हुई। इस ओर महात्मा वल्लभाचार्य्य ने सन् १४७९ के लगभग कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। यद्यपि वल्लभाचार्य्यजी ने अपने उत्तम ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में रचे परन्तु उनके शिष्यों में प्राय: सभी ने हिन्दी में

भक्ति-रस की बड़ी उच्च श्रेणी की काव्य-रचना की। इनके पुत्र विट्ठलनाथजी ने अपने पिता के भक्ति-संदेश का खूब प्रचार किया और हिन्दी कवियों और भक्तों की 'अष्टछाप' बनाई जो हिन्दी के भक्तिकाव्यसाहित्य में लब्धप्रतिष्ठ है और जिनके नाम ये हैं:—सूरदास, कृष्णदास, पयाहारी, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, चित्स्वामी, नन्ददास, और गोविन्ददास। इन्हीं कृष्ण-भक्तों की श्रेणी में महाराज पृथ्वीराज भी हैं। धार्मिक स्रोत की तीसरी शाखा अद्वैतवादी कवियों और दार्शनिकों के मत के रूप में प्रकट हुई। इस शाखा के प्रधान कवि कबीर प्रसिद्ध हुए जिन्होंने किसी एक धार्मिक मत के बन्धन में न रह कर सब धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्वों को आदर की दृष्टि से देखने का मत प्रचार किया। इस मत के कवियों और प्रचारकों ने सोई हुई हिन्दू-जाति में जातीयता और आत्माभिमान का भाव उत्पन्न किया। इसी के फलस्वरूप गुरु नानक की अध्यक्षता में सिक्ख-धर्म का उत्थान हुआ, जिसने बढ़ते हुए मुसलमान धर्म के आक्रमणकारी प्रवाह को रोक दिया और कुछ समय के लिए हिन्दू जातीयता की रक्षा की। भक्ति के इस अनर्गल प्रवाह में लवलीन भारत ने कुछ समय के लिए पराधीनता के दुःख को भुला दिया और खूब जी खोल कर स्वच्छन्द भक्ति का संगीत गान किया। इस प्रबल प्रवाह की शक्ति के आगे मुग़ल-साम्राज्य को भी सिर झुकाना पड़ा। मुग़ल-साम्राज्य में हिन्दी का आदर होने लगा। इस काल के बहुत से मुसलमान कवि हिन्दी में अच्छी कविता करने लगे और कई एक तो इस भक्ति-प्रवाह में इतने गहरे डूबे कि कृष्ण और राम के भक्त ही हो गये—यथा रहीम।

इस समुज्ज्वल भक्तिरस-पूर्ण समय में भक्तश्रेष्ठ महाराज पृथ्वीराज ने "वेलि क्रिसन रुकमणि री" नामक ग्रन्थ रचकर भगवान् कृष्ण के

प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की। ये किस प्रकार के भक्त थे इस बात के प्रमाण में हम कई एक उदाहरण देंगे।

चरमसीमा की विलासप्रियता तथा उच्च कोटि की भयानक, विस्मयोत्पादिनी वीरता—ये दो गुण स्वभावतः ही विरुद्धधर्मी होने के कारण एकत्र स्थायी नहीं पाये जाते। राजपूत राजाओं में भी विरले ही ऐसे होंगे जिनमें ये दोनों गुण एकत्र और समरूप में पाये जाते हों। परन्तु महाराज पृथ्वीराज की जीवनी को ध्यानपूर्वक देखने से ये दोनों गुण अपने विरोध दोषों को छोड़ कर एकत्र हो गये प्रतीत होते हैं। यही नहीं इन गुणों के साथ ही उनमें विद्यानुराग भी उत्कृष्ट श्रेणी का था जो प्रायः विलासिता का विरुद्धधर्मी होता है। एक राजपूत नरेश के पुत्र होने के कारण वे स्वभाव से ही विलासिता के आवरण में पले हुए थे। परन्तु विलासिता ने उनके संस्कारों को बिगाड़ा नहीं, प्रत्युत उनके हृदय में सांसारिक प्रेम और सौन्दर्य्य के प्रति वह अनुराग का अंकुर जमा दिया जो ज्ञान और विवेक के प्रकाश में प्रस्फुटित होकर अन्त में विशुद्ध कृष्ण-भक्ति के प्रफुल्ल पादप के रूप में प्रकट हुआ। शृंगार काव्य-रचना में अद्भुत सफलता प्राप्त करने का मुख्य कारण उनकी यह सांसारिक सौन्दर्य्य और प्रेम की उपासना और अनुभव ही है, जिसका अनुशीलन इस जीवन में उन्होंने अपर्याप्त परिमाण में किया था। उनकी अनन्य भक्ति की विशुद्धता का यही प्रमाण है कि उन्होंने जीवनकाल में अपने इष्टदेव भगवान कृष्ण का सायुज्य साक्षात्कार प्राप्त किया। वे एक उत्कृष्ट रहस्यवादी और द्रष्टा भी प्रसिद्ध थे, जिसके कई उदाहरण राज्यस्थान की जनता में किंवदन्ती के रूप में प्रचलित हैं और जिनमें से कुछ का आगे चलकर हम उल्लेख करेंगे। महाराज पृथ्वीराज की भक्ति के विषय में हमको यह बात विशेषतः याद रखनी चाहिए कि ये केवल एक भक्त, उच्चात्मा अथवा कवि ही नहीं थे वरन्

अपने सहज क्षात्रधर्म को पूर्णरूपेण निवाहनेवाले कर्मयोगी, राजर्षि भी थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि महाराज पृथ्वीराज ने अपने इष्टदेव के गीतानुमत त्रिविध योगमार्ग के किसी एकाङ्गी उपदेश को ग्रहण नहीं किया वरन् मोक्ष के साधनभूत तीनों मार्गों का सिद्धान्त रूप में एकत्रीकरण करके, योग-शक्ति-द्वारा संसार को भोगते हुए कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग का अपने व्यक्तित्व में अविच्छिन्न समावेश किया और अपने इष्टदेव से सायुज्य प्राप्त करते हुए जीवन-मुक्ति का लाभ किया। उन्होंने गीता के उपदेश का जीता जागता ज्वलन्त उदाहरण प्रदर्शित किया। उनके कर्मयोग के विषय में डा० टैसीटरी लिखते हैं :—

"He was an admirer of courage and unbending dignity and a sworn enemy of degradation and cringing servility. With the same frankness with which he could compose a song in praise of an act of gallantry or of determination performed by a friend or a foe, he would condemn in verses his own brother, the Raja of Bikaner, or even the all-powerful Akbar, for any act of weakness or of injustice committed by them."

अर्थात् "ये महाराज पराक्रम और अदम्य स्वाभिमान को श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे और दीनता, गुलामी और चारित्रिक पतन के पक्के वैरी थे। जिस स्वाभाविक उदारता के साथ ये किसी शत्रु अथवा मित्र की, उसकी वीरता अथवा कठोर प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की शक्ति के लिए कविताबद्ध प्रशंसा कर सकते थे, उसी स्पष्टता एवं उदारता के साथ वे कविता में अपने भाई बीकानेर के राजा—यही नहीं—सर्व-शक्ति-सम्पन्न सम्राट् अकबर तक की भी,

उनके किसी अत्याचार अथवा निकृष्ट कार्य के लिए निन्दा कर सकते थे।"

इस विषय में, आत्मगौरव को सदा के लिए तिलाञ्जलि देने के लिए विवश महाराणा प्रताप के प्रति जो पत्र लिखा गया था, उसके निर्भीक, शक्तिशाली छंदों को एक बार पुन: पढ़कर पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि स्वाभिमानी और निर्भीक महाराज पृथ्वीराज को अपने देश और जाति की स्वतंत्रता और मानरक्षा का कितना ख़याल था और यदि वांछित स्वतंत्रता प्राप्त होती तो उन ओजस्वी शब्दों को, अपनी स्वार्थहानि की परवा न करके लिखनेवाला कर्मयोगी कहाँ तक चरितार्थ कर दिखाता।

इनकी भक्ति के दृष्टान्तों में से हम यहाँ एक प्रचलित किंवदन्ती उद्धृत करते हैं। महाराज को तीर्थाटन करने में बड़ी श्रद्धा थी। जब ये 'वेलि' को लिख कर समाप्त कर चुके तो यह विचार हुआ कि इस "पत्रं पुष्पं फलं तोयं" स्वरूप भेंट को ले चलकर श्रीद्वारिकानाथ कृष्णचन्द्र भगवान् के चरणारविंद में प्रस्तुत की जाय। अतएव वे रनवास-सहित नौकर-चाकरों को साथ लेकर द्वारिका की ओर विदा हुए। उन दिनों रेलगाड़ी अथवा आजकल के शीघ्रगामी वायुयान यात्रा के लिए उपलब्ध न थे। स्थान स्थान पर विश्राम करते और डेरा डालते हुए चले। एक दिन सन्ध्या-समय महाराज ने एक वन के प्रान्त भाग पर खेमा डाला। थोड़ी ही देर बाद एक व्यापारी वैश्य ने, जो उसी दिशा को व्यापार के निमित्त यात्रा कर रहा था, वहीं आकर महाराज के खेमे के पास ही उनकी आज्ञा से तम्बू लगाया। भोजनादि से निवृत्त होकर महाराज विहार और प्रकृति-निरीक्षण के निमित्त खेमे के नज़दीक ही घूमने निकले। उसी समय वैश्य ने बाहर आकर महाराज का अभिवादन कर बातचीत प्रारम्भ की। थोड़ी ही देर की बातचीत के अनन्तर दोनों मित्र हो गये। तदनन्तर महाराज

वापिस अपने खेमे में और वैश्य अपने तम्बू में चले गये। महाराज को रात्रि में देर से नींद लगने का स्वभाव था। उन्होंने यह सोचा कि यह वैश्य सज्जन मालूम होता है, हरिभक्त भी है; चलें, उसी के यहाँ चल कर "वेलि" की गाथा सुनावें और कुछ समय पवित्र हरिकीर्तन में बितावें। यह सोच कर वैश्य के तम्बू में पहुँचे। अर्धरात्रि का समय हो गया था। अकस्मात् स्वयं महाराज को अपने निवासस्थान में आये देखकर वैश्य और उसकी स्त्री को विस्मय हुआ और उन्होंने अपना धन्य भाग्य समझा। वैश्य ने महाराज से "वेलि" सुनने की इच्छा प्रकट की और महाराज ने श्रद्धा और रुचिपूर्वक वैश्य दम्पति को आद्योपान्त अर्थ-सहित "वेलि" का श्रवण कराया। इसके बाद अपने तम्बू में आकर सो रहे। प्रातःकाल चार बजे के तड़के ही नियमानुसार डेरा उठाकर यात्रा प्रारम्भ करने की महाराज ने आज्ञा दे दी। कुछ कोस चल कर महाराज को स्मरण हुआ कि रात्रि को उक्त वैश्य को "वेलि" सुना कर पुस्तक को वहीं छोड़ आये थे। अतएव सवार को दौड़ाया कि वह जाकर वैश्य के यहाँ से पुस्तक ले आवे अथवा यदि वैश्य चल दिया हो तो इर्द गिर्द दो चार कोस में खोज कर उससे "वेलि" माँग लावे। सवार ने रात्रि के पड़ाव के स्थान पर जाकर क्या अद्भुत दृश्य देखा कि उस जगह केवल महाराज के खेमों के स्थान पर तो आदमी, पशु और तम्बुओं के खूँटों के चिह्न थे परन्तु आस पास देखने पर वैश्य के तम्बू की जगह किसी प्रकार का कोई चिह्न भूमि पर न देखा। इस अलौकिक घटना को, नौकर ने, जाकर महाराज को सुनाया, तो महाराज ने नौकर का विश्वास न कर स्वयं जाना निश्चय किया। परन्तु उन्होंने भी वही दृश्य पाया। आश्चर्य और खेद की सीमा न रही। इतने में ही उनकी दृष्टि पास ही एक छोटे से वृक्ष के पौदे पर पड़ी। "वेलि" पुस्तक सुरक्षित रूप

में एक तुलसी वृक्ष के ऊपर पड़ी हुई दिखाई दी। महाराज को आन्तरिक बोध हुआ और उन्होंने मन ही मन अपने इष्टदेव को नमस्कार कर अपने भाग्य को धन्य माना, कि जिनकी यात्रा को सफल करने के लिए, एवं निज भक्त जन की श्रद्धाञ्जलि को स्वीकार करने के लिए स्वयं श्रीद्वारिकानाथ ने पधार कर इतना कष्ट उठाया।

महाराज पृथ्वीराज को श्रीलक्ष्मीनाथजी का इष्ट था। जहाँ कहीं भी होते वे नियमानुसार अपने इष्टदेव की मानसी पूजा किया करते थे। कहते हैं कि एक बार आगरे में पूजा करते समय इन्होंने यह बता दिया था कि अमुक समय इष्टदेव की सवारी नगरकीर्त्तन के लिए बीकानेर नगर में निकल रही थी। जाँच करने पर यह बात सत्य निकली। पृथ्वीराज की भक्ति के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये त्रिकालज्ञ थे एवं योगबल और दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न थे। एक बार अकबर ने इनसे पूछा, "तुम्हारे कोई पीर वश में अवश्य है। अच्छा, तो बताओ, तुम्हारी मृत्यु कहाँ और कब होगी?" महाराज ने कुछ विचार कर उत्तर दिया, "मथुरा के विश्रान्तघाट पर और उस समय एक सफ़ेद कौआ प्रकट होगा।" बादशाह को विश्वास न हुआ और आज़माइश की तौर पर इस होनी को अनहोनी सिद्ध करने के लिए उन्होंने पृथ्वीराज को अटक के पार राज्यकार्य पर नियत करके भेज दिया। इस वृत्तान्त के पाँच महीने बाद एक दिन अकस्मात् ऐसा मौका आया कि एक अलौकिक चकवा-चकवी के जोड़े को, जिसको एक भील बाज़ार में बेचने के लिए पकड़ लाया था, आश्चर्ययुक्त मानव-भाषा में बोलते देखकर बादशाह ने मँगवा भेजा। इस प्रसंग में नवाब खानखाना ने, "सज्जन वारूँ कोड़धा या दुर्जन की भेंट" यह चरण रचा और आगे चुप रहे। बादशाह ने कवि को दूसरा चरण भी बनाने को कहा। परन्तु न कहा गया।

तब महाराज पृथ्वीराज को एकदम बुलाने का हुक्म हुआ। पृथ्वीराज आते हुए मथुरा होते आये और रास्ते में ही इष्टदेव के दर्शन करने की इच्छा से वहाँ ठहर गये। परन्तु मृत्यु को निकट आई देख, "रजनी का मेला किया बेह का अच्छर मेट" यह दूसरा चरण लिख कर आदमी के हाथ बादशाह को भिजवा दिया और आपने दान-पुण्य कर विश्रान्तघाट पर इष्ट का स्मरण करते हुए सदा के लिए विश्रान्ति-लाभ की। उस समय एक सफ़ेद कौआ प्रकट हुआ और बादशाह के आदमियों ने सब हाल जा सुनाया। यह बात संवत् १६५७ की है।

विद्वत्ता

महाराज पृथ्वीराज की विद्वत्ता, अनुभवदक्षता और विशेषतः संस्कृत-साहित्य-विषयक ज्ञान की गंभीरता के प्रमाण "वेलि" के अन्तर्गत अनेकानेक विशद शृंगार एवं इतर दासों के भावुक और स्वाभाविक वर्णनों से, कालिदासादि महाकवियों की काव्यपद्धति के अनुकरण और समानताओं से, काव्यप्रयुक्त रस, अलङ्कार, भावविशिष्टता, अर्थगौरव, छन्दःशास्त्र के नियम और भाषा-सौष्ठव की रीतियों के सम्यक् पालन इत्यादि से भली भाँति प्रदर्शित होते हैं। स्वयं कवि ने "वेलि" के उपसंहार में कई एक छन्दों में बिलकुल सत्य लिखा है कि "वेलि" का अर्थज्ञान प्राप्त करने के लिए पाठक को विविध शास्त्रों के मर्म का ज्ञाता होना अत्यन्त आवश्यक है। कवि के इस कथन में किसी प्रकार की मिथ्या आत्मश्लाघा अथवा अतिशयोक्ति की शंका नहीं करना चाहिए "वेलि" का पूर्ण रसास्वादन करने के लिए पाठक में इन गुणों की आवश्यकता कवि ने बताई है :—

ज्योतिषी, वैद, पौराणिक जोगी, संगीती, तारकिक, सहि।
चारण, भाट, सुकवि भाषा चित्र, करि एकठा तो अर्थ कहि॥२९९॥

हम ऊपर कह आये हैं कि महाराज पृथ्वीराज ने डिंगल और पिंगल दोनों भाषाओं में काव्यरचना की है। पिंगल में उनके अनेक फुटकर दोहे, सोरठे, छप्पय इत्यादि बताये जाते हैं परन्तु इनमें बहुत से ऐसे भी कहे जाते हैं जिनको हम प्रामाणिक नहीं कह सकते। उनकी हिन्दी कविता के नमूने के तौर पर हम नीचे एक छन्द उद्धृत करते हैं जो उन्हीं का रचा हुआ बताया जाता है।

अन्य काव्य और स्फुट कविताएँ

अकबर से विरोध करने और महाराणा से पक्षपात करने का संवाद जब पृथ्वीराज की धर्मपत्नी चम्पादे को मिले तो उनको बड़ी चिन्ता हुई। चम्पादे ने यह दोहा लिख कर भेजा :—

पति जिद की पतशाह सूं यहै सुणी मैं आज।
कहँ पातल अकबर कहाँ, करियो बड़ो अकाज॥

पृथ्वीराज ने यह कवित्त लिखकर उत्तर दिया:—

जब ते सुने है बैन, तब ते न मोको चैन।
पाती पढ़ि नेक सो बिलम्ब न लगावेगो॥
लैके जमदूत से समत्थ राजपूत आज।
आगरे में आठों याम ऊधम मचावेगो॥
कहै पृथीराज प्रिया नेकु उर धीर धरो।
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावेगो॥
मन को मरद मानी, प्रबल प्रतापसिंह।
बब्बर ज्यों तड़प, अकब्बर पै आवेगो॥

महाराज पृथ्वीराज की फुटकर डिंगलकविता के उदाहरण-स्वरूप कई दोहे, सोरठे, छप्पय, गीत इत्यादि छंद राजस्थान के कवियों

और चारणों में प्रख्यात हैं। इनमें भी बहुत ऐसे हैं जिनका पृथ्वीराज की रचना होने में संदेह है। बहुत से गीत अथवा इतर स्फुट छंद तो ऐसे पाये जाते हैं जो "साखरा गीत" अथवा प्रसंगात्मक कविता कही जा सकती है, जो समय समय पर कवि ने प्रतिभान्वित होकर राजस्थान के प्रमुख, ख्यातनाम वीर, स्वाभिमानी, राजपूत सरदारों और नरेन्द्रों की प्रशंसा में लिखे हैं। इन "साखरा गीत" में से एक प्रसिद्ध गीत महाराणा प्रताप के अलौकिक साहस, धर्मव्रत, क्षात्रधर्मप्रतिष्ठा तथा अदम्य तेजस्विता की प्रशंसा में लिखा है जो नीचे उद्धृत करते हैं :—

नर तेथ निमाणा निलजी नारी अकबर गाहक बट अबट।
चौहटे तिण जायर चीतोड़ो बेचे किम रजपूत बट॥
रोजायताँ तणैं नवरोजै जेथ मुसाणा जणो जण।
हिन्दूनाथ दिलीचे हाटे पतो न खरचै क्षत्री पण॥
परपंच लाज दीठ नह व्यापण, खोटो लाभ अलाभ खरो।
रज बेचवा न आवै राणो, हाटे मीर हमीर हरो॥
पेखे आप तणाँ पुरुषोत्तम, रह अणियाल तणैं बल राण।
खत्र बेचिया अनेक खत्रियाँ, खत्रवट थिर राखी खूमाण॥
जासी हाट बात रहसी जग अकबर ठग जासी एकार।
रह राखियो खत्री ध्रम राणैं, साराले बरतो संसार॥

इसी प्रकार वीरवर कल्ला रायमलोत तथा अपने कनिष्ठ भ्राता रामसिंह की प्रकृष्ट वीरता के सम्बन्ध में इन्होंने गीत लिखे। वीरवर कल्याणसिंह रायमलोत राजस्थान के एक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय वीर हो गये हैं। इस गीत के १४ छंद हमारे देखने में आये हैं और उनमें प्रत्येक ४ चरणों का है। यह गीत इस प्रकार प्रारम्भ होता है :—

बल चढ़ बोलियो पतशाह बदी तो
मंडोवर रुख माण मदीतो
जो जमवार लगे जस जीतो
कलो भलो रजपूत कही ते। ॥ १ ॥

पुलिया दल पाधर पतशाही
सिध नरियण सूँ बीड़ा शाही
बकिया बैण तिका निर्बाही
गढ़ सुमियाण कला पिड़गाही ॥ २ ॥

पृथ्वीराज के कनिष्ठ भ्राता, अकबर के प्रत्यन्त विरोधी होने के कारण अपने पैत्रिक राज्य से निर्वासित हो चुके थे और प्रताप की तरह अकबर का सामना करने की तैयारी कर रहे थे। अकबर के प्रसिद्ध सेनापति हमज़ो का, बड़ी मुग़ल-सेना के साथ सामना करते हुए ये बड़ी वीरता के साथ युद्ध में काम आये थे। इनकी वीरता का पृथ्वीराज को गर्व होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है।

वीरता-विषयक इन गीतों के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने अपने जीवन के उत्तर काल में अनेक अच्छे अच्छे भक्ति-काव्य के पदों, दोहों, सोरठों तथा गीतों की रचना की थी जो मुख्यतः रामकृष्णादि अवतारों तथा गंगा के स्तोत्रों के रूप में यत्र तत्र अब भी उपलब्ध होते हैं। पृथ्वीराज का यह भक्ति-विषयक प्रकीर्णक काव्य राजस्थान के भक्तों की स्मृति में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं सुरक्षित है और इसमें उनकी पवित्र प्रतिभा, उच्च कोटि की भक्ति तथा शान्तरस के काव्य का चमत्कार पूर्णरूपेण प्रदर्शित होते हैं।

(१) 'दशरथरावउत' श्रीरामचन्द्रजी की स्तुति के दोहे पुस्तकाकार में हमको उपलब्ध हैं। इनकी संख्या ५० के लगभग है। उदाहरण के लिए उनमें से कुछ हम नीचे उद्धृत करेंगे।

(२) इसी प्रकार "बसदेरावउत" श्रीकृष्णचन्द्र भगवान की स्तुति एवं गुणानुवाद के दोहे भी पुस्तकाकार में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के दोहों की संख्या १६५ है। इस सम्बन्ध में ध्यान में रहना चाहिए कि सब देवताओं में भक्ति रखते हुए भी कवि को कृष्ण की भक्ति विशेषत: इष्ट थी। यह बात दोहों की अपेक्षाकृत अधिकता से भी प्रमाणित होती है। हम क्रमश: इन दोहों का उदाहरण भी पाठकों के समक्ष रखेंगे।

(३) महाराज पृथ्वीराज की "गंगा-लहरी" के दोहे, जो 'भागीरथी,' 'जाह्नवी' अथवा 'मंदाकिनी' उपनाम से युक्त हैं, समस्त राजस्थान में अत्यन्त प्रख्यात हैं। इस विषय के सब दोहों का मिलना तो कठिन है। बहुत से दोहे तो राजस्थान की जनता में भक्तों के गंगा-स्तुति-पाठ के रूप में प्रचलित हो चुके हैं। परन्तु उनमें भी अनेकानेक पाठान्तर मिलते हैं, जिससे यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कौन कौन से दोहे तो कवि की प्रामाणिक कृति हैं और कौन कौन से इतर कवि-कल्पित हैं। हमको अप्रकाशित पुस्तकाकार में "गंगा-लहरी" के कुल दोहों में से ४८ 'भागीरथी' उपनाम से समायुक्त और लगभग ३० 'जाह्नवी' और 'मन्दाकिनी' के नाम से संयुक्त, उपलब्ध हुए हैं। इन ७८ दोहों के सम्बन्ध में हम सप्रमाण कह सकते हैं कि ये महाराज पृथ्वीराज की प्रामाणिक कृति हैं। ये दोहे सं० १६७६ में संकलित करके बुरहानपुर में लिखे गये थे और 'वेलि' की ढूँढाड़ी टीकावाली प्रति में सम्मिलित कर दिये गये थे। कहते हैं, महाराजा श्रीसूरजसिंहजी बीकानेर-नरेश के स्तुति-पाठ के निमित्त ये एकत्रित किये गये थे। जनस्मृति में अन्यान्य 'भागीरथी' के जो दोहे प्रचलित हैं, अथवा जो जो उनके पाठान्तर सुनने में आते हैं उनके प्रमाण के विषय में हमको संदेह है।

अब हम क्रमशः रामस्तुति, कृष्णस्तुति तथा गंगास्तुति की कविता का थोड़ा थोड़ा नमूना सहृदयों के आस्वादनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं :—

(१) अथ रामस्तुति :—

सुंदर श्याम शरीर, अम्ब कौशल्या आँगणै ।
वाधण लागौ वीर, दिन दिन दशरथरावउत ॥ १ ॥
शिला परसि पग श्याम, अज आणन्दघण ऊधरी ।
रिष गोतमची वाम, दैता दशरथरावउत ॥ २ ॥
सिल ऊधरती सारि, नाठौ झड़वा नाव लै ।
महिमा चलण मुरारि, देखै दशरथरावउत ॥ ३ ॥
माहरी बेड़ी माँहि, हरि ज शिलावाली हुई ।
कुटुम्ब क्षुधा दुख काहि, दाखों दशरथरावउत ॥ ४ ॥
आइयो महिमा आण, ताहरि रघुकुल का तिलक ।
पोत थयो पाखाण, दीखै दशरथरावउत ॥ ५ ॥
करि अम्बहरि कराणि, घर रावण भीतर घटा ।
खिंवी तुम्हाँ री खाग, दामिणि दशरथरावउत ॥ ६ ॥
प्रभु ताई थिया प्रवीत, जाइ समरपिया संखधर ।
गाह, कवित्त, छंद गीत, दूहा दशरथरावउत ॥ ७ ॥

(१) और (२) दोहों का अर्थ स्पष्ट है। निर्जीव शिला को सजीव करने की महिमा को सुनकर धीवर अपनी नाव लेकर भागने को तैयार हुआ। भगवान् की जड़ पदार्थों को भी चलायमान होने की शक्ति दे देनेवाली महिमा को देखकर ग़रीब धीवर घबरा गया और बोला:—हे दशरथरावसुत, भगवान्, यदि मेरी छोटी

सी नैया में भी शिलावाली घटना हुई तो मैं ग़रीब अपने कुटुम्ब की क्षुधाजन्य दु:ख को किसे दिखाऊँगा ? (४) पृथ्वीराज कहते हैं कि हे भगवान् ! आपकी इच्छा से समुद्र पर जड़ पत्थर भी नाव बन कर तर गये। ऐसी आपकी महिमा पर विश्वास कर, मैं आपकी शरण आया हूँ। आप मुझ अज्ञानी (जड़मति) को भी भवसागर से अवश्य पार उतारेंगे ॥५॥ हे दशरथरावसुत, दुष्ट रावणरूपी आकाश की पापरूपी घनी घटाओं में आपकी तलवार (खाग) दामिनि के रूप में चमकी थी (खिंवी) ॥६॥ हे संखधर प्रभु ! जो कुछ, गाथायें, कवित्त, छंद, गीत, दूहा इत्यादि मैंने कहे हैं, वे सब आपको समर्पित कर दियें। अतएव वे पवित्र होगये ॥७॥

(२) अथ कृष्णस्तुति :—

रथ बणियौ पंखराव, वामै अंग राधा वणी।
बीच ताहरो बणाव, बणियौं बसदेरावउत ॥ १ ॥
आणन्द घण उर आण, आणन्द, आणन्दिया नहीं।
तै दीखै दीवाण, विलखा बसदेरावउत ॥ २ ॥
जपियो ज्यां जगदीश, जगदीसर जपियो नहीं।
बधिया घटिया बीस, बिसवा बसदेरावउत ॥ ३ ॥
श्रीवर सूँ बिन साँच, जेहो मणि मानव जनम।
केशव थियो सु काँच, विनसै बसदेरावउत ॥ ४ ॥
महारी थई मुरारि, गोविन्द तूँ लागी गुणां।
सुकियारथी सँसार, वाणी बसदेरावउत ॥ ५ ॥
नायक जग तुव नाम, लिखमीवर थिया लागतां।
सुजु फलदायक श्याम, वायक बसदेरावउत ॥ ६ ॥

पूज तम्हीणां पाग, करतां सुणतां कीरतन ।
लागी लेखे लाग, बेला बसदेरावउत ॥ ७ ॥
गोविंद बिन तुव गाथ, जाहि जके जगदीश वर ।
निशा सरीखा नाथ, बासर बसदेरावउत ॥ ८ ॥
किरि कूटियै कपाल, त्रीकम तूँ विमुखाँ तणां ।
घड़ी घड़ी घड़ियाल, बाजै बसदेरावउत ॥ ९ ॥
जाप तम्हीणां जेज, परमेशर करतां पड़ी ।
तै भांजै तो भांज, बेथी बसदेरावउत ॥ १० ॥
अवतरियो अवतार, तो मेटण भगतां तणों ।
भगवत टालण भार, बसुधा बसदेरावउत ॥ ११ ॥
माहव तैं मुख माँह, जननी दाखविया जगत् ।
कन्ह भखण मृद काह, ब्याजै बसदेरावउत ॥ १२ ॥

अर्थात्, हे वासुदेव, खगपति गरुड़ आपके रथ बन कर शोभायमान हैं और वाम अङ्ग में राधाजी शोभायमान हैं। बीच में आपकी अद्भुत छबि खूब बनी है ॥१॥

जो आनन्दघन को हृदय में धारण कर उनके दर्शनानन्द के आनन्द से आनन्दित नहीं हुए, वे पुरुष चाहे समस्त सांसारिक सम्पदा के ही मालिक क्यों न हों, बिलखे अर्थात् व्याकुल प्रतीत होते हैं ॥२॥

जिन्होंने एक जगदीश अर्थात् इष्ट-देव का जप किया परन्तु समस्त संसार के स्वामी को नहीं जपा, वे क्रमशः निश्चय करके, नाश और समृद्धि को प्राप्त हुए ॥३॥

लक्ष्मीनाथ के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा, असत्यता का व्यवहार करने के कारण, अमूल्य मणि जैसा मानव-जन्म अकिंचन काँच के मूल्य की तरह तुच्छ होकर विनष्ट होगया ॥४॥

हे वासुदेव, हे मुरारि, हे गोविन्द, तुम्हारे गुणानुवाद में लगकर मेरी वाणी संसार में रहते हुए भी सुफल होगई ॥५॥

हे वासुदेव, जगनायक, लक्ष्मीवर, श्याम, तुम्हारे नाम का जाप कर मेरी वाणी फलदायिनी (धर्मार्थ काममोक्षदायिनी) बन गई है ॥६॥

हे वासुदेव, तुम्हारे चरणकमलों का पूजन कर, तुम्हारा ही कीर्त्तन करते और सुनते हुए मेरे जीवन की बेला (समय) सत्यपथ पर लग गई, अर्थात् व्यर्थ न गई ॥७॥

हे वासुदेव, जगदीश्वर, गोविन्द, तुम्हारी गाथा (संकीर्त्तन) के बिना मेरे जो दिन व्यतीत होते हैं, वे रात्रि के बराबर हैं ॥८॥

हे वासुदेव, हे त्रिविक्रम, तुमसे विमुख होकर चलनेवाले जीवों का कपाल कूट कूट कर प्रत्येक घड़ी, यह घड़ियाल (घड़ी) बजकर उनको चेतावनी देता रहता है ॥९॥

हे वासुदेव, हे परमेश्वर, तुम्हारा जाप करने में विक्षेप (जेज) पड़ गई है। इस विक्षेप से तुम्हारे और मेरे बीच में जो बेथी (अन्तर, दूरी) पड़ गई है, उसे नष्ट करना हो तो नष्ट कर, अन्यथा मैं तो नष्ट हो चुका ॥१०॥

हे वासुदेव भगवान्, आपने अपने भक्तों का उद्धार करने और वसुधा का भार उतारने के लिए अवतार लिया है ॥११॥

हे वासुदेव, हे माधव, हे कान्ह, आपने मिट्टी खाने के मिस से बाल-लीला करते हुए माता यशोदा को जगत् का रहस्य दिखला दिया था। आपके लिए मेरा उद्धार करना कठिन नहीं है। मुझे भी प्रज्ञा-चक्षु दीजिए ॥१२॥

(३) अथ गङ्गास्तुति :—

काया लागो काठ, सिकलीगर सुधरै नहीं ।
निरमल हुवै निराट, भेट्यां सूँ भागीरथी ॥ १ ॥

गंगा ऊजल गात, सिर सोहै शंकर तणी ।
मुकुट जटा में मात, भलकै तूँ भागीरथी ॥ २ ॥

गंगाजल गुटकीह, निरखै ही लीधौ नहीं ।
भव भव में भटकीह, भूत हुआ भागीरथी ॥ ३ ॥

गंगा अरु गीताह, श्रवण सुणि अरु साँभली ।
जुग नर वह जीताह, वेद कहै भागीरथी ॥ ४ ॥

मौड़ो आयो मात, तैं बेगो ही तारियो ।
पड़ियो रहसूँ पाँय, भाठो हुय भागीरथी ॥ ५ ॥

जालया पुत्र जकेह, साठ सहस सागर तणा ।
तैं तारिया तकेह, भेला ही भागीरथी ॥ ६ ॥

लाखाँ देवाँ लोय, मात न ह्वै भजताँ मुगत ।
हाडाँ पड़ियाँ होय, भीतर तोय भागीरथी ॥ ७ ॥

हरि गंगा हेकार, कहे जकै मंजण करै ।
भूंडाँ ही क्रम भार, भव न हुवै भागीरथी ॥ ८ ॥

कीया पाप जकेह, जनम जनम में जूजुवा ।
तैं भाँजिया तकेह, भेला हीं भागीरथी ॥ ९ ॥

सुरसरि दीपै सात, नवखंडै चहवै निगम ।
तूँ मानीजै मात, भवनै ही भागीरथी ॥ १० ॥

देवी तूँ देवेह, जननी करि सारी जगति ।
मानी मानवियेह, भमगैही भागीरथी ॥ ११ ॥

सुरसरि वांछै श्रेव, थाहरे तट कीटहि थये। ।
देवन वाँछू देवि, भूपति हुय भागीरथी ॥१२॥

नित नित नवाँ नवाँ, मंजण करताँ मानव्याँ ।
भव टालियै भवाँह, भव कीजै भागीरथी ॥ १३ ॥

तूझ सिनानाँ तोय, माता ह्याँ लाभइ मुगति ।
हरि अधिकारी होय, तइ भजताँ भागीरथी ॥ १४ ॥

अनि तीरथे अघात, अनि देवते न आपियइ ।
मात मुगति तिलमात, तो भाये भागीरथी ॥ १५ ॥

लागी साँकल लोय, छूटै छाँट तुहायली ।
तणी करम्माँ तोय, भैाले ही भागीरथी ॥ १६ ॥

जव तिल जितरो जाय, हेक कणूँ कौ हाडरो ।
मुवाँ पछे ही माय, भेलै गत भागीरथी ॥ १७ ॥

पुलियै मग पुलियाह, हुवै दरस अदरस हुवा ।
जल पैठाँ जलियाह, मंदाक्रम मंदाकिनी ॥ १८ ॥

अर्थात्, इस पञ्चभौतिक काया में लगा हुआ माया का ज़ंक (काठ) किसी मामूली सिकलीगर अर्थात् शस्त्रास्त्रों, यथा तलवारादि का ज़ंक मिटाकर शाण पर तेज करनेवाले लोहकार के मिटाये नहीं मिट सकता। यह कलिमलकलङ्क तो, हे भागीरथी ! तेरे भेंटने से ही अर्थात् गङ्गा-स्नान से ही धुल सकता है ॥१॥

उज्ज्वलधारवाली गङ्गा महादेव के मस्तक पर शोभा देती है। हे माता ! तू हर की जटा में मुकुट की तरह देदीप्यमान हो रही है ॥२॥

जिसने प्रात:काल उठते ही गङ्गाजल की गुटकी नियमपूर्वक नहीं ली अर्थात् आचमन नहीं किया, वह जन्मजन्मान्तर में भूत हुआ भटकता रहा ॥३॥

जिसने नियमपूर्वक गङ्गाजल का नित्यप्रति आचमन किया और गीता का नियमपूर्वक श्रवण किया, बुद्धिमान् मनुष्य और धर्मशास्त्र उसीको "जीता है" इस पद से समायुक्त समझते हैं। इनके सेवन बिना संसार में मनुष्य, "श्वसन्नपि न जीवति" ॥४॥

हे माता! मैं बहुत ज़िन्दगी बीतने पर सँभला और अब देर से तेरी शरण में आया हूँ, परन्तु तूने तो मुझे आते ही तार दिया। अतएव, अब मैं संसार से पूर्णतया विरक्त होगया हूँ और तेरे चरणों में अर्थात् स्रोत में कंकड़ (भाठो) होकर सदा के लिए पड़ा रहूँगा— यह मेरी इच्छा है ॥५॥

ऋषि कपिल ने सगर के जिन साठ हज़ार पुत्रों को भस्म कर दिया था, उन सबको एक साथ ही तूने पुनर्जीवित कर दिया— ऐसा तेरा यश है ॥६॥

संसार के जीव जीते जी लाखों देवों से लौ लगाकर उनकी भक्ति करते हैं, परन्तु उनको भजते हुए मुक्ति नहीं पाते। परन्तु मरने पर उनके हाड भी यदि तेरे वक्ष में गिर जायँ, तो उनको भूतयोनि से मुक्ति हो जाती है ॥७॥

जो मनुष्य अपने जीवन में एक बार भी सच्चे मन से हरि का स्मरण कर लें अथवा एक बार ही शुद्ध अन्त:करण से तेरे जल में स्नान कर लें तो उनके पापकर्मों का समस्त भार धुल जाय और वे पुनर्जन्म से मुक्त हो जायँ ॥८॥

हे भागीरथी! मैंने अनेकानेक (जूजुवा = जुदा जुदा) जन्म में जो जो पाप किये उन सबको तूने एक बारगी (भेला) ही नष्ट कर दिया ॥९॥

हे सुरसरि भागीरथी ! सात द्वीप, नवखंड और चौदह भुवन तथा निगम अर्थात् शास्त्रों में तू मानी गई है ॥१०॥

हे देवि भागीरथी ! तुझको न केवल मानवों ने वरन देवताओं तथा निम्नसृष्टि के कीट पतंगादि ने (भमगै) भी माता मानकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सम्मान किया है ॥११॥

हे सुरसरि ! मेरी ऐसी श्रद्धा होती है कि मैं तेरे तट पर एक तुच्छ कीट बनकर निश्रेयस् प्राप्ति की इच्छा करता रहूँ परन्तु मैं भूपति बनकर के भी अन्य देवता से निश्रेयस् प्राप्ति की आशा नहीं करूँगा। क्योंकि उनसे मुझे कोई आशा नहीं है ॥१२॥

हे भागीरथी, तेरे निर्मल जल में प्रतिदिन मज्जन करते हुए अनेकानेक मनुष्यों के जन्मान्तर का आवागमन तूने टाल दिया। अतएव मेरा भी अब कल्याण (भव) कर ॥१३॥

हे माता, तेरे जल में स्नान करते हुए और तुझे भजते हुए मनुष्य की जीवन्मुक्ति हो जाती है और वह हरि का अधिकारी हो जाता है ॥१४॥

जो मुक्ति अन्य तीर्थों का स्नान करने से अथवा अन्य देवताओं का भजन करने से नहीं प्राप्त होती, तेरे लिए अपने भक्त को वह मुक्ति देना तिलमात्र की तरह है अर्थात् सहज है ॥१५॥

कर्म-बंधनों से बँधकर तनी हुई यह लोहशृंखला जो प्राणियों को संसार से बाँधती है, वह सहज ही में तेरे पावन जल की एक छींट से ही छूट जाती है ॥१६॥

अगर मरने के पश्चात् एक जव अथवा तिलकण जितना हाड़ का टुकड़ा (कणूँका) भी तेरे पावन जल में पड़ जायगा, तो निश्चय ही मेरी गति हो जायगी ॥१७॥

हे मंदाकिनी, जब मैं प्रतिज्ञा करके भक्तिपूर्वक तेरी ओर चला, तो मेरे (मंदाक्रम) मंद कर्मों (पाप कर्मों) का भार भी चलायमान हुआ (पुलिया); जब तेरा दर्शन हुआ तो मेरे मंदे कर्म अदृष्ट होकर

नष्ट होने लगे; अन्त में जब मैं तेरी पतितपावनी जल-धार में पैठा—प्रविष्ट हुआ, तब तो मेरे पापकर्म एकदम जलकर भस्म हो गये ॥१८॥

उपरोक्त क्रमबद्ध ईशस्तवनात्मक काव्यों के अतिरिक्त पृथ्वीराज के अन्य प्रकीर्णक दोहे, सोरठे, पद इत्यादि भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। इनके कुछ प्रस्तावनात्मक, वैराग्य, नीति एवं अन्य गंभीर विषयों के दोहे हम नीचे उद्धृत करते हैं। इन दोहों में से किन्हीं किन्हीं में इतनी उच्च कोटि का काव्य-चमत्कार भरा है कि रसज्ञों के आस्वादन करते ही बनता है। प्रशंसा अथवा अन्य कवि से तुलना करना वृथा होगा। उदाहरणतः—

मैं हरि तजि गुण मानव्यां, जोड़े किया जतन्न ।
जाणि चितःभ्रम बांधिया, गलि गाधाह रतन्न ॥ १ ॥

प्रिथु जु मैं अवरापणे, गुण छंडे गोपाल ।
मणि गूँथै मोताहलाँ, मड़गल घाती माल ॥ २ ॥

हरि परिहरि करि अंवर सूँ, जास विलूंबी बाण ।
तरु छंडै लागी लता, पत्थर के गल जाण ॥ ३ ॥

तूंबी ही तारण समथ, जल ऊपर पाखाण ।
ताइ तारिये, जागतारण, तह केहा बाखाण ॥ ४ ॥

खिण बसताँ ऊजड़ करै, खिण ऊजड़ खिण बास ।
यह जग अरहट की घड़ी, देख डरयो पृथुदास ॥ ५ ॥

प्रिथु प्रभु पंथी प्रेम को, नयने दीय दिखाय ।
मो मन लगर तुरंग ज्यों, ज्यौं खंचै तिम जाय ॥ ६ ॥

जात वलै नहिं दीहड़ा, जिम गिर निरभ्भरणाइ ।
उठ रे आतम धरम कर, सुतै निचिंता काइ ॥ ७ ॥

अर्थात्:—मैंने हरि के गुणों को छोड़कर साधारण मानवों के गुणों में यत्नपूर्वक प्रीति जोड़ी। मानो पागल (चित्तभ्रम) ने अन्य उपयुक्त पात्रों को छोड़कर गदहे के गले में अमूल्य रत्न को बाँध दिया ॥१॥

पृथ्वीराज कहते हैं, मैंने अज्ञानवश गोपाल के गुणों को छोड़ दिया और अन्य सांसारिक गुणों का सेवन किया। मानों मणियुक्त मुक्तामाला को मृतक शरीर के गले में डाल दिया ॥२॥

हरि के गुणों को छोड़कर जिसकी वाणी अन्यत्र मायालिप्त (विलूँबी) हो गई, तो मानों, लता तरु के आधार को छोड़कर पत्थर के गले लग गई है ॥३॥

जब तूँबी जैसी तुच्छ वस्तु ही पत्थर को पानी के ऊपर तैराने की सामर्थ्य रखती है, तब तो समस्त संसार के स्वामी यदि पाप के भार से बोझल पापियों को भवसागर से पार उतार दें, तो इसमें क्या आश्चर्य्य है ॥४॥

यह काल का चक्र विचित्र है। क्षणेक में तो यह अच्छी तरह से व्यवस्थित जीवों और पदार्थों को ऊजड़ कर देता है और क्षणेक में ऊजड़ को बसा देता है। अरहट (ग्रामीण कुओं में से पानी निकालने का यंत्र, जिसमें मिट्टी के पात्रों की बनी एक शृंखला होती है) की शृंखला की तरह, कि जिसका पात्र क्षणेक में भर जाता है और क्षणेक में रिक्त हो जाता है, इस काल-परिवर्त्तन-चक्र को देखकर पृथु डरता है ॥५॥

हे प्रभु, यह पृथ्वीराज, आपका दास, आपके प्रेम-पथ का पथिक है। इसे प्रज्ञाचक्षु दीजिए जिससे यह सत्य प्रेम-पथ पर विचलित न हो, अन्यथा मेरा मन तो चपल तुरंग की तरह चंचल हो रहा है और ज्यों ज्यों मैं उसको खैंचता हूँ अर्थात् योगस्थित करना चाहता हूँ, त्यों त्यों वह कुमार्ग पर जाता है ॥६॥

दिन, एक बार जाकर वापिस नहीं लौटते, जिस प्रकार पर्वत के झरने पर्वत से निकल कर वापिस नहीं लौटते, अतएव, हे संसारी जीव, अपनी मोह-निद्रा से उठ, अपना कर्त्तव्य कर; निश्चिन्त होकर क्यों सो रहा है ॥७॥

इसी प्रकार पृथ्वीराज का एक भक्तिरसपूर्ण डिंगलपद भी सुनने में आया है, जो नीचे उद्धृत है:—

हरि जेम हलाड़ो[1] जिम हालीजै, काँय धणियाँ[2] सूँ जोर कृपाल।
पाली[3] दिवो दिवो छत्र माथै, देवो सो लेऊँ स दयाल।
रीस करो भावै रलियावत[4], गज भावै खर चाढ़ गुलाम।
माहरै सदा ताहरी माहव, रज़ा[5] सजा सिर ऊपर राम।
मूझ उमेद बड़ी महमैंहण[6], सिन्धुर पाषै केम सरै।
चीतारो[7] खर सीस चित्र दै, किसूँ पूतलियाँ[8] पाँण करै।
तू स्वामी पृथुराज ताहरो, बलि बीजाँ[9] को करै विलाग[10]।
रूड़ो[11] जिको प्रताप रावलो[12], भूँड़ो[13] जिको हमीणो भाग॥

अर्थ स्पष्ट है।

पृथ्वीराजकृत राधाकृष्ण के नखशिखशृंगारवर्णन के हिन्दी में कुछ छप्पय भी हमारे देखने सुनने में आये हैं, परन्तु उनकी प्रामाणिकता के विषय में हमें सन्देह है। ये छप्पय सूरदासजी के कई प्रसिद्ध कूट पदों के ढंग के हैं और इनका अर्थ समझना बड़ा कठिन है। अतएव इनको उद्धृत करना यहाँ अनावश्यक है। इस प्रकार के छप्पयों की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार है:—

"इँह सरूप पृथिराज कह, मिलो कृष्ण राधारमन।"

पृथ्वीराज के कई एक उत्कृष्ट डिंगलगीत भी राजस्थान में सुप्रसिद्ध हैं और चाव के साथ रसज्ञ समाज में पढ़े-सुने जाते हैं। इनमें से बहुतों के विषय में प्रामाणिक होने का हमारे पास विशेष प्रमाण न होते हुए भी जनश्रुति के आधार पर और काव्य की

१ चलावो। २ स्वामी। ३ सूत्रबन्धन। ४ लाड़ करो। ५ कृपा। ६ महतोऽपि महन्तम्। ७ चित्रकार। ८ काष्ठ-प्रतिमा। ९ फिर, दूसरा। १० विच्छेद, वियोग। ११ भला। १२ आपका। १३ खराब।

उत्कृष्टता और भाषा-सौष्ठव को देखते हुए हमें उनके पृथ्वीराज के होने में सन्देह नहीं है। हम नीचे वैराग्यविषयक एक उत्कृष्ट गीत उद्धृत करते हैं, जो कलिकालग्रसित ("कलिया") मायालिप्त, विषय-वासना-संवलित एवं सौख्य-समृद्धि हरि-विमुख साधारण जन के लिए उपयुक्त हो सकता है। कई लोग इस गीत को किसी व्यक्तिविशेष पर किये हुए आक्षेप के रूप में देखते हैं। परन्तु हमको ऐसा नहीं प्रतीत होता। हमारी समझ में 'कलिया' शब्द से कलियुगी जीव का अर्थ स्पष्ट निकलता है और इस अर्थ का समर्थन गीत के आशय से भली भाँति हो जाता है। गीत यह है:—

सुख-राश रमन्ताँ पास सहेली, दास खवास[1] मोकला[2] दाम।
न लिया नाम पखै नारायण,[3] 'कलिया[4]' उठ चलिया बेकाम ॥१॥
माया पास रही मुलकन्ती[5], सजि सुंदरी कीधाँ[6] सिणगार।
बहु परिवार कुटुम्ब चौ बाधाँ[7], हरि बिन गयो जमारो[8] हार ॥२॥
हास हसंता रह्या घोलहर[9], सुख में रासत ज्यों संसार।
लाखां धणी[10] प्रयाणै[11] लाम्बै, जाताँ नह भेजिया जुहार[12] ॥३॥
भाई बन्ध कडूँबो भेलो[13], पिंड[14] न राखे हेक पुल।
चापरि[15] करै अङ्ग सिर चाढ़ो, काढ़ो काढ़ो कहै कुल ॥४॥
असिया[16] रह्या पग्ग आफलता[17], मदभर खलहलता मैमन्त[18]।
बहलो[19] धणी सिंगासणवालो, पालो[20] होय हालियो[21] पंथ ॥५॥

---

[1] मरजीदान। [2] पर्याप्त। [3] नारायण के पक्ष का। [4] कलिमल ग्रस्तजीव। [5] मुसकराती हुई। [6] किये हुए। [7] की वृद्धि। [8] मनुष्यजन्म। [9] महल, प्रासाद। [10] लाखों मनुष्यों का स्वामी। [11] यात्रा। [12] अभिवादन। [13] एकत्र कुटुम्ब। [14] शरीर। [15] शीघ्रता। [16] अश्व, घोड़े। [17] खुरों से पृथ्वी को खोदते हुए। [18] खलबलाते हुए मदमस्त हाथी। [19] सवारी के अभ्यासवाला। [20] पैदल। [21] चला।

देहली[1] लग महली[2] पिण दौड़ी, फलसा लग[3] मा बहण फिरी ।
मड़हट[4] लागो कुटुँब चो मेलो, किणियन[5] सुखदुख बात करी ॥६॥
कोमल अंग न सहतो कलियाँ, ताती झलियाँ[6] सहे तप ।
घड़ी घड़ी कर तड़ी घ्रीवियो[7], बड़ बड़ी बालियो[8] बप ॥७॥
केसर चनण चरचतो काया, भणहणता[9] ऊपर भ्रमर ।
रजियो[10] राखत णै पूगरणे, घणां मुसाणा[11] बीच घर ॥८॥
खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिली[12] ।
पवन ज जाय पवन बिच पैठो, माटी माटी माँहि मिली ॥९॥

अर्थ स्पष्ट है ।

शब्द-सौष्ठव एवं अर्थ-गौरव के लिए वैराग्य एवं शान्त-रस का दूसरा इसके जोड़ तोड़ का गीत डिंगल में मिलना कठिन है । 'वेलि' में उच्च श्रेणी के शृंगार का निर्वाह करनेवाले एवं अन्यत्र वीर-रस-सम्बन्धी उत्कृष्ट कविता की रचना करनेवाले पृथ्वीराज का यह शान्त-वैराग्य-रस प्रधान गीत पढ़कर पाठकों को उनकी प्रतिभा की व्यापकता का विचक्षण प्रमाण मिलेगा ।

वेलि

निस्संदेह, महाराज पृथ्वीराज की काव्यमयी प्रतिभा की सर्वोत्कृष्ट कृति **"वेलि, क्रिसन रुकमणी री"** है । यह पुस्तक संवत् १६३७ में लिखी गई थी, जैसा कि उक्त पुस्तक के अन्तिम दोहे में प्रकट किया गया है । वेलि बहुत समय तक अमुद्रित

---

१ द्वार की देहली । २ स्त्री । ३ बाहरी दरवाज़े तक । ४ मरघट । ५ किसी ने भी नहीं । ६ अग्नि की लपटें । ७ बाँस से ठोंक ठोंक कर घृत से कपालक्रिया की । ८ सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश तक शव को जलाया । ९ भनभनाते । १० अनुरक्त । ११ श्मशान । १२ शलाका, सूई तक ।

रही। परन्तु अपने निर्माण-काल से आज तक समस्त राजस्थान में इस काव्य ग्रंथ की ख्याति सुचारुरूपेण विस्तृत रही है। इसी प्रमाण से सिद्ध होता है कि राजस्थान के विद्वानों, कवियों और भक्तों को इस पुस्तक के काव्य-गुण भली भाँति विदित थे। वेलि की परम्परागत प्रशंसा के कई छन्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें से एक में आढ़ाजी दुरसा नामक सम-सामयिक चारण कवि इसे "पाँचवाँ वेद" की उपमा देते हैं, यथा:—

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचावण।
'वेलि' तासु कुण करै वखाण।
पाँचमौ वेद भाख्यौ पीथल।
पुणियौ उगणीसवौं पुराण।

एक अन्य राजस्थानी कवि का वेलि की प्रशंसा में निम्नलिखित रूपक उपलब्ध होता है:—

वेद बीज जल विमल, सकति जिण रोपी सद्धर।
पत्र दोहा गुण पुहप, वास लोभी लखमीवर॥
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरी आडम्बर।
जिके शुद्ध मन जपै, तेउ फल पामैं अम्मर॥
विस्तार कीध जुगजुग बिमल, धन्य कृष्ण कहणार धन।
अमृत वेलि पीथल अचल, तैं रोपी कल्याण तन॥

राजस्थान में, चारण जाति में वंशपरम्परा से कविता होती आई है। इस उत्कृष्ट गुण का उन्हें बड़ा अभिमान होना स्वाभाविक ही है। बड़े बड़े प्रतिभाशाली कवि इस जाति में हो गये हैं। कहा जाता है कि पृथ्वीराज के इस ग्रन्थ की ख्याति सुनकर सामयिक कई चारणों का विचार हुआ कि इतनी ऊँचे दरजे की कविता सिवाय

चारण के अन्य कवि के लिए रचना असम्भाव्य है; अतएव, 'वेलि' पृथ्वीराज की बनाई हुई नहीं है। इस पर पृथ्वीराज ने मारवाड़ के प्रसिद्ध चारण कवि माधोदास दधवाड़िया, केशव गाडण, माला सांदू और दुरसा आढा को बुलाकर ग्रंथ सुनाया। ग्रंथ सुनकर माधव और केशव को तो महाराज की भगवद्भक्ति के कारण उनके ग्रंथ-रचयिता होने का सन्देह जाता रहा। परन्तु माला और दुरसा का सन्देह दूर न हुआ। पृथ्वीराज ने माधो और केशव की गुणग्राहकता और उदार-हृदयता की प्रशंसा करते हुए एक एक दोहा लिखा तथा माला और दुरसा के वृथाभिमान और हठ का वर्णन करते हुए एक दोहे में उनके गर्व का युक्तिपूर्ण खंडन किया, यथा:—

माधो के लिए:—

चूंडे चत्रभुज सेवियो ततफल लागो तास।
चारण जीवो चार जुग मरो न माधोदास॥

केशव के लिए:—

केशो गोरखनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिधरूपी रहता शबद, गाडण गुणा भंडार॥

माला और दुरसा के लिए:—

वाई वारे खालियाँ काई कही न जाय।
ऊदे मालो ऊपनों मेहे दुरसा थाय॥

परन्तु दुरसा आढा के सम्बन्ध की यह कल्पना उसकी लिखी हुई "पाँचमो वेद" वाली उक्ति का विरोध करती है। अथवा, दुरसा ने बाद में वेलि के काव्य गुणों से सन्तुष्ट होकर, सन्देह को दूर कर अपना मत बदल दिया हो, यह भी सम्भव है।

और भी, कहते हैं कि साँइयाँ जाति के झूला चरण ने, "रुक्मिणिहरण" नामक ग्रन्थ उसी समय बनाया था। यह और "वेलि" दोनों ग्रन्थ एक साथ बादशाह अकबर को निरीक्षणार्थ भेजे गये। बादशाह ने पहले 'वेलि' को सुनकर "हरण" को सुना। अन्त में, "हरण" की रचना को श्रेष्ठतर निर्णीत करके श्लेष और व्यंग्य में पृथ्वीराज से कहा; "पृथ्वीराज, तुम्हारी वेलि को चारण बाबा की हरिणियाँ चर गईं।" इस प्रकार 'रुक्मिणिहरण' की तारीफ़ की। परन्तु ये सब किंवदन्तियाँ-मात्र हैं। इनसे तात्पर्य्य यही होता है कि 'वेलि' की ख्याति को सुनकर अनेक नामधारी कवि ईर्ष्यान्वित होते थे और स्पर्धा करने का प्रयत्न करते थे। यह स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार प्रशंसा की परम्परा श्रेणी पर आरूढ़ 'वेलि' की सन् १९१७ के लगभग डाकृर एल० पी० टैसीटरी ने तीन उपलब्ध प्राचीन टीकाओं तथा कई एक चारण कवियों और विद्वानों की सहायता से एक संक्षिप्त भूमिका लिखी, जो मूल कविता तथा संक्षिप्त अँगरेज़ी नोटों के सहित एशियाटिक सोसायटी आफ़ बंगाल से प्रकाशित हुई। इस संस्करण में 'वेलि' के विषय में डाकृर टैसीटरी लिखते हैं:—

"The 'Veli of Krsna and Rukmini' by Rathora Prithi Raja of Bikaner............is one of the most fulgent gems in the rich mine of the Rajasthani literature. Composed in the luminous days of Akbar, this master-piece of the Rajput Muse has been awarded the palm by the consensus of all the bards who have sat in the tribunal of critic from those times to this day," "..........is one of the most perfect productions of the Dingala literature, a marvel of poetical ingenuity, in

which like in the Taj of Agra, elaborateness of detail is combined with simplicity of conception, and exquisiteness of feeling is glorified in immaculateness of form."

अर्थात् "राठौड़ पृथ्वीराज, बीकानेर, द्वारा रचित 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी साहित्यरूपी रत्नगर्भा खान के अत्यन्त देदीप्यमान रत्नों में एक श्रेष्ठ रत्न है। अकबर बादशाह के चमत्कार पूर्ण ज़माने में निर्मित हुई राजस्थानी कविता-क्षेत्र की इस सर्वोत्कृष्ट रचना को उस समय से अब तक के साहित्य के समालोचकों और निर्णायकों ने सर्वसम्मति से काव्य में सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया है।...... डिंगल-साहित्य की यह सर्वांग सम्पूर्ण कृति है। काव्य-कला की दक्षता का एक विचक्षण नमूना है, जिसमें, आगरे के ताजमहल की तरह, भाव की एकाग्रसहजता के साथ अनेकानेक काव्य-गुण-विस्तार का सुखद सम्मिश्रण हुआ है और जिसने रस और भाव का सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य्य और काव्य के बाह्य आकार की निष्कलङ्क शुद्धता को जाज्वल्यमान स्वरूप में प्रदर्शित करता है।"

वेलि की प्राचीन टीकाएँ

'वेलि' की भाषा साहित्यिक डिंगल है जो क्लिष्ट होने के कारण, न केवल हिन्दी भाषा जाननेवालों के लिए वरन् राजस्थानवासियों के लिए भी सरल बोधगम्य नहीं है। भाषा-शास्त्र का यह साधारण नियम है कि साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा से भिन्न और उसकी अपेक्षा अधिक कठिन होती है। यही अन्तर वेलि में प्रयुक्त साहित्यिक डिंगल भाषा और राजस्थान की बोलचाल की भाषा में है। वेलि में प्रयक्त भाषा चारण कवियों की वह परम्परागत काव्यप्रयुक्त

भाषा है जिसका वे पुरातन काल से छन्दोबद्ध कविता में उपयोग करते आये हैं और जो प्रत्येक काल में उस काल की स्थानीय बोल-चाल की भाषा से भिन्न रही है। पुस्तक की इस क्लिष्टता का निवारण करने के साधन-स्वरूप अब तक वेलि की कई टीकाएँ हो चुकी हैं, जिनमें मुख्यत: तीन टीकाएँ सुप्रसिद्ध हैं और जिनके आधार पर डा० टैसीटरी ने भी पुस्तक-सम्बन्धी अपना प्राथमिक सम्पादन-कार्य किया था। इनमें से दो तो राजस्थान की तत्सामयिक बोलचाल की भाषाओं में लिखी हुई हैं, और तीसरी उन्हीं दोनों के आधार पर संस्कृत भाषा में लिखी गई है। इन टीकाओं में सबसे पुरानी टीका ढूँढाड़ प्रान्तीय प्राचीन पूर्व राजस्थानी भाषा में लिखी हुई है जो कवि के जीवित काल में निर्मित हुई प्रतीत होती है। दूसरी पश्चिमी राजस्थान की प्राचीन बोलचाल की मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई है। यह टीका ढूँढाड़ी टीका से उत्तरकाल में निर्मित प्रतीत होती है। तीसरी, संस्कृत टीका वाचक सारंग पाल्हणपुर-निवासी की सं० १६७८ की बनाई हुई है। डा० टैसीटरी को इस टीका की सं० १७८१ में ऊदासर में लिखी हुई प्रति मिली थी, जिसका उन्होंने अपने संपादन-कार्य में अधिक प्रयोग किया है। परन्तु खोज करने पर हमें उसी टीका की सं० १६८३ में लिखी हुई—अतएव डा० टैसीटरी की प्रति से लगभग सौ वर्ष पूर्व की— प्रति मिली है। दोनों में यह ज्यादा प्रामाणिक है, इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि मौलिक टीका के पाँच ही वर्ष बाद में यह प्रति लिखी गई थी। पहली दोनों राजस्थानी टीकाओं के लेखकों के नाम अब तक विदित नहीं हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि वे दोनों किसी चारण विद्वान् की रचना प्रतीत होती हैं। हमारी समझ में सबसे प्राचीन टीका ही मूलार्थ के विषय में प्रामाणिक कही जा सकती है, क्योंकि समसामयिक होने

के कारण, स्वभावतः ही वह 'वेलि' के भावों को ज्यादा स्पष्टतः समझा सकने में समर्थ होनी चाहिए। अतएव प्रकृत ग्रन्थ के भावार्थों को बोधगम्य कराने के लिए अधिकतर ढूँढाड़ी टीका को ही आधार रखा गया है। डा० टैसीटरी के मतानुसार ये सब टीकाएँ मूल ग्रन्थ के लिखे जाने के बाद ५० वर्ष की अवधि के अन्दर अन्दर लिखी जा चुकी थीं। यह भी संभव है कि ढूँढाड़ी और मारवाड़ी दोनों टीकाएँ कवि के जीवन-काल में ही बन गई हों, परन्तु वे हैं दोनों अवश्य स्वतन्त्र और उन दोनों में भी ढूँढाड़ी टीका अपेक्षाकृत पूर्वकालीन और ज्यादा प्रामाणिक जँचती है। संस्कृत टीका विशेषत: मारवाड़ी टीका के आधार पर बनी है, यह बात दोनों के मिलाने से स्पष्ट हो जाती है।

वेलि का प्रकाशनः उसकी आवश्यकता

हिन्दी-साहित्य के लिए अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि 'वेलि' जैसे उच्च श्रेणी के काव्य की प्रख्याति को विस्तृत करनेवाली एवं उसके काव्यरसामृत को भाषा-रसिकों के सामने प्रकट करनेवाली ये प्राचीन टीकाएँ प्राप्य हैं। प्रायः देखा जाता है कि साहित्यज्ञों को इस प्रकार के पुराने ग्रन्थों को काव्य-रसिकों के समक्ष रखते हुए, उनके काव्यरस चमत्कार को पूर्णरूप से व्यक्त करने में आंशिक सफलता ही प्राप्त होती है। इस न्यूनता को बहुत अंश में ये टीकाएँ, सहायक बनकर, अवश्य दूर करती हैं, और साहित्य-प्रेमी का कार्य बहुत कुछ हलका कर देती हैं। परन्तु इन टीकाओं के होते हुए भी अब तक हिन्दी-साहित्यज्ञों को इस उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ के विषय में बहुत कम जानकारी है। इसके कई कारण हैं। हमको स्वर्गीय डा० टैसीटरी का धन्यवाद करना चाहिए कि जिन्होंने पहले-पहल सन् १९१७ में 'वेलि' काव्य की महत्ता का परिचय कराते हुए, मूलग्रंथ का प्रकाशन किया और एक सारगर्भित

भूमिका लिखी। उन्होंने हिन्दी में इस ग्रंथ का नूतन जन्म होने की सूचना दी। परन्तु डा० टैसीटरी ने डिंगल-भाषा-शास्त्र-सम्बन्धी कुछ अपर्याप्त नोटों के सहित केवल भूमिका-मात्र लिखकर न केवल साहित्य-प्रेमियों की उत्कण्ठा को बढ़ा दिया, वरन् उनके हृदय में यह आशङ्का पैदा कर दी कि शायद उक्त काव्य को और ज़्यादा सरल और बोधगम्य करना असाध्य हो। अतएव यह आवश्यकता हुई कि कोई राजस्थानी विद्वान् ही अपने स्वदेश-प्रेम से प्रेरित होकर, एवं उक्त टीकाओं का पूर्ण उपयोग कर, भली भाँति से वेलि के लोकोत्तर आनन्ददायी काव्यरसामृत का आस्वादन समस्त हिन्दी-जगत् को शीघ्र ही कराता।

प्रकृत टीका और इसकी विशेषताएँ

हमें यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि इस पवित्र और साहित्योपकारी कार्य को, अपने प्रतापी पूर्वजों के उज्ज्वल गौरव से गौरवान्वित होकर उन्हीं कविवर महाराज पृथ्वीराज के वंशज श्रीमहाराज जगमालसिंहजी महोदय ने, सम्पादित करके न केवल अपने पुण्यश्लोक पूर्वजों के पितृ-ऋण को चुकाया है, वरन् राजस्थान-साहित्य का सदा के लिए मुख उज्ज्वल किया है। इस उत्कृष्ट साहित्योपकार के लिए वे हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह टीका पूर्व टीकाओं की सब त्रुटियों और बाधाओं को हटा कर पुस्तक के उच्च भावों को सरल और सर्वप्रिय बनाने में अत्यन्त सहायक होगी। फिर, आजकल कई एक विश्वविद्यालयों तथा हिन्दी-साहित्य-संस्थाओं की उच्च कक्षाओं की हिन्दी-परीक्षा में यह काव्य कोर्स के रूप में निर्दिष्ट है। बङ्गाल एशियाटिक सोसायटी में प्रकाशित हो जाने के अनन्तर इस पुस्तक के मूल को विद्यार्थी प्राप्त तो अवश्य कर लेते हैं, परन्तु हिन्दी जाननेवाले क्या विद्यार्थी, क्या अध्यापक, क्या साधारण

काव्य-रसिक सभी के लिए इसके मूल के गर्भ में छिपे हुए भावों को समझना कठिन ही नहीं, असंभव होता है। हमें विश्वास है, कि जिस प्रकार 'पृथ्वीराजरासो' अथवा 'बीसलदेवरासो' जैसे प्राचीन काव्यों का भावार्थ समझने में विद्यार्थियों और रसिकों को जो जो कठिनाइयाँ होती हैं, वे इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अब से न रहेंगी। फिर, अब तक तो हिन्दी में महाराज पृथ्वीराज केवल फुटकर, दोहा, सोरठा, कवित्त, छप्पय इत्यादि लिखनेवाले अकबर के दरबार में एक "साधारण श्रेणी" के कवि माने जाते थे। परन्तु आशा की जाती है कि इस प्रयास के फलस्वरूप, इस काव्य के श्रेष्ठ गुण जब काव्यमर्मज्ञों के हृदय में घर कर लेंगे, तो अवश्य उनको कवि के काव्य की सच्ची उत्कृष्टता का पता लगेगा और हिन्दी-कवियों की श्रेणी में कवि को अपना यथोचित आसन प्राप्त होगा।

वेलि का आधार

जिस पुराण ग्रंथ में से और जहाँ से कथा का बीजरूप आश्रय ग्रहण कर ग्रंथ-निर्माण किया गया है; जिस प्रकार उस सूक्ष्म बीज के आधार पर कथा का विस्तार किया गया है, तथा मौलिक बीज-रूप कथानक में और कवि के प्रकृत काव्यान्तर्गत कथानक में, उन दोनों की शैली और काव्यसम्पादन के ढङ्ग में जो जो अन्तर है, उनके गुण-दोषों का यहाँ विवेचन करना आवश्यक है।

श्रीमद्भागवत पुराण और वेलि

श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कन्द के अन्तर्गत अध्याय ५२-५३-५४-५५ में से वेलि की कथा का बीजरूप आश्रय उद्धृत किया हुआ है। यह बात स्वयं कवि ने ग्रन्थान्तर्गत छन्द २९१ में बड़े सुचारु रूपक के ढङ्ग में वर्णन करते हुए स्वीकृत की है:—

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख ॥२९१॥

'वेलि' रूप बल्लि का बीज श्रीभगवद्भक्त महाराज पृथ्वीराज ने श्रीमद्भागवत से उद्धृत करके अपने अन्त:करणरूपी क्षेत्र में बोया और वह भगवान की स्तुति के रूप में उनके मुख से वर्त्तमान काव्य की तरह प्रकट हुआ। श्रीमद्भागवत के कथातन्त्र की वर्णनशैली, भाषा और भाव का वेलि की वर्णनशैली, भाषा और भाव से मिलान करने पर हमको यही निश्चय होता है कि कवि ने पुराण के आश्रय से प्राय: स्वतन्त्र होकर ही अपनी प्रतिभा का स्वच्छन्दरूप में परिचय दिया है। उन्होंने केवल मात्र कथातन्त्र के सम्बद्ध भाव को लेकर अपने स्वतन्त्र काव्य का निर्माण किया है। कहीं कहीं तो काव्य-तरङ्गिणी के उल्लास में कवि ने कथातन्त्र को अपनी काव्यमयी कल्पना के रङ्ग में रङ्ग डाला है। इससे कवि की मौलिक प्रतिभा की प्रखरता का पर्याप्त परिचय मिलता है। परन्तु साधारणत: कवि ने विधिवत् मूलकथा का अनुगमन करते हुए अपनी ही शैली के अनुकूल काव्य-विस्तार किया है। इस प्रकार के चमत्कारपूर्ण काव्य-विस्तार के ढङ्ग का एक साधारण नमूना हम आगे उदाहरणवत् देते हैं जिसमें भागवत दशमस्कंध अ० ५३ श्लोक ५३-५४ के अन्तर्गत वर्णित एक छोटे से वर्णन को वेलि, छंद १०९-११० में असाधारण काव्यमय, चमत्कारपूर्ण स्वरूप देकर विस्तार किया गया है यथा:—

पुराण:—

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहास-
व्रीडाऽवलोकहृतचेतस् उज्झितास्त्राः ॥५३॥

पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम् ॥५४॥

बेलिः—आकरसण वसीकरण उनमादक,
परठि, द्राविण सोखण सर पञ्च ।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि,
सुन्दरि द्वारि देहुरा सञ्च ॥१०९॥
मनपंगु थियौ सहु सेन मूरछित,
तह नंह रही सम्पेखते ।
नीपायौ किरि तदि निकुटी नै,
मठ पूतली पाखाणमै ॥११०॥

अब यदि देखा जाय तो पुराण के "तदुदारहासव्रीडाऽवलोकहृतचेतस्" वर्णन में कवि की प्रतिभान्वित अन्तर्दृष्टि ने जो पाँच पृथक् पृथक् भाव देखे हैं और उन्हें मानव-स्वभावानुगत मनोवेगों की प्रकृति के जिन विविध प्राकृतिक रङ्गों से रंगकर पञ्चसर के पाँच सरों के चित्ररूप में उपस्थित किया है, वह कार्य एक उच्चकवि की कल्पना के योग्य ही है। काव्य में कल्पना के सहारे रमणीयता—स्वभावसुन्दर, प्राकृतिक रमणीयता—उत्पादन करना इसे ही कहते हैं।

वेलि, दोहला, ५७-५८ में रुक्मिणी ने श्रीकृष्णजी के प्रति ब्राह्मण को न केवल मौखिक संवाद ही लेकर भेजा है वरन् एक विस्तृत पत्र भी प्रेषित किया है जो दोहला ५८ से ६६ तक वर्णित है। परन्तु भागवत में उक्त पत्र का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता।

वहाँ ब्राह्मण केवल मौखिक संवाद ही ले गया था। देखो—पुराण—स्कन्ध १० श्लोक २६, ३६।

> तद्वेत्यासितापाङ्गी वैदर्भी दुर्मना भृशम्।
> विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥२६॥
> एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मण परमेष्ठिना।
> लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

स्पष्ट है कि कवि ने पत्र का भेजा जाना अपनी ओर से कल्पित किया है। पत्र के भावों को पढ़कर सहृदय पाठकों को विदित होगा कि कवि ने उक्त नूतन साधन का प्रयोग करते हुए, उसके द्वारा काव्य में श्रीकृष्ण-रुक्मिणी की आन्तरिक प्रीति, उनके अलौकिक सम्बन्ध एवं आदर्श गुणों का निदर्शन करके ग्रंथ को कितना भावुक और स्वाभाविक सौन्दर्य्य दे दिया है। काव्यों में इस प्रकार के अवसरों पर प्रेम-पत्रों का उपयोग संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने अपने काव्यों में भी किया है; यथा, शकुन्तला के दुष्यन्त के प्रति प्रणयपत्र में कविवर कालिदास ने।

रुक्मिणी का नखशिखरूपवर्णन, वसन्तादि षट्ऋतुओं का वर्णन, यही क्यों, प्राय: सभी विस्तृत वर्णन जो मुख्य कथा से विशेष सम्बन्ध नहीं रखते वरन काव्याडम्बर की तरह उपयुक्त हुए हैं,—ये सब कवि की स्वतन्त्र कल्पना के आधार पर ही वर्णित हैं। इनका आधार पुराण में नहीं पाया जाता।

रुक्मिणी-हरण के उपरान्त जो युद्ध-वर्णन है, वह भागवत के उल्लेख से विशेष समानता नहीं रखता, वरन् इस बात को प्रमाणित करता है कि एक क्षत्रिय कवि, जिसको बड़े-बड़े युद्धों का प्रचुर अनुभव प्राप्त होता है, वीर-रस के वर्णनों में स्वभावत: ही कितना सिद्धहस्त होता है और कितना सहज दाक्षिण्य रखता है कि अवसर

और अनवसर की ओर कुछ ध्यान न देता हुआ अपने स्वभावगत गुण के लोभ का संवरण नहीं कर सकता।

इसी प्रकार प्रेयसी रुक्मिणी के अनुरोध से भगवान का प्रसन्न होकर रुक्म के मस्तक पर हाथ फिराना और तत्क्षण उसके मुँड़े हुए सिर पर केशों का पूर्ववत् फिर से उग जाना—यह वृत्त भी कवि-कल्पित ही है। कवि ने ऐसा करके युद्ध के परिणाम में रुक्म-विरूपण की उस दु:खान्त घटना को अपनी कल्पना से सुखान्त करके काव्य-सौष्ठव को और अधिक बढ़ाने की चेष्टा की है।

यह तो हुई विभिन्नताएँ। अब यदि दोनों ग्रन्थों में समानताओं का अन्वेषण किया जाय, तो बहुत कम स्थल ऐसे 'वेलि' में मिलेंगे जिनको हम पुराण का अक्षरश: अथवा भाव का ज्यों का त्यों अनुकरण कह सकते हैं। डा० टैसीटरी ने बड़े परिश्रम के साथ तीन चार समान स्थलों को उद्धृत किया है, परन्तु उनमें ऐसा कोई भाव नहीं है कि जिसके आधार पर हम कवि को भावापहरण का दोष लगा सकें। हाँ, इन समानताओं के विषय में इतना हम अवश्य कहेंगे कि कवि ने केवल कथानक के सूत्र का निर्वाह करने के लिए बाध्य होकर कहीं कहीं कथा का अनुकरण उसी ढङ्ग से किया है। अपनी प्रतिभा की मौलिकता पर इतना विश्वास रखते हुए भी महाराज पृथ्वीराज की श्रीमद्भागवत पुराण के प्रति कृतज्ञता एवं निस्सीम श्रद्धा का प्रमाण इसी बात से मिलता है कि उनको भागवत का उपकार कभी नहीं भूलता। उदाहरणत: वेलि, दोहला ९८ में उन्होंने भागवत का बड़ी श्रद्धा के साथ नामोल्लेख किया है:—

नासा अग्रि मुताहल निहसति।
भजति कि सुक मुखि भागवत ॥९८॥

काव्य का नाम 'वेलि' क्यों पड़ा, यह बात स्वयं कवि ने ही उत्तर भाग में कई एक सुन्दर छन्दों में स्पष्ट कर दी है। दोहला: २९१-९२ में ग्रन्थ के नामान्तर्गत सुन्दर प्राकृतिक रूपक का स्पष्टीकरण यों किया गया है:—

नामकरण-वेलि

वल्ली तसु बीज भागवत् वायौ,
महि थाणौ पृथुदास मुख।
मूल् ताल जड़ अरथ मण्डहे,
सुथिर करणि चढि छाँह सुख॥
पत्र अक्खर दल् द्वाला जस परिमल्,
नव रस तन्तु त्रिधि अहो निसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी,
मुगति फूल फल् भुगति मिसि॥

भागवत-वर्णित भगवद्भक्तिरूपी बीज महाराज पृथ्वीराज जैसे भक्त की हृदयस्थली में बोया गया, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके मुखरूपी आलबाल से यह भक्ति-'वेलि' अंकुरित होकर प्रकट हुई। इस रचना-रूपी बेल के मूल दोहलों की लय और संगीत ही इसकी दृढ़ जड़ें हैं जिनके आधार पर यह स्थित है और उनका भाव और आशय वह मण्डप है जिस पर इस काव्य-वल्ली की शाखा प्रशाखाओं का विकास-मार्ग निर्दिष्ट है। यह वेलि भक्त और काव्यरसिक पाठकों की रुचि और श्रद्धा को पाकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं को फैलाती हुई उनके हृदय को अपनी भगवद्भक्तिरूपी सघन छाँह के नीचे चिर-शान्ति और अनन्त आनन्द प्रदान करेगी। इस वेलि के अक्षर ही इसके पत्ते हैं और भगवान् का यशोगान और उनकी महिमा—यही इसकी मनोहारिणी सुगन्धि। इसके विस्तृत तन्तुजाल इसके वर्णना-

न्तर्गत नवरसों का समूह है। सहृदय काव्यप्रेमी पाठक लोभी भ्रमर की तरह इसके भावार्थरूपी मधुसौरभ का आस्वादन करते हुए प्रेमानन्द में लीन होकर इसके चारों ओर मँडराते रहते हैं। इसको पढ़कर पाठकों के हृदय में भक्ति का जो स्वाभाविक उद्रेक होगा, वही इस वेलि पर मञ्जरी का लगना है। तदनन्तर और ज्यादा अनुशीलन करने पर भक्त पाठकों को मुक्ति के रूप में इस वेलि का सुगन्धित पुष्प प्राप्त होता है और संसार में रहते हुए भगवान् की अनुकम्पा से ऐसे भक्त पाठकों की बुद्धि निर्मल होकर उनको अनेक ऐश्वर्य भोग के साधन प्राप्त होते हैं। वही मानो इसका इहलौकिक फल है। ऐसी है यह "वेलि"।

कालिदास और पृथ्वीराज (कविप्रथानुगमन)

कवि ने दोहला १-८ तक ग्रन्थ के गम्भीर विषय का परिचय देते हुए इस महानकार्य को सम्पादन करने में अपनी अपेक्षाकृत दीनता एवं असामर्थ्य के भाव प्रकट किये हैं। प्राय: संस्कृत और भाषा के कवियों में इस प्रकार की विनय-परम्परा पुरातनकाल से प्रथारूप में चली आ रही है। इसमें कवि ने कालिदास, तुलसीदासादि महाकवियों के मार्ग का सब प्रकार से अपनी ही शैली में अनुकरण किया है। यह वर्णन विशेषरूप में कालिदास के रघुवंशान्तर्गत विनय की छाया सा प्रतिफलित होता है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि पृथ्वीराज ने उक्त कवि का भावापहरण किया। परन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि कवि के विचार के अग्रभाग में इस महाकवि का उक्त महाकाव्य एवं इतर काव्य अवश्य थे।

कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में, विषय की गहनता की अपेक्षा, अपनी काव्य-सम्पादन की सामर्थ्य की दीनता को इस प्रकार व्यक्त किया है:—

रघुवंश:—

"तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्" ॥२॥
"मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः" ॥३॥

इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में दूसरे शब्दों में उन्हीं भावों को प्रकट करते हुए विषय की गहनता की अपेक्षा अपनी असामर्थ्य बताई है:—

"किरि कठचीत्र पूतली निज करि । चीत्रारे लागी चित्रण" ॥२॥
"जाणै वाद माँडियो जीपण । वागहीणि वागेसरी" ॥३॥
"पङ्गी कवण गयण लगि पहुचै । कवण रङ्क करि मेरु करै" ॥६॥

इस विनयशृंखला के भावों का संक्षेप में यहाँ परिहार कर आगे चल कर कालिदास ने अपने प्रकृत विषय को सम्पादन करने की आवश्यकता का कारण बताया है:—

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रणोदितः ॥९॥ रघु० ।

और इसी प्रकार अपनी विनयशृंखला के उपरान्त पृथ्वीराज ने असमर्थ होते हुए भी, भगवान की लीला का वर्णन करना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझा है:—

जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जीहा । क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिण तणौ कीरतन । स्रम कीधा विणु केम सरै ॥७॥

जिस प्रकार अपने विषय में प्रवेश करते समय कालिदास पूर्व-कवियों के प्रति कृतज्ञता को नहीं भूल गये हैं, उसी प्रकार पृथ्वीराज ने भी पूर्व भगवद्भक्त कवियों का कृतज्ञता-पूर्ण स्मरण किया है:—

रघुवंश:—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः ।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥४॥

वेलि:—

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा । सुकवि अनेक ते एक सन्थ ॥८॥

इस प्रकार का विनय-वर्णन ग्रन्थारम्भ में तुलसीदासजी के रामचरितमानस में भी उपलब्ध होता है । पाठक स्वयं अपने लिए देख लेंगे । हम केवल एक दो उदाहरण पूर्वक्रमानुसार रामचरितमानस से उद्धृत कर देते हैं:—

(१) विषय की गहनता और अपनी असामर्थ्य ।

शारद शेष महेष विधि, आगम निगम पुराण ।
नेति नेति कहि जासु गुन करहि निरन्तर गान ॥

(२) स्वकीय प्रयास की आवश्यकता ।

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई, तदपि कहे बिन रहा न कोई" ।

(३) पूर्वकवियों की बन्दना ।

"व्यास आदिकवि पुङ्गव नाना, जिन सादर हरिसुजस बखाना ।
चरन कमल बन्दौं तिन केरे ...."॥

दोहला ८-९ में कवि ने, शृङ्गाररस प्रधान होने के कारण, वेलि के वर्णन में कृष्ण की अपेक्षा रुक्मिणी के वर्णन को प्रधानता दी है और इस विषय में शास्त्रोल्लेख किया है:—

"त्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि । गूँथियै जेणि सिङ्गार ग्रन्थ" ॥८॥

इस विषय में कवि ने पूर्व महाकवियों के दृष्टान्तों का ही अनुसरण किया है । प्रायः सभी शृङ्गारग्रन्थों में संस्कृत कवि सदा नायिका के वर्णन को नायक के वर्णन से पहले स्थान देते आये हैं, क्योंकि शृङ्गाररस का स्थायिभाव रति पुरुष की अपेक्षा स्त्री में शास्त्रा-

नुसार ज्यादा माना गया है। जयदेव कवि ने 'गीतगोविंद' के प्रथम श्लोक में ही, "राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः" कह कर स्त्री के प्रति अपना विशेष सम्मान शास्त्रनियमानुसार प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार महाकवि कालिदास ने रघुवंश में, "पार्वती-परमेश्वरौ" की वन्दना कर, मल्लिनाथ की टीका के शब्दों में, "मातुरभ्यर्हितत्वात्" माता की, पिता की अपेक्षा प्रधानता प्रकट की है।

प्रसिद्ध साहित्यकार विश्वनाथ कविराज ने लिखा है:—

"आदौ वाच्यः स्त्रियाः रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ॥"

(सा० द० ३ परि० २१६)

दोहला ११-२४ तक रुक्मिणी का रूप-वर्णन अतीव सुन्दर काव्यमयी कल्पनाओं के रूप में किया गया है। यहाँ पर भी कवि को कालिदास का अभ्यस्त काव्यपथ नहीं भूला है और उन्होंने रुक्मिणी का शैशवकाल से प्रारम्भ कर, क्रमागत यौवनावस्था तक के विकास-क्रम का वर्णन करते हुए कुमारसंभवान्तर्गत पार्वती के रूप वर्णन की शैली का आधार लिया है। दोनों कवियों की शैली की समानता अथवा पृथ्वीराज के शैल्यनुकरण का निर्देश करते हुए हम यह बताना चाहते हैं कि कवि ने केवल काव्य-मार्ग में कविसम्राट् के आदर्श का अवलम्बन किया है।

दोहला १२ में रुक्मिणी-जन्म का परिचय यों दिया गया है:—

रामा अवतार नाम ताइ रुकमणि। मानसरोवरि मेरुगिरि।
बालकति किरि हंस चो बालक। कनक-वेलि बिहुं पान किरि॥१२॥

कालिदास ने पार्वती का जन्म-परिचय इस प्रकार दिया है:—

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री, स्फुरत्प्रभामण्डलया चकाशे।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दात्, उद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥

(कुमारसम्भव)

दोनों वर्णनों की समानता इस बात में है कि पार्वती तो "स्फुरत्प्रभा-रत्नशलाका" होने के कारण दिव्य सौन्दर्य्य की प्रतिमा है और रुक्मिणी "कनक-वेलि" होने के कारण। परन्तु इनकी उत्पत्ति के विषय में दोनों कवियों में मतभेद है। महाकवि कालिदास की पार्वती, 'नये मेघ की गर्जन से फटी हुई वैदूर्य्यमणिमय भूमि पर अकस्मात् प्रकट हुई रत्नशलाका की तरह' शोभायमान है और पृथ्वीराज की रुक्मिणी 'सुमेरु पर्वत पर अकस्मात् प्रस्फुटित हुई कोमल कोमल दो हरे पत्तोंवाली सुवर्णलता' की तरह है। रङ्गों की विचित्र भिन्नता दोनों ओर वर्णन में सौन्दर्य की स्थापना करती है। एक में नीलवर्ण की वैदूर्य्य भूमि पर विभिन्न रङ्ग की रत्नशलाका—संभवत: सुवर्ण रङ्ग की ज्वलन्त रेखा; दूसरे में सुवर्ण पर्वत पर विभिन्न रङ्ग की—संभवत: नील, वानस्पत्य रङ्ग की कनकवेलि प्रकट हुई है। परन्तु कालिदास की कल्पना इस बात में अनोखी है कि यह 'रत्नशलाका,' 'नवमेघ-शब्दात् उद्भिन्नया विदूरभूमि' पर अलौकिक चमत्कार-पूर्ण कारण से उत्पन्न हुई है और जड़ प्रकृत्यन्तर्गत खनिज पदार्थों की सृष्टि में एक अद्भुत नवीनता उत्पन्न करके मानव-दृष्टि को अपनी अद्भुत रमणीयता से चमत्कृत एवं आश्चर्य्यान्वित कर देती है। पृथ्वीराज का वर्णन इस बात में अनोखा है कि यह कनक-लता सुमेरु जैसे प्रसिद्ध पौराणिक पर्वत पर जीवन स्फूर्त्ति के स्वरूप में प्रकट हुई है; अतएव हमारे सहधर्मी जीवन के अन्तर्वाही प्रेम और भक्ति के सहज भावों के साथ प्राकृतिक सहानुभूति उद्भासित करती हुई यह हमारे प्रेम और सौहार्द का अपनी ओर स्वभावत: ही आकर्षण करती है। एक में जीवनमय प्रकृति के लौकिक एवं स्वाभाविक सौन्दर्य्य की जगमगाहट है; दूसरे में जड़ प्रकृति के अलौकिक एवं अनोखे सौन्दर्य्य की प्रभा है।

इसी प्रकार महाकवि केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अयोध्या-वर्णन के प्रसंग में स्त्री-सौन्दर्य्य में "स्वर्णलता" की उत्प्रेक्षा की है।

अयोध्या में सुन्दरियाँ अटारी पर चढ़ीं ऐसी शोभा दे रही हैं मानो, "ऊपर मेरु मनो मनरोचन। स्वर्णलता जनु रोचति लोचन।" परन्तु "बिहुपान किरि" वाले जीवन-स्रोत का वहाँ भी अभाव ही है।

आगे के दोहले में रुक्मिणी का क्रमागत वयोविकास इस प्रकार प्रदर्शित है:—

अनि वरिस बधै ताइ मास बधै ए, बधै मास ताइ पहर बधन्ति।
लखण बत्रीस बाललीलामै, राजकुँअरि दूलड़ी रमन्ति ॥१३॥

इस विषय में कुमार-संभव में पार्वती के वय-विकास-क्रम का वर्णन इस प्रकार है:—

> दिने दिने सा परिवर्धमाना,
> लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा।
> पुपोष लावण्यमयान् विशेषान्।
> ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ॥२५॥

समानता इस बात में है कि दोनों कवियों ने क्रमशः रुक्मिणी और पार्वती के परिवर्द्धन के सम्बन्ध में, थोड़े समय में अधिक उन्नति होना बताया है। कालिदास ने, "दिने दिने" मात्र में विकास के प्रवाह की द्रुतगति दरसा कर अपनी प्रसादगुणमयी शब्दयोजना की प्रतिभा दरसाई है और पृथ्वीराज ने इसी विकास-क्रम की शीघ्रगति के बताने के लिए बरस, मास और प्रहर तक की उन्नति के परिमाण की सूक्ष्म सूचना देकर विषय को ज़्यादा हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक बनाना चाहा है, परन्तु साथ ही पूर्वोक्त महाकवि की तरह लौकिक परिवर्द्धन के क्रम की उपेक्षा करके विषय को अलौकिक वैभव नहीं दिया है। कालिदास ने उपमानरूप में चन्द्र को नियुक्त कर

उसकी कलाओं की वृद्धि के क्रम के साथ पार्वती के अवयव-संवर्धन की समानता की है और इस विषय में अपनी कल्पना को अलौकिक सौन्दर्य्य का स्वरूप दे दिया है। महाराज पृथ्वीराज ने मानव-शृङ्गार शास्त्रानुमत ३२ लक्षणमय अवयव-परिवर्द्धन-सम्बन्धी विशेषताओं का निदर्शन कर रुक्मिणी को मानव सौन्दर्य्य के लौकिक आदर्श पर स्थापित किया है। महाकवि कालिदास की पार्वती, निस्संदेह, 'देवतात्मा' हिमालय की पुत्री होने के कारण दिव्य शक्ति है। उसका सौन्दर्य्य, तेज, वैभव चमत्कारी अवश्य है परन्तु अनभिगम्य और वन्द्य है—लोक से परे है। महाराज पृथ्वीराज की रुक्मिणी भक्तों के हृदय में वास करनेवाली वह देवी है जो अपने भक्त की अटल भक्ति के वशीभूत होकर उसी के मानव आदर्श को दिव्यरूप में धारण कर लेती है। अतएव वह हमको विशेष प्रिय है; वह हमारी श्रद्धा और भक्ति को स्वभावत: ही ज़्यादा सहजता से आकर्षित कर सकती है।

दोहला १५-२४ पर्यंत इसी प्रकार की उच्च शृङ्गारप्रधान भावमयी उक्तियाँ भरी हैं। इन कल्पनाओं की सूझ की गहनता पर मनन करनेवाले रसिकों को मुक्तकंठ होकर पृथ्वीराज को हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में आदर देना पड़ेगा। हम इन सब दोहलों के विचित्र सौन्दर्य्य पर अलग अलग आलोचना करना यहाँ पर अनावश्यक समझ कर केवल दोहले १५ पर कुछ अपने विचार प्रकट कर देना पर्याप्त समझते हैं, जिसका लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। शेष दोहले विद्वान् रसज्ञों के मनन एवं अनुशीलनार्थ छोड़ देते हैं।

सैसव तनि सुखपति जोवण न जाग्रति, वेस सन्धि सुहिणा सुवरि।
हिव पल् पल् चढतौ जि होइसै, प्रथम ग्यान एहवी परि॥१५॥

इस दोहले के भावार्थ पर मनन करते हुए पाठकों का ध्यान हम दो विशेषताओं पर आकृष्ट करते हैं। एक तो यह कि कवि ने किस सहजता के साथ मानव-विज्ञान अथवा दर्शनशास्त्र-संमत सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रतावस्थाओं जैसी सूक्ष्म वृत्तियों को उपमारूप में प्रकट कर अपने गम्भीर शास्त्रज्ञान का परिचय दिया है। दूसरे, देवी रुक्मिणी के यौवनागम का वर्णन करते हुए कवि ने किस विलक्षण दक्षता के साथ, दर्शनशास्त्र के सूक्ष्म एवं प्रकृत प्रसंगवश सहज ही बुद्धिगम्य होनेवाले पवित्र सिद्धान्तों को अवरोधरूप में डाल कर साधारण जन के विचारों को दूषित हो जाने की सम्भावना से बचाया है। इसको उच्चतम श्रेणी का काव्य-चातुर्य्य कहते हैं और परम ज्ञानी कवि का यह एक लक्षण है। उपमा की सहजता एवं स्वाभाविक प्राकृतिकता के सम्बन्ध में इतना ही कहना अलम् होगा, कि काव्य-शास्त्र में यह एक अनोखी सूझ है। दोहला १६ भी इसी बात का द्योतक है कि जगन्माता विष्णुपत्नी के रूप, यौवन और अवयव-विकास का वर्णन करते हुए कवि ने समझ बूझ कर प्रकृति के उन शुद्ध उपमानों एवं पवित्र प्राकृतिक दृश्यों का आधार लिया है, जिनकी भावुकता पर मनन करने से काव्य-रसिकों की चित्तवृत्ति में किसी प्रकार का दूषित विकार नहीं उत्पन्न होने पाता। उष:कालीन अरुणोदय-रूपी यौवन-स्फूर्त्ति और स्वरूप-लालिमा के विकास-काल में अवयव विशेषरूपी ऋषियों का जागृत होना और ईश-उपासना में लगना, प्रकृत विषय में किस उच्चश्रेणी की पवित्रता का समावेश करता है, यह ज्ञानी और भक्त रसज्ञ स्वयं जान लेंगे। दोहले १७ में उस क्रमागत अवस्था का वर्णन है जिसको वय:सन्धि अथवा Adolescent age कहते हैं। अपने प्रिय बाल्यकाल को गया हुआ देखकर और उसके स्थान पर स्थानापन्न जीवन के एक अद्भुत, नवीन स्फूर्त्तिकारी बसन्त-सदृश जीवन-प्रवाह को आया

हुआ जानकर, एक साधारण गृहस्थ-कन्या की तरह रुक्मिणी को भी एक प्रकार की विचित्र परिवर्त्तन-जन्य मनोज्ञवेदना होती है, जो अत्यन्त स्वाभाविक है। वे कहती होंगी; 'कौन ले गया लूट, हाय! मेरे बालकाल का सुख-भंडार'। उनके इस प्रकार के प्राकृतिक भावों में कैसा गंभीर मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक तथ्य कूट कूट कर भरा है, यह बात मानव-जीवन की सूक्ष्मताओं का अध्ययन करनेवाले किसी भी पुरुष से छिपी नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी वय:सन्धि-विषयक आख्यायिकाओं और उनकी स्वाभाविकता के लिए विश्वप्रसिद्ध हैं। यदि पाठक इस छंद के आन्तरिक सन्देश को उनकी कई एक ऐसी आख्यायिकाओं से मिलान करके देखें तो उनको सहज ही में कवि की गंभीरता का पता लग सकेगा। आगे चलकर, कवि ने विषय की पवित्रता को ध्यान में रखते हुए रुक्मिणी के वय:विकास की तुलना, जहाँ तक हो सका है, ऋतु-विकास के प्राकृतिक परिवर्त्तनों और तज्जन्य विविध चिह्नों के साथ की है, जो विषय को मनोविकार-दूषण-रहित करने के साथ ही साथ उसको अत्यन्त स्वाभाविक और मनोज्ञ कर देता है और कवि के सूक्ष्म प्रकृति-परिशीलन का प्रचुर परिचय देता है। इस प्रकार के वर्णनों के उच्च काव्य-सौष्ठव के आधार पर हम मुक्तकंठ से कह सकते हैं कि महाराज पृथ्वीराज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में पूजनीय हैं।

दोहला २४-२७ तक अवयव-विशेष के सौन्दर्य का उपयुक्त २ उपमाओं की तुलना करके वर्णन किया गया है। इस विषय में पाठक कुमार-संभव प्रथम सर्ग, श्लोक ३४-४८ तक पार्वती का नख-शिख-वर्णन तुलनात्मक दृष्टि से पढ़कर विशेष लाभ उठा सकेंगे। छंद २८ में कवि ने संक्षेप में रुक्मिणी के विविध-शास्त्र-विषयक ज्ञानोपार्जन की चर्चा करते हुए और साथ ही उसी ज्ञान को भगवद्भक्ति का कारण रूप स्थापित करते हुए, ज्ञान-जन्य पवित्रता के

फल-स्वरूप रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति आन्तरिक प्रेम का अंकुर जमना बताया है। यहाँ आकर कवि का दार्शनिक सन्देश विशेष व्यक्त रूप में प्रकट होता है। उन्होंने यहाँ भी कालिदास से विभिन्नता रखते हुए, विषय को अलौकिकता की अनभिगम्य देवी श्रेणी से उतार कर मानव-दृष्टि-केन्द्र की संकुचित सीमा में लाने की चेष्टा की है। कालिदास के अनुसार पार्वती को शंभु के साथ अनुराग दैवज्ञ नारद की भविष्य वाणी के आधार पर हुआ था:—

तां नारदः कामचरः कदाचित्, कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं, प्रेम्णा शरीरार्द्धहरां हरस्य ॥५०॥

परन्तु इसके विपरीत रुक्मिणी के प्रेम का मुख्य कारण महाराज पृथ्वीराज ने यों प्रकट किया है:—

व्याकरण, पुराण, समृति सासत्र विधि।
वेद च्यारि खटअङ्ग विचार।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी।
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥
साँभलि अनुराग थियो मनि स्यामा।
वर प्रापति वञ्छती वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर।
हर तिणि वन्दे गवरि हर ॥२९॥

उपरोक्त दोहलों के आशय से हमको कवि के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता लगता है। हम जानते हैं कि वे न केवल कृष्ण के कोरे भक्त ही थे वरन् गीता के पंडित भी थे। गीता के सिद्धान्तों ने उनके जीवन को विशेषरूप से प्रभावान्वित किया था। उनके ज्ञान-मय व्यक्तित्व पर विचार करते हुए; भक्ति-मार्ग में उनको अपना

उपयुक्त स्थान निदर्शित करते हुए, एवं उनके ज्ञान और भक्ति के आदर्शों का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए, हम आगे चलकर उनके दार्शनिक विचारों को पाठकों के समक्ष रखेंगे। यहाँ पर प्रसंगवश इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि महाराज पृथ्वीराज का जीवन गीता के उपदेशों के आधार पर निर्मित जीता-जागता गीता का एक उदाहरण है। वे गीतानुमत कर्म, ज्ञान और भक्ति-मार्गों को, जीवन के मोक्षरूप उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पृथक् पृथक् तीन साधन-रूप मार्ग न समझ कर, उन तीनों को अन्योन्याश्रित एक ही मार्ग के भिन्न भिन्न स्वरूप जानते थे।

दोहला ३०-४२ पर्यंत रुक्मिणी के लिए उपयुक्त वर का अन्वेषण होना; रुक्मिणी के माता-पिता का श्रीकृष्ण के गुण, लक्षण, ओज, तेज और दैवी वृत्तियों की चर्चा सुनकर उनको रुक्मिणी के योग्य वर निश्चय करना; परन्तु इस प्रस्ताव का विमूढ़बुद्धि, सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त, रुक्मिणी के भाई रुक्म द्वारा विरोध एवं घोर विद्वेष किया जाना, एवं चंदेरी के राजा शिशुपाल को श्रेष्ठतर वर प्रमाणित कर उसका पक्ष करना और उसको बुला भेजना—यह वृत्त वर्णित है। दोहला ४२-४३ में कवि ने रुक्मिणी की मनमलीन दशा की धूमिल झलक-मात्र दिखाकर, दुष्टहृदय रुक्म के दुराग्रह-जनित दुष्परिणाम की आशंका बताई है। परन्तु जिस प्रकार संयत मन योगीश्वर का चित्त अनेक आधि-भौतिक आपत्तियों से घिरा हुआ भी "पद्मपत्रमिवांभसा" उनसे अस्पष्ट रह सकता है और अपने कल्याणमार्ग की ओर अनवरुद्ध अग्रसर हो सकता है, उसी प्रकार रुक्मिणी भी अपने हृदय-संकल्पित प्राणेश्वर को अपने संकट की सूचना देने की एवं उनकी सहायता से अपना मनोरथ सफल करने की चेष्टा में संलग्न है। दोहला ४४-६६ पर्यंत रुक्मिणी-द्वारा एक उदारचित्त, शुद्धाचरण ब्राह्मण को संदेश और पत्र लेकर द्वारिका

भेजा जाना; ब्राह्मण का प्रसन्नमन प्रस्थान, मार्ग में उपस्थित होनेवाले अनेक दृश्यों एवं अनुभवों का स्वाभाविक वर्णन, द्वारिका का दूर से वर्णन, समीप पहुँच कर द्वारिका का वर्णन; द्वारिका के तीर्थ-स्थलों, वहाँ के जप, तप, यागादि सात्त्विक वायु-मण्डल से परिपूर्ण जीवन का चित्रण इत्यादि दृश्य कवि ने बड़े रोचक ढंग से, कला के संक्षेप माधुर्य्य को दरसाते हुए चित्रित किये हैं।* तदुपरान्त ब्राह्मण का भगवान् से साक्षात्कार—दर्शन; अन्तर्यामी भगवान् का जान बूझकर ब्राह्मण को शिष्टाचार के साथ कुशल-प्रश्न कर, आने का प्रयोजन पूछना और ब्राह्मण का उत्तर के साथ पत्र देना, वर्णित है।

दोहला ५६-६६ पर्यंत पत्र का विषय है। पत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमारा विचार स्वभावतः श्रीमद्भागवत की ओर जाता है। परन्तु, वहाँ पत्र की जगह केवल मौखिक संदेश से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। पत्र की मौलिकता के विषय पर विचार करने से पहले हम यहाँ कवि के पत्राधिगत एक भाव का पुराण के भाव के साथ तादृश्य बता देते हैं, जो भाव-सामञ्जस्य हमारी समझ में आकस्मिक है, अनुकरण कदापि नहीं।

पुराण:—

> "मा वीरभागमभिमर्शतु चैद्य आरात्,
> गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥" भा० १०। ५२। ३९

वेलि:—

> "बलिबन्धण मूझ स्याल सिङ्घ बलि,
> प्रासै जौ बीजौ परणै" ॥ ५९ ॥

---

* यह द्वारिका-नगर-वर्णन केशवदास के अयोध्या-वर्णन के साथ कुछ समानता रखता है। 'रामचन्द्रिका' के प्रथम और अष्टम प्रकाश के साथ साथ इसे पढ़ने से पाठकों को विशेष आनन्द-लाभ हो सकता है।

पत्र के भाव, उसमें प्रयुक्त उपमाएँ एवं प्रसंग (Allusions) प्रधानतः पौराणिक हैं और उनमें आदिपुरुष विष्णु और आदि प्रकृति-स्वरूप महामाया लक्ष्मी के अनादिकालीन पतिपत्नीसम्बन्धों के युगयुगान्तर में निर्वाह का निदर्शन किया गया है और उसी अनादि सम्बन्ध के अधिकार पर रुक्मिणी श्रीकृष्ण से सहायता एवं परित्राण की आशा करती है। यह सब बात रुक्मिणी के भगवत्स्वरूप के पूर्वज्ञान का पर्याप्त परिचय देती है। हमारी दृष्टि में रुक्मिणी का यह संदेश एक जीवात्मा का विश्वात्मा के साथ सायुज्य स्थापित करने का प्रयत्न है। "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि" ने (जैसा कि हम ऊपर प्रमाणित कर आये हैं) रुक्मिणी के जीवात्मा को वह दिव्यदृष्टि दे दी है कि जिससे वह संसार के मायावी अवरोधों को हटा कर उस विश्वात्मा के दिव्यस्वरूप को भक्ति की दृष्टि से और सायुज्य-प्राप्ति की उत्कंठा से देख सकती है और अनन्त प्रेम के समुद्र में लीन हो सकती है, कि जो उसका अनादि निवासस्थान था और अन्तिम विश्रामस्थल होगा। बस, मोक्ष की अवस्था में और इस अवस्था में विशेष अन्तर नहीं है। यह तो हुआ पत्र का दार्शनिक विवेचन।

पत्र का प्रासंगिक विवेचन करते हुए हम अनुमान कर सकते हैं कि संभव है, कवि ने पुराण के कथानक से मतभेद करते हुए यह विचार, अन्य विचारों की तरह, अपने काव्य-गुरु कालिदास से लिया हो। हमारी यह कल्पना-मात्र है; वास्तविकता इसमें कहाँ तक है, हम नहीं कह सकते। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में शकुन्तला का प्रायः इसी प्रकार की दुःख-पूर्ण अवस्था में अपने प्राणप्यारे को पत्र लिखना शायद कवि को स्मरण रहा हो। दोनों पत्रों में विशेष भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर नहीं होता, कारण, दोनों विभिन्न दशाओं में विभिन्न प्रकार की नायिकाओं द्वारा प्रेषित किये गये हैं।

दोहला ६७-११२ पर्यंत कृष्ण का तत्काल रथारोहण कर कुन्दनपुर को आना; कृष्णद्वारा लौटाये हुए संदेशवाहक ब्राह्मण का रुक्मिणी के पास आकर प्रभु के आगमन का संवाद सुनाना; तदनन्तर कृष्ण को अकस्मात् द्वारिका से पधारे जान कर बलराम का शंकित होकर कटक-सहित सहायतार्थ आ पहुँचना; इधर रुक्मिणीजी का माता से अम्बिका-पूजनार्थ मंदिर को जाने की आज्ञा प्राप्त करना और तदुपरान्त सम्पूर्ण शृंगार, वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित होकर प्रियमिलन की दृढ़ आशा से अम्बिकालय को प्रस्थान करना; पूजा के अनन्तर सुदूर स्थित सेनाओं के दल का सिंहावलोकन करना और अपनी मोहिनी दृष्टि की माया से सब दल को विस्मयाकुल और जड़धी कर देना, इसके अनन्तर श्रीकृष्ण का वेगवान् रथ पर आना और सबके देखते रुक्मिणी को रथ में बिठा कर द्वारिका को चल देना—यह वृत्तान्त वर्णित है।

मौलिकता और कवि का अनुभव

इस वर्णन को ध्यान से पढ़नेवाले किसी भी सहृदय पाठक से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि कवि ने रुक्मिणी के शृंगारवर्णन, उनके वस्त्राभूषणादि से सुसज्जित होने के ढंग एवं शैली के वर्णन में अपने निजी अनुभव से काम लिया है। इस वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ते हुए पाठक को यह बात न भूल जानी चाहिए कि एक उत्तम राजघराने के उच्च कुल में पैदा होकर, तथा ऐश्वर्य्य, वैभव और विपुल सम्पत्ति-जनित समस्त सौख्य साधनों का पूर्ण रूप से उपभोग करते रहने के कारण, कवि के तत्सम्बन्धी वैभव और विलासिता के अनुभव का भंडार अन्य शृंगारी कवियों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा बढ़ा चढ़ा हुआ था। कवि को यह आवश्यकता न थी कि शृंगारवर्णन के उपयुक्त साधनों को ढूँढ़ने के लिए वह साहित्यिक रूढ़ियों एवं प्रथाओं अथवा पूर्वकवियों की परम्परागत जटिल कल्पनाओं के

आधार को टटोलता। यही कारण है कि पश्चिमी राजस्थान की सौख्य प्रथाओं से परिचय रखनेवाला कोई भी रसिक, कवि के राजस्थानी होने का प्रमाण इन वर्णनों से निकाल लेगा। यही कारण है कि महाराज पृथ्वीराज की रचना में अन्य शृंगारी कवियों की अपेक्षा मौलिक कल्पनायें बहुतायत से पाई जाती हैं। हम केवल थोड़े से दृष्टान्त देकर प्रमाणित करेंगे कि कवि ने निज देशीय परम्परा, देशीय प्रथा, देशीय रूढ़ियाँ एवं देशीय सभ्यता के साधनों का पर्याप्त उपयोग कर राजस्थान जीवन को 'वेलि' में कैसा ज्वलन्त काव्यमय रूप दे दिया है।

संदेशवाहक ब्राह्मण अब तक श्रीकृष्ण का संदेश लेकर नहीं लौटा। रुक्मिणीजी का हरि के आगमन की आशंका करना स्वाभाविक है। वे चिन्ताग्रस्त हैं परन्तु इतने ही में छींक होती है, यथा :—

> चिन्तातुर चित इम चिन्तवती।
> थई छींक तिम थार थई॥ ७०॥

इसी विषय में पुराणकार यों लिखता है :—

> एवं वध्वाः प्रतीक्षन्त्याः गोविन्दागमनं नृपः।
> वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः॥ भा० १०।५३। २७

उपरोक्त वर्णनों की विभिन्नता इस बात को प्रमाणित करती है कि कवि ने उस शकुनसूचक प्रचलित साहित्य-रूढ़ि को ग्रहण न कर, देशीय-शकुन-प्रणाली का ही सम्मान करना श्रेष्ठ समझा, यद्यपि अशुभ की आशंका होने के अवसर पर वाम नेत्र, उरु, भुजा आदि का फड़कना और छींक होना—सब एक ही आशय रखते हैं।

दोहले ७१ में :—

> चलपत्र पत्र थियौ द्रुज देखे चित,
> सकै न रहति न पूछि सकन्ति ॥ ७१ ॥

अर्थात् अकस्मात् द्विज को लौटे हुए देखकर रुक्मिणीजी का विरहशङ्कित हृदय और भी आशङ्कित हो उठा। न मालूम यह ब्राह्मण क्या समाचार लाया होगा इत्यादि सोच के कारण चित्त की गति पीपल के काँपते हुए पत्ते की तरह होगई।

पहले तो चित्त की चपलता के साथ पीपल-पात के काँपने की यह उपमा ही बड़ी उपयुक्त है। दूसरे पीपल विशेषत: राजस्थानी वृक्ष है। कवि ने अपनी जन्मभूमि में अनेक पीपल के वृक्षों पर घटित होते हुए इस प्राकृतिक ताण्डव नृत्य को देखा होगा। सचमुच, मरुस्थल की प्रकृति ने उनकी प्रतिभा को बहुत अंश में प्रभावान्वित किया था। यह बात और स्पष्ट रूप में आगे चल कर उनके ऋतुवर्णनों की कल्पनाओं में प्रमाणित हो जायगी। रुक्मिणी का "कुमकुमै मंजण" करना, पश्चात्, "विहुँ करै धूपणै लीधै लागी" तदनन्तर 'बाजोटा' अर्थात् स्नान के पट्टे से उतर कर शृंगार करना, यही क्यों, क्रमानुसार शृंगार के प्रत्येक गहने का नाम एवं उसके धारण करने के ढंग में राजस्थान और विशेषत: मारवाड़ के उच्च घरानों में बरती जानेवाली पुरानी प्रथाओं की, जो आज तक चली आ रही हैं, गहरी छाप लगी हुई है। उपरान्त 'चकडोल' पर सवार होकर, एक राजपूत राजकुमारी अथवा महारानी की तरह, सुसज्जित सैनिक घुड़सवारों से रक्षित होकर, सवारी में, रुक्मिणीजी का अम्बिकालय को पधारना—(१०४-१०५) यह वर्णन भी देशीय प्रथा के रंग में सुरंजित है। हम विस्तारभय से इस बिलकुल मौलिक शृंगारवर्णन की आलोचना का संक्षेप करते हैं

परन्तु इन छंदों में वर्णित कवि की मौलिक प्रतिभा और अनुभव-जनित, सारगर्भित, अनोखी एवं अद्वितीय सूझ की उत्कृष्ट स्वाभाविकता और मनोज्ञता का रसास्वादन करते हुए कवि की भावुकता की प्रशंसा करते ही बनती है।

दोहले ६३ और ६६ में कवि ने अपने ज्योतिष् के ज्ञान का परिचय देते हुए ग्रंथ के उत्तर भाग में अंकित—"जोतिषी वैद् पौराणिक जोगी",—(दो० २९९) उन आत्मश्लाघा के शब्दों को चरितार्थ किया है, जिनको पढ़नेवाला कोई पाठक, शायद, मिथ्याभिमान कह कर टाल दे।

रुक्मिणी-हरण के उपरान्त दोहला ११३ में शृंगारवर्णन का सरस प्रवाह एकदम सूख कर उसकी जगह देशीय राजपूत-युद्ध-पद्धति के अनुसार केशरिया रंग के वस्त्रों और शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित वीर एकत्रित होते हैं। यहाँ हमको भावी समर की भयङ्करता और वीररस के आविर्भाव की सूचना मिलती है। युद्ध के इस अनवस्थित विशद वर्णन से इस शृंगारप्रधान खण्ड-काव्य की यदि किसी प्रकार रस-पुष्टि होती है, तो केवल इसी प्रकार कि परिणाम में नायक का अभ्युदय सूचित होता है। परन्तु प्रसंगवश अचानक ही इस प्रकार काव्य में रस-परिवर्त्तन के उपस्थित हो जाने के कारण, संभव है, पाठकों के हृदय में रस-विरोध-सम्बन्धी आक्षेप उपस्थित हो जाय। और यह स्वाभाविक भी है। अतएव इस आक्षेप को अपनी ओर से कल्पित करके हम इसके सत्यासत्यनिर्णय के विषय पर अपने विचार एवं शास्त्रसम्मति प्रकट करेंगे।

रस-विरोध

दोहला ११३-१३७ में वीर-रस-प्रधान युद्धवर्णन है। यह युद्ध रुक्म और शिशुपाल की सेनाओं ने कृष्ण के पक्ष की द्वारिका के प्रति प्रस्थान करती हुई सेनाओं के साथ किया था। इस वर्णन के सम्बन्ध में हमें सर्व-प्रथम एक बात

हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए और वह यह, कि यह युद्ध-वर्णन एक क्षत्रिय वीर कवि का किया हुआ है, जिसने स्वयं कई बार रणक्षेत्र में तलवार लेकर घमासान युद्ध किया था एवं जिसकी जातीयता का सबसे प्रधान गुण और गौरव युद्ध-प्रियता और शौर्य्य था। वर्णन की उत्कृष्ट स्वाभाविकता ही हमारे इस कथन की कसौटी है। वीररस के आदर्श को दृष्टिगत रखते हुए इन वर्णनों की आलोचनात्मक प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। प्रत्येक छंद में ओजगुण की प्रधानता इतनी व्यक्त है कि मानो उसका आतंक डरावने श्याम बादलों की घटा के रूप में गंभीर घड़घड़ाहट के साथ हमारे ऊपर घिरा पड़ता है। संस्कृत-साहित्य के कवियों में इस समय हमको कालिदास की प्रसाद-माधुर्य्य-पूर्ण शैली का विलास भूल कर भवभूति की ओजस्विनी शैली का स्मरण हो जाता है। यथा :—

> कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि।
> वरसति विसिख विवरजित वाउ॥
> धड़ि धड़ि धबकि धार धारूजल।
> सिहरि सिहरि समरवै सिलाउ॥११९॥

भवभूति की शैली का एक उदाहरण इससे मिलाकर देखिए :—

> आगुञ्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटा विस्तीर्णकर्णज्वरम्।
> ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन॥
> वेलद्भैरवरुण्डमुण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवः।
> तृप्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्णमणा इव॥
>
> (उत्तरचरित)

परन्तु साथ ही, निस्संकोच होकर हमको यह कहना पड़ता है कि "वेलि क्रिसन रुकमणी री" जैसे शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथ में इस

प्रकार विशद और व्यक्तरूप में सांगोपांग भयानक, वीर एवं तदनुगत बीभत्स रस (देखो दो० १२०-१२५) के दृश्यों का समावेश करना काव्य के एक रसत्व (Unity) और उसके, "रसभाव-निरन्तरम्" के निर्वाह के विषय में सन्देह अवश्य उपस्थित करता है। शास्त्रदृष्टि से श्रेष्ठ काव्य वह गिना जाता है जिसमें समतापूर्वक एक प्रधान रस हो तथा अन्य सहकारी एवं संपोषक भाव, विभाव, अनुभाव, उद्दीपन विभाव, व्यभिचारि भावादि गौणरूप से उस प्रधान रस की इस प्रकार से पुष्टि करें, जिस प्रकार एक प्रधान सरिता को अनेक नद, स्रोत, शाखा अपना जल प्रदान कर परिपुष्ट करते हैं।

शास्त्र-विवेचन

महाकाव्य का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए दण्डिन् का, "रसभाव-निरन्तरम्" गुण की प्रधानता प्रकट करने से यही प्रयोजन है कि काव्य का प्रधान रस एवं भाव निरन्तर और अबाधित रूप में संरक्षित रहे तथा विरोधी रस उपस्थित होकर उसकी वृद्धि का विच्छेद न कर सके। इसी प्रकार शृंगाररस का विवेचन करते हुए विश्वनाथ कविराज ने लिखा है, "रसविच्छेदहेतुत्वात् मरणं नैव वर्ण्यते"। सामान्य दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो पास पास ही एक काव्य में दो विरुद्धधर्मी रसों का वर्णन शोभा नहीं देता एवं काव्यकलासौष्ठव की दृष्टि से काव्य की मनोज्ञता को कम कर देता है; कहा भी है:—

यस्मिन् श्रुते च चित्तस्य वैरस्यं न च हृद्यता।
तानि वर्ज्यानि पद्यानि प्रसिद्धिप्रच्युतानि च॥

रस-विरोध-सम्बन्धी शास्त्र पर विचार करते हुए हमको मुख्यत: दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। वे ये हैं कि (१) रस की परिपुष्टि करने में उन व्यभिचारी भावों का भी भाग होता है, जो

प्रस्तुतप्रधान रस से इतरधर्मी रस के लक्षणों का पोषण करने में भी उपयुक्त होते हैं और (२) कई एक रसों का प्रत्यक्ष में परस्पर विरोध प्रतीत होने पर भी उनका अङ्गाङ्गिसम्बन्ध विरोधकता का अपहार कर देता है। परन्तु काव्य-कला-निष्णात कवि को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखना यह चाहिए कि विशेषत: रति स्थायि भाव को पुष्ट करने के लिए केवल उन्हीं व्यभिचारि भावों का प्रयोग औचित्य के साथ हो सकता है कि जो मुख्य रस का आन्तरिक विरोध न करते हुए, किसी अंश में और किसी सीमा तक, परिपोषण ही करते हों। यथा, शृंगाररसप्रधान काव्य में उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा—इन व्यभिचारी भावों को साहित्यकारों ने निषिद्ध बताया है:—

"त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः" ।। सा० दर्पण ।।

इस सम्बन्ध में ध्वन्यालोककार ने लिखा है:—

> विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
> विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतरो ह्यसौ ।। उद्योत ३० श्लो० २८

अर्थात् रस के विषय में विरोध और अविरोध का निरूपण कवि को साधारणत: सभी रसों के काव्यों में करना उचित है परन्तु विशेषत: इन बातों का ध्यान शृङ्गारप्रधान काव्य में अवश्य रखना चाहिए कारण, यह रस अत्यन्त सुकुमार है।

अस्तु, 'वेलि' जैसे शृङ्गाररसप्रधान काव्य के विषय में उपरोक्त कल्पित रसविरोध की शास्त्रसमीक्षा करना हमने इस भूमिका का उचित प्रयास समझा है।

रस के विरोध और अविरोध के विषय में ध्वन्यालोककार ने आगे चल कर कहा है:—

> अविरोधी विरोधी वा, रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
> परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ।। उ० ३।२४।

अर्थात् विभिन्न धर्मवाले अङ्गिरस् अथवा प्रधान रस में कवि को अविरोधी वा विरोधी किसी भी दूसरे अङ्गभूतरस का स्वतन्त्ररूप में परिपोषण कभी नहीं करना चाहिए। इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखनेवाला कवि ही अपने काव्य में निष्कलङ्क अविरोधिता का प्रतिपादन कर सकता है।

यही बात दूसरे २ श्लोकों में यों कही गई है:—

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥
उ० ३। श्लो० २० ध्वनि

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एकोरसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता॥ उ० ३ श्लो० २१।
रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः।
नोपहन्त्यङ्गिता सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः॥
उ० ३ श्लो० २२।

उपरोक्त शास्त्रावतरण से हमारे विचार-केन्द्र में दो बातें उपस्थित होती हैं—वे अविरोधी और विरोधी रस कौन से हैं और उनसे रीतिकार का क्या आशय है?

हमारी समझ में अविरोधी रसों से तात्पर्य्य उन विभिन्न रसों का है जो अङ्गिरस् का येन केन प्रकारेण परिपोषण करने के लिए कविद्वारा व्यभिचारी भावों के रूप में उपस्थित किये जाते हैं। कवि के लिए ऐसा करना शास्त्रसम्मत भी है—

"रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः"
(सा० दर्पण, ३ परि० २०३)

अर्थात् रति आदि स्थायिभाव भी अन्य प्रधान रस के परिपोषण के लिए व्यभिचारि भावों के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। अब,

पुरातन शास्त्र-परिपाटी के अनुसार कई रस तो ऐसे हैं जो परस्पर-विरोधी नहीं माने जाते एवं जिनका अङ्गाङ्गि-भाव शास्त्रनियमानुमत है। दूसरी ओर कई रस ऐसे हैं जिनका स्वभाव-विरुद्ध होने के कारण, परस्पर-विरोध माना गया है एवं जिनमें पारस्परिक अङ्गाङ्गि-भाव स्थापित नहीं हो सकता है। हम यहाँ पर "वेलि" में प्रयुक्त रसों की विरोधकता अथवा अविरोधकता के विषय में रीतिकारों की सम्मति उद्धृत करेंगे:—

ध्वनिकार ने "वीरश्रृङ्गारयो:" "रौद्रश्रृङ्गारयो:" का अविरोध माना है क्योंकि उनका अङ्गाङ्गिभाव संघटित होना संभव है। "तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभाव:"। परन्तु इन्होंने "श्रृङ्गारबीभत्सयो:" का बाध्य-बाधक भाव माना है अर्थात् श्रृङ्गार और बीभत्स का अङ्गाङ्गि-भाव संघटित नहीं होता।

यही मत जगन्नाथ पण्डितराज ने भी रसगङ्गाधर में प्रकट किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्य्य ने तो उपरोक्त रीति-बन्धनों को और भी ज़्यादा शिथिल कर दिया है और भिन्न भिन्न रसों में प्रकृतित: किसी प्रकार का विरोध नहीं माना है। यथा:—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित:।
अङ्गिन्यङ्गमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ ॥

(उल्लास ७ सू० ८६। ६५)

अर्थात् अङ्गिरस के साथ स्मरण किया जाता हुआ अथवा सामान्यरूप में विवक्षित विरोधी रस भी यदि अङ्गिरस का अङ्ग बन-कर काव्य में उपस्थित हो जाय तो वह रसविच्छेद का हेतु नहीं है। उदाहरणत: महाभारत में, समरभूमि पर पड़े हुए मृतक भूरिश्रवा के हाथ को देखकर उसकी स्त्री की यह करुणास्मृति श्रृङ्गाररस-पूर्ण

होने पर भी, दोनों रसों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव स्थापित हो जाने के कारण, रसविरोध नहीं उपस्थित करती:—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ का० प्र० ३३६॥

ध्यान में रहे कि प्रायः सभी आचार्यों ने "शृङ्गारकरुणयोः" विरोध माना है परन्तु "स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि" के नियम से मम्मट ने इन दोनों रसों का अविरोध प्रमाणित किया है।

इसी प्रकार निम्नोद्धृत दूसरे उदाहरण में साम्यविवक्षा होने के कारण परस्परविरोधी शृङ्गार और बीभत्स रसों अथवा शृङ्गार और शान्त रसों का भी अविरोध माना है।

दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा,
जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि॥ का० प्र० ३३७॥

एक समय वन में अपने सद्यःप्रसूत बच्चे को खाने की चेष्टा करती हुई एक सिंहिनी को देखकर दयावीर बोधिसत्व भगवान् बुद्ध ने बच्चे की रक्षा करने के निमित्त सिंहिनी को अपना शरीर खाने के लिए अर्पित कर दिया था। सिंहिनी द्वारा क्षत बुद्ध के शरीर को कल्पित करके किसी पुरातन कवि की यह उक्ति है। यहाँ "दन्तक्षतानि," "सान्द्रपुलके शरीरे" "रक्तमनसा" तथा "जातस्पृहै" शब्दों से शान्त और शृङ्गार दोनों रसों की बराबर पुष्टि होती है अतएव साम्य-विवक्षा है।

सारांश, मम्मट के मतानुसार

"प्राक्प्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधः नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति। उक्तं हि—

गुणःकृतात्मसंस्कारःप्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्त्तते ॥ का० प्र०....

अर्थात् पहले प्रतिपादित रस का दूसरे रस के द्वारा विरोध होना संभव नहीं है और न उन दोनों का पारस्परिक अङ्गाङ्गि-भाव संघटित होना ही संभव है; कारण, गुण अर्थात् अङ्गभूत रस अपना संस्कार करने के निमित्त एवं प्रधान रस (अङ्गिरस) की पुष्टि करने के निमित्त प्रयुक्त होने के कारण स्वतः ही प्रधान रसता को प्राप्त हो जाता है और ऐसी दशा में वह अङ्गिरस का महान् उपकारक सिद्ध होता है। सारांश, अङ्गरस अङ्गिरस का उपकारक होने के कारण उसी में विलीन हो जाता है। द्वित्व का भाव मिटकर अङ्गि का एकत्व रह जाता है। अतएव विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

यह तो हुआ रससम्बन्धिनी विविध-शास्त्र-सम्मतियों का उल्लेख। अब देखना यह है कि "वेलि" दो० ११३-१३७ के अन्तर्गत वर्णन में आशङ्कित रसविरोध वास्तविक विरोध है अथवा नहीं।

इसमें संदेह नहीं है, "वेलि" शृङ्गाररसप्रधान काव्य है और उसका स्थायिभाव रति है जिसका निर्वाह समस्त कथासूत्र में कवि ने अच्छे ढङ्ग से किया है। "वेलि" के अनेक स्थलों पर प्रधान रस की परिपुष्टि के लिए इतररस-सम्बन्धी भावविभावादि का भी प्रचुरता से प्रयोग किया गया है जो युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत है:—

रत्यादयोऽपि अनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।
(सा० द० परि० ३ । २०३)

परन्तु इस प्रकार प्रयुक्त हुए इतर रस-सम्बन्धी भावविभावादि प्रकृत ग्रंथ में साधारणतया व्यभिचारी भावों ही की तरह उपस्थित हुए

हैं, और अपने अपने स्थलों पर, "विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्ना" धर्म को पालन करते हैं।

अब यदि "वेलि" दो० ११३-१३७ के अन्तर्गत रस का विश्लेषण किया जाय तो क्रमशः प्रधान रस वीर, रौद्र और बीभत्स उपलब्ध होते हैं। और उनमें औग्र्य, मरण एवं जुगुप्सादि निषिद्ध व्यभिचारी भावों का समावेश भी मिलता है। युद्ध का प्रसंग आ जाने पर इस वर्णन में वीर-रस-सम्बन्धी अधिकांश उत्साहपूर्ण दोहले, हमारी समझ में, अङ्गिरस के बाधक न होकर अङ्गरूप में उसका परिपोषण ही करते हैं। यही नहीं, हम यह भी मानते हैं कि उनकी स्थिति से काव्य का उत्कर्ष प्रमाणित होता है और नायक का अभ्युदय प्रदर्शित होता है। और शास्त्रकारों ने भी "वीरशृङ्गारयोश्च अविरोधः" माना है। अस्तु।

परन्तु दो० १२०, १२१, १२२, १२४, १२५ तथा १२८ में पहुँच कर यही वीररस क्रमशः रौद्र और बीभत्स पदवी पर आरूढ़ हो जाता है और पाठक के हृदय में आंशिकरूप में अङ्गिरस अर्थात् शृङ्गाररस का अननुसंधान होने लगता है जिसको काव्यप्रकाशकार ने रसदोष का एक भेद माना है। निस्संदेह "वेलि" जैसे उच्च कोटि के शृङ्गार-ग्रंथ में

(१) "परनालै जल रुहिर पड़ै" (१२०)

(२) "चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि,
धड़ ढलियै ऊकसै धड़" (१२१)

(३) "रिण अङ्गिणि तेणि रुहिर रलतलिया,
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊंधा पत्र बुदबुद जल आकृति,
तरि चालै जोगणी तणा।" (१२२)

(४) त्रूटै कंध मूल जड़ त्रूटै। (१२४)
(५) ऊँच छिंछ ऊछलै अति। (१२५)
(६) चारौ पल ग्रीधणी चिड़। (१२८)

इत्यादि जुगुप्साजनक बीभत्स वर्णन पर असंगतता और अनौचित्य का दोष आरोपित हो सकता है। रसगंगाधर-कर्त्ता ने लिखा है:—

"कदर्यवस्तुविलोकनजन्मा विचिकित्साख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा"।

शास्त्रदृष्टि से देखा जाय तो "शृङ्गारबीभत्सयोः विरोधः" (ध्वनि) माना गया है। परन्तु काव्यप्रकाशकर्त्ता ने रसों में किसी प्रकार का पारस्परिक प्राकृतिक विरोध नहीं माना है अतएव देखना चाहिए कि यदि यह बीभत्स वर्णन साम्य-विवक्षा की दशा में अथवा स्मृति के रूप में उपस्थित हुआ है तब तो विरोधी होते हुए भी क्षन्तव्य है, क्योंकि :—

स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः।
अङ्गिनि अङ्गमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परौ॥ का० प्र०

परन्तु ऐसी बात नहीं है। न तो यह उपरोक्त वेलि का वर्णन स्मृतिजन्य व्यभिचारिभाव के रूप में उपस्थित हुआ है और न उसकी प्रधानरस के साथ साम्यविवक्षा ही की गई है। प्रत्युत, आवश्यकता से ज़्यादा प्रधानता दे देने के कारण यह बीभत्स स्थल काव्यरसिकों को अखरता है। हमारा विश्वास है, यदि इस स्थल पर कवि ने अपने उत्साह का नियमन किया होता तो बहुत ही सहज में वीररस को बीभत्स की परिपकता प्राप्त करने से रोक कर गौण-रूप दे देते और ऐसा करने से वह शास्त्रानुसार क्षन्तव्य-श्रेणी में

आ जाता। परन्तु जान पड़ता है, ऐसा करना उनके लिए प्रकृतितः विरुद्ध एवं असम्भव था।

एक और शास्त्रीय दृष्टिकोण है जिससे हम उपरोक्त रस-विरोध-सम्बन्धी प्रकरण का विवेचन कर सकते हैं।

शास्त्रकारों ने ध्वनिभेद से उत्तम काव्य के कई लक्षणों तथा आवश्यक पदार्थों का विवेचन किया है। वहाँ पर वस्तु और अलंकार-व्यंग्य के अतिरिक्त काव्य में रसभावादि के निर्वाह के सम्बन्ध में रसादि ८ पदार्थों का विवेचन किया गया है, यथा, रस, भाव, रसाभास भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलत्व है। इनसे भी ध्वनि-काव्य में एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'वेलि' के उपरोक्त रसविरोध-प्रकरण में हम भावध्वनित्व का भी अनुसन्धान कर सकते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में जहाँ रुक्मिणी और कृष्ण-सम्बन्धी शृङ्गाररस के स्थायि-भाव-रति की प्रवृत्ति हो रही थी वहाँ अकस्मात् किसी कारणवशात् विरुद्ध भाव के उपस्थित होने पर पूर्व भाव (रति) की शान्ति हुई और अपर भाव अर्थात् क्रमशः रणसम्बन्धी वीर, रौद्र और बीभत्स भावों का व्यभिचारियों के रूप में उदय हुआ। इस पूर्व भाव शान्ति और अपर भावोदय के हेर फेर का परिणाम यह हुआ कि अङ्गिरस अथवा स्थायि भाव-रति के ऊपर अपर भाव का प्रधानत्व हो गया। जैसे किसी राजा का भृत्य अपने विवाह में दूलह बन कर बरात के आगे आगे चलता है और उसका स्वामी अर्थात् राजा उसकी प्रीति के लिए उसके पीछे पीछे चलता है। ऐसी अवस्थाविशेष में कहीं कहीं अपर (व्यभिचारी) भाव भी स्थायिभाव पर प्रधानता पा जाता है। काव्य में उसे भाव-ध्वनि का चमत्कार कहते हैं—उसे दोष नहीं गिनते।

परन्तु वेलि में जिस स्थल पर, जिस प्रकार और प्रधान रस के विकास को जिस दशा में, अपर भाव की प्रधानता हुई है, उसका अनुभव करते हुए सहृदय रसज्ञ, यह कभी नहीं कह सकते कि वह उत्तम काव्य के लिए उपकारी अथवा चमत्कारोत्पादक हुआ है। ज़्यादा युक्ति-संगत तो यह होगा कि हम इस रस-भाव-विरोध को मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य के अन्तर्गत अपराङ्ग व्यंग्य का एक उदाहरण मानें। प्रकृत प्रकरण में व्यंग्यरस अर्थात् रतिमूलक शृङ्गाररस दूसरे रस अथवा भाव का अङ्ग बन कर गौण हो गया है। अतएव गुणीभूत व्यंग्य हुआ। इस दृष्टि से देखने पर, "अयं स रशनोत्कर्षी" इत्यादि उदाहरण में शृङ्गाररस करुण का गुणीभूत व्यंग्य हो गया है और इसी प्रकार वेलि का प्रधान शृङ्गाररस युद्ध-सम्बन्धी अपर भावों का गुणीभूत हो गया है।

हम यह भी जानते हैं कि शास्त्रकारों की विभिन्न मतियाँ हैं। कई रसविरोध को दोष मानते हैं; कई नहीं मानते और कई कई विशेष अवस्था में मानते हैं, जैसा कि हम ऊपर संक्षेप में लिख आये हैं। हमें यह भी विश्वास है कि अन्वेषण करने पर शास्त्र में ऐसी अनुमति मिल सकती है, जिसके द्वारा इस दोष का सर्वथा परिहार हो सकता है। परन्तु ये सब सुविधायें उपलब्ध होने पर भी यह रस-गुण-दोष-संबन्धी विषय रसिकजनों के हृदय से ज़्यादा सम्बन्ध रखता है। इस विषय में प्राय: सभी रीतिकारों ने रसविरोध का स्वच्छन्दतापूर्वक खण्डन, मण्डन करते हुए भी एक साधारण सिद्धान्त को सर्वोपरि माना है और वह है रसिक आलोचक का हृदय, यथा:—

> अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
> प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ (ध्वनि)

हम इसी सिद्धान्त को प्रमाण मानते हैं। हमारी समझ में उपरोक्त ५-६ दो हलों में वर्णित बीभत्स वर्णन श्रृङ्गारप्रधान "वेलि" के लिए अनुचित है। इसी बात के प्रमाण में हमने पहले "यस्मिन् श्रुते च चित्तस्य वैरस्यं न च हृदयता, तानि वर्ज्यानि पद्यानि" का उल्लेख किया था।

परन्तु महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में रसशास्त्र के अज्ञान की आशंका करना वृथा है। उपरोक्त अप्रासंगिकता के कई ऐसे कारण हैं जिनको दृष्टिगत करते हुए हम कवि को सर्वथा दूषण-रहित समझ सकते हैं। वे ये हैं:—

(१) प्रथम तो महाराज पृथ्वीराज जैसे एक राजपूत कवि के लिए अपने सहज वीर हृदय के उद्गारों को प्रकट करने के स्वभाव-जन्य लोभ का संवरण करना कठिन था और वह भी तब, जब कि कथासूत्र के निर्वाह के निमित्त प्रसंगवश युद्ध का वर्णन करना आवश्यक हो गया था। इस दशा में वे अपने प्रकृतिगत उत्साह को नियमबद्ध न कर सके और न तत्परिणाम-भूत गुण दूषण ही पर यथार्थरूप में विचार कर सके। संभव है इस विषय में उनके स्वभाव ने उनके ज्ञान पर विजय पाई हो।

(२) हम ऊपर कह आये हैं कि दोहा ११३-३७ में से अधिकांश दोहले वीररसप्रधान होने के कारण स्थायीरस का उत्कर्ष ही सम्पादन करते हैं। रसविरोध की आशङ्का तो केवल ५-६ दोहलों में उपस्थित होती है जिसमें प्रसंगवश वीररस अन्त में बीभत्स बन गया है। "वेलि" के समस्त दोहों की गणना को देखते हुए इन ५-६ दोहलों की संख्या अकिंचन है। फिर इन ५-६ दोहलों को कवि ने इस ढंग से और इस चतुरता से प्रयुक्त किया है कि बहुत कुछ अंश में दोष का परिहार हो जाता है। वह चतुरता इन बातों से प्रकट होती है :—
(क) बीभत्सरसप्रधान इन पाँच छः दोहलों को कवि ने दोनों ओर से अर्थात् पूर्वापर में, वीर-रस-सम्बन्धी भाव-विभावादि से

संवलित कर दिया है जिससे ये दोहले ग्रंथ के शृंगाररस-प्रधान पूर्वापर भाग से स्पर्श-संसर्ग नहीं रखते। अतएव ये स्थायिरस को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। ध्वन्यालोककार ने ऐसी स्थिति में रसविरोधदोष नहीं माना है, यथा:—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्त्तते हि रसयो समावेशे विरोधिता॥

"शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररस-व्यवधानेन समावेशो न विरोधी॥" इस प्रकार इस वर्णन के पूर्व भाग में दोहा ११३-११९ और उत्तर भाग में दोहा १२९-१३७ अन्तराय अथवा व्यवधान रूप में उपस्थित होकर रसविरोध का निवर्त्तन अर्थात् परिहार कर देते हैं।

(ख) कवि ने जानबूझ कर इन पाँच छ: दोहलों में वर्षा और कृषि-सम्बन्धी रूपकों का साम्य-विवक्षा की दृष्टि से उपयोग और निर्वाह करके जुगुप्सा के भावों को बहुत अंश में शिथिल और कमज़ोर कर दिया है। सारांश "वेलि" के प्रकृतस्थल में रस-विरोध का आक्षेप उपस्थित करना विशेष गंभीरता नहीं रखता। रसज्ञों के लिए ऐसी दशा में ऐसी काव्यत्रुटि सर्वथा क्षन्तव्य समझी जाती है।

(३) वेलि के हिन्दी-पाठकों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृत काव्य डिंगलभाषा का शृंगारकाव्य है। उचित तो यह है कि हम डिंगल-काव्य का गुण-दोष-विवेचन करने के निमित्त डिंगल-रीति-ग्रन्थों का ही उपयोग करें। और हम यह भी नहीं कहते कि डिंगल में रीतिग्रन्थ है ही नहीं। रघुनाथरूपक डिंगल का अच्छा रीतिग्रंथ है। प्रकृत काव्य के छंद, व्याकरण, अलंकारादि की विवेचना करते हुए हमने रघुनाथरूपक का ही आधार लिया है।

इस रीतिग्रंथ में काव्यदोष का प्रकरण भी है और उसमें गिनाये हुए काव्य-दोषों को हमने पाठकों के परिचयार्थ एवं उपयोगार्थ भूमिका के उपसंहार में उद्धृत भी किया है। परन्तु रस-विरोध का प्रकरण इस ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होता। इसका कारण यही हो सकता है कि डिंगल में उच्चश्रेणी के काव्यों की बहुत कमी है। काव्यों की अविद्यमानता में रसनिर्णय-सम्बन्धी आलोचना-शास्त्र का जन्म अथवा विकास होना असम्भाव्य है। अतएव डिंगल-शास्त्र-परिपाटी के अभाव में हमने संस्कृत के रीतिकारों की आज्ञाओं का उपयोग विवश होकर किया है।

संभव है, पृथ्वीराज की काव्यदृष्टि में, अपने समय की डिंगल-काव्य-परिपाटी के अनुसार उपरोक्त आक्षेप निर्मूल रहा हो।

भगवान् ने रुक्म को युद्ध में पराजित कर रुक्मिणी के अनुरोध से उसके प्राण हरण न किये, परन्तु उसके सिर के केश काट कर उसको विरूप कर लज्जास्पद बना दिया। बलरामजी ने, रुक्मिणी के भाई के प्रति भगवान् के इस व्यवहार को वक्रोक्तिद्वारा अनुचित बताया। तदनन्तर भगवान ने रुक्मिणी के सन्तोष और हर्ष के हेतु रुक्म के सिर पर पुनः ज्यों के त्यों केश उत्पन्न कर दिये। यह आश्चर्य्यजनक वृत्त कवि की स्वतंत्र कल्पना और काव्यकौशल का फल है। भागवत में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता।

छंद १३७-१५८ पर्यन्त श्रीकृष्ण का द्वारिका के प्रति प्रस्थान करना; द्वारिकावासियों का भगवान का स्वागत करना तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार भगवान् और रुक्मिणीजी का ब्याह होना इत्यादि गाथा वर्णित है।

इस वर्णन में कवि पुनः अपने पूर्व पथ पर आरोहण कर समयोचित शृंगार के वर्णन को नये सिरे से उठाने की चेष्टा करता है परन्तु उसका विशृंखलित प्रयास इस उत्तरार्द्ध के वर्णन में अपने

पूर्व आदर्श की अपेक्षा बहुत न्यूनतर रह जाता है। यों तो ये वर्णन भी कवि के सूक्ष्मदर्शन और अनुभव-भंडार की पूर्णता को प्रमाणित करते हैं। परन्तु वह चमत्कार, वह स्वाभाविकता, वह रसगांभीर्य्य, जो युद्ध-वर्णन से पूर्व प्रचुर परिमाण में प्रदर्शित होते थे, नहीं दिखाई पड़े। ये वर्णन अपेक्षाकृत फीके और शुष्कप्राय हैं। हाँ, यदि इनमें कुछ भी विशेषता है तो यह है कि कवि ने अपनी प्रतिभा के अभाव की पूर्त्ति अपने सांसारिक वस्तुज्ञान के प्रयोगद्वारा करने की चेष्टा की है। भगवान के स्वागतार्थ द्वारिका नगरी की सजावट, नागरिकों के आमोद-प्रमोद-सूचक व्यवसाय, तदुपरान्त विवाह-सम्बन्धी मंगल-विधियाँ और कर्मकाण्डानुगत व्यापारों की सूक्ष्मताओं का सविस्तर उल्लेख कवि के वस्तुज्ञान, अनुभव एवं देशीय प्रथाओं के ज्ञान का प्रचुर परिचय देते हैं। परन्तु इन सबसे काव्यगुणों के अभाव की पूर्त्ति होना कठिन है।

वेलि का सर्वोत्तम काव्य-स्थल

दोहले १५६ तक पहुँच कर कवि पुन: अपने पूर्वाभ्यस्त प्रतिभा-प्रदीप्त मार्ग को पा जाता है। दोनों ओर पति-पत्नी के प्रथम-मिलन का रति-उद्दीपक सामान जुटाया जा रहा है। इधर रुक्मिणी कृष्णजी से मिलने को अकुलाती हुई संकुचित हो रही हैं; उधर भगवान् बेचैन हैं। यहाँ, हम कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम को सांसारिक नायक-नायिका के प्रेम-व्यवहार के आदर्श के रूप में देख रहे हैं। कवि ने इस "राधा-माधवयो: रह:केलय:" के वर्णन में शृङ्गाररस को संक्षेपत: साङ्गोपाङ्ग वर्णित कर रतिभाव का भली भाँति उत्पादन और संपोषण किया है। दोहला १६२-६३ में प्रथम रात्रि की पूर्व संध्या का वर्णन पढ़कर तो रसिकों का हृदय फड़क उठेगा :—

सङ्कुड़ित समसमा सन्ध्या समये,
रति वञ्छति रुकमणि रमणि।

पथिकवधू द्रिठि पङ्क पङ्खियाँ,
कमल पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥
पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण,
निसा तणौं मुख दीठ निठ।
चन्द्र किरण कुलटा सुनिसाचर,
द्रवड़ित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

यह न केवल सन्ध्या के संकोच और विस्तार-रूपी द्वैध-भाव से पूर्ण शंकित-हृदय के प्राकृतिक दृश्य का ही चित्र है। वरन्, तज्जन्य, नायक-नायिका के प्रेम-पूर्ण हृदयों में रति-भावोदय का पृथक् पृथक् रागों से रंजित भाव चित्र भी है। यह स्वाभाविक मानवधर्म है कि प्रेम का प्रथम उद्रेक शीलधर्मा स्त्री के हृदय में संकोच को लिये हुए उद्भासित होता है और पुरुष के हृदय में उत्सुकता और सामीप्य-वाञ्छा को लिए उत्पन्न होता है। एक में हृदय के भावों का संकोच और दूसरे में उनका विस्तार होता है। एक का धर्म निषेधात्मक है दूसरे का विधेयात्मक। जड़ प्रकृति में दोनों के संमिश्रण से वह अनिर्वचनीय प्राकृतिक अवसर उत्पन्न होता है जिसे सन्ध्या कहते हैं। मानव-प्रकृति में दोनों के संमिश्रण से वह अवर्णनीय भाव उत्पन्न होता है जिसे 'रति' कहते हैं। कवि ने अपने प्रतिभा-बल की तीव्र सूझ से दोनों प्रकृतियों को पारस्परिक सहानुभूति और एकत्व के सूत्र में संगठित कर अद्भुत काव्य-गुण और सौष्ठव उत्पादित किया है। पदार्थ-विज्ञान का भी यह सिद्धान्त है कि प्रकृति में संघर्ष और संकोच इन दो सिद्धान्तों के संघट्ट से ही भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति है। इस वर्णन के अपूर्व सौन्दर्य्य और गंभीर सैद्धान्तिक एवं दार्शनिक तत्त्वों पर विचार करते हुए हमें ऋग्वेद १० मण्डलान्तर्गत उस पुरातन स्वर्गीय वर्णन का स्मरण होता है जब

उषस् और रात्रि का पारस्परिक सम्बन्ध कल्पित करते हुए हमारे पूर्वज ऋषियों ने उच्चतम काव्यमयी भाषा में उन्हें एक पिता की दो पुत्रियाँ बताया है जो उभय सन्ध्या-कालों में उत्कंठा और संकोच के भावों को हृदय में भर कर मिलन करती हैं और पुन: बिछुड़ जाती हैं।

दो० १६४-१७४ पर्यंत इसी प्रकार कवि ने प्रथम मिलन के मनोहर अवसर को अनेक नवीन नवीन उपमाओं, रूपकों, अनोखी सूक्तियों एवं स्वाभाविक वर्णनों से सुसज्जित किया है। विस्तारभय से हम उनका उल्लेख करना उचित नहीं समझते। एक बात पर, इस सम्बन्ध में, हम पाठकों का ध्यान अवश्य आकर्षित करेंगे कि कवि इस श्रृङ्गार-वर्णन को भली भाँति सम्पादित करने में अत्यन्त सफल हुआ है। हमारी समझ में श्रृङ्गार-काव्य की दृष्टि से यह वर्णन ग्रंथ में सर्वश्रेष्ठ है। इसका अनुशीलन करते हुए और इसकी मौलिक उपमायें, रूपकों, शब्द और अर्थालङ्कारों तथा भाषा और भाव-सौष्ठव पर मनन करते हुए पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि कवि की इस आश्चर्यजनक सफलता का मुख्य कारण वास्तव में यह है कि वे इस प्रकार के अनुभवों को प्रर्याप्त परिमाण में स्वयं अनुभव कर चुके थे।

दो० १७४-१७९ पर्यंत रत्यन्त का अत्यन्त गोप्य और रोचक वर्णन है। दो० १८१-८६ में रति-क्रीड़ा के उपरान्त प्रात:काल का बड़ा ही सुहावना और सुन्दर दृश्य चित्रित किया गया है जो अपनी रमणीयता के लिए अनोखा है। पाठक इस सम्बन्ध में अभिज्ञान शाकुन्तलम्, चतुर्थाङ्क में कण्व के शिष्य के मुख से वर्णित कालिदास के प्रभात-वर्णन से इस वर्णन की तुलना करके विशेष आनन्द-लाभ कर सकते हैं। दोहला १८४ कवि की क्रान्तिदर्शिनी अन्तर्दृष्टि के रहस्यवाद का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

ग्रंथ के उत्तर भाग में कवि ने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो कथानक के लिए अनावश्यक है, परन्तु जो अप्रासंगिक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि कवि ने ऋतुओं के वर्णन का पृष्ठ दृश्यों (Background Scenes) की तरह उपयोग कर इनके सहारे इनके भोक्ता भगवान् और रुक्मिणी के विविध ऋतु-सम्बन्धी आमोद-प्रमोदों और आदर्श दाम्पत्य-प्रेम के मुख्य दृश्यों का मनोरम चित्रण किया है और साथ ही काव्य-कला के नियमानुसार इन विविध ऋतुओं को अन्तराय की तरह उपस्थित कर रुक्मिणी कृष्ण के विशुद्ध प्रेम के फलस्वरूप प्रद्युम्नकुमार के जन्म होने के पहले उपयुक्त अवकाश दिया है।

ऋतु-वर्णन

दोहला १८७-१९२ पर्यन्त ग्रीष्म-वर्णन है। वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें राजस्थानी ग्रीष्म के बहुत से प्रान्तीय अनुभवों का समावेश है। छंद १९१ में राजस्थान के प्रचंड ग्रीष्म और लू की लपेटों का चमत्कार भरा है।

दो० १९३-२०५ पर्यन्त वर्षा-ऋतु का वर्णन है। यह ऋतु मरुस्थल के लिए एक विशेष आनन्द का सन्देश लाती है। मारवाड़ में वर्षा-ऋतु अन्य सभी ऋतुओं की अपेक्षा ज़्यादा रमणीय और उपादेय समझी जाती है। अतएव स्वभावत: कवि ने स्वदेशप्रेम से उत्साहित होकर वर्षा-ऋतु का उसी प्रकार काव्यमय हृदय से स्वागत किया है जिस प्रकार किसी मरुस्थलवासी जड़, चेतन जीव को करना योग्य है। परिणामत: और ऋतुओं की अपेक्षा वर्षा का वर्णन ज़्यादा स्वाभाविक, ज़्यादा उत्साह-पूर्ण एवं ज़्यादा काव्यगुण-सम्पादित है। इस वर्णन की विशेषता यह है कि कवि ने वर्षा-सम्बन्धी ज्योतिष्, अनेकानेक स्थानीय विश्वास; यथा अमुक दिशाओं में वायु का परिवर्त्तन और तत्परिणामस्वरूप वर्षा होने की सम्भावना में न्यूनाधिकता का परिवर्त्तन—यही क्यों—अनेकानेक स्थानीय

सूक्ष्मताओं यथा "गर्भगलना" "कोरण" बनना तथा बादलों का रङ्ग और आकार और उनका लोकमत के अनुसार अभिप्राय इत्यादि का उल्लेख किया है। सारांश, वर्षा-वर्णन मारवाड़ के अनुभवों के गंभीर रङ्गों से सुरंजित है।

दो० २०६ से २२५ पर्यंत हेमन्त और शरत् का वर्णन है।

दो० २२६ से २२८ पर्यंत शिशिर का वर्णन है।

दो० २२८ से २६८ तक वसन्त का वर्णन है।

यों तो साधारणतः सभी ऋतुओं के वर्णन में कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है परन्तु इनकी कल्पनाओं के सम्बन्ध में एक अद्वितीय विचित्रता यह है ये सब कल्पनायें इनके अखण्ड-वस्तु ज्ञान-भंडार एवं निजी सांसारिक अनुभवों पर आश्रित हैं। मौलिकता इनका प्रधान गुण है और अत्यंत स्वाभाविक और युक्तितत्पर एवं हृदयग्राही होने के कारण वे हमको बहुत रोचक लगती हैं। इन विशेषताओं की दृष्टि से वसन्त-वर्णन सर्वश्रेष्ठ है।

ऋतु-वर्णन के क्रम पर विचार करते हुए हम कल्पना कर सकते हैं कि जिस प्रकार महाराज पृथ्वीराज ने अन्य विषयों में अपने काव्यगुरु कालिदास के प्रशस्त मार्ग का अनुगमन किया, उसी प्रकार यदि हम अनुमान करें कि 'वेलि' में ऋतुओं का क्रम यदि उन्होंने ऋतुसंहार के अनुसार ग्रीष्म से प्रारम्भ किया हो तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। हम 'ऋतुसंहार' और 'वेलि' के ऋतुवर्णनों में समता ढूँढ़ने का वृथा प्रयास नहीं करते, क्योंकि हमें आशा है कि दोनों कवियों के काव्य में ऐसी समता न मिल सकेगी कि जिसे हम अनुकरण कह कर उत्तरवर्त्ती कवि पर अपहरण का दोष मढ़ सकें। हम पहले भी देख आये हैं कि कवि की इस रचना में किसी न

किसी रूप में कालिदास के प्राय: सभी काव्य-ग्रन्थों ने पथ-प्रदर्शन का कार्य किया है। पीथल ने कालिदास से केवल उन काव्यसाधनों को लिया है जो काव्य-शरीर के बाह्य आकार को सजा सकते हैं। उनके भावों का उन्होंने कभी अपहरण करने की चेष्टा न की। हमारा तो यह विश्वास है कि भावापहरण करने की पृथ्वीराज को कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ सकती थी। कालिदास की तरह इनकी प्रतिभा भी अनाश्रित, अत्यन्त प्रखर, मर्मभेदिनी एवं निस्सीम थी।

दोहला २६९ से २७७ पर्यंत जगन्माता-पितास्वरूप रुक्मिणी और भगवान् कृष्ण के प्रेम के फलस्वरूप प्रद्युम्न के रूप में कामदेव का रुक्मिणी के गर्भ में निवास और जन्म वर्णित है। तदनन्तर ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कवि शीघ्रता के साथ छ:-सात छंदों में भगवान् कृष्ण, महालक्ष्मी रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध— इस प्रशस्त वंशावली के गुण-लक्षणों के माहात्म्य की संक्षेप में स्तुति करता है। ग्रन्थ का मूल कथानक छंद २७७ से समाप्त हो जाता है। ग्रन्थ-समाप्ति के मंगल अवसर पर कवि ने भगवान् का यशोगान कर उसे उपहार के रूप में भगवान् की भेंट चढ़ाना अपने जैसे एक अनन्य भक्त का कर्त्तव्य समझा। यही कारण है कि ग्रंथ का अन्तिम भाग उच्च भक्ति-पूर्ण प्रार्थना एवं पवित्र प्रभुगुणानुवाद से समायुक्त है।

दोहला ३००-३०४ पर्यंत कवि ने ग्रंथसमाप्ति के स्थल पर ग्रंथारंभ की तरह पुन: ईश-विनय और नमस्क्रिया की काव्य-प्रथा का निर्वाह करते हुए ग्रंथ की भक्ति-प्रधानता का प्रमाण दिया है; साथ ही अपनी अकिंचन काव्य-प्रतिभा तथा विषय की गहनता की तुलना करते हुए भगवान् से विनम्रतापूर्वक क्षमा-याचना की है।

अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने कविप्रथानुसार ग्रंथ-समाप्ति का समय स्पष्टत: सं० १६३७ बता दिया है। इस संवत् के विषय में किसी प्रकार के अपवाद अथवा विवाद को स्थान नहीं है। कवि ने ३२ वर्ष की अवस्था में इस ग्रंथ का निर्माण किया। संभव है, इस ग्रंथ को समाप्त करते ही महाराज पृथ्वीराज को बादशाह के आह्वान पर उनकी सेना का नायक बन कर उसके विद्रोही भाई मिरजा हकीम से लड़ने के लिए काबुल पर धावा करना पड़ा हो।

ग्रन्थ-निर्माण-काल

दो० २७८--२९० तक वेलि के भक्तिपूर्ण पाठ का माहात्म्य दरसाया गया है। पृथ्वीराज ने इस ग्रंथ को भगवान् के स्तोत्र के रूप में प्रकट किया है। शुद्ध अन्त:करण और विशुद्ध भक्तिभावना के साथ इसको पढ़नेवाले को सांसारिक सुख-वैभव, सम्पत्ति, ऐश्वर्य्य और अखण्ड यश की प्राप्ति होती है। और परलोक में परम गति प्राप्त होती है :—

वेलि का माहात्म्य

मन शुद्धि जपन्ताँ रुकमणि मङ्गल,
निधि सम्पति थाइ कुसल नित।
दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा,
नासै दुसुपन दुरनिमित ॥ २८६ ॥

तथा—

प्रिथुवेलि कि पँचविध प्रसिध प्रनाली,
आगम निगम कजि अखिल।
मुगति तणी नीसरणी मण्डी,
सरग लोक सोपान इल ॥ २९४ ॥

गृहस्थ भक्तों को वेलि के भक्तिपूर्वक पाठ से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उनका दाम्पत्य-जीवन परिशुद्ध होकर उनका

प्रेम कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम की तरह अखण्ड और अनन्त व्यापकता को प्राप्त हो जाता है जिससे जीवन्मुक्ति एवं पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति होती है। सारांश, वेलि के पठन-पाठन से आदर्श गृहस्थ को सुख प्राप्त होता है :—

ऊपजै अहोनिशि आप आपमै,
रुषमणि क्रिसन सरीख रति।
कहै वेलि वर लहै कुँमारी,
परणी पूत सुहाग पति॥ २८१॥

दो० २६१-६४ में "वेलि" ग्रंथ के नाम की सार्थकता बताते हुए ग्रन्थनामान्तर्गत रूपक का विश्लेषण कर उसके भावार्थ-सौन्दर्य्य को चतुरता के साथ व्यक्त किया गया है।

दो० २६५ में गुणग्राहक सुकवि और समालोचकों तथा छिद्रान्वेषी दुरालोचकों एवं "परहित घृत जिनके मन माखी" कुकवियों के प्रति क्रमानुसार चलनी और सूप की उपमा देकर कवि ने अपने विचार उसी शैली में प्रकट किये हैं जिसमें महात्मा तुलसीदास ने रामायण के प्रारम्भ में, "बंदौं सन्त असज्जन चरणा" इत्यादि वन्दना की है।

इसी प्रकार दो० २६६-३०० तक पाठकों को वेलि का भक्तिमय संदेश सुना कर कवि ने इसको, "मोटाँ तणौं प्रसाद कहै महि" अर्थात् यह भक्ति-ग्रंथ गुरुजन और सज्जनों के सत्संग का फलस्वरूप प्रसाद है; जो मैंने सरस्वती की कृपा और भगवद्भक्ति के आश्रय पर पुनः रसिकों के समक्ष उपस्थित किया है—कह कर 'वेलि' को सज्जन भक्तों, गुणग्राही काव्य-पारखियों एवं काव्यरसज्ञों को विनम्रतापूर्वक अर्पण किया है।

अन्तिम दोहले ३०५ में कवि ने काव्य-प्रथानुसार ग्रंथ-निर्माण का संवत् स्पष्टतः बता दिया है, जिसके विषय में किसी प्रकार का अपवाद अथवा विवाद नहीं हो सकता।

इस प्रकार सहृदय पाठकों की सुविधा के लिए हमने 'वेलि' का विश्लेषण कर उनके सामने चित्ररूप में इस काव्य को उपस्थित किया है।

आत्मश्लाघा-दूषण का परिहार

ग्रंथ के उत्तर भाग में कुछ छंदों का अध्ययन करते हुए, संभव है, रसज्ञ पाठकों को कवि की आत्मश्लाघा अथवा आत्माभिमान का भाव रुचिकर न हो।

डाक्टर टैसीटरी महोदय उत्तरार्ध के सम्बन्ध में अपनी भूमिका में लिखते हैं:—

"The conclusion which consists of twenty-eight stanzas (278-305) is very noteworthy as the boldest possible self-eulogy which an author could compose."

अर्थात्—ग्रंथ के अन्तिम २८ दोहलों में कवि ने ऐसी अतिशयोक्ति-पूर्ण आत्मश्लाघा की है जिसमें प्रायः सभी कवियों को मात किया है।

इस यथार्थ आलोचना को पाठकों की ओर से आक्षेप के रूप में अपेक्षित समझ कर हम कवि के वास्तविक मन्तव्य को स्वयं डाक्टर टैसीटरी के शब्दों में उद्धृत करते हैं :—

"Seeing that Pirthi-Raja's production is really incensurable, we may well forgive him this outburst of self-confidence; it is, on a small scale and in a different form, the same proud feeling which made Michael Angelo strike the knee of his Moses and say to the marble: Speak!"

अर्थात् यह जान कर कि महाराज पृथ्वीराज का ग्रंथ सब प्रकार से अदूषित है हम उनके आत्म-विश्वास के उत्साह को क्षन्तव्य समझते हैं। संक्षेप में और दूसरे आकार में यह वही आत्म-गौरव का भाव है जिसने मायकेल एंजेलो नामक प्राचीन पाश्चात्य कलाविज्ञ को अपनी बनाई हुई संगमरमर की मोजिज की मूर्त्ति के घुटने पर प्रहार कर आवेशपूर्वक यह कहने को प्रेरित किया, "बोल"।

और वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है। ऐसी दशा में कवि के हृदय में आत्मगौरव का भाव उत्पन्न होना अत्यन्त स्वाभाविक ही है। पृथ्वीराज को यह विश्वास था कि उनका यह काव्य-प्रयत्न अत्यन्त सफल हुआ है और उन्होंने अपने स्वाभाविक भोलेपन में यह विश्वास प्रकट कर दिया। ऐसा करने के कारण हम उनको मिथ्याभिमान का दूषण नहीं लगा सकते। यह संभव है कि कवि के कथनानुसार हमारे लिए वेलि का पाठ कामधेनु की तरह मनोवांछित फल एवं सुख, सम्पत्ति एवं समृद्धि का देनेवाला सिद्ध न हो; जोग, जाग, जप, तप, तीरथ, व्रत इत्यादि का फल देनेवाला भी न सिद्ध हो; यंत्र, मंत्र, तंत्र एवं भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी आदि आसुरी वृत्तियों से हमारा सर्वथा त्राण भी न कर सके। यह भी संभव है कि इसके पाठ से हमारा "त्रिविधताप" एवं त्रिविध रोग भी दूर न हो एवं भवसागर से भी पार न हुआ जाय; परन्तु जब हम इन सब फलाकांक्षाओं से अपने चंचल मन को हटा कर, लीलामय भगवान् और महामाया लक्ष्मी के सांसारिक चरित्रों के रहस्य जानने में, अध्यवसाय और निश्चल भक्तिपूर्वक चित्त को लगावें तो क्या इस ग्रंथ के पढ़ने से हमको मनःशुद्धि प्राप्त न होगी। "मन शुद्ध जयन्ता रुकमणि मङ्गल"। और जब मन ही शुद्ध हो गया तो उपरोक्त आकांक्षाओं में से ऐसी कौन सी है जो सफल न हो।

परन्तु फलादेश के साथ ही कवि का यह भी कहना है कि मन-शुद्धि की प्राप्ति तभी हो सकती है जब श्रद्धा और भक्तिपूर्वक इस पवित्र कथा का अनुशीलन किया जाय। क्योंकि—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं अचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ४।३९॥

हमारी समझ में तो, ग्रंथ की प्रस्तावना में ही विनयपूर्वक अपनी असामर्थ्य को प्रदर्शित करनेवाले महाराज पृथ्वीराज के काव्य में आत्मश्लाघा अथवा मिथ्याभिमान की आशंका करना निरी भूल है। और यदि साधारणतया देखा जाय तो महाराज पृथ्वीराज ने यह कोई अभूतपूर्व प्रणाली नहीं निकाली। महात्मा तुलसीदास ने भी रामचरितमानस में इसी प्रकार के भाव प्रकट किये हैं:—

सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल, अछततनु, साधुसमाज प्रयाग ॥

परन्तु उपरोक्त फलों का मिलना तभी सम्भव होता है जब, 'राम-कथा जग मंगल करनी' को पढ़ते पढ़ते भक्त रसिकों के, "उघरहिं विमल विलोचन हिय के, मिटहिं दोष दुख भव रजनी के"।

वेलि का आध्यात्मिक संदेश

वेलि का अध्ययन करते हुए पाठकों को उसके शृंगार-रसमय बाह्य सौन्दर्य्याडम्बर के गर्भ में निहित आन्तरिक, दिव्य, आध्यात्मिक सन्देश को कदापि नहीं भूलना चाहिए। यदि काव्य-सौष्ठव इस वेलि का शरीर है तो वह आध्यात्मिक तथ्य इसकी आत्मा है। यह आध्यात्मिक सन्देश ही कवि का मुख्य अभिप्राय था यह बात ग्रन्थ के कई स्थलों से भली भाँति व्यक्त होती है। स्पष्टतः इस सन्देश का उल्लेख ग्रन्थ के उत्तर भाग में उपलब्ध होता है, जिसका आंशिक रूप में वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

वेलि का मूल सन्देश भक्तिमय है। वह साधारण जीवन-निर्वाह के लिए एक आदर्श पद स्थापित करता है जिसके परिणाम में संसार में 'भुगति' अर्थात् ऐश्वर्य्य, समृद्धि, सुख इत्यादि और परलोक में 'मुगति' अर्थात् मोक्ष, मुक्ति, निश्रेयस् अथवा सद्गति प्राप्त होती है। यथा—

"मधुकर रसिक सुभगति मंजरी,
मुगति फूल, फल भुगति मिसि" ॥ २९२ ॥

अथवा—

"मुगति तणी नीसरणी मंडी,
सरग लोक सोपान इल ॥ २९४ ॥"

परन्तु उस भक्तिमार्ग का आदर्श पृथ्वीराज की दृष्टि में कैसा है—यह ज़रा विचारणीय विषय है। हम निस्संकोच होकर सप्रमाण कह सकते हैं कि पृथ्वीराज की भक्ति का आदर्श इहलौकिक साधनों पर आश्रित, व्यवहारणीय आदर्श है। वह ऐसा जटिल अथवा असाध्य आदर्श नहीं है जो साधारण जन को बुद्धिगम्य ही न हो सके। उस आदर्श को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला मुमुक्षु, संसार में रहते हुए, 'भुगति' और ऐश्वर्य्य, समृद्धि, सुख इत्यादि का उपभोग करते हुए; त्रिविधताप और त्रिविध रोग से दूर होने की चिन्ता करते हुए भी अपने मार्ग पर निरवरोध आगे बढ़ने का अधिकारी हो सकता है।

कवि का स्पष्ट कथन है कि भगवान् के दिव्य स्वरूप का ज्ञान प्रज्ञाचक्षु के द्वारा होने के अनन्तर रुक्मिणी का लौकिक प्रेम उनकी ओर आकर्षित हुआ 'सांभलि अनुराग थयो मनि श्यामा'। रुक्मिणी ने ज्ञान-योग के द्वारा अपने परिमार्जित, विशुद्ध चित्त में

भगवत्प्रेम का अंकुर बोया। तदनन्तर उन्होंने भगवान् के प्रेम से प्रेरित होकर उनको प्राप्त करने के लिए कर्म किया। (देखो, ब्राह्मण के हाथ पत्र का भेजना)। वह कर्म अनासक्त था फल-लिप्सु नहीं। उस कर्म की फल-कामना पहले से ही "ज्ञानाग्निदग्ध" हो चुकी थी। गीता के उपदेशानुसार सच्चे हृदय से किये हुए अनासक्त कर्म का फल यह हुआ कि भगवान् को रुक्मिणी की भक्तिपूर्ण प्रार्थना स्वीकार हुई। भक्ति-मार्ग पर रुक्मिणी की विजय हुई। रुक्मिणी को लौलिक जीवन में वह भुगति और ऐश्वर्य्य-समृद्धि प्राप्त हुई जिसका वर्णन कवि ने किया है। उनको परलोक में वह 'मुगति' मिली, जिसका आदर्श प्रत्येक विष्णुभक्त के हृदय में अंकित है। रुक्मिणी ने अनन्त मोक्ष प्राप्त कर विष्णुस्वरूप अनादि ब्रह्म के साथ वह ऐक्य प्राप्त किया, जिससे मोक्ष और सद्गति का आदर्श स्थापित होता है। और यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष कवि के बताये हुए इस मार्ग पर चलने लग जायँ तो:—

> "ऊपजै अहोनिशि आप आपमैं,
> रुकमणि क्रिसन सरीख रति।"

जिसके परिणाम में इस संसार में रहते आदर्श दाम्पत्य-सुख एवं समृद्धि अर्थात् भुगति की प्राप्ति हो और परलोक में मुगति। ऐसा होने से संसार सुखमय, प्रेममय हो जाय; प्रत्येक गृहस्थ में कृष्ण-रुक्मिणी के आदर्श दाम्पत्य-प्रेम की मधुरिमा झलकने लगे। इससे परे सांसारिक मुक्ति अथवा पारलौकिक मोक्ष का और क्या अर्थ होता है। इस दृष्टि से देखने पर हमको कवि के प्रेम और सौन्दर्य्य के आदर्श में और सत्य में कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। सांसारिक सौन्दर्य्य जब ज्ञान और भक्ति की शक्ति से शुद्ध हो जाता है तो वह परमपद को पाकर सत्यस्वरूप परमात्मा से तादात्म्य प्राप्त

कर लेता है। कवि ने कृष्ण के चरित्र को दैवी स्वरूप दिया है, परन्तु दूसरी ओर रुक्मिणी को संसार के समस्त आडम्बरों से सजाकर बिलकुल लौकिक रूप दे दिया है। इसी विभिन्नता को ध्यान में रखने से काव्य का दिव्य सन्देश समझ में आ जाता है। 'कुमारसंभव' का आध्यात्मिक आदर्श भी कुछ इसी प्रकार का है परन्तु भेद इतना ही है कि वहाँ सौन्दर्य्य और सत्य (शिवा और शिव) दोनों दिव्य-जगत् की आदर्श विभूतियाँ हैं। लौकिकता से वे दोनों बची हुई हैं। अतएव वहाँ के दिव्य-जगत् स्थित सौन्दर्य्य को ज्ञानाग्नि-द्वारा आत्मपरिशुद्धि की इतनी ज़्यादा आवश्यकता नहीं पड़ी। वहाँ मायावी, लौकिक, शरीरधारी कामदेव के रहते हुए सौन्दर्य्य को सत्य के साथ तादात्म्य लाभ करना कठिन था; अतएव उस एकमात्र सांसारिक अवरोध का नाश करना आवश्यक था। परन्तु "कुमारसम्भव" का सत्य की ज्वाला से 'भस्मसात्' हुआ कामदेव 'वेलि' में आकर प्रद्युम्न के रूप में पुन: अवतरित हो जाता है। वह रुक्मिणी के प्रेम और भक्ति का फलस्वरूप, 'भुगति' अथवा सांसारिक प्रेम के रूप में पैदा होता है। सारांश, सत्य चाहे किसी रूप में क्यों न हो, अपने दिव्य स्वरूप को नहीं छोड़ता। उसमें संसार को शुद्ध करने की स्वाभाविक शक्ति है। सत्य का अंश रखनेवाला और उसका आश्रित सौन्दर्य्य-जात प्रेम संसार के आवरणों से घिरा हुआ होने पर भी "पद्मपत्रमिवांभसा" अलिप्त रह कर अपने दिव्य स्वरूप को नहीं छोड़ता। ज्ञानाग्नि से दग्ध होने पर उसी प्रेम का नाम भक्ति है। ऐसे भक्तिमार्ग का अवलम्बन कर सब संसार को सफल करते हुए परमात्मलाभ करना चाहिए।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' कुछ भी पदार्थ क्यों न हो, जो भक्तिपूर्वक भगवान् को "भक्त्या प्रयच्छति" अर्पित किया जाता है वह उनको

स्वीकृत होता है। वेलि में वर्णित समस्त शृङ्गारमय सौन्दर्य-वर्णन को कवि ने भक्तिपूर्वक भगवान् के श्रीचरणों में भेंट कर उसे ईश्वरीय पवित्रता एवं दिव्य सौन्दर्य के पद पर आरूढ़ कर दिया है। इस दृष्टि से देखने पर वेलि की नायिका जीवन की सांसारिक वास्तविकता से समायुक्त होते हुए भी आदर्श के रंग में रंजित प्रतीत होती है। रुक्मिणी के रूप में कवि ने नारी के ऐहिक आदर्श को प्रतिपादित करते हुए उसे दिव्य नारी के आदर्श से मिला दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह दिव्य आदर्श भी सांसारिक आदर्श के क्रमागत विकास की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी-मात्र है। इससे यह भी सूचित होता है कि ऐहिक शरीरादि मायावी आडम्बरों से परिवृत जीवात्मा यदि सच्ची भक्ति-पूर्वक परमात्मा से सायुज्य लाभ करना चाहे तो वह लोकयात्रा करते हुए भी रुक्मिणी की तरह अपने सर्वोत्कृष्ट आदर्श को प्राप्त कर सकता है। इस विषय में जीवात्मा के मुक्तिरूपी ध्येय का साधक ज्ञानाश्रित कर्मयोग से युक्त केवल भक्ति-मार्ग ही एक सरल उपाय है।

वेलि का आन्तरिक स्वरूप और उसका दिव्य सन्देश हम ऊपर बता चुके। अब उसके बाह्य अलंकरणों के विषय में कुछ परिचय देते हुए इस निबन्ध का समाहार करेंगे।

खण्ड-काव्य

शास्त्रानुमत महाकाव्य के प्रायः समस्त लक्षण विद्यमान होते हुए भी कुछ के प्रधान गुणों की अविद्यमानता के कारण, कालिदास के मेघदूत की तरह वेलि एक खण्ड-काव्य कहा जा सकता है। "सर्गबन्धांशरूपत्वाद्" (दण्डिन्) महाकाव्य का यह उपभेद कई एक रीति-ग्रंथों में 'संघात-काव्य' नाम से भी कहा जाता है। विश्वनाथ कविराज ने खण्डकाव्य की परिभाषा यों की है; "खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुचारि च।" (सा० द०) अर्थात् खण्डकाव्य महाकाव्य का एक आंशिक रूप है जो महा-

काव्य की तरह अनेक सर्गों में विभक्त नहीं होता। बाकी सब गुणों में प्रायशः दोनों मिलते-जुलते हैं। महाकाव्य के लक्षणों का अन्वेषण करते हुए हमको आंशिक रूप में प्रायः सभी महाकाव्य के गुण इस खण्डकाव्य में मिलते हैं।

"आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्" इस शास्त्र-रीति के अनुसार ग्रंथ की निर्विघ्नसमाप्ति के हेतु कवि ने 'रघुवंश' की तरह, ग्रंथ के प्रथम छंद में नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया है। कथानायक के स्वरूप के विषय में शास्त्रकारों का यह अनुशासन भी कवि ने सम्यक्तया पाला है यथा; "इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्। चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्" (दण्डिन्) इस शास्त्राज्ञा के अनुसार कवि ने 'इतिहासकथोद्भूत' एवं 'सदाश्रय' श्रीमद्भागवतपुराण के कथानायक भगवान् श्रीकृष्ण जैसे चतुर धीरोदात्त नायक के पवित्र चरित्र का काव्यमय चित्रण करके काव्य-रसिकों के समक्ष 'वेलि' के रूप में धर्मार्थकाममोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति का एक सरल साधन उपस्थित कर दिया है। ग्रंथ के इस चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख आये हैं। आगे चलकर रीतिकार ने महाकाव्य के विविध अलंकरण भी गिनाये हैं जिनसे उसकी शोभा एवं मनोज्ञता बढ़ती है। यथा—

> नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
> उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः॥
> विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
> मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥
> अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्॥

'वेलि' में हमको द्वारिका नगरी का बड़ा विशद और सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है (देखो, १४३ और आगे के छंद) पर्वतों का वर्णन

वास्तविक तो नहीं वरन उपमानों के रूप में ग्रंथ के पृथक् पृथक् स्थलों पर बहुतायत से मिलता है। षट्-ऋतुओं का अत्यन्त रोचक वर्णन बड़े विस्तृत रूप में ग्रंथ के मध्यभाग को अलंकृत करता है। अर्कोदय के सुखद वर्णन की चर्चा हम आगे कर आये हैं। उद्यान, सलिल-क्रीड़ा एवं मधुपान यत्र तत्र वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के वर्णनों में समायुक्त हैं और अपने अपने स्थलों को स्वाभाविक सौन्दर्य्य से सुशोभित करते हैं। विप्रलम्भ का एक बहुत ही संक्षिप्त और मृदुल परन्तु मनोज्ञ और सुखद चित्र रुक्मिणी के विवाह के उपरान्त प्रथम रात्रि-मिलन के पूर्व प्रदर्शित है, (दो० १६५) विवाह का विशद और स्वाभाविक वर्णन छंद १५२-५८ पर्यन्त बड़े अनुभव के साथ कवि ने सम्पादित किया है। रतोत्सव के विषय में हम स्वयं कुछ न कह कर रसज्ञ पाठकों पर ही छोड़ते हैं। वे ग्रंथ के सर्वोत्तम भाग में उच्चकोटि का रति-वर्णन ही पावेंगे जिसका उल्लेख हम आगे कर आये हैं। कुमारोदय का वर्णन प्रद्युम्न के जन्म के रूप में ग्रंथ के उत्तर भाग में मिलेगा। 'मंत्रदूतप्रयाण' पर विचार करते हुए हमें रुक्मिणी का भेजा हुआ श्रीकृष्ण के प्रति ब्राह्मण सन्देश-वाहक का स्मरण होता है। नायक का अभ्युदय प्रदर्शित करने के निमित्त उसकी युद्ध में (अजि) विजयप्राप्ति का प्रमाण भी पर्याप्त से अधिक रूप में हमें दो० ११३-३७ पर्यंत मिलता है। "अलंकृतम् असंक्षिप्तम्" के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि वेलि के प्रत्येक छंद में शब्दालङ्कारों यथा वयण सगाई, यमक, अनुप्रास, श्लेषादि, और विविध अर्थालङ्कारों की चमत्कृति काव्यमर्मज्ञों को मुग्ध करती है।

इस सम्बन्ध में हमको स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त सब लक्षण शास्त्रकारों ने मुख्यत: एक महाकाव्य के बताये हैं जो अन्य

साधारण गुणों के अतिरिक्त निम्नाङ्कित मुख्य गुणों से भी विभूषित होता है:—

"सर्गबन्धो महाकाव्यम्............
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तसुसंधिभिः ।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम् ।।"

परन्तु वेलि महाकाव्य नहीं है, वरन् एक सर्गवाला खण्डकाव्य है । महाकाव्य में अनेक सर्ग होते हैं जो उपयुक्त संधियों द्वारा अन्योन्याश्रित होते हुए भी स्वतंत्र होते हैं और "भिन्नवृत्तान्तोपेत" होने के कारण उसके पृथक् पृथक् सर्गों में भिन्न भिन्न रसों की प्रधानता इतनी नहीं अखरती जितना कि एक खण्डकाव्य में अनेक रसों का मिश्रण अथवा रसशङ्कर अखरता है । शास्त्रकार ने युद्ध, विप्रलम्भादि वृत्तों के वर्णनों को शृङ्गारप्रधान महाकाव्य में सम्मिलित कर लेने की आज्ञा देकर रसविरोध की आशङ्का इस आधार पर नहीं की कि चतुर कवि महाकाव्य के बृहत् आकार एवं उसके सर्गों की व्याप्ति के अवकाश को पाकर काव्य के "रसभावनिरन्तरम्" गुण को नष्ट न होने देगा । परन्तु 'वेलि' जैसे रतिभावप्रधान खण्डकाव्य में एक ही सर्ग में विरोधी भाव यथा युद्ध, भयङ्करता बीभत्सादि का समावेश कर देना रस के नैरन्तर्य्य—उसकी एकरसता एवं रससौष्ठव को विच्छिन्न अवश्य करता है । अतः यदि किसी भी अंग में "वेलि" के खण्डकाव्यत्व होने में दोष आता है तो वह छंद ११३-१३८ पर्यंत, जिसका कारण रसविरोध दोष हो सकता है । 'वेलि' रूपी पूर्णचन्द्र की अपूर्व यशश्छटा में यह अंश कलङ्ककालिमा की तरह है । और जब यह अपूर्णता प्रकृति के सभी पदार्थों में और आदिस्रष्टा की कृतियों में भी पाई जाती है तब तो महाराज पृथ्वीराज की मानवी अपूर्णता हमारे हृदय में उनकी श्रद्धा को बिलकुल कम नहीं करती । अपूर्णता मानव-स्वभाव है ।

डिङ्गल छंद और भाषा

हम ऊपर कह आये हैं कि वेलि में प्रयुक्त भाषा साहित्यिक डिङ्गल-भाषा है। लोग बहुधा डिङ्गलकाव्य के नाम से ही घबरा से जाते हैं। कर्णकटुता, कठोरता एवं कान्तगुणहीनता का दोष प्राय: इस भाषा पर आरोपित किया जाता है। हम उक्त निर्मूल अपवाद का परिहार नहीं करना चाहते। आंशिकरूप में यह दोष डिङ्गल-काव्य के सिर मढ़ा जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि अब तक साहित्य-रसिकों को डिङ्गल-साहित्य में सच्चे शृङ्गार-काव्य का दर्शन बहुत कम हो पाया है। डिंगल-भाषा वीररस-प्रधान काव्य के लिए विशेषत: उपयुक्त है; यह बात सत्य है; परन्तु यह भाषा शृङ्गार-काव्य के लिए अनुपयुक्त है, यह कथन सत्य से सर्वथा शून्य है। और इसी बात के प्रमाण में हम पाठकों के सामने 'वेलि' जैसे डिङ्गल के सर्वोत्तम शृङ्गारग्रंथ को रखते हुए यह विश्वास करते हैं कि इस ग्रंथ-रत्न के उच्चतम भाषा-सौन्दर्य्य, शब्द-सौष्ठव, छंद-माधुर्य्य, विविध अलंकृति और अर्थगौरव से मुग्ध होकर सहृदय पाठक न केवल डिङ्गल-भाषा-सम्बन्धी काठिन्य एवं श्रुतिकटुत्व के ही भावों को सदा के लिए विस्मृत कर देंगे, वरन् यह जान कर कि डिङ्गल में भी संस्कृत, परिमार्जित हिन्दी अथवा अन्यान्य उन्नत प्रान्तीय भाषाओं के समान समस्त काव्यगुणों को धारण करने की पूर्ण क्षमता है, अत्यन्त सन्तुष्ट होंगे। इस विषय में टैसीटरी लिखते हैं:—

"It is certain that had Prithi Raja chosen to compose his *Veli* in emasculated Pingala he would have given us a very different composition, not superior in musicality, and considerably inferior in naïveté."

अर्थात् इसमें सन्देह नहीं कि यदि महाराज पृथ्वीराज ने "वेलि" को ओजविहीन पिङ्गल में लिखा होता, तो वे एक अत्यन्त विभिन्न रचना कर पाते, जो कि संगीतमाधुर्य्य में वर्त्तमान ग्रंथ की अपेक्षा कदापि उत्तम न होती और स्वाभाविक सरलता में तो कमती रहती ही"

डिङ्गल-भाषा एक स्वतंत्र एवं स्वत:स्थित भाषा है। वर्त्तमान-कालीन हिन्दी की तरह इसका भी बृहत् शब्दकोष, विशद व्याकरण एवं स्वाधीन छंद:शास्त्र है। डिङ्गल-साहित्य का रीति-शास्त्र भी पृथक् है। अतएव डिङ्गल के किसी साहित्यिक ग्रंथ की आलोचना करते हुए हमको डिङ्गल ही के रीतिग्रन्थों एवं आचार्यों का आधार लेकर समीक्षा करनी उचित है।

वेलि का व्याकरण

'वेलि' जिस समय लिखी गई थी उस समय राजस्थानी का माध्यमिक काल आरम्भ हो चुका था परन्तु 'वेलि' की भाषा का ढाँचा प्राचीन राजस्थानी का ही है। माध्यमिक राजस्थानी की भी कतिपय विशेषतायें वेलि में उपलब्ध होती हैं जिनमें से एक वर्त्तनी (Spelling) से सम्बन्ध रखती है। 'वेलि' की वर्त्तनी सर्वथा माध्यमिक राजस्थानी की-सी है। 'वेलि' से लगभग ४५ वर्ष पूर्व 'वीठू सूजो' नामक एक कवि ने "राउ जइतसी रउ छन्द" नामक काव्य लिखा था जिसमें बीकानेर-नरेश राव जैतसी के एक युद्ध का वर्णन है। परन्तु इस काव्य की वर्त्तनी अधिकांश में प्राचीन राजस्थानी की-सी है। "राउ जइतसी रउ छन्द" यह नाम स्वयं पुरानी वर्त्तनी में है नवीन वर्त्तनी में यह "राव जैतसी रो छन्द" यों लिखा जायगा।

'वेलि' बोलचाल की राजस्थानी में नहीं किन्तु साहित्यिक राजस्थानी यानी डिङ्गल में लिखी गई है। परन्तु यह होते हुए भी वेलि की भाषा बड़ी स्वाभाविक है और शब्दों की कपालक्रिया बहुत ही कम हुई है। वयणसगाई (देखो अन्यत्र इसी भूमिका में) आदि समस्त डिङ्गल-काव्य के नियमों का पूर्ण अनुसरण किया गया है। डिङ्गल में कवि लोग शब्दों को मन में आवे उस प्रकार तोड़ मरोड़ सकते हैं और शायद ही कोई डिङ्गल-कविता इस तोड़-मरोड़ से बची हो परन्तु महाराज पृथ्वीराज ने बिना बड़ी आवश्यकता के कहीं यह

तोड़-मरोड़ नहीं की है। यहाँ पर 'वेलि' का संक्षिप्त व्याकरण दे देना पाठकों के लिए उपयोगी होगा।

अपभ्रंश की भाँति राजस्थानी में भी विभक्तियाँ बहुत कुछ घिस गई हैं और प्रायः सभी विभक्तियों में शब्द के एक से ही रूप बनते हैं। अपभ्रंशकाल में ही इस गड़बड़ झाले को दूर करने का प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था एवं नये तरीक़ों से (नये विभक्ति-चिह्नों आदि से) भिन्न भिन्न विभक्तियों के सम्बन्ध सूचित किये जाने लगे थे। राजस्थानी में दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं।

(१) विभक्ति, प्रत्यय

सं०	कारक	प्रत्यय
१	कर्त्ता	०, इ (३)
२	कर्म	०, ए (२), नें (६६)
३	करण	०, इ (२), ए (८१, १६१), सूं (६४, १०३) करि (६४), आं
४	संप्रदान	०, इ, ए, ने
५	अपादान	०, हूं (६१), हुँतां (५६), हुँती, हुँवां, हूंत (२५६), हूंतां (७२), हूंती (६३) हूंतो (६१), प्रति (६)
६	संबन्ध	०, रो (२३, ७८), को (२७२), चो (१२) तण (१३२), तणो (७), तनि, आं (५, ३२), कां (१२४)
७	अधिकरण	०, इ (५,६), ए (३२) मै (१३), मांह (५२), परि, लगि (६), लगी (४४), लगें (५६)

टिप्पणी—(१) स्वर से आरम्भ होनेवाले प्रत्यय जोड़ने के पूर्व शब्द के अंतिम स्वर का प्रायः लोप कर देते हैं।

(२) तणो, लगी, परि, प्रति आदि प्रत्यय कभी कभी शब्द के पूर्व भी रख दिये जाते हैं, यथा—

हुवो सुदरसण तणो हरि (५२) = हरि तणो सुदरसण हुवो;
देहि संदेस लगी दुआरिका (४४) = दुआरिका लगी संदेस देहि।

(३) संबन्धकारक के प्रत्ययों में परस्थ शब्द के लिङ्ग वचन के अनुसार लिङ्ग, वचन का परिवर्त्तन होता है, रो री रा; तणो तणी तणा।

(४) करण व संबन्ध का "आं" प्रत्यय केवल बहुवचनवाची शब्द के आगे आता है।

(५) कर्त्ता का 'इ' प्रत्यय केवल अकारान्त शब्द में लगता है।

(६) बहुवचन में अकारान्त शब्द के आगे प्रत्यय लगाने के पूर्व अंतिम अ का आँ प्रायः हो जाता है।

(७) ओकारान्त शब्द बहुवचन में आकारान्त हो जाता है।

(८) हिन्दी के आकारान्त शब्द (राजा गण को छोड़कर) राजस्थानी में ओकारान्त हो जाते हैं।

(९) ईकारान्त व ऊकारान्त शब्द के आगे बहुवचन में आँ या याँ जोड़ देते हैं और अंतिम स्वर को ह्रस्व कर देते हैं।

(१०) इकारान्त व उकारान्त शब्दों का बहुवचन बनाते समय उनके आगे आँ या याँ जोड़ देते हैं।

(११) कहीं कहीं नपुंसकलिङ्गरूप भी आये हैं। यद्यपि राजस्थानी में नपुंसकलिङ्ग एवं पुंलिङ्ग में कोई भेद नहीं है। यह नपुंसकलिङ्ग गुजराती में अब भी है। यथा घणूं किसूं तणूं।

(१२) साधारणतः संज्ञाशब्दों को बहुवचन बनाने के लिए अे या एकारान्त रूप दे देते हैं। यथा सन्यासिए, तापसिए, खेतिए।

(१३) हिन्दी और संस्कृत शब्दों के बीच में आनेवाले रेफ को स्थानान्तरित करके शब्द को विकृत करने का भी साधारण नियम है। यथा—क्रम = कर्म; प्रव = पर्व

(१४) जिन शब्दों में रेफ न हो उनमें रेफ का आगम भी किया जाता है। यथा—द्रवडित, भ्रख (भख)।

(२) सर्वनाम

१. हूँ = मैं

कर्त्ता—हूँ
कर्म—मूँ, हूँ, मूझ, अह्म
संबंध—मूझ, माहरो, मो, मू, अम्हीणो
अधिकरण—अह्माँ

२. तू = तू

कर्त्ता—तूँ, तुम्ह, तुम्हाँ
कर्म—तुम्ह, तुम्हाँ
करण—तुम्हाँसूँ
संबन्ध—तूझ, ताहरो, तुम्हीणो, तूँ तणा
अधिकरण—राजि लगै

टिप्पणी—'आप' के अर्थ में 'राज' शब्द प्रयुक्त होता है,

३. जो = जो

कर्त्ता—जु, जो, जोइ, जेहि, जिणि, जेणि
कर्म—जेहि
करण—जो, जेणि
संबंध—जसु, जासु

४. सो = सो (वह)

कर्त्ता—सो, सु, ते, ताइ, तिणि
कर्म—ताइ, तिहि
करण—तिणि
संबन्ध—तसु, तासु, ताइ, तिणितणी
अधिकरण—तेणि

५. कुण = कौन

कर्त्ता—को, कवण, केइ, किणि, किणै
कर्म—किणि, किणै

६. ओ = यह

कर्त्ता—ओ, आ (स्त्री०) औ (Oblique form)

७. अन्य सर्वनाम—

अनि = अन्य
किसो = कौनसा
केहवो = कैसा
एक = एक
बिहुँ = दोनों
सहु = सब, सभी

(३) अव्यय

जई = यदि, जब। तई = तब। पुणि = फिर। वलै, वलो = फिर। पुनह पुनह = फिर फिर। किरि = मानो। परि = ज्यों, समान। इहाँ = यहाँ। कुत्र = कहाँ। जाणे, जाणि = मानो। अने, ने = और। किम, केम = कैसे। काज = लिए। किसूं = कैसे। तिणि = इसलिए। नेड़ो = पास। साम्हा = सामने (त्रिलिंगी)। तिम = तैसे, त्यौं। नहु = नहीं। म = मत। लगि, लगी, लगै = तक, में। तदि = तब। इ = ही।

(४) क्रिया

१—अकर्मक क्रिया

बाधणो = बढ़ना

वर्त्तमान

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	बाधै, बाधइ, बाधति, बाधंति, बाधंत, बाधि	बाधै, बाधंति, बाधंत
म० पु०	बाधसि	बाधौ
उ० पु०	बाधूं	(बाधाँ)

विधि व आज्ञा

प्र० पु०	बाधै, बाधौ	बाधै, बाधौ
म० पु०	बाध, बाधि	बाधौ
उ० पु०	(बाधूं)	

भविष्यत्काल

प्र० पु०	बाधिसी, बाधिइ, बाधिसै, बाधिस्यै,	बाधिसी इत्यादि
म० पु०	बाधिसी, बाधिइ, बाधिसै, बाधिस्यै,	बाधिस्यो, बाधिसो, बाधिहो
उ० पु०	बाधिसौं, बाधिस्यौं, बाधिहौं, बाधिसि	बाधिसै

टिप्पणी—भविष्यार्थ में वर्त्तमानकाल के रूप भी आये हैं।

सुदूर विधि

म० पु० बाधिजै

कर्मवाच्य

वर्त्तमान

प्र० पु० मण्डिजै
म० पु० मण्डिजसि

भूतकाल

एकवचन	बहुवचन	स्त्रीलिङ्ग
बाधियो	बाधिया	बाधी
बाधो	बाधा	बाधई
बाध्यो	बाध्या	
बाधि	बाधिश्रे	

२—सकर्मक क्रिया

मूकणो = छोड़ना

वर्त्तमान

प्र० पु०	मूकै, मूकइ, मूकति, मूकंति, मूकंत	मूकै, इत्यादि
म० पु०	मूकै, मूकइ, मूक,	मूकौ
उ० पु०	मूकूँ	(मूकाँ)

आज्ञा

म० पु०	मूक, मूकि, मूकहि	मूकौ

विधि

प्र० पु०	मूकै	मूकौ
म० पु०	मूकै	मूकौ

भविष्य

प्र० पु०	मूकिसी, मूकिस्यै	
म० पु०		मूकिस्यौ,
उ० पु०	मूकिसि, मूकिस्यौं	मूकिस्यां, मूकेस्यां, मूकस्यां

भूतकाल

(क्रिया कर्म के अनुसार)		स्त्रीलिङ्ग
मूक्यौ, मूकियो	मूकिया, मूक्या	मूकी,
	मूकिए, मूके,	मूकवी,
	मूकए, मूकव्या	मूकई

सुदूरविधि

मूकियै, मूकिजै मूकियौ, मूकिजौ

कर्मवाच्य—

मूकिजै

मूकीजै

टिप्पणी—(१) कहीं कहीं सकर्मक क्रियाएँ भी अकर्मक की भाँति प्रयुक्त हुई हैं। देखो दोहला ६३।

(२) 'करणो' का भूतकाल कीध, देणो का दीध, लेणो का लीध भी होता है

(३) 'फहरावणो' का भूत स्त्रीलिङ्ग = फहराणी।

(४) 'ऊपणो' का भूतकाल = ऊपनो।

(५) संजोवणो का भूतकाल स्त्रीलिङ्ग = संजोई।

३—'होना' क्रिया के विशेष रूप

वर्त्तमान—म० पु० हुइ = तू होता है

विधि— प्र० पु० हुवै = हो
आज्ञा —प्र० पु० हुइ = हैं
भूतकाल—प्र० पु० हुओ, हूवौ-ओ, थ्यो,
थयो, थियो, थई (स्त्री०) हूँतौ (था)

अकर्मक से सकर्मक

अ० स०
मंडणो मांडणो (रूप मांडिजै, मंडिजै = रचा जाता है)

(५) प्रत्यय

१. शतृ (हिन्दी ता) = न्त, तो, त, वतो, न्तो
जपन्त = जपता हुआ
जपतो = जपता हुआ
जपत = ”
चिन्तवती = चिन्ता करती हुई
गुडन्तो = गिरता हुआ

२. तुं (हिन्दी को) = इवा या इबा, यथा—कहिवा
एवा या एबा, यथा कहेवा, कहेबा
अण—कहण

३. त्वा (हिन्दी करके) = इ यथा—करि, कहि = कह करके
ई यथा—कही = कहकर
ए यथा—वहे = चलकर
आवि यथा—सीखावि = सिखा कर
अणि यथा—

वेलि में प्रयुक्त छंद, ग्रंथ के नाम से मिलताजुलता वेलिया गीत है। डिंगल-कविता में साधारणतया प्रयुक्त अनेकानेक मात्रिक छंदों की जाति में से "छोटीसैणोर" नामक जातिविशेष के चार उपभेदों में से "वेलियो गीत" भी एक है। कविवर मनसाराम, 'मछ' कवि-कृत डिंगल-काव्य के रीतिग्रन्थ 'रघुनाथदीपक' में इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है:—

वेलियो गीत

> चार भेद तिण रा चवै, कवियण बड़ औकूब।
> समझ वेलियो[1], सोहणो[2], पुड्द[3], जाँगड़ो[4], पूब॥

आगे चल कर वेलियो गीत का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है :—

> सोल‍ कला विषम पद साजै, समपद पनरै कला समाजै।
> धुर अठार मोहरा गुरु लघु धर, कहजै 'मंछ' वेलियो इम कर॥

अर्थात् विषम चरणों (अर्थात् १-३) की १६ मात्राएँ होती हैं और सम चरणों की (अर्थात् २-४ की) क्रमशः १५ मात्राएँ होती हैं। यह तो एक साधारण लक्षण है परन्तु पहले चरण अर्थात् दुवाले के प्रथम चरण (धुर) की विशेषता कहीं कहीं इस बात में देखी जाती है कि वह १८ मात्राओं का होता है और उसके मोहरे की तुक के अन्त में गुरु लघु ऽ। होता है। पिंगलशास्त्र के अनुसार इसको अर्द्धसममात्रिक छंद कहना चाहिए।

यही लक्षण और स्पष्ट शब्दों में डिंगल-कोष के रचयिता कविवर मुरारिदानजी ने इस छंद के सम्बन्ध में कहे हैं यथा:—

> अठ्ठारह कल आदतुक, दूजी पनरह पेख।
> तीजी तुक सोलातणी, पनरह चौथी पेख॥
> दूजां दोहां सूँ दुरस, सहक्रम जाण सुजाण।
> सोलह पनरह कलस कल, एम वेलियो आण॥

मुहरावाली तुक यही, मुहरा माँहि मुणन्त ।
वर्णं गीत इम वेलियो, आदगुरु लघु अंत ॥

यह तो डिंगलछंद:शास्त्र का वेलियो गीत के सम्बन्ध में साधारण नियम हुआ जिसका जानना वेलि के पाठकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है और जिसका पालन महाराज पृथ्वीराज ने साधारणतया अपने ग्रंथ में किया है। परन्तु वेलि के सब छंदों की सूक्ष्म छानबीन करने पर ज्ञात होगा कि कवि ने इस शास्त्ररीति के जटिलबन्धन को कई स्थानों पर भंग किया है। पर केवल इसी एक आधार पर हमें उनको नियमभंग अथवा छंदोभंग का दोष नहीं लगा देना चाहिए; कारण, अर्द्धसममात्रिक छंदों में एक तो पहले से ही चरण की मात्राओं के विषय में कवि को स्वतंत्रता रहती है अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सब चरण बराबर मात्राओं के हों, दूसरे इस छंद की शास्त्रनिर्दिष्ट विशेषता इस बात में है कि पहला चरण १८ मात्रा का और तीसरा १६ मात्रा का होना चाहिए और इस नियमबंधन को कवि ने तोड़ा ही नहीं। रही बात समचरणों की। उनमें कवि ने साधारणतया तो शास्त्ररीति का ही अनुगमन कर १५ मात्राओं का उपयोग किया है परन्तु विशेष विशेष स्थलों पर, चाहे छंद की संगीत-गति की रक्षा के निमित्त किंवा माधुर्य्य-वृद्धि के हेतु अथवा अन्य किसी अलक्षित कारणवश १३-१४-१५ मात्राओं का भी उपयोग किया है। ऐसा करते हुए भी उन्होंने दूसरी और चतुर्थ पंक्ति की सममात्रिकता का कहीं भी ह्रास नहीं होने दिया है और साथ ही आत्मकल्पित किसी नियम के साथ इस स्वच्छंदता का उपयोग किया है, जो यह है—ऊपर कहे हुए रीतिग्रंथों में तो "मुहरावाली तुक मही·········आद-गुरुलघु अंत" कह कर, दूसरे, चौथे चरणों के क्रमश: १५ मात्राओं-वाले पदों के अन्त में गुरु लघु ऽ। का प्रयोग करने का अनुशासन-मात्र दिया गया है। परन्तु कवि ने, इसके अतिरिक्त, जब दूसरा,

चौथा चरण क्रमश लघु लघु ।। से अन्त होता है, तो केवल १३ मात्राओं का नियमत: उपयोग किया है और जब लघुगुरु ।ऽ से अंत होता हो तो १४ मात्राओं का उपयोग किया है। अन्यत्र सब जगह १५ मात्राओं का साधरणतया उपयोग किया गया है।

अलङ्कार

छंद:शास्त्र की तरह डिंगल का अलङ्कारशास्त्र भी पृथक् है। हिन्दी, संस्कृत की तरह उसके भी शब्दालंकार और अर्थालङ्कार दो मुख्य भेद हैं। यों तो हिन्दी और संस्कृत-साहित्य के रीतिग्रंथों में जो जो अलङ्कार साधारणत: मिलते हैं उनका डिंगल में भी उपयोग होता देखा गया है परन्तु कहीं कहीं नामों का भेद अवश्य है। साथ ही डिंगल-साहित्य का हिन्दी और संस्कृत-साहित्य से सर्वथा स्वतंत्र विकास होने के कारण कई विशेषताएँ इसके अलङ्कारों में अनोखी पाई जाती हैं। इस विषय में परिश्रमशील पाठक हिन्दी और संस्कृत के रीतिग्रंथों के साथ डिंगलकोष, रघुनाथदीपक इत्यादि डिंगलरीतिग्रंथों का तुलनात्मक अनुशीलन करके विशेष लाभ उठा सकते हैं। हम यहाँ केवल वेलि में साधारणतया प्रयुक्त कुछेक विशेष अलङ्कारों का दिग्दर्शन कराना पर्याप्त एवं युक्तिसंगत समझते हैं।

वयणसगाई

शब्दालङ्कारों में डिंगलकाव्य का एक प्रमुख अलङ्कार वयण-सगाई के नाम से प्रसिद्ध है जिसका डिंगल कविता में प्रायश: सर्वत्र उपयोग किया जाता है। हिन्दी में इसे शब्दानुप्रास कह सकते हैं। परन्तु इतना कहने-मात्र से इसका स्वरूप व्यक्त नहीं हो जाता। शब्दार्थ तो इसका 'वर्णों की सगाई अथवा सम्बन्ध-स्थापन' होता है और बहुत अंश में यही इस अलङ्कार की परिभाषा भी समझनी चाहिए। वेलि में इस प्रकार की वयण-सगाई प्राय: प्रत्येक छंद के प्रत्येक चरण अथवा पाद में पाई

जाती है परन्तु इसकी व्याप्ति की भी कुछ सीमा है और अपवाद (Exception) का भी इसमें अवकाश होता है। रघुनाथरूपक में इसका लक्षण इस प्रकार वर्णित है :—

आवै इण भाषा अमल वैण सगाई वेष।
दग्ध अगण वद दुगुण रो लागत नहिं लवलेश ॥

वयणसगाई के प्रयोग से काव्य का महत्त्व—

वयण सगाई वेश, मिल्यां साँच दोषण मिटै।
किणयक समै कवेश, थपियो सगपण ऊथपै ॥

दृष्टान्त—

खून कियां जाणै खलक, हाड वैर जो होय।
वयण सगाई बरणतो, कलपत रहे न कोय ॥

वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध-निरूपण करते हुए लिखा है—

आ, ई, ऊ, ए, अ, य, व, इम, जइ, बव, यफ, नण, जाण।
तट, घढ़, दड़, चछ, गध तवौ, ऐ आखर कवि आण ॥
इण अखरोटाँ आद दै, अवर अखर सुभियाण।
आद जिकोही अन्त मैं, जो ही अधिक सुजाण ॥

अर्थात् ऊपर की दो पंक्तियों में वर्णित अक्षर-द्वन्द्वों में वयण-सगाई के नियमानुसार अभेद माना जाना चाहिए यथा "रलयोर-भेदात्"। आगे चल कर अक्षरों के धरने की विधि इस प्रकार बताई गई है—

वरण मित्त जू धरण विध, कवियण तीन कहंत।
आद अधिक, समगध अवर, न्यून अंक सो अंत ॥

अर्थ स्पष्ट है।

साधारणतया पृथ्वीराज ने वयणसगाई का प्रयोग वेलि में शास्त्रनियमानुसार ही किया है परन्तु कई एक स्थलों पर नियम की जटिलता तोड़ कर स्वच्छन्दता का भी परिचय दिया है। ऐसे नियम-प्रतिकूल स्थलों पर भी हमको अनिवार्य्यरूप से वणयसगाई का प्रयोग मिलता है परन्तु विशेषता इस बात की होती है कि जैसा कि साधारण नियम है, चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर में संघटित न होकर वयणसगाई कहीं कहीं चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर में और चरण के मध्यवर्त्ती किसी शब्द के प्रथम अक्षर में अथवा मध्य अक्षर में भी संगठित होती है। विकल्प करके कवि ने वेलि में कई स्थलों पर वयणसगाई का भिन्न भिन्न रूप इस प्रकार दिखाया है—

(१) **अन्तरङ्ग वयणसगाई का प्रयोग**—चरण को दो पृथक् विभागों में विभक्त कर साधारण नियम के अनुसार दो वयणसगाई उपस्थित करना, जिससे यह चमत्कार प्रतीत हो मानो चरण एक नहीं दो हैं।

दृष्टान्त—

(क) स्त्रीपति कुण सुमति, तूझ गुण जु तवति।

छं० ६ **प्रथम चरण**।

(ख) सैसव तनि सुखपति, जोवण न जाग्रति।

छं० १५ **प्रथम चरण**।

इसी प्रकार छंद २० के दूसरे चरण, छंद ४९ के प्रथम चरण, छं० ६२ के प्रथम चरण, छंद ८१ के प्रथम चरण, छंद ९० के प्रथम चरण, छंद ९३ के प्रथम चरण तथा छंद १८६ के दूसरे चरण में अन्तरङ्ग दो दो वयणसगाई संघटित होती हैं।

(२) चरण के प्रथम शब्द के प्रथम वर्ण का उसी चरण के अन्तिम शब्द के आदि मध्य अथवा अन्तवर्त्ती किसी भी अक्षर के साथ शब्दानुप्रास सङ्घटित हो जाने से भी वयणसगाई सुरक्षित रह सकती है। यह डिंगलरीति के नियमानुसार तो नहीं, वरन् कवि द्वारा मानित परिपाटी है। यथा—

"ग्रिह ग्रिह प्रति भीँति सु गारि हींगलू।" वे० छंद ३९ प्रथम चरण।

इस चरण में वयणसगाई अन्तिम शब्द के मध्यवर्त्ती वर्ण 'ग' से सङ्घटित हुई है। इसी प्रकार अन्य दृष्टान्तों के लिए छंद ४०, ६७, १०७, १०८, १०९, ११८, ११९, १४४, १६१, १७१, १७४, १७६, १७८, १७९, १८८, १९२; १९४, १९८, २०८, २०९, २१६, २२२ २४७, २५२, २६४, २६५, २८८, ३०५ में देखो।

(३) डिंगलभाषा में संज्ञा का कारकचिह्न (Case inflection) संस्कृत, बंगला इत्यादि अन्य संयोगात्मक (Synthetic) भाषाओं की तरह, संज्ञा से भिन्न होते हुए भी वयणसगाई की दृष्टि से उसका अभिन्न भाग ही गिना जाता है। अतएव यदि चरण के अन्तिम शब्द के स्थान पर कोई कारकचिह्न अथवा उपसर्ग हो यथा, 'किरि', चो, लगि, ची, सूँ, परि, तणाँ इत्यादि तो वह पूर्वगत संज्ञा शब्द का अभिन्न भाग ही गिना जाता है और वयणसगाई उस संज्ञा शब्द के प्रथम अक्षर के साथ संघटित होती है। यथा—

अम्ब जात्र अम्बिका तणीं। वे० छन्द ७९ चतुर्थ पंक्ति।

यहाँ पर 'तणीं' पृथक् शब्द नहीं गिना गया है वरन् 'अम्बिका-तणीं' समस्त पद गिना गया है अतएव इस चरण का प्रथम शब्द 'अम्ब' और अन्तिम शब्द 'अम्बिकातणीं' है जिनमें यथानियम वयणसगाई संघटित है। इसी प्रकार छंद ८२, १०८, १४८ तथा १९२ में देखो।

(४) यदि कोई चरण क्रियाविशेषण अव्यय, सर्वनाम अव्यय, सम्मुचयबोधक अव्यय अथवा अन्य किसी अव्यय या उपसर्ग अथवा कारकचिह्न से प्रारम्भ हो तो वह अव्यय, अथवा उपसर्ग अथवा कारकचिह्न चरण का प्रथम शब्द न गिना जाकर, वह संज्ञा जिसका वह सहायक है अथवा अंगीभूतभाग है, प्रथम शब्द मानी जाती है और इस संज्ञा के प्रथम अक्षर की वयणसगाई नियमानुसार चरण के अन्तिम शब्द के प्रथम अक्षर के साथ संघटित होती है।

यथा—

किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी। वे० छंद १०६ तीसरी पंक्ति।

यहाँ 'किरि' अव्यय 'वैकुण्ठ' संज्ञा से सम्बन्ध रखता है अतएव वैकुण्ठ' शब्द प्रथम माना जाकर उसकी वयणसगाई, विकल्प (२) के अनुसार अयोध्यावासी के 'वासी' के साथ संघटित हुई है। इसी प्रकार—

(क) किरि नीपायौ तदि नीकुटेअे।
वे० छं० ११० तीसरा चरण।

(ख) तिणि आप ही करायौ आदर।
वे० छं० १६८ तीसरा चरण।

(ग) जिम सिणगार अकीधै सोहति।
वे० छन्द २२८ तीसरा चरण।

(घ) करि परिवार सकल पहिरायौ।
वे० छन्द २३७ तीसरा चरण।

(५) कहीं कहीं चरण के प्रथम शब्द के प्रथम अक्षर की वयणसगाई उस चरण के अन्तिम शब्द के अन्तिम अक्षर से बनती है। यथा—

(क) नीरासयै परि कमलिनी। वे० छ० १७४ अन्तिम चरण।

(ख) त्रीवदनि पीतता चिति व्याकुलता ।

वे० छ० १७६ प्रथम चरण ।

(ग) कस छूटी छुद्रघण्टिका । वे० छ० १७८ अन्तिम चरण ।

(घ) तरु लता पल्लवित त्रिणे अङ्कुरित ।

वे० छ० १९८ प्रथम चरण ।

इसी प्रकार छन्द १९९ तीसरी पंक्ति, छन्द २०८ दूसरी पंक्ति, छन्द २२१ तीसरी पंक्ति में भी ।

(६) कहीं कहीं चरणों में वयणसगाई न होने पर भी उसका अभाव इसलिए नहीं अखरता कि उस छन्द में अथवा चरण में कवि ने प्रर्याप्तरूप में शब्दानुप्रास का अन्यरीति से उपयोग करके वयणसगाई को अनुपेक्षणीय समझ लिया है । यथा—

(क) निवै सहस नीसाण न सुणिजै ।

वे० छ० ११५ तीसरी पंक्ति ।

(ख) दस मास समा पति गरभदीध रति ।

वे० छ० २२९ प्रथम पंक्ति ।

(ग) अङ्गणि जल तिरय उरय अलि पीयति ।

वे० छ० २४६ प्रथम पंक्ति ।

(घ) दरयक कन्दरय काम कुसुमायुध ।

वे० छ० २७४ प्रथम पंक्ति ।

इसी प्रकार छन्द २८७ दूसरी पंक्ति, छन्द २९४ अन्तिम पंक्ति को देखो ।

यह निश्चित बात है कि वयणसगाई के उपयोग से काव्य का भाषा-सम्बन्धी बाह्य सौन्दर्य्य बढ़ जाता है । परन्तु काव्य की

अन्तरात्मा अर्थात् अर्थ के दूषित हो जाने पर वयणसगाई भी उस दोष का परिहार नहीं कर सकती क्योंकि काव्य का वास्तविक लक्षण है "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" काव्य की आत्मा को बाह्याडम्बरों के अलंकरणों की आवश्यकता नहीं होती। मम्मट ने तो "अनलङ्कृतिः पुनः क्वापि" कह कर इस भाव को स्पष्ट ही कर दिया है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वे कौन से दूषण हैं जो—

"किणयक समै कवेश थपियो सगपण ऊथपै"। 'मंछ'

प्रसंगवश हम यहाँ पर संक्षेप में उनका नामोल्लेख-मात्र करना पर्याप्त समझते हैं। विस्तारभय से वेलिग्रंथानुगत अर्थ-सम्बन्धी दोषों पर डिंगलरीतिशास्त्र के अन्वेषक की दृष्टि से पर्यालोचन करने का सूक्ष्म काम हम इस विषय के रसिक विद्यार्थियों के लिए छोड़ देते हैं—

अथ काव्यदोषाः—

रुल् उकत को रूप अंध[१] सो नाम उचारै,
कहै वलै छवकाल[२] विरुद्ध भाषा विस्तारै।
हीणदोष[३] सो हुवै जात पित मुदो न जाहर,
निनङ्ग[४] जेणनें निरष विकल बरणन बिन ठौर॥
पांगलो[५] छन्द भाषै प्रकट बद घट कला बखाणजै,
बिच अवर अवर ढालौ वणै, जातविरुध[६] सो जाणजै।
अपस[७] अमूभ्यो अरथ शब्द पिण विण हित साजै,
नालछेद[८] जिण नाम जथा हीणौं गुण साजै॥
कहै दोष पषतूट[९] जोड़ पतली अर जालम,
बहरो[१०] सो शुभ वयण मुडै, अणशुभ है मालम।
मरुभूम पाठ पिंगल मतां साहित वैदक सारनै,
कहै मंछ भलां रूपकरो अैदश दोष निवारनै॥

अर्थात्—(१) जहाँ उक्त विषय का निरबाध निर्वाह न हो सके एवं किसी चरण में उक्त विषय 'सम्मुख' एवं दूसरे में 'पराङ्मुख' हों उसे काव्य में "अंध" दोष कहते हैं। दण्डिन् के अनुसार हम इसे "व्यर्थ" दोष की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। देखो काव्यादर्श परिच्छेद ४ श्लोक ८।

(२) विरुद्ध भाषाओं अथवा विभिन्न भाषाओं के मिलान को—यथा, व्रजभाषा, खड़ी-बोली, पारसी अथवा अन्य किसी भाषा को डिङ्गल से मिला देने को—"छवकाल" दोष कहते हैं। इस दोष के पर्याय में दण्डिन् का "देशकालकला, न्याय, आगम" विरोधि दोष है। देखो काव्या० परि० ४। ४३-४५-६०।

(३) जिससे अर्थ का अनर्थ हो सकने की संभावना हो अर्थात् अर्थ शब्दों से स्पष्टतया व्यक्त न हो सके। जैसे राम के वर्णन में यदि उनकी जाति, पिता, वर्ण इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख न हो। रामचन्द्र, परशुराम, बलराम इत्यादि का भ्रम हो सकता है। ऐसे भ्रामक स्थलों पर हीन दोष मानना चाहिए। दण्डिन् का "ससंशयम्" दोष इसका पर्यायवाची है।

(४) बिना ठिकाने का अट्टमसट्टम, किसी स्वाभाविक क्रम के विरुद्ध वर्णन को निनङ्ग दोष समझना चाहिए। यथा—काव्यादर्श में "अपक्रम" दोष।

(५) छन्द की शास्त्र-नियत मात्राओं से बढ़ती घटती मात्राएँ यदि भिन्न भिन्न चरणों में पाई जायँ तो वह "पाँगलो" दोष कहलाता है। इसे दण्डिन् की परिभाषा में "भिन्नवृत्तम्" का सर्वतोघृणित दोष समझना चाहिए।

(६) किसी छन्द में प्रथम चरण तो किसी जाति के छन्द का हो, दूसरा अन्य किसी जाति के छन्द का हो और इसी प्रकार

तीसरे चौथे चरणों में हो तो ऐसे छन्दों के शङ्कर को "जात विरुद्ध" दोष कहते हैं। यह दोष भी दण्डिन् की भिन्नवृत्तम् की व्याप्त परिभाषा में आ जाता है।

(७) अर्थ को घुमा फिरा कर चक्कर में डाल देना—सीधी तरह से न कह कर क्लिष्टरूप में कहना—इसे "अपस" दोष कहेंगे। यथा, विष्णु के लिए सीधे ही 'लक्ष्मीपति' न कह कर, नदीपति (समुद्र) तासु सुता (लक्ष्मी) तासु भगवान् (विष्णु) कहना। यथा, दण्डिन् का "अपार्थ" दोष।

(८) अनभिजात छन्द-सङ्कर के दोष को नाल छेद कहते हैं। यह दोष भी जातिविरुद्ध दोष से कुछ मिलता-जुलता है। यथा—छन्द के चार दुवालों (चरणों) से दो में तो किसी शास्त्रानुमत छंद का रूप बने; परन्तु बाक़ी दो छन्द सङ्कर हो जाय। यह दोष है।

(९) जहाँ छन्द के प्रथम दो चरणों में कच्ची जोड़ और दूसरे दो में पक्की जोड़ हो, वहाँ पषतूट दोष गिना जाता है। कच्ची जोड़ उसे कहते हैं जिसमें कठ अर्थात् शब्दानुप्रास नहीं आता है और पक्की जोड़ में शब्दानुप्रास रहता है। यथा—

कच्ची जोड़—"तीर शेलां छुरां झींक तरवारियाँ"

॥ शब्दानुप्रासहीन ॥

पक्की जोड़—"तहक नीषाण गिरवाण हरण तन"

॥ शब्दानुप्रासयुक्त ॥

(१०) जिसमें शब्दयोजना ऐसी बेढंगी हो कि शब्दों का दुतरफ़ा अर्थ निकलकर भ्रम पैदा हो जाता है यथा—

"जीत लीधी जमीं कटै थी जेणरी।
पराजै हुई नहै फतह पाई॥"

यहाँ पर "पराजय नहीं हुई वरन् फतह पाई" यह वास्तविक अर्थ है। परन्तु शब्दयोजना ऐसी बेढंगी है कि, "पराजय हुई; फतह नहीं पाई" यह उलटा अर्थ भी निकलता है।

उपसंहार

सम्भव है यह भूमिका विस्तृतरूप धारण कर लेने के कारण पाठकों को अनावश्यक और अरुचिकर मालूम होने लगे। साधारण स्थिति में हम भी इसे इतना विस्तृत करने का वृथा प्रयास न करते। परन्तु जब हमें ज्ञात है कि हिन्दी-संसार में महाराज पृथ्वीराज के काव्य को लोकप्रिय बनाने के लिए काव्यरसिकों को कुछ ऐसी विशेष बातें अथवा समस्याओं को जानने की अत्यन्त आवश्यकता होगी कि जो हिन्दी भाषा के लिए बिलकुल नवीन समस्याएँ हैं तब हमने साहित्य-हित की प्रेरणा से यह प्रयास प्रारम्भ किया। अब तक हिन्दी-प्रेमियों को महाराज पृथ्वीराज के विषय में बहुत कम जानकारी थी। वे साधारण श्रेणी के कवि गिने जाते थे। उनकी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार कुछ एक गिने चुने प्रशस्तिगीत तथा छप्पय, दोहे इत्यादि तक सीमित गिना जाता था। इस भूमिका के आशय से सूचित होगा कि महाराज पृथ्वीराज ने सम्बद्ध-साहित्य (Sustained literature) एवं काव्यरचना के क्षेत्र में भी पर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। महाराज पृथ्वीराज का काव्य-चमत्कार किस श्रेणी का है, हिन्दी-साहित्य में उनका कौन सा वास्तविक स्थान है, उनकी प्रतिभा का केन्द्र कितना विस्तृत है इत्यादि विषयों पर यथाशक्ति प्रकाश डाल कर हिन्दी-काव्य-रसिकों की इस कवि के सम्बंध में जानकारी बढ़ाना एवं उनका मनोरंजन करना इस विनम्र निवेदन का लक्ष्य है। आशा है, काव्यरसिक पाठक इस सेवा को स्वीकार कर हमें कृतज्ञ करेंगे।

महाराज पृथ्वीराज के सम्बन्ध में किया हुआ हमारा यह तुच्छ प्रयास यदि आंशिक परिमाण में भी हिन्दी-साहित्यज्ञों को रोचक सिद्ध हुआ अथवा उक्त कवि के विषय में उनकी ज्ञान-संवृद्धि का कारण हो सका, तो हम अपने आपको कृतकृत्य समझेंगे।

इस भूमिका के लिखने में मुझे महाराज श्रीजयमालसिंहजी एवं मित्रवर श्रीनरोत्तमदास स्वामी 'विरक्त', एम० ए०, 'विशारद' महोदय, ठाकुर श्रीरामसिंहजी महोदय, एम० ए० "विशारद" की सम्मति से समय समय पर सहायता प्राप्त हुई है। अतएव मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

पिलाणी (जयपुर राज्य)
शिवरात्रि सं० १९८६

सूर्यकरण पारीक

वेलि क्रिसन रुकमणी री
राठौड़राज प्रिथीराज री कही

अथ वेलि
क्रिसन रुकमणी री
राठौड़राज प्रिथीराज री कही।

—:०:—

परमेसर प्रणवि प्रणवि सरसति पुणि
सदगुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार।
मङ्गलरूप गाइजै माहव
चार सु ए ही मङ्गलचार ॥१॥

[परमेसर प्रणवि] परमेश्वर को प्रणाम करके [पुणि सरसति प्रणवि] फिर सरस्वती को प्रणाम करके [सदगुरु प्रणवि] और श्रेष्ठ गुरुदेव को प्रणाम करके [त्रिण्हे ततसार] क्योंकि ये ही तीनों सारतत्त्व हैं, [मङ्गलरूप माहव गाइजै] मंगलरूप भगवान् श्रीकृष्ण का गुणानुवाद गाया जाता है। [ए ही चार सु मङ्गलचार] ये ही चार प्रकार के श्रेष्ठ मंगलाचरण हैं ॥१॥

आरम्भ मैं कियो जेणि उपायौ
गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठचीत्र पूतळी निज करि
चीत्रारै लागी चित्रण ॥२॥

[जेणि उपायौ] जिसने उत्पन्न किया, [गुणनिधि गावण मैं आरम्भ कियौ] उस गुणनिधि के गुणों का गान मैंने आरम्भ किया है, [हूँ निगुण] यद्यपि मैं गुणहीन हूँ। [किरि] जैसे [कठचीत्र पूतळी] काठ में चित्रित की हुई पुतली (प्रतिमा) [चीत्रारै निज करि चित्रण

लागी] अपने चित्रकार को ही अपने (गुणहीन) हाथों से चित्रित करने लगी हो ।।२।।

कमलापति तणी कहेवा कीरति
आदर करै जु आदरी ।
जाणे वाद माँडियौ जीपण
वागहीण वागेसरी ।।३।।

[कमलापति तणी कीरति] लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण) की कीर्ति को [आदर करे कहेवा जु आदरी] आदर सहित कहना जो मैंने अंगीकार किया है, [जाणे] (वह) मानो [वागहीण वागेसरी जीपण वाद माँडियौ] वाक्हीन (मूक पुरुष) ने, वाणी की अधिष्ठातृ देवी (सरस्वती) से, जीतने के लिए (हठपूर्वक) विवाद छेड़ा है ।।३।।

सरसती न सूझै ताइ तूँ सोझै
वाउवा हुऔ कि वाउलौ ।
मन सरिसौ धावतौ मूढ़ मन
पहि किम पूजै पाँगुलौ ।।४।।

[मूढ़ मन] रे मूर्ख मन, [सरसती न सूझै] सरस्वती को (जो) नहीं सूझता [ताई तूँ सोझै] उसी को तू ढूँढ़ता है। [वाउवो हुऔ कि वाउलौ] या तो तू वातग्रस्त हो गया है (लबार हो गया है) अथवा पागल हो गया है; [मन सरिसौ धावतौ] तू मन के सदृश (अपनी ही स्वाभाविक तीव्रगति के अनुकूल) दौड़ता (अवश्य) है, [पहि] परन्तु [पाँगुलौ किम पूजै] (तू) पंगु कैसे पहुँच सकता है ।।४।।

जिणि सेस सहस फण फणि फणि बि बि जीह
जीह जीह नवनवौ जस ।
तिणि ही पार न पायौ त्रीकम
वयण डेडराँ किसो वस ।।५।।

[जिणि सेस सहस फण] जिस शेषनाग के सहस्र फण हैं, [फणि फणि बि बि जीहे] फण फण में दो दो जीभें हैं, [जीह जीह नवनवौ जस] (और) प्रत्येक जीभ में नित्य नया यश-गान है, [तिणि ही त्रीकम पार न पायौ] उसने भी त्रिविक्रम (के यश) का पार नहीं पाया [डेडरॉं वयण किसौ वस] (तो फिर) मेंढकों के वचनों में कौन सी सामर्थ्य है ॥५॥

स्रीपति कुण सुमति तूझ गुण जु तवति
तारू कवण जु समुद्र तरै ।
पङ्खी कवण गयण लगि पहुचै
कवण रङ्क करि मेरु करै ॥६॥

[स्रीपति] हे कमलापति, [कुण सुमति] (ऐसा) कौन श्रेष्ठ मतिमान् है, [जु तूझ गुण तवति] जो आपके गुणों का स्तवन कर सकता है; [तारू कवण] (ऐसा) तैराक कौन है [जु समुद्र तरै] जो समुद्र को तैर—(पार कर) सकता है; [पङ्खी कवण] (ऐसा) कौन पक्षी है, [गयण लगि पहुँचै] जो गगन तक (आकाश के अन्त तक) पहुँच सकता है, [कवण रङ्क] (ऐसा) कौन कङ्गाल है [करि मेरु करै] जो अपने हाथ में मेरु को उठा सकता है ॥६॥

जिण दीध जनम जगि मुखि दे जीहा
क्रिसन जु पोखण भरण करै ।
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन
स्रम कीधा विणु केम सरै ॥७॥

[मुखि जीहा दे] मुख में जीभ देकर, [जगि जिण जनम दीध] संसार में जिसने जन्म दिया; [जु क्रिसन भरण पोखण करै] (और) जो श्रीकृष्ण (हमारा) भरण पोषण करते हैं, [तिणि तणौ कीरतन]

उनका कीर्त्तन [कहण तणौ स्रम कीधा विण] कहने का श्रम किये बिना [केम सरै] कैसे बन सकता है ॥७॥

सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा
सुकवि अनेक ते एक सन्थ।
ग्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि
गूँथियै जेणि सिँगार ग्रन्थ ॥८॥

[सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा अनेक सुकवि] शुकदेव, वेदव्यास, और जयदेव के समान अनेक सुकवि (हुए हैं) [ते एक सन्थ] वे (इस रीति का अनुसरण करने में) एकमत हैं, [तिणि ग्रीवरणण पहिलौ कीजै] कि उसको स्त्री का वर्णन पहले करना चाहिए [जेणि सिँगार ग्रन्थ गूँथियै] जिसको शृङ्गार-ग्रंथ रचना हो ॥८॥

दस मास उदरि धरि वळे वरस दस
जो इहाँ परिपाळै जिवड़ी।
पूत हेत पेखताँ पिता प्रति
वळी विसेखै मात वड़ी ॥९॥

[दस मास उदरि धरि] (जो) दस महीनों तक गर्भ में धारण कर, [वळे दस बरस इहाँ जिवड़ी परिपाळै] फिर दश वर्षों तक इस संसार में जिस प्रकार पालन-पोषण करती है; [वळी पूत हेत पेखताँ] फिर पुत्रवत्सलता को देखते हुए [पिता प्रति मात विसेखै बड़ी] पिता की अपेक्षा माता ही विशेष बड़ी है ॥९॥

दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति
पुर दीपति अति कुँदणपुर।
राजति एक भीखमक राजा
सिरहर अहि नर असुर सुर ॥१०॥

[दक्खिण दिसि देस विदरभति दीपति] दक्षिण दिशा में विदर्भ देश अति शोभायुक्त था। [कुँदणपुर अति दीपति पुर] (वहाँ) कुंदनपुर (नाम का) बड़ा ही सुंदर नगर था। [एक भीखमक राजा राजति] (वहाँ) भीष्मक (नामक) एक राजा राज करता था, [अहि नर असुर सुर सिरहर] (जो) नागों, नरों, असुरों और सुरों का शिरोधार्य था ॥१०॥

पञ्चपुत्र ताइ छठी सुपुत्री
कुँअर रुकम कहि विमल्कथ।
रुकमबाहु अनै रुकमाली
रुकमकेस नै रुकमरथ ॥११॥

[ताइ पञ्चपुत्र छठी सुपुत्री] उस (राजा) के पाँच पुत्र और छठी सुपुत्री थी। [विमल्कथ कुँअर] विमल ख्यातिवाले राजकुमार [रुकम, रुकमबाहु अनै रुकमाली रुकमकेस नै रुकमरथ कहि] रुक्मि, रुक्मबाहु, रुक्माली, रुक्मकेश और रुक्मरथ कहे जाते थे ॥११॥

रामा अवतार नाम ताइ रुषमणि
मान सरोवरि मेरुगिरि।
बाल्कति करि हंस चौ बाल्क
कनकवेलि बिहुँ पान किरि ॥१२॥

[रामा अवतार] लक्ष्मी का अवतार थी, [ताइ नाम रुषमणि] उसका नाम रुक्मिणी था। [मेरुगिरि बिहुँ पान कनक-वेलि] सुमेरु गिरि पर (सद्यप्रस्फुटिता) दो पत्तोंवाली स्वर्ण-लता (के समान सुंदर वह बालिका) [बाल्कति करि] बालक्रीड़ा करती हुई (ऐसी मनोहर लगती थी) [किरि] जैसे [मानसरोवरि हंस चौ बाल्क] मानसरोवर में (क्रीड़ा करता हुआ) हंस का बच्चा ॥१२॥

अनि वरिस वधै ताइ मास वधै ए
वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।
लखण बत्रीस बाल्लीलामै
राजकुँअरि ढूलड़ी रमन्ति ॥१३॥

[अनि वरिस वधै] अन्य (बालक) जितना एक वर्ष में बढ़ते हैं [ताइ ए मास वधै] उतनी यह एक महीने में ही बढ़ जाती है, [मास वधै] (वे) जितना एक मास में बढ़ते हैं [ताइ पहर वधन्ति] उतनी (यह) एक पहर में ही बढ़ जाती है। [लखण बत्रीस बाल्लीलामै राजकुँअरि] बत्तीस लक्षणों से युक्त, बाललीलाओं से सुशोभित राजकुमारी [ढूलड़ी रमन्ति] गुड़ियों से खेलती है ॥१३॥

संग सखी सील् कुल् वेस समाणी
पेखि कली पदि्मणी परि ।
राजति राजकुँअरि रायअंगण
उडीयण वीरज अम्ब हरि ॥१४॥

[संग] संग में [सील् कुल् वेस समाणी सखी] शील, कुल और वयस में समान सखियाँ [पदिमणी कली परि पेखि] कमलिनी की कलियों की भाँति दिखाई देती हैं। [रायअंगण राजकुँअरि राजति] (उनके साथ) राजप्रासाद के आँगन में राजकुमारी (ऐसी) शोभायमान हो रही है [वीरज अम्ब हरि उडीयण] (जैसे) निर्मल आकाश में चन्द्रमा तारागण सहित (शोभित) हों ॥१४॥

सैसव तनि सुखपति जोवण न जाग्रति
वेस सन्धि सुहिणा सु वरि ।
हिव पल् पल् चढतौ जि होइसै
प्रथम ज्ञान एहवी परि ॥१५॥

[सैसव तनि जोवण सुखपति] बाल्यावस्था में, शरीर में यौवन सुषुप्ति अवस्था में रहता है । [जाग्रति न] (उसकी) जागृति के कोई चिह्न प्रकट नहीं होते । [वेस सन्धि सु सुहिणा वरि] वय:सन्धिकाल ही स्वप्नावस्था की भाँति है । [हिव पल् पल् जि चढ़तौ होइसै] अब से प्रतिक्षण (यौवन) निश्चय ही बढ़ता जायगा । [प्रथम ज्ञान एहवी परि] (इस यौवनागम का) प्रथम ज्ञान (रुक्मिणी को) इस भाँति हुआ ॥

भावार्थ—रुक्मिणी की बाल्यावस्था को यौवन की सुषुप्ति अवस्था से समता दी गई है। जैसे सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा की) अवस्था में पदार्थज्ञान का लोप रहता है, वैसे ही बाल्यावस्था के समय रुक्मिणी के शरीर में यौवन लुप्त था। उनके शरीर में यौवन की जागृति के अब तक कोई चिह्न—स्तनादि प्रकट नहीं हुए थे। परन्तु रुक्मिणी के वय:सन्धिअवस्था में प्रवेश करते ही, यौवन भी सुषुप्ति अवस्था को छोड़कर स्वप्नावस्था को प्राप्त हो गया। जैसे स्वप्नावस्था में, जिसमें मनुष्य न तो सोता ही कहा जा सकता है और न जागता ही—पदार्थज्ञान न तो सर्वथा लुप्त ही रहता है और न जाग्रत ही, वैसे ही वय:सन्धि की अवस्था में पदार्पण करते ही रुक्मिणी के शरीर में यौवन भी स्वप्नावस्था को प्राप्त हुआ और कुछ कुछ अपनी झलक दिखाने लगा। अब वय:सन्धि से ज्यों ज्यों रुक्मिणी निकलती जाती थी त्यों त्यों उनके शरीर में जागृति यौवन का रंग ढंग स्पष्ट होता जाता था, जिस प्रकार स्वप्नावस्था का अंत होकर ज्यों ज्यों जाग्रतावस्था होती जाती है त्यों त्यों पदार्थज्ञान भी अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। इस यौवनागम का प्रथम-ज्ञान रुक्मिणी को जिस प्रकार हुआ, उसका वर्णन आगे के छन्दों में किया गया है ॥१५॥

पहिलै मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची
अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
पेखे किरि जागिया पयोहर
सञ्झा वन्दण रिखेसर ॥१६॥

[पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ] पहिले (रुक्मिणी के) मुखारविन्द में लालिमा प्रकट हुई, [कि अम्बर अरुणोद प्राची अरुण] मानो, आकाश में सूर्योदय के समय पूर्व दिशा में लाली छा गई है, [पेखे] (जिसे) देख कर [पयोहर जागिया] कुच जाग उठे, [किरि सञ्झा वन्दण रिखेसर (जागिया)] मानो सन्ध्यावन्दन के लिए ऋषीश्वर (उठ बैठे हैं) ।

भावार्थ—रुक्मिणी शैशव समाप्त करके यौवन में प्रवेश कर रही हैं । बाल्यावस्था और युवावस्था, इन दोनों अवस्थाओं की सन्धि में यौवन का उदय हो रहा है, जिस प्रकार रात्रि और दिन की सन्धि में सूर्य का उदय होता है । सूर्य के उदय होने से पहले पूर्व दिशा लाल हो जाती है, जिसे देखकर ऋषिगण सन्ध्या-वन्दन के निमित्त जाग उठते हैं । इसी प्रकार यौवनरूपी सूर्य का उदय होने से पहले रुक्मिणी के मुखारविन्द में प्रकट हुई लाली को देख कर कुच भी यौवन का स्वागत करने के लिए जाग उठे हैं ॥१६॥

जम्प जीव नही आवतौ जाणे
जोवण जावणहार जण ।
बहु विलखी वीछड़ती बाल़ा
बाल़ सँघाती बाल़पण ॥१७॥

[जीव जम्प नहीं] (रुक्मिणी के) हृदय में शान्ति नहीं है । [जोवण आवतौ जाणे] यौवन को आता हुआ जान कर; [बाल़ सँघाती बाल़पण जावणहार जण] (और) बाल्यकाल के साथी

बालपन को जानेवाला जान कर, [वीछड़ती बाला बहु विलखी] (उससे) बिछुड़ते हुए बाला (रुक्मिणी) बहुत ही उदास हुई ॥१७॥

आगलि पित मात रमन्ती अङ्गणि
काम विराम छिपाड़ण काज।
लाजवती अङ्गि एह लाज विधि
लाज करन्ती आवै लाज ॥१८॥

[अङ्गणि पित मात आगलि रमन्ती] आँगन में पिता माता के आगे खेलती हुई, [काम विराम छिपाड़ण काज लाजवती अङ्गि] काम के निवासस्थानों को (चंचलता को प्राप्त नेत्र और वृद्धि को प्राप्त नितम्ब, कुच इत्यादि अंगों को) छिपाने के निमित्त (उनके) शरीर में लज्जा उत्पन्न होने लगी। [एह लाज विधि] इस लाज की प्रकृति के कारण [लाज करन्ती लाज आवै] (रुक्मिणी को) लाज करने में भी लज्जा लगती है ॥१८॥

सैसव सु जु सिसिर वितीत थयौ सहु
गुण गति मति अति एह गिणि।
आप तणौ परिग्रह ले आयौ
तरुणापौ रितुराउ तिणि ॥१९॥

[जु सैसव सिसिर सु सहु वितीत थयौ] जो बाल्यावस्थारूपी शिशिर था, वह सारा व्यतीत हो गया। [एह गिणि] यह जान कर [आप तणौ परिग्रह गुण गति मति अति ले] अपने परिग्रह (परिवार)—गुण, गति, मति इत्यादि को साथ लेकर [तरुणापौ रितुराउ तिणि आयौ] यौवनरूपी वसन्त उनमें (रुक्मिणी के शरीर में) प्रकट हुआ।

भावार्थ की स्पष्टता के लिए नोट में 'गुण, गति, मति' की व्याख्या को देखिए ॥१६॥

दल फूलि विमल़ वन नयण कमल़ दल़
कोकिल कण्ठ सुहाइ सर।
पाँपणि पङ्ख सँवारि नवी परि
भ्रूहाँरे भ्रमिया भ्रमर ॥२०॥

[दल फूलि विमल़ वन] (इस यौवनरूपी वसन्त में रुक्मिणी के शरीर का) अवयव समूह ही पुष्पित होकर स्वच्छ (सुंदर) हुआ वन है, [नयण कमल़ दल़] (उनके) नेत्र ही कमल-दल हैं; [सुहाइ सर कोकिल कण्ठ] (उनका) सुहावना स्वर ही कोयल का कण्ठ (स्वर) है। [पाँपणि पङ्ख नवी परि सँवारि] (और) पलकरूपी पंखों को नई रीति से सँवार कर [भ्रूहाँरे भ्रमर भ्रमिया] (उनके चंचल) भौंहरूपी भ्रमर उड़ने लगे हैं ॥२०॥

मल़याचल़ सुतनु मल़ै मन मौरे
कल़ी कि काम अङ्कूर कुच
तणौ दखिणदिसि दखिण त्रिगुणमै
ऊरध सास समीर उच ॥२१॥

[सुतनु मल़याचल़] (श्रीरुक्मिणी का) सुंदर अङ्गदेश ही मलयाचल है; [मन मल़ै मौरे] (उनके) मनरूपी मलयतरु में (युवावस्था की उमंगों रूपी) मंजरी निकल रही है; [काम अङ्कूर कुच कि कल़ी] कामदेव के (नव प्रस्फुटित) अंकुरस्वरूप (उनके नवोद्भूत) कुच ही (क्या हैं) मलय तरु की कलियें हैं। [ऊरध सास दखिण दिसित णौ त्रिगुणमै दखिण समीर उच] (और उनके) श्वासोच्छ्वास को ही दक्षिण दिशा का त्रिगुणमय (शीतल, मंद, सुगन्ध) मलयज (दाक्षिणात्य) समीर कहना चाहिए ॥२१॥

आणँद सु जु उदौ उहास हास अति
राजति रद रिखपन्ति रुख।
नयण कमोदणि दीप नासिका
मेन केस राकेस मुख ॥२२॥

[आणँद जु सु उदौ] (रुक्मिणी के हृदय में विकसित होता हुआ) आनन्द जो है वही (चन्द्र का) उदय है; [अति हास उहास] (यौवनसहज) अति हँसना ही (चन्द्र का) प्रकाश है; [रद रिखपन्ति रुख राजति] (उनके) दाँत ही तारों की पंक्ति की भाँति शोभित हो रहे हैं; [नयण कमोदणि] (उनके) नेत्र ही कुमुदिनी हैं; [नासिका दीप] (उनकी) नासिका ही दीपशिखा है; [केस मेन] (उनके काले) केश ही अंधकार हैं, [मुख राकेस] (और उनका) मुख ही पूर्णिमा का चन्द्र है ॥२२॥

वधिया तनि सरवरि वेस वधन्ती
जोवण तणौ तणौ जल़ जोर।
कामणि करग सु बाण काम रा
दोर सु वरुण तणा किरि डोर ॥२३॥

[वेस वधन्ती] अवस्था के बढ़ते [तनि सरवरि वधिया] शरीररूपी रात्रि (भी) चढ़ती गई, [जोवण तणौ जोर जल़तणौ (जोर)] (और) यौवन का जोर (उमड़ना) ही (चन्द्र की बढ़ती हुई कला के प्रभाव से उत्पन्न) जल का जोर है। [कामणि करग सु काम रा बाण] कामिनी (श्रीरुक्मिणी) का कराग्र (हाथ का पंजा) ही कामदेव (पंचबाण) के बाण हैं, [दो सु किरि वरुण तणा डोर] (और उनकी) भुजाएँ ही मानो वरुण का पाश हैं ॥२३॥

कामिणि कुच कठिन कपोल़ करी किरि
वेस नवी विधि वाणि वखाणि।

अति स्यामता विराजति ऊपरि
जोवण दाण दिखालिया जाणि ॥२४॥

[वेस नवी विधि] तारुण्य के नवीन विधान (आनबान) को [वाणि वखाणि] (कवि की) बाणी (इस प्रकार) बखानती है। [कामिणि कठिन कुच] कामिनी के कठिन कुच [किरि] मानो [करी कपोल] (मस्त) हाथी का कुम्भस्थल हैं। [ऊपरि अति स्यामता विराजति] (और उनके) ऊपर सघन (सुंदर) श्यामता विराजती है, [जाणि] मानो [जोवण दाण दिखालिया] (मस्त हाथी की भाँति) यौवन ने मद दिखलाया है ॥ २४॥

धरधर शृंग सधर सुपीन पयोधर
घणीं खीण कटि अति सुघट।
पदमणि नाभि प्रियाग तणी परि
त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट ॥२५॥

[सधर सुपीन पयोधर] कठिन और सुन्दर परिपूर्ण पयोधर ही [धरधर शृंग] सुमेरु गिरि के शिखर हैं। [कटि घणीं खीण अति सुघट] कटि बहुत ही पतली और सुघड़ (चढ़ाव उतार में सुन्दर) है। [पदमणि नाभि प्रियाग तणीं परि] (उनकी) पद्मिणी स्त्रियोचित (उसके सम्पूर्ण शुभलक्षणों से युक्त) नाभि प्रयाग की भाँति है, [त्रिवलि त्रिवेणी स्रोणि तट] (जहाँ) त्रिवलि त्रिवेणी है (और) नितम्ब किनारे हैं ॥२५॥

नितम्बणी जङ्घ सु करभ निरूपम
रम्भ खम्भ विपरीत रुख।
जुअलि नालि तसु गरभ जेहवी
वयणै वाखाणै विदुख ॥२६॥

[नितम्बणी जङ्घ सु करभ निरूपम] सुन्दर नितम्बोंवाली (रुक्मिणी) की जङ्घायें करभ के समान निरुपमेय (अपूर्व) हैं, [विदुख वयणे वाखाणै] (जिनका) विद्वान् लोग (इस तरह के) वचनों द्वारा वर्णन करते हैं, [विपरीत रुख रम्भ खम्भ] (मानो) उलटे खड़े किये हुए कदली खम्भ हैं [जुअलि नालि तसु गरभ जेहवी] (और उनकी) युगल नलिकाएँ उसके (कदली वृक्ष के) गूदे के समान (कोमल) हैं ॥२६॥

ऊपरि पदपलव पुनर्भव ओपति
त्रिमल कमल दल ऊपरि नीर ।
तेज कि रतन कि तार कि तारा
हरिहँस सावक ससिहर हीर ॥२७॥

[पदपलव ऊपरि पुनर्भव ओपति] (रुक्मिणी के) पदपल्लव पर नख (ऐसे) शोभा देते हैं, [त्रिमल कमल दल ऊपरि नीर] (जैसे) स्वच्छ कमल की पँखुड़ियों पर पानी (के कण); [कि रतन तेज कि तार कि तारा] अथवा रत्नों का तेज है अथवा तारों का प्रकाश है; [हरिहँस सावक ससिहर हीर] या बाल-सूर्य्य हैं या बालचन्द्र हैं अथवा हीरे हैं ॥२७॥

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि
वेद च्यारि खट अङ्ग विचार ।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी
अनँत अनँत तसु मधि अधिकार ॥२८॥

[व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि] (रुक्मिणी ने) (अष्ट) व्याकरण (अष्टादश) पुराण, (अष्टादश) स्मृति, (षट्) शास्त्र की रीति, [च्यारि वेद खटअङ्ग विचार] चार वेद और षट् वेदाङ्ग (षट् दर्शन) (आदि पर) विचार करके [चतुरदस जाणि चौसठि

जाणी] चौदह विद्याओं को जान कर चौसठ कलाओं को जाना; [तसु मधि अनँत अनँत अधिकार] (और) उनमें (शास्त्रादि में) श्रीभगवान् का अनन्त अधिकार पाया ॥२८॥

साँभलि अनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वञ्छती वर ।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर
हर तिणि वन्दे गवरि हर ॥२९॥

[साँभलि] (शास्त्रोक्त भगवद्गुणानुवाद को) समझ कर [स्यामा मन अनुराग थयौ] श्यामा (रुक्मिणी) के मन में (भगवान् के प्रति) प्रेम उत्पन्न हुआ। [वर वर प्रापति वञ्छती] श्रेष्ठ वर का प्राप्ति की इच्छा करती हुई [हरि गुण भणि] भगवान् के गुणों का परिशीलन करके [जिका हर ऊपणी] जो (भगवान् के प्रति) प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई [हर तिणि] उस (प्रबल इच्छा) के लिए (उसकी पूर्त्ति के लिए) [हर गवरि वन्दे] (रुक्मिणी) महादेव और पार्वती का पूजन करने लगीं ॥२९॥

ईखे पित मात एरिसा अवयव
विमल विचार करै वीवाह ।
सुन्दर सूर सील कुल करि सुध
नाह किसन सरि सूझै नाह ॥३०॥

[पित मात एरिसा अवयव ईखे] (रुक्मिणी के) माता पिता ने (जब) इस प्रकार के चिह्न देखे, [विवाह विमल विचार करै] (तब) विवाह (करने) का शुभ विचार करने लगे। [सुन्दर सूर सील कुल करि सुध] (तब उन्हें) सुन्दरता, शूरवीरता, शील और कुल में श्रेष्ठ [किसन सरि नाह सूझे नाह] श्रीकृष्ण के समान (दूसरा) वर दिखाई नहीं दिया ॥३०॥

प्रभणन्ति पुत्र इम मात पिता प्रति
अम्हाँ वासना वसी इसी ।
ग्याति किसी राजवियाँ ग्वाल़ाँ
किसी जाति कुल़ पाँति किसी ॥३१॥

[पुत्र माता पिता प्रति इम प्रभणन्ति] (माता पिता के प्रस्ताव को सुनकर) कुँवर रुक्मि माता पिता से इस प्रकार कहने लगा, [अम्हाँ इसी वासना वसी] हमारी तो ऐसी धारणा है [राजवियाँ ग्वाल़ाँ ग्याति] (कि) राजवंशियों का (गाय चरानेवाले) अहीरों के साथ ज्ञाति भाव कैसा ? [जाति किसी] (हमारी तुलना में कृष्ण की) जाति (ही) कैसी ? [कुल़ पाँति किसी] (और) कैसी (उसकी) कुलश्रेणी ॥३१॥

सुजु करै अहीराँ सरिस सगाई
ओलाँडे राजकुल़ इता ।
त्रिधपणै मति कोइ वेसासौ
पाँतरिया माता इ पिता ॥३२॥

[इता राजकुल़ ओलाँडे] इतने राजकुलों को उलाँघ कर [जु अहीराँ सरिस सगाई करै] जो अहीरों जैसों (हीन कुलवालों) से सगाई करते हैं, [त्रिधपणै माता पिता पाँतरिया] (सो) वृद्धावस्था के कारण माता पिता बुद्धिहीन हो गये हैं । [कोइ वेसासौ मति] कोई (इनका) विश्वास न करे ॥३२॥

प्रभणै पित मात पूत मत पाँतरि
सुर नर नाग करै जसु सेव ।
लिखमी समी रुकमणी लाडी
वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥३३॥

[पित मात प्रभणै] माता पिता कहते हैं [पूत मत पाँतरि] हे पुत्र, मूर्खता मत कर। [जसु सुर नर नाग सेव करै] जिनकी सुर, नर और नाग सेवा करते हैं [लाडी रुकमणी लिखमी समी] (वह) प्यारी रुक्मिणी लक्ष्मी के समान है [वसुदेव सुत वासुदेव सम] (और) वसुदेव के पुत्र (श्रीकृष्ण) विष्णु के समान हैं (साक्षात् विष्णु के अवतार हैं) ॥३३॥

मावीत्र म्रजाद मेटि बोलै मुखि
सुवर न को सिसुपाल़ सरि।
अति अंबु कोपि कुँवर ऊफणियौ
वरसाल़ू वाहल़ा वरि ॥३४॥

[अति अँबु वरसाल़ू वाहल़ा वरि] अत्यधिक पानीवाले बरसने को उद्यत बादल की भाँति [कुँवर कोपि ऊफणियौ] कुँवर (रुक्मि) कुपित होकर उफण पड़ा [मावीत्र म्रजाद मेटि] (और) माता पिता की मर्यादा को (आज्ञापालन, सम्मान इत्यादि शिष्ट कर्त्तव्यों को) मिटाकर [बोलै मुखि] मुँह से बोला, [सिसुपाल़ सरि सुवर न को] शिशुपाल के समान श्रेष्ठ वर (और) कोई नहीं है ॥३४॥

गुरु गेहि गयौ गुरु चूक जाणि गुरु
नाम लियौ दमघोख नर।
हेक वडौ हित हुवै पुरोहित
वरै सुसा सिसुपाल़ वर ॥३५॥

[गुरु चूक] माता पिता की ग़लती को [गुरु जाणि] भारी जानकर, [गुरु गेहि गयौ] गुरु के घर गया, [दमघोख नर नाम लियौ] (और) दमघोष के वीर पुत्र (शिशुपाल) का नाम लिया, (और कहा) [पुरोहित हेक वडौ हित हुवै] हे पुरोहितजी, एक बड़ा

हित हो, [सुसा वर सिसुपाल् वरै] (यदि) बहिन (रुक्मिणी) श्रेष्ठ शिशुपाल को वरे ॥३५॥

विप्र विलँब न कीध जेणि आइस वसि
बात विचारि न भली बुरी ।
पहिलुँइ जाइ लगन ले पुहतौ
प्रोहित चन्देवरी पुरी ॥३६॥

[जेणि आइस वसि] उसकी (रुक्मि की) आज्ञा के वश में होकर [विप्र विलँब न कीध] पुरोहित ने विलम्ब न किया। [भली बुरी बात न विचारि] (और) भली बुरी बात को न विचार कर [पहिलुँ इ] (सोचने से) पहिले ही [प्रोहित जाइ चन्देवरी पुरी लगन ले पुहँतौ] पुरोहित रवाने होकर चन्देरीपुरी में विवाह-लग्न ले पहुँचा ॥३६॥

हुइ हरख घणौ सिसुपाल् हालियौ
ग्रंथे गायौ जेणि गति ।
कुण जाणै सँगि हुआ केतला
देस देस चा देसपति ॥३७॥

[घणौ हरख हुइ] अत्यन्त हर्षित होकर [सिसुपाल् हालियौ] शिशुपाल (कुन्दनपुर को) रवाना हुआ, [जेणि गति ग्रन्थे गायौ] जिसकी गति ग्रन्थों (श्रीमद्भागवतादि में) वर्णित की गई है। [कुण जाणै देस देस चा केतला देसपति सँगि हुआ] कौन जाने, देश देश के कितने राजा (उसके) साथ हुए (उसकी बरात में सम्मिलित हुए) ॥३७॥

आगमि सिसुपाल् मण्डिजै ऊछव
नीसाणे पड़ती निहस ।
पटमण्डप छाइजै कुंदणपुरि
कुन्दणमै बाझै कलस ॥३८॥

[सिसुपाल् आगमि] शिशुपाल की अगवानी में [ऊछव मण्डिजै] उत्सव मनाये जाते हैं; [नीसाणे निहस पड़ती] नगारों पर चोट पड़ रही है; [कुंदणपुरि पटमण्डप छाइजै] कुंदनपुर में वस्त्रों के मंडप छाये जा रहे हैं, [कुंदणमै कलस बाम्फै] (और उन पर) सुवर्णमय कलश बाँधे जा रहे हैं ॥३८॥

ग्रिह ग्रिह प्रति भींति सुगारि हींगल्
ईँट फिटकमै चुणी अचम्भ ।
चन्दण पाट कपाट ई चन्दण
खुम्भी पनाँ प्रवाली खम्भ ॥३९॥

[ग्रिह ग्रिह प्रति भींति हींगल् गारि फिटकमै ईँट चुणी] (स्वागतार्थ नवनिर्मित) घर घर की प्रत्येक भींत हींगलू की गार और स्फटिकमय ईंटों से चुनी गई है, [सु अचम्भ] सो आश्चर्यजनक है। [चन्दण पाट] (उन घरों की छतों में) चन्दन के पाट [कपाट ई चन्दण] (और द्वारों पर) चन्दन के ही कपाट हैं। [प्रवाली खम्भ] मूँगे के खम्भे हैं, [खुम्भी पनाँ] (जिनकी) खुम्भियें (नीचे के भाग) पन्ने की (बनी हुई) हैं ॥३९॥

जोइ जलद पटल् दल् साँवल् ऊजल्
घुरै नीसाण सोइ घणघोर ।
प्रोलि प्रोलि तोरण परठीजै
मण्डै किरि तण्डव गिरि मोर ॥४०॥

[जोइ साँवल् ऊजल् पटल् दल् जलद] जो श्याम और श्वेत रेशमी कपड़ों के समूह हैं (जो मंडप बनाने में लगाये गये हैं, वे ही) बादल हैं; [घुरै नीसाण सोइ घणघोर] (जो) नगारे बजते हैं वही मेघ-गर्जन हैं; [प्रोलि प्रोलि मोर मण्डे तोरण परठीजै] (और) द्वार

द्वार पर मयूर-चित्रित तोरण बाँधे जा रहे हैं, [किरि] (वही) मानो [गिरि मोर तण्डव] पहाड़ों पर मयूरों का नृत्य है ॥४०॥

राजान जान सँगि हुंता जु राजा
कहै सु दीध ललाटि कर।
दूरा नयर कि कोरण दीसै
धवलागिरि किना धवलहर ॥४१॥

[राजान जान सँगि हुंता जु राजा] राजा (शिशुपाल) की बरात के साथ जो राजा थे, [सु ललाटि कर दीध कहै] वे ललाट से (आँखों के ऊपर) हाथ लगाकर कहते हैं [दूरा] (कि) दूर पर [नयर कि कोरण] नगर या श्वेत बादल, [धवलागिरि किना धवलहर] धवलागिरि या (ऊँचे ऊँचे) सफ़ेद महल [दीसै] दिखाई देते हैं ॥४१॥

गावै करि मङ्गल चढ़ि चढ़ि गौखे
मनै सूर सिसुपाल मुख।
पदमिणि अनि फूलै परि पदमिणि
रुखमिणी कमोदणी रुख ॥४२॥

[मङ्गल करि] (नगर की स्त्रियाँ) धवल मंगल करके [गौखे चढ़ि चढ़ि गावै] झरोखों में चढ़ चढ़कर गा रही हैं, [मनै सिसुपाल मुख सूर] मानो शिशुपाल का मुख सूर्य है, [अनि पदमिणि पदमिणि परि फूलै] (जिसे देख कर) अन्य पद्मिनी स्त्रियाँ कमलिनी के समान प्रफुल्लित हो रही हैं। [रुखमिणी कमोदणी रुख] (परन्तु) रुक्मिणी कुमुदिनी की भाँति (हो रही है) ॥४२॥

जाली मगि चढ़ि चढ़ि पन्थी जोवै
भुवणि सुतन मन तसु भिलित।

लिखि राखे कागल़ नख लेखणि
मसि काजल़ आँसू मिल़ित ॥४३॥

[चढ़ि चढ़ि जाल़ी मगि पन्थी जोवै] (महलों पर) चढ़ चढ़कर जाली से मार्ग में पथिकों को देखती हैं। [भुवणि सुतन] (रुक्मिणी का) सुंदर शरीर (तो) घर में है, [मन तसु भिल़ित] (परन्तु) मन उससे (श्रीकृष्ण से) मिल गया है। [नख लेखणि आँसू मिल़ित काजल़ मसि कागल़ लिखि राखे] (जिनके लिये) नख को लेखनी बनाकर आँसू मिली हुई काजल की स्याही से पत्र लिख रखा है ॥४३॥

तितरै हेक दीठ पवित्र गल़ित्रागौ
करि प्रणपति लागी कहण।
देहि सँदेस लगी दुवारिका
वीर वटाऊ व्राहमण ॥४४॥

[तितरै हेक पवित्र गल़ित्रागौ दीठ] इतने में एक पवित्र, गले में यज्ञोपवीत धारण किया हुआ (ब्राह्मण) दीख पड़ा। [प्रणपति करि कहण लागी] (उसे) प्रणाम कर कहने लगीं [वीर वटाऊ व्राहमण] हे भाई, पथिक ब्राह्मण! [दुवारिका लगि सँदेस देहि] द्वारिका तक (मेरा) संदेश दे आना ॥४४॥

म म करिसि ढील हिव हुए हेकमन
जाइ जादवाँ इन्द्र जत्र।
माहरै मुख हुँता ताहरै मुखि
पग वन्दण करि देइ पत्र ॥४५॥

[हिव ढील म म करिसि] अब ढील (विलम्ब) मत कर, [हुए हेक मन जाइ] एकाग्र मन होकर जा [जत्र जादवाँ इन्द्र] जहाँ

पर यादवेन्द्र हैं। [माहरै मुख हुँता ताहरै मुखि पग वन्दण करि] (और) मेरे मुख से कहा हुआ पगवन्दन तुम अपने मुख से कह कर [पत्र देइ] पत्र देना ॥४५॥

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह
रहरह कोइ वह रहे रह ।
सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ
निसा पड़ी चालियौ नह ॥४६॥

[रवि किरण गई] (ब्राह्मण के द्वारिका को प्रस्थान करते समय) सूर्य की किरणें विलीन हो गई, [ग्रहे गहमह थई] (और) घर घर में (दीपकों की) जगमगाहट हुई। [रहरह कोई रह वह रहे] "ठहर जाओ," "ठहर जाओ" (ऐसा कहते हुए) कोई (मुसाफ़िर) राह चलते रुक गये । [सु जु दुज पुरा नीसरे सूतौ] वह ब्राह्मण भी कुन्दनपुर से निकल कर सो गया; [निसा पड़ी चालियौ नह] रात हो जाने से (आगे) नहीं चला ॥४६॥

दिन लगन सु नैड़ो दूरि द्वारिका
भौ पहुचेस्याँ किसी भति ।
साँझ सोचि कुन्दणपुरि सूतौ
जागियौ परभाते जगति ॥४७॥

[लगन दिन सु नैड़ो] विवाह का दिन तो निकट है; [द्वारिका दूरि] (और) द्वारिका दूर है। [भौ किसी भति पहुचेस्याँ] भय है कि किस प्रकार पहुँचूँगा। [सोचि साँझ कुंदनपुरि सूतौ] (यह) चिन्ता कर सन्ध्या को कुन्दनपुर (के पास ही) सोया, [परभाते जगति जागियौ] (परन्तु) सवेरे द्वारिकापुरी में जागा ॥४७॥

धुनि वेद सुणति कहुँ सुणति संख धुनि
नद झल्लरि नीसाण नद ।
हेका कह हेका हीलोहल
सायर नयर सरीख सद ॥४८॥

[वेद धुनि सुणति कहुँ संख धुनि सुणति] (जागने पर ब्राह्मण को) कहीं वेदपाठ की ध्वनि सुनाई दी, कहीं संख की ध्वनि सुनाई दी; [झल्लरि नद नीसाण नद] (कहीं) झालर की झंकार (तो कहीं) नगाड़े का नाद (सुनाई दिया) । [हेका कह] एक ओर (नगर-निवासियों के बोलने के) कोलाहल, [हेका हीलोहल] (और) एक ओर (समुद्र की हिलोरों के) हिल्लोल शब्द (के कारण) [सायर नयर सरीख सद] सागर और नगर एक ही समान शब्दायमान हो रहे थे ॥४८॥

पणिहारि पटल् दल् वरण चँपक दल्
कल्स सीस करि कर कमल् ।
तीरथि तीरथि जङ्गम तीरथ
विमल् ब्राहमण जल् विमल् ॥४९॥

[चँपक दल् वरण पणिहारि पटल् दल्] चंपक पुष्प की पंखुड़ी के समान वर्णवाली पनिहारियों के वृंद के वृंद [सीस कर कमल् कल्स करि] शिर पर, कमल के समान हाथों से कलश थामे हुए हैं । [विमल् जल् तीरथि तीरथि] निर्मल जलयुक्त तीर्थ तीर्थ (जलाशय जलाशय) पर [विमल् ब्राहमण जङ्गम तीरथ] पवित्र ब्राह्मण चलते फिरते तीर्थ हैं ॥४९॥

जोवै जाँ ग्रहि ग्रहि जगन जागवै
जगनि जगनि कीजै तप जाप ।

मारगि मारगि अम्ब मौरिया
अम्बि अम्बि कोकिल आलाप ॥५०॥

[जाँ जोवै] (वह ब्राह्मण) जहाँ देखता है [गृहि गृहि जगन जागवै] घर घर में यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो रही है, [जगनि जगनि तप जाप कीजै] (और) प्रत्येक यज्ञ में जप तप किये जा रहे हैं। [मारगि मारगि अम्ब मौरिया] मार्ग मार्ग पर आम के वृक्ष मंजरीयुक्त हो रहे हैं; [अम्बि अम्बि कोकिल आलाप] (और) प्रत्येक आम के पेड़ पर कोयलों का (मधुर) आलाप हो रहा है ॥५०॥

सम्प्रति ए किना किना ए सुहिणौ
आयौ कि हूँ अमरावती।
जाइ पूछियौ तिणि इमि जम्पियौ
देव सु आ दुआरामती ॥५१॥

[किना ए सम्प्रति] क्या यह प्रत्यक्ष है? [किना ए सुहिणौ] या यह स्वप्न है? [कि हूँ अमरावती आयौ] या मैं इन्द्रपुरी में आ गया हूँ? (इस प्रकार संदेह में पड़े हुए उस ब्राह्मण ने) [जाइ पूछियो] जिससे पूछा [तिणि इम जम्पियौ] उसने इस प्रकार कहा, [देव आ सु दुआरामती] कि हे ब्राह्मण, यह सुन्दर द्वारिकापुरी है ॥५१॥

सुणि स्रवणि वयण मन माहि थियौ सुख
क्रमियौ तासु प्रणाम करि।
पूछत पूछत ग्यौ अन्तहपुरि।
हुऔ सुदरसण तणौ हरि ॥५२॥

[स्रवणि वयण सुनि] कान से (यह) वचन सुनकर [मन माहि सुख थियौ] मन में प्रसन्नता हुई। [तासु प्रणाम करि क्रमियौ] उसे

प्रणाम करके (आगे) चला, [पूछत पूछत अन्तहपुरि ग्यौ] (और) पूछते पूछते रणवास में गया, [हरि तणौ सुदरसण हुऔ] (तब) हरि का शुभ दर्शन हुआ ॥५२॥

वदनारविन्द गोविन्द वीखियै
आलोचै आपो आप सूँ ।
हिव रुषमणी कृतारथ हुइस्यै
हुऔ कृतारथ पहिलौ हूँ ॥५३॥

[गोविन्द वदनारविन्द वोखियै] श्रीकृष्ण के मुख कमल को देख कर [आपो आप सूँ आलोचै] (वह ब्राह्मण) आप ही आप विचार करने लगा। [रुषमणी हिव कृतारथ हुइस्यै] रुक्मिणी अब सफल-मनोरथ होंगी; [हूँ पहिलौ कृतारथ हुऔ] मैं (तो) पहिले ही कृत-कृत्य हो गया ॥५३॥

ऊठिया जगतपति अन्तरजामी
दूरन्तरो आवतौ देखि ।
करि वन्दण आतिथ ध्रम कीधो ।
वेदे कहियौ तेणि विसेखि ॥५४॥

[दूरन्तरी आवतौ देखि] दूर ही से (ब्राह्मण को) आता देख कर [अन्तरजामी जगतपति ऊठिया] अन्तर्यामी जगदीश्वर (श्रीकृष्ण) उठे, [वन्दण करि वेदे कहियौ तेणि विसेखि आतिथ ध्रम कीधो] (और) प्रणाम करके शास्त्रोक्त विधि से भी अधिक अतिथिसत्कार किया ॥५४॥

कस्मात् कस्मिन किल मित्र किमर्थं
केन कार्य परियासि कुत्र ।
ब्रूहि जनेन येन भो ब्राह्मण
पुरतो मे प्रेषितम् पत्र ॥५५॥

भगवान् ने ब्राह्मण से पूछा—

[मित्र] हे मित्र ! [कस्मात्] किस स्थान से (आये हो) ? [कस्मिन्] किस नगर में रहते हो ? [किल] अवश्य कहो, [किमर्थं] किस प्रयोजन से (यहाँ आये हो) ? [केन कार्यं] किससे कार्य है ? [कुत्र परियासि] कहाँ जा रहे हो ? [भो ब्राह्मण] हे ब्राह्मण ! [येन जनेन पत्र प्रेषितम् मे पुरतो ब्रूहि] जिस मनुष्य ने पत्र भेजा (उसको) मेरे सामने कहो ॥५५॥

कुन्दणपुर हुँता वसाँ कुन्दणपुरि
काग़ल दीधो एम कहि ।
राज लगैं मेल्हियौ रुषमणी
समाचार इणि माहि सहि ॥५६॥

ब्राह्मण ने उत्तर दिया—

[कुंदणपुर हुँता] कुंदनपुर से (आया हूँ); [कुंदणपुरि वसाँ] कुंदनपुर में रहता हूँ । [एम कहि काग़ल दीधो] यह कह कर पत्र दिया [राज लगैं रुषमणी मेल्हियौ] (कि यह) आपके लिये रुक्मिणी ने भेजा है, [इणि माहि सहि समाचार] इसमें सारे समाचार हैं ॥५६॥

आणन्द लखण रोमाञ्चित आँसू
वाचत गदगद कँठ न वणै ।
काग़ल करि दीधौ करुणाकरि
तिणि तिणि हीज ब्राहमण तणै ॥५७॥

[आणन्द लखण रोमाञ्चित आँसू गदगद कंठ वाचत न वणै] (पत्र हाथ में लेते ही भगवान् के अंगों में) आनन्द के लक्षण (प्रकट

हुए), (शरीर) रोमाञ्चित हुआ, (आनन्द के) आँसू (निकल आये) और कंठ गद्‌गद (हो जाने के कारण पत्र को) पढ़ते न बना। [करुणाकरि तिणि कागल़ तिणि हीज ब्राहमण तणै करि दीधौ] (तब) करुणानिधि ने उस पत्र को उस ब्राह्मण ही के हाथ में दे दिया ॥५७॥

देवाधिदेव चै लाधै दूवै
वाचण लागौ ब्राहमण।
विधि पूरबक कहे वीनवियौ
सरण तूझ असरण सरण ॥५८॥

[देवाधिदेव चै दूवै लाधै] देवाधिदेव (श्रीकृष्ण) को आज्ञा-लाभ कर [ब्राहमण वाचण लागौ] ब्राह्मण (पत्र) पढ़ने लगा। [विधि पूरबक वीनवियौ कहे] (वह) विधिपूर्वक (पत्र में) निवेदन किये हुए को कहने लगा—[असरण सरण तूझ सरण] "हे अशरणशरण! मैं (रुक्मिणी) तेरी शरण हूँ" ॥५८॥

बलि़बन्धण मूझ स्याल़ सिङ्घ बलि़
प्रासै जो बीजौ परणै।
कपिल़ धेनु दिन पात्र कसाई
तुल़सी करि चाण्डाल़ तणै ॥५९॥

[बलि़बन्धण] "हे बलि को बाँधनेवाले! [मूझ जो बीजौ परणै] मुझे यदि कोई दूसरा ब्याहेगा, [सिङ्घ बलि़ स्याल़ प्रासै] (तो मानो) सिंह की बलि को शृगाल भक्षण करेगा; [कपिल़ धेनु कसाई पात्र दिन] कपिला गाय कसाई जैसे पात्र (अर्थात् कुपात्र) के हाथ दी जायगी; [चाण्डाल़ तणै करि तुल़सी] (और मानो) चाण्डाल के हाथ में तुलसी (दी जायगी)" ॥५९॥

अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणै
ऐठित किरि होमै अगनि ।
सालिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि
वेद मंत्र म्लेच्छाँ वदनि ॥९०॥

[अम्ह कजि तुम्ह छण्डि अवर वर आणै] "मेरे लिये आपको छोड़ कर (यदि) दूसरा वर लावे, [किरि] तो मानो [ऐठित अगनि होमै] उच्छिष्ट वस्तु अग्नि में हवन करे; [सालिगराम सूद्र ग्रहि संग्रहि] शालिग्राम का शूद्र के घर में स्थापन करे; [म्लेच्छाँ वदनि वेद मंत्र] (अथवा) म्लेच्छ के मुँह से वेद-मंत्र का उच्चारण हो" ॥९०॥

हरि हुए वराह हए हरिणाकस
हूँ ऊधरी पताल हूँ ।
कहौ तई करुणामै केसव
सीख दीध किण तुम्हाँ सूँ ॥९१॥

[हरि] "हे हरि ! [हुए वराह हए हरिणाकस] (आपने) वराह होकर (वराहावतार धारण करके) हिरण्याक्ष को मारा, [हूँ ऊधरी पताल हूँ] (और पृथ्वीरूप में) मेरा पाताल से उद्धार किया; [करुणामै केसव कहौ] हे करुणामय केशव ! कहिये, [तई तुम्हाँ सूँ किण सीख दीध] उस समय आपको किसने शिक्षा दी थी ?"॥९१॥

आणे सुर असुर नाग नेत्रै नहि
राखियौ जई मंदर रई ।
महण मथे मूँ लीध महमहण
तुम्हाँ किणै सीखव्या तई ॥९२॥

[महमहण] "हे समुद्र के मंथन करनेवाले ! [जई] जब [सुर असुर आणे] (आपने) देवता और दैत्यों को एकत्रित कर [नागनेत्रै नहि] शेषनाग को मन्थनरज्जु बना कर [मंदर रई राखियौ] मन्दराचल पर्वत को मंथन-दण्ड रखा था, [महण मथे मूँ लीध] (और) महार्णव को मथ कर (लक्ष्मी रूप में) मुझे प्राप्त किया [तई तुम्हाँ किणै सीखव्या] उस समय आपको किसने शिक्षा दी थी ?" ॥६२॥

रामा अवतारि वहे रणि रावण
किसी सीख करुणाकरण ।
हूँ ऊधरी त्रिकुटगढ़ हूँती
हरि बन्धे वेलाहरण ॥६३॥

[करुणाकरण हरि] "हे करुणा करनेवाले हरि ! [किसी सीख] कौन सी शिक्षा से [रामा अवतारि रणि रावण वहे] रामावतार के समय युद्ध में (आपने) रावण का वध किया, [वेलाहरण बन्धे] समुद्र को बाँधा [त्रिकुटगढ़ हूँती हूँ ऊधरी] (और) लंका से (सीतारूप में) मेरा उद्धार किया ?" ॥६३॥

चौथीआ वार वाहर करि चत्रभुजा
सङ्ख चक्र धर गदा सरोज ।
मुख करि किसूँ कहीजै माहव
अन्तरजामी सूँ आलोज ॥६४॥

[सङ्ख चक्र गदा सरोज धर चत्रभुजा] "हे शंख-चक्र-गदा-पद्म-धर चतुर्भुज ! [चौथीआ वार वाहर करि] चौथी यह वार है, रक्षा के लिये चढ़िए। [माहव अन्तरजामी सूँ आलोज मुख करि किसूँ कहीजै] हे माधव ! अन्तर्यामी से मन के विचार, मुख से कैसे कहे जायँ" ॥६४॥

तथापि रहे न हूँ सकूँ बकूँ तिणि
त्रिया अनै प्रेम आतुरी ।
राज दूरि द्वारिका विराजौ
दिन नेड़उ आइयौ दुरी ॥६५॥

[तथापि] "(आपसे कुछ छिपा नहीं है) तो भी [हूँ रहे न सकूँ] मैं रह नहीं सकती [तिणि बकूँ] इसी से बक रही हूँ; [त्रिया अनै प्रेम आतुरी] (क्योंकि एक तो) स्त्री हूँ, दूसरे, प्रेम से आतुर हूँ। [राज दूरि द्वारिका विराजौ] आप (बहुत) दूर द्वारिका में विराजते हैं, [दुरी दिन नेड़उ आइयौ] (और) दुखदायी दिवस निकट आ गया है" ॥६५॥

त्रिणि दीह लगन वेला आड़ा तै
घणूँ किसूँ कहिजै आ घात ।
पूजा मिसि आविसि पुरखोतम
अम्बिकालय नयर आरात ॥६६॥

[तै लगन वेला आड़ा त्रिणि दीह] "उस विवाह की घड़ी में केवल तीन दिन का अन्तर है; [आ घात घणूँ किसूँ कहीजै] यह षड्यंत्र (इस षड्यंत्र के विषय में) अधिक क्या कहा जाय? [पुरखोतम नयर आरात अम्बिकालय पूजा मिसि आविसि] हे पुरुषोत्तम ! (मैं) नगर के निकट अम्बिका के मन्दिर में पूजा के बहाने आऊँगी" ॥६६॥

सारङ्ग सिलीमुख साथि सारथी
प्रोहित जाणणहार पथ ।
कागल़ चौ ततकाल़ कृपानिधि
रथ बैठा साँभलि अरथ ॥६७॥

[कागल़ चौ अरथ साँभलि़] पत्र का आशय समझ कर, [सारङ्ग सिलीमुख सारथी प्रोहित पथ जाणणहार साथि] शारङ्ग, धनुष, बाण, सारथी, पुरोहित और मार्ग जाननेवाले के साथ [कृपा-निधि ततकाल़ रथ बैठा] कृपानिधि (श्रीकृष्ण) तुरंत रथ में जा बैठे ॥६७॥

सुग्रीवसेन नै मेघपुह्प सम-
वेग बल़ाहक इसै वहन्ति ।
खँति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै
धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति ॥६८॥

[सुग्रीवसेन, मेघपुह्प, समवेग नै बल़ाहक इसै वहन्ति] सुग्रीव-सेन, मेघपुष्प, समवेग और बलाहक (घोड़े) ऐसे (वेग से) चल रहे हैं, [धर गिरि पुर साम्हा धावन्ति] (कि) पृथ्वी, पर्वत और नगर सामने दौड़े आते हैं; [खँति लागौ त्रिभुवन पति खेड़ै] (और) लगन में लगे हुए त्रिलोकीनाथ भी (उनको ऐसी तेज़ी से) हाँक रहे हैं ॥६८॥

रथ थम्भि सारथी विप्र छण्डि रथ
औ पुर हरि बोलिया इम ।
आयौ कहि कहि नाम अम्हीणौ
जा सुख दे स्यामा नै जिम ॥६९॥

[हरि इम बोलिया] (कुंदनपुर के पास पहुँच कर) भगवान् इस प्रकार बोले, [औ पुर] यह नगर है, [सारथी रथथम्भि, विप्र रथ छण्डि] सारथी ! रथ को रोको, हे विप्र ! रथ को छोड़ो । [जा अम्हीणौ नाम कहि, आयौ कहि] जाओ, (और) हमारा नाम कह कर कहो कि आ गये, [जिम स्यामा नै सुख दे] जिस प्रकार श्यामा (रुक्मिणी) को सुख दे सको ॥६९॥

रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि
कीध न इवड़ी ढील कई ।
चिन्तातुर चित इम चिन्तवती
थई छींक तिम धीर थई ॥७०॥

[रुषमणि जाणियौ हरि रहिया सही] रुक्मिणी ने जाना कि भगवान रह गये इसमें सन्देह नहीं [इवड़ी ढील कई न कीध] (क्योंकि उन्होंने) इतनी ढील (पहले) कभी नहीं की । [चिन्तातुर चित इम चिन्तवती] चिन्ता से आतुर चित्त में (रुक्मिणी) इस प्रकार चिन्ता कर रही थीं, [छींक थई तिम धीर थई] कि छींक हुई; त्योंही (उन्हें) धैर्य्य हुआ ॥७०॥

चलपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित
सकै न रहति न पूछि सकन्ति ।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ
तिम तिम मुख धारणा तकन्ति ॥७१॥

[दुज देखे चित चलपत्र पत्र थियौ] ब्राह्मण को देखकर (रुक्मिणी का) चित्त पीपल के पत्ते की तरह (चंचल) होगया, [न रहति सकै न पूछि सकन्ति] न तो (कृष्ण का संवाद पूछे बिना) रह ही सकती है और न पूछ ही सकती । [औ जिम जिम आसन्नौ आवै तिम तिम मुख धारणा तकन्ति] यह (ब्राह्मण) जैसे जैसे पास आता है तैसे तैसे (उसके) मुख की मुद्रा को ध्यानपूर्वक देखती है ॥७१॥

सँगि सन्ति सखीजण गुरुजण स्यामा
मनसि विचारि ए कही महन्ति ।
कुससथली हूँता कुन्दणपुरि
किसन पधार्या लोक कहन्ति ॥७२॥

[स्यामा सँगि सखीजण गुरुजण सन्ति] (ब्राह्मण ने देखा) श्यामा (रुक्मिणी) के साथ गुरुजन (और) सखियाँ हैं। [मनसि विचारि ए महन्ति कही] (इस कारण) मन में सोच कर यह संवाद कहा— [कुसस्थली हूँता कुन्दणपुरि किसन पधार्‌या लोक कहन्ति] कि द्वारिकापुरी से श्रीकृष्ण कुन्दनपुर में पधारे हैं (ऐसा) लोग कहते हैं ॥७२॥

बम्भण मिसि वन्दै हेतु सु बीजौ
कही स्रवणि सम्भली कथ।
लिखमी आप नमे पाइ लागी
अचरिज को लाधै अरथ ॥७३॥

[कही कथ स्रवणि सम्भली] (ब्राह्मण की) कही बात सुन कर और समझ कर [बम्भण मिसि वन्दै हेतु सु बीजौ] ब्राह्मण के मिस (उसको) प्रणाम किया (किन्तु) हेतु दूसरा था। [लिखमी आप नमे पाइ लागी] (रुक्मिणी के रूप में) लक्ष्मी स्वयं विनीत होकर (ब्राह्मण के) पाँव लगी, [अरथ लाधै अचरिज को] (तो उसके) अर्थ (समृद्धि) लाभ करने में आश्चर्य्य ही क्या है? ॥७३॥

चढिया हरि सुणि सङ्करखण चढिया
कटकबन्ध नह घणा किध।
एक उजाथर कलहि एहवा
साथी सहु आखाढसिध ॥७४॥

[हरि चढिया सुणि सङ्करखण चढिया] हरि को चढ़ा सुन कर बलराम (भी) चढ़े, [कटकबन्ध घणा नह किध] सैन्यसंग्रह अधिक नहीं किया [एक कलहि एहवा उजाथर] (क्योंकि एक तो

बलभद्र) अकेले ही लड़ाई में ऐसे (बड़े) ओजस्वी (रणधीर) थे [सहु साथी आखाढ सिध] (और फिर उनके) सब साथी (भी) रणभूमि में सिद्धहस्त थे ।।७४।।

पिण पन्थ वीर जूजुआ पधार्‌या
पुरि भेला मिलि कियौ प्रवेस
जण दूजण सहि लागा जोवण
नर नारी नागरिक नरेस ।।७५।।

[पिण वीर जूजुआ पन्थ पधार्‌या] यद्यपि (दोनों) भाई अलग अलग मार्ग से चले [पुरि भेला मिलि प्रवेस कियौ] (परन्तु) कुन्दन-पुर में साथ मिलकर प्रवेश किया [जण, दूजण नर नारी नागरिक नरेस सहि जोवण लागा] (इनको) सज्जन-दुर्जन, नर-नारी, नागरिक-नरेश सभी देखने लगे ।।७५।।

कामिणि कहि काम काल कहि केवी
नारायण कहि अवर नर ।
वेदारथ इम कहै वेदवँत
जोग तत्त जोगेसवर ।।७६।।

[कामिणि कहि काम] कामिनियाँ कहती हैं, "कामदेव हैं" । [केवी कहि काल] कई (दुर्जन) कहते हैं, "काल हैं" । [अवर नर कहि नारायण] दूसरे लोग (भक्त-जन) कहते हैं, "नारायण हैं" । [वेदवँत वेदारथ इम कहै] वेदवित्, "वेदार्थ हैं" ऐसा कहते हैं, [जोगेसवर जोग तत्त] और योगीश्वर "योगतत्त्व" कहते हैं ।।७६।।

वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखे
पुणै सुणै जण आपपर ।

औ रुषमणी तणौ वर आयौ
हर म करौ अनि रायहर ॥७७॥

[वसुदेव कुमार तणौ मुख वीखे जण आपपर पुणै सुणै] वसुदेव-कुमार (श्रीकृष्ण) का मुख देख कर लोग परस्पर कहते सुनते हैं कि, [औ रुषमणी तणौ वर आयौ] यह रुक्मिणी का वर (पति) आगया। [अनि रायहर हर म करौ] (अब) दूसरे राज्यकुलों के राजा (रुक्मिणी को पाने की अथवा वरने की) इच्छा (आशा) न करें ॥७७॥

आवासि उतारि जोड़ि कर ऊभा
जण जण आगै जणौ जणौ।
राम किसन आया राजा रै
तो को अचिरज मनुहार तणौ ॥७८॥

[आवासि उतारि] निवासस्थान में उतार कर [जण जण आगै जणौ जणौ कर जोड़ि ऊभा] एक एक अतिथि के आगे एक एक आदमी हाथ जोड़कर खड़ा होगया। [राम किसन राजा रै आया] बलराम और श्रीकृष्ण राजा के यहाँ (मेहमान) आये हैं, [तो मनुहार तणौ को अचिरज] तो (ऐसे) आतिथ्य का होना क्या आश्चर्य्य है? ॥७८॥

सीखावि सखी राखी आखै सुजि
राणी पूछै रुषमणी।
आज कहौ तो आप जाइ आवूँ
अम्ब जात्र अम्बिका तणी ॥७९॥

[सखी सीखावि राखी सुजि आखै] जिस सखी को (रुक्मिणी ने) सिखा रखा था वही कहती है, [राणी रुषिमणी पूछै] हे महारानी!

(राजकुमारी) रुक्मिणी पूछती हैं, [अम्ब आप कहौ तो आज अम्बिका तणी जात्र जाइ आवूँ] "हे माता, आप कहें तो आज अम्बिकादेवी की यात्रा को हो आऊँ" ॥७९॥

राणी तदि दूवौ दीध रुषमणी
पति सुत पूछि पूछि परिवार।
पूजा व्याज काज प्री परसण
स्यामा आरँभिया सिणगार ॥८०॥

[तदि पति सुत पूछि परिवार पूछि] तब पति से, पुत्र से और परिवार (के लोगों) से पूछकर [राणी रुषमणी दूवौ दीध] रानी ने रुक्मिणी को आज्ञा दो। [पूजा व्याज प्री परसण काज स्यामा सिणगार आरँभिया] पूजा के बहाने प्रियतम (श्रीकृष्ण) से मिलने के लिये श्यामा (रुक्मिणी) ने शृंगार करना आरम्भ किया ॥८०॥

कुमकुमै मँजण करि धौत वसत धरि
चिहुरे जल लागौ चुवण।
छीणे जाणि छछोहा छूटा
गुण मोती मखतूल गुण ॥८१॥

[कुमकुमै मँजण करि] (रुक्मिणी ने) गुलाबजल में स्नान करके [धौत वसत धरि] धुले हुए वस्त्र धारण किये। [चिहुरे जल चुवण लागौ] (उनके) केश-कलाप से जल-बिन्दु टपकने लगे [जाणि] मानो [मखतूल गुण छीणे] काले रेशम के डोरों के टूट जाने पर [गुण मोती छछोहा छूटा] (सुंदर) गुणमोती जल्दी जल्दी गिर रहे हैं ॥८१॥

लागी बिहुँ करे धूपणै लीधै
केस पास मुगता करण।

मन मृग चै कारणै मदन ची
वागुरि जाणे विसतरण ॥८२॥

[केस पास धूपणै लीधै बिहुँ करै मुगता करण लागी] (रुक्मिणी अपने) केशपाश को, धूप देने के वास्ते, दोनों हाथों से खोलने (फैलाने) लगी। [जाणै] मानो [मन मृग चै कारणै मदन ची वागुरि विसतरण] (श्रीकृष्ण के) मन-रूपी मृग के वास्ते कामदेव का जाल फैलाने (लगी हो) ॥८२॥

बाजोटा ऊतरि गादी बैठी
राजकुँअरि स्रिंगार रस।
इतरै एक आली ले आवी
आनन आगलि आदरस ॥८३॥

[राजकुँअरि बाजोटा ऊतरि स्रिंगार रस गादी बैठी] राज-कुमारी (रुक्मिणी) चौकी से उतर कर श्रृंगार की इच्छा से गद्दी पर बैठी। [इतरै एक आली आनन आगलि आदरस ले आवी] इतने में एक सखी (उनके) मुख के सामने दर्पण ले आई ॥८३॥

कंठ पोत कपोत कि कहुँ नीलकँठ
वडगिरि कालिन्द्री वली।
समै भागि किरि सङ्ख सङ्खधर
एकणि ग्रहियौ अङ्गुली ॥८४॥

[कंठ पोत] (रुक्मिणी के) गले में पवित्री (काला रेशमी डोरा) बँधी हुई है। [कहुँ कपोत कि नीलकंठ] उसे कपोतकंठ कहूँ अथवा नीलकंठ। [कालिन्द्री वली वडगिरि] (अथवा) यमुना से परिवेष्टित हिमालय (कहूँ) [किरि] या मानो [सङ्खधर सङ्ख

एकणि अङ्गुली समै भागि ग्रहियौ] शङ्खधर (विष्णु) ने शङ्ख को एक अंगुली से बीचोंबीच पकड़ लिया हो ॥८४॥

कबरी किरि गुन्थित कुसुम करम्बित
जमुण फेण पावन्न जग ।
उतमंग किरि अम्बर आधो अधि
माँग समारि कुंआर मग ॥८५॥

[कुसुम करम्बित गुन्थित कबरी] फूल दे देकर गुँथी हुई (रुक्मिणी की) चोटी [किरि] मानो [जग पावन्न जमुण फेण] जग को पवित्र करनेवाली यमुना के फेन हैं । [उतमंग आधो अधि समारि माँग] (और) मस्तक के बीचों बीच सँवारी हुई माँग [किरि] मानो [अम्बर कुंआर मग] आकाशस्थित आकाश-गंगा है ॥८५॥

अणियाला नयण बाण अणियाला
सजि कुण्डल खुरसाण सिरि ।
वले बाढ दे सिली सिली वरि
काजल जल वालियौ किरि ॥८६॥

[अणियाला नयण अणियाला बाण] (रुक्मिणी के) नुकीले नयन ही तीखे बाण हैं, [कुण्डल खुरसाण सिरि सजि] (जो) कुण्डलरूपी शाण के ऊपर तेज किये गये हैं। [वले] फिर [सिली सिली वरि] फिर शलाकारूपी सिल्ली पर [काजल जल वालियौ] काजलरूपी जल डाल कर (देकर) [किरि बाढ दे] मानो (नयनरूपी बाणों को) बाढ़ दे रही है ॥८६॥

कमनीय करे कूँकूँ चौ निज करि
कलँक धूम काढे बे काट ।

सम्प्रति कियौ आप मुख स्यामा
नेत्र तिलक हर तिलक निलाट ॥८७॥

[स्यामा निज करि कूँकूँ चौ कमनीय नेत्र तिलक करे] श्यामा (रुक्मिणी) ने अपने हाथों से कुमकुम का सुंदर नेत्र-तिलक (शिव के ललाट-नेत्र के समान आकारवाला तिलक) बना कर, [सम्प्रति आप मुख हर निलाट तिलक कियौ] फिर अपने मुख पर अर्द्धचन्द्र (शिव के ललाट पर स्थित अर्द्धचन्द्र के समान आकार-वाला तिलक) बनाया [धूम कलँक के काट काढे] परन्तु (उनमें से) धुँआ और कलङ्क (क्रमशः) दोनों (दोष) निकाल दिये ॥८७॥

मुख सिख सँधि तिलक रतनमै मंडित
गयौ जु हूँतौ पूठि गळि ।
आयै क्रिसन मांग मग आयौ
भाग कि जाणे भाळियळि ॥८८॥

[मुख सिख सँधि रतनमै मंडित तिलक] (रुक्मिणी के) मुख और मस्तक की संधि (ललाट) पर रत्नमय सुसज्जित तिलक (आभूषण विशेष) है, [कि जाणे] मानो [जु भाग गळि पूठि गयौ हूँतौ] (रुक्मिणी का) जो भाग्य (शिशुपाल के आने से) ग्रीवा के पृष्ठ-भाग में चला गया था (छिप गया था), [क्रिसन आयै मांग मग भाळियळि आयौ] (वही) श्रीकृष्ण के आने पर माँग के मार्ग से (फिर) ललाट पर आगया है ॥८८॥

जूँ सहरी भ्रूह नयण मृग जूता
विसहर रासि कि अलक वक्र ।
वाळी किरि वाँकिया विराजै
चंद रथी तार्टक चक्र ॥८९॥

[भ्रूह जूँ सहरी] (रुक्मिणी की) भौंहें जुवे के सदृश हैं, [नयण मृग जूता] (जिसमें) नयनरूपी मृग जुते हैं; [अलक वक्र कि विसहर रासि] टेढ़ी अलकें हैं अथवा सर्पमयी रास है। [वाळी किरि वाँकिया विराजै] (उनके कानों की) बालियाँ मानो (रथ में लगे हुए) बाकिये हैं, [चंद रथी] (उनका मुखरूपी) चन्द ही सारथी है [ताटंक चक्र] (और) कर्णफूल ही पहिये हैं ॥८९॥

इभ कुँभ अन्धारी कुच सु कञ्चुकी
कवच सम्भु काम क कळह।
मनु हरि आगमि मंडे मंडप
बन्धण दीध कि वारगह ॥९०॥

[कुच कञ्चुकी सु इभ कुँभ अन्धारी] (रुक्मिणी के) कुचों की कञ्चुकी ही हाथी के कुम्भस्थल की अन्धेरी (जालीदार आवरण) है। [क काम कळह सम्भु कवच] अथवा कामदेव से युद्ध करने के लिए शम्भु का कवच है; [हरि आगमि मनु मंडप मंडे] अथवा (रुक्मिणी ने) भगवान् के स्वागतार्थ मानो मंडप सजाया है, [बन्धण दीध कि वारगह] (और कंचुकी की) कसें बाँधी हैं अथवा तम्बू खड़ा किया है ॥९०॥

हरिणाखी कंठ अंतरिख हूँती
बिम्ब रूप प्रगटी बहिरि ॥
कळ मोतियाँ सुसरि हरि कीरति
कंठसरी सरसती किरि ॥९१॥

[हरिणाखी कंठ कंठसरी] हरिणाक्षी (श्रीरुक्मिणी) के गले में (धारण की हुई) कंठी [किरि] (क्या है) मानो [अंतरिख हूँती सरसती बिम्बरूप बहिरि प्रगटी] अदृश्यवासिनी सरस्वती बिम्बरूप

में बाहर प्रकट हुई है। [कल मोतियाँ सुसरि] (और) मनोहर मोतियों की सुन्दर माला [हरि कीरति] ही मानो (सरस्वती द्वारा गाया हुआ) हरि का यश है ॥९१॥

बाजूबँध बन्धे गोर बाहु बिहुँ
स्याम पाट सोहन्त सिरी ।
मणिमै हीँडि हीँडलै मणिधर
किरि साखा श्रीखंड की ॥९२॥

[बिहुँ गोर बाहु बाजूबँध बन्धे] (रुक्मिणी की) दोनों गौरवर्ण भुजाओं में भुजबन्द बँधे हैं, [स्याम पाट सिरी सोहन्त] (जिनके) काले रेशम के सिरे (मणियुक्त फुँदने) शोभा देते हैं, [किरि] मानो [श्रीखंड की साखा मणिमै हीँडि मणिधर हीँडलै] चन्दन की शाखाओं से (बँधे हुए) मणिमय हिँडोलों में मणिधर (सर्प) झूल रहे हैं ॥९२॥

गजरा नवग्रही प्रोँचिया प्रोँचे
वलै वलै विधि विधि वलित ।
हसत नखित्र वेधियौ हिमकरि
अरध कमल अलि आवरित ॥९३॥

[गजरा नवग्रही प्रोँचिया प्रोँचे वलै] (रुक्मिणी ने) कलाई पर गजरे और नवरतनी पहुँचियाँ पहनीं [वलै विधि विधि वलित] (जो) काले रेशमी डोरों से नाना प्रकार से गुँथी हुई थीं [हसत नखित्र हिमकरि वेधियौ] (मानो) हस्त नक्षत्र ने चन्द्रमा को वेध लिया है, [अलि आवरित अरध कमल] (या मानो) भ्रमरों से घिरे हुए आधे (अर्ध प्रकट) कमल हैं ॥९३॥

आरोपित हार घणौ थियौ अँतर
उरस्थल कुम्भस्थल आज ।

सु जु मोती लहि न लहै सोभा
रज तिणि सिर नाँखै गजराज ॥९४॥

[आज हार आरोपित उरस्थल कुम्भस्थल घणौ अँतर थियौ] आज (मोतियों का) हार धारण किये हुए (रुक्मिणी के) उरस्थल और (गजराज के गजमुक्तायुक्त) कुम्भस्थल में बहुत अंतर हो गया है। [सु जु गजराज मोती लहि सोभा न लहै] (क्योंकि) वह गजराज तो (कुम्भस्थल में) मोती रखते हुए भी शोभा नहीं पाता [तिणि] इसी कारण [सिर रज नाँखै] (अपने) सिर पर धूल डालता है ॥९४॥

धरिया सु उतारे नव तन धारे
कवि तै वाखाणण किमत्र ।
भूखण पुहप पयोहर फल भति
वेलि गात्र तौ पत्र वसत्र ॥९५॥

[धरिया सु उतारे नव तन धारे] (रुक्मिणी) पहले से धारण किये हुए (वस्त्रों को) उतारती है (और) नये (वस्त्रों को) शरीर पर धारण करती है। [कवि तै किमत्र वाखाणण] कवि (उनका) यहाँ पर किस प्रकार वर्णन करे [भूखण पुहप पयोहर फल भति] (तो भी यदि) आभूषण पुष्पों के समान हैं (तो) पयोधर फलों के सदृश हैं; [गात्र वेलि तौ वसत्र पत्र] (और यदि) शरीर लता है तो वस्त्र पत्ते हैं ॥९५॥

स्यामा कटि कटिमेखला समरपित
क्रिसा अंग मापित करल ।
भावी सूचक थिया कि भेला
सिङ्घरासि ग्रहगण सकल ॥९६॥

[स्यामा क्रिसा अंग मापित करल कटि कटिमेखला समरपित] श्यामा (रुक्मिणी) ने पतली (कृशाङ्ग) और मुट्ठी से मापी जा सके (ऐसी) कटि में करधनी पहनी है। [कि भावी सूचक सकल ग्रहगण सिङ्घरासि भेला थिया] (वह क्या है) मानो भावी (भाग्योदय) सूचक (मेखला में जटित नवरत्नरूपी) सब ग्रहगण सिङ्घराशि ("केहरि कटि") पर एकत्र हुए हैं ॥९६॥

चरणे चामीकर तणा चंदाणणि
सज नूपुर घूघरा सजि।
पीला भमर किया पहराइत
कमल तणा मकरन्द कजि ॥९७॥

[चंदाणणि] चन्द्रमुखी (रुक्मिणी) ने [चरणे चामीकर तणा नूपुर सजि घूघरा सजि] चरणों में सुवर्ण के नूपुर सजा कर घुँघरू पहने। [भमर कमल तणा मकरन्द कजि पीला पहराइत किया] (मानो) भ्रमरों से, (चरणरूपी) कमलों के मकरन्द (की रक्षा) के लिए, पीले (पीली वर्दीवाले) पहरेदार (नियत) किये हैं ॥९७॥

दधि वीणि लियौ जाइ वणतौ दीठौ
साखियात गुणमै ससत।
नासा अग्रि मुताहल निहसति
भजति कि सुक मुख भागवत ॥९८॥

[जाइ दधि वीणि लियौ] जिसको समुद्र में से चुन कर लिया, [ससत साखियात गुणमै वणतौ दीठौ] (और जिसको रुक्मिणी की नासिका में रहने के कारण) निस्संदेह, साक्षात् गुणमय ("गुण-मोती") बनते देखा। [मुताहल नासा अग्रि निहसति] (वही) मोती नासिका के अग्रभाग में हँसता है (झूलता है) [कि सुक मुख

भागवत भजति] मानो शुक (नासिकारूपी शुक अथवा श्रीशुक-देवजी) मुख से भागवत (भगवद्गुणानुवाद अथवा श्रीमद्भागवतपुराण) का भजन करता है ॥९८॥

नोट :—"गुणमै", "सुक" और "भागवत" के श्लिष्टार्थों का स्पष्टीकरण नोट में देखिए।

मकरन्द तँबोलु कोकनद मुख मझि
दन्त किञ्जलक दुति दीपन्ति।
करि इक बीड़ौ वलै वाम करि
कीर सु तसु जाती क्रीड़न्ति ॥९९॥

[कोकनद मुख-मझि मकरन्द तँबोलु] (श्री रुक्मिणी के) लाल कमल-सदृश मुख में मकरन्द के सदृश पान है, [दन्त दुति किञ्जलक दीपन्ति] (उनके) दाँतों की द्युति किञ्जल्क (केशर) के समान दीप्तिमान् है। [इक बीड़ौ करि तसु वामकरि वलै] एक बीड़ा बनाकर (उन्होंने) अपने बायें हाथ में ले रखा है [सु कीर जाती क्रीड़न्ति] वह (मानो) सुन्दर तोता जाती (चमेली) पर (बैठा) क्रीड़ा कर रहा है ॥९९॥

सिणगार करे मन कीधौ स्यामा
देवि तणा देहरा दिसि।
होड छण्डि चरणे लागा हंस
मोती लगि पाणही मिसि ॥१००॥

[स्यामा सिणगार करे देवि तणा देहरा दिसि मन कीधौ] श्यामा ने शृंगार करके देवी के मन्दिर की ओर (जाने की) इच्छा की। [मोती लगि पाणही मिसि हंस होड छण्डि चरणे लागा] (उनकी) मुक्ताजटित जूतियों के मिस (मानो) हंस (रुक्मिणी की चाल की) स्पर्धा छोड़ कर पैरों में लोट रहे हैं ॥१००॥

अन्तर नीलम्बर अबल आभरण
अंगि अंगि नग नग उदित।
जाणे सदनि सदनि सञ्जोई
मदन दीपमाला मुदित ॥१०१॥

[नीलम्बर अन्तर नग नग उदित अंगि अंगि आभरण अबल] नीलवर्ण चीर के अन्दर, नाना प्रकार के नगों से आलोकित, अंग-प्रत्यंग पर (धारण किये हुए) आभूषणों की अवली है। [जाणे] मानो [मुदित मदन सदनि सदनि दीपमाला सञ्जोई] हर्षित कामदेव ने घर घर में दीपमालाएँ जलाई हैं॥१०१॥

किहि करगि कुमकुमौ कुङ्कुम किहि करि
किहि करि कुसुम कपूर करि।
किहि करि पान अरगजौ किहि करि
धूप सखी किहि करगि धरि ॥१०२॥

[किहि करगि कुमकुमौ] किसी के हाथ में गुलाब-जल है; [किहि करि कुङ्कुम] किसी के हाथ में कुंकुम है; [किहि करि कुसुम कपूर करि] किसी के हाथ में पुष्प है (तो) किसी के हाथ में कपूर, [किहि करि पान] किसी के हाथ में पान है; [किहि करि अरगजौ] किसी के हाथ में अरगजा है [किहि सखी करगि धूप धरि] और किसी सखी के हाथ में धूप धरा हुआ है॥१०२॥

चकडोल लगै इणि भाँति सुँ चाली
मति तै वाखाणण न मूँ।
सखी समूह माँहि इम स्यामा
सील आवरित लाज सूँ ॥१०३॥

[चकडोल लगै इणि भाँति सुँ चाली] पालकी की ओर (श्रीरुक्मिणी) इस भाँति से चली [तै वाखाणण मू मति न] जिसको वर्णन करना मेरी बुद्धि (की सामर्थ्य) में नहीं है। [सखी समूह मांहि स्यामा इम] सखियों के समूह में स्यामा ऐसी (लगती है) [सील आवरित लाज सूँ] मानो (मूर्त्तिमान) शील, लज्जा से घिरा हुआ है ॥१०३॥

आइस्यै जाइ साथि सु चढ़ि चढ़ि आया
तुरी लाग ले ताकि तिम।
सिलह मांहि गरकाब संपेखी
जोध मुकुर प्रतिबिम्ब जिम ॥१०४।

[साथि जाइ आइस्यै] (जिनको रुक्मिणी के) साथ जाने की आज्ञा थी [सु लाग तुरी ताकि ले] वे योग्य घोड़ों को देख और वैसे वैसे लेकर [चढ़ि चढ़ि आया] चढ़ चढ़ कर आगये। [जोध सिलह माँहि गरकाब सँपेखी] वे योद्धा सिलहवख्तर (कवचों) में समाये हुए (ऐसे) दीखते थे [जिम मुकुर प्रतिबिम्ब] जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब ॥१०४॥

पदमिणि रखपाल पाइदल पाइक
हिलवलिया हलिया हसति।
गमे गमे मदगलित गुड़न्ता
गात्र गिरोवर नाग गति ॥१०५॥

[पदमिणि रखपाल पाइदल पाइक हिलवलिया] पद्मिनी (श्रीरुक्मिणी) के अङ्गरक्षक पैदल सिपाही, हरबराये हुए (गमनोत्सुक हुए) [गमे गमे गिरोवर गात्र मदगलित नाग गति गुडन्ता हसति

हलिया] धम धम करते (उत्साहित होकर) पर्वत के समान शरीरवाले मदमत्त हाथियों की चाल से झूमते (और) हँसते हुए चले ॥१०५॥

अस वेगि वहै रथ वहै अन्तरिख
चालिया चंद्राणणि मग चाहि ।
किरि वैकुण्ठ अयोध्यावासी
मंजण करि सरयू नदि मांहि ॥१०६॥

[अस वेगि वहै] घोड़े वेग से चल रहे हैं, [रथ अन्तरिख वहै] रथ अन्तरिक्ष में (–के मार्ग से–) चल रहा है । [चाहि चन्द्राणणि मग चालिया] (और श्रीकृष्ण) बड़े चाव से चन्द्रमुखी (श्रीरुक्मिणी) के मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं [किरि] मानो, [वैकुण्ठ अयोध्यावासी सरयू नदि मांहि मंजण करि] वैकुण्ठ जाने के लिए अयोध्यावासी सरयू नदी में स्नान कर रहे हैं ॥१०६॥

नोट :—अन्तिम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षित भाव का स्पष्टीकरण नोट में देखिये ।

पारस प्रासाद सेन सम्पेखे
जाणि मयंक कि जलहरी ।
मेरु पाखती नखित्र माला
ध्रूमाला संकर धरी ॥१०७॥

[प्रासाद पारस सेन सम्पेखे] मन्दिर के पार्श्व में सेना को देखने से [जाणि] (ऐसा) जान पड़ता है, [मयंक जलहरी] (मानो) चन्द्रमा की जलहरी (चक्राकार मंडल) है, [मेरु पाखती नखित्र माला] (या) मेरु पर्वत के चारों ओर नक्षत्र माला है [कि संकर ध्रूमाला धरी] किंवा शंकर ने मुंडमाला धारण कर रखी है ॥१०७॥

देवालै पैसि अम्बिका दरसे
घणै भाव हित प्रीति घणी ।
हाथे पूजि कियौ हाथालगि
मन वञ्छित फल रुषमणी ॥१०८॥

[देवालै पैसि अम्बिका दरसे] मन्दिर में प्रवेश करके (रुक्मिणी ने) अम्बिका के दर्शन किये [भाव घणै हित प्रीति घणी] और बड़े भक्तिभाव, हित (और) घनी प्रीतिपूर्वक [रुषमणी हाथे पूजि मन वाञ्छित फल हाथालगि कियौ] (रुक्मिणी ने अपने) हाथों से पूजा करके मनवाञ्छित फल को हस्तगत किया ॥१०८॥

आकरषण वसीकरण उनमादक
परठि द्रविण सोखण सर पंच ।
चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि
सुन्दरी द्वारि देहरा संच ॥१०९॥

[चितवणि हसणि लसणि गति सँकुचणि] चितवन (भावपूर्वक दृष्टिपात), हँसी (मोहिनी मुसक्यान), लास्य (लोचपूर्वक हाव या अंगभंगी) चाल (मतवाली और चंचल चाल) और संकोच—(दिल को खींचनेवाली लज्जा) रूपी [आकरषण वसीकरण उनमादक द्रविण सोखण सर पंच परठि] आकर्षण, वशीकरण, उन्मादक, द्रविण और शोषण—इन पाँच (कामदेव के विश्वविजयी पाँच शरों के सदृश) बाणों को धारण करके [सुंदरि देहरा द्वारि संच] सुंदरी (रुक्मिणी ने) देवालय के द्वार में प्रवेश किया ॥१०९॥

मन पंगु थियौ सहु सेन मूरछित
तह नह रही संपेखतै ।
किरि नीपायौ तदि निकुटी ए
मठ पूतली पाखाणमै ॥११०॥

[सँपेखतै मन पंगु थियौ] (इस प्रकार रुक्मिणी को) देखते ही मन निश्चल हो गया, [तह नह रही] चेतना नहीं रही, [सहु सेन मूरछित] (और) सारी सेना मूर्छित हो गई। [किरि] मानो [मठ नीपायौ तदि ए पाखाणमै पूतली निकुटी] (जब) मन्दिर बनाया तभी ये पाषाणमयी मूर्त्तियाँ भी गढ़ी गई थीं ॥११०॥

आयौ अस खेड़ि अरि सेन अंतरै
प्रथिमी गति आकास पथ
त्रिभुवन नाथ तणौ वेला तिणि
रव संभली कि दीठ रथ ॥१११॥

[आकास पथ अस खेड़ि अरि सेन अंतरै प्रथिमी गति आयौ] आकाश-मार्ग से घोड़ों को चलाते हुए वैरियों के सैन्य के बीच में (भगवान्) पृथ्वी पर आये। [तिणि वेला रव संभली कि त्रिभुवन नाथ तणौ रथ दीठ] उस समय त्रिलोकीनाथ के रथ का शब्द सुनाई दिया कि (इतने ही में) रथ भी दिखाई दिया ॥१११॥

बलिबंध समरथि रथ ले बैसारी
स्यामा कर साहे सु करि।
वाहर रे वाहर कोइ छै वर
हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥११२॥

[बलिबंध समरथि स्यामा कर सु करि साहे रथ ले बैसारी] बलि को बाँधनेवाले सामर्थ्यवान् (श्रीकृष्ण) ने श्रीरुक्मिणी का हाथ अपने हाथ में थामे हुए (उन्हें) लेकर रथ में बैठा ली। [कोइ वर छै वाहर रे वाहर] (और उन्होंने व्यंग्य में कहा— अथवा—उस समय सेना में यह कोलाहल मचा—) कोई

रुक्मिणी का वर (वर बनने का अभिमान रखनेवाला) है ? (यदि कोई है तो) सहायता के लिए दौड़ो ! [हरि हरिणाखी हरि जाइ] (क्योंकि) हरि हरिणाची (रुक्मिणी) का हरण करके जा रहा है ॥११२॥

सम्भळत धवळ सर साहुळि सम्भळि
आळूदा ठाकुर अलल ।
पिँड बहुरूप कि भेख पालटे
केसरिया ठाहे क्रिगल ॥११३॥

[धवळ सर सम्भळत] मांगलिक गीत सुनते हुए [अलल अळूदा ठाकुर] आला आला (एक से एक बढ़ कर) सजे हुए (अलबेले) सरदारों ने [साहुळि सम्भळि] पुकार सुनकर [पिँड केसरिया ठाहे क्रिगल] (अपने) शरीर पर केसरिया (पोशाकों) के स्थान पर कवच धारण किये [कि] माने [बहुरूप पिंड भेख पालटे] बहुरूपियों ने शरीर का भेष बदल लिया हो ॥११३॥

लारोवरि अस चित्राम कि लिखिया
निहसरता नरवरै नर ।
माँखण चोरी न हुवै माहव
महियारी न हुवै महर ॥११४॥

[नरवरै लारोवरि निहसरता नर अस कि चित्राम लिखिया] नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण के पीछे (बड़े वेग से) दौड़ते हुए वीरों के घोड़े (ऐसे दिखाई देते हैं मानो) चित्र में चित्रित किये हुए हों। [माहव माखण चोरी न हुवै] (पीछा करनेवाले कहते जाते हैं) रे माधव ! यह माखन की चोरी नहीं है; [महर महियारी न हुवै] रे ग्वाले ! यह गूजरी नहीं है ॥११४॥

ऊपड़ी रजी मभि अरक एहवौ
वातचक्र सिरि पत्र वसन्ति ।
सद नीहस नीसाण न सुणिजै
वरहासाँ नासाँ वाजन्ति ॥११५॥

[ऊपड़ी रजी मभि अरक एहवौ] उड़ी हुई (उड़ कर छाई हुई) धूल में सूर्य ऐसा (जान पड़ता) है, [वातचक्र सिरि वसन्ति पत्र] (जैसे) वातचक्र के शिखर पर (पीला) पत्ता हो, [वरहासाँ नासाँ वाजन्ति] घोड़ों के नथुने (ऐसे ज़ोर से) बोल रहे हैं [नीसाण नीहस सद न सुणिजै] कि नगारों का निर्घोष शब्द (भी) नहीं सुनाई देता ॥११५॥

अलगी ही नैड़ी की ऊखवते
देठालौ हुऔ दलाँ दुँह ।
वागाँ ढेरवियाँ वाहरुए
मारकुए फेरिया मुँह ॥११६॥

[अलगी ही ऊखवते नैड़ी की] (अब तक जो दोनों सेनाएँ) दूर थीं (पीछा करनेवालों ने घोड़ों को तेजी से) दौड़ा कर (उनको) निकट किया । [दलाँ दुँह देठालौ हुऔ] और दोनों दलों की देखा-देखी हुई । [वाहरुए वागाँ ढेरवियाँ] (तब) पीछा करनेवालों (बाहरुओं) ने अपनी बागें रोक लीं, [मारकुए मुँह फेरिया] और मारकुओं ने (प्रहारकों ने) भी अपना मुँह फेरा ॥११६॥

(युद्ध-वर्षा-रूपक वर्णन)

कठठी बे घटा करे कालाहणि
समुहे आमहे सामुहै ।
जोगिणि आवी आडँग जाणे
वरसै रत वेपुड़ी वहै ॥११७॥

[बे कालाहणि घटा आमहो सामुहै समुहे कठठी] दो प्रलयकारी सैन्यदल आमने सामने होकर निकले हैं; [करे] मानो [बे कालाहणि घटा आमहो सामुहै समुहे कठठी] दो काले बादलों की घटाएँ आमने सामने होकर निकली हैं। [रत वरसै आडँग जाणै बेपुड़ी वहै जोगिणि आवी] (और युद्ध में) रक्त बरसने के आसार जान कर दोहरी (दोनों तरफ़ से) चलती हुई योगिनियाँ आई हैं; [जाणे] मानो [वरसै रत बेपुड़ी वहै आडँग जोगिणि आवी] बरसने को उद्यत दोहरी (दोनों ओर से) चलती हुई वर्षा-सूचक योगिनियाँ (अर्थात् ज्योतिष के अनुसार वर्षा के योग) आये हैं ॥११७॥

हथनालि हवाई कुहक बाण हुवि
होइ वीरहक गैगहण।
सिलहाँ ऊपरि लोह लोह सर
मेह बूँद माहे महण ॥११८॥

[हथनालि हवाई कुहक बाण हुवि] बन्दूकों, हवाइयों तथा तोपें इत्यादि के चलने का शब्द हुआ; [गैगहण वीरहक होइ] आकाश को गुँजा देनेवाली वीरों की ललकार हुई [लोह सिलहाँ ऊपरि लोह सर] (और) लोह के कवचों पर लोह के बाण पड़ते हैं [महण माहे मेह बूंद] (मानो) समुद्र में मेह की बूँदें (पड़ रही हैं) ॥११८॥

कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि
वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि धड़ि धवकि धार धारूजल
सिहरि सिहरि समखै सिलाउ ॥११९॥

[कुन्त किरण कलि ऊकलि कलकलिया] भालेरूपी सूर्यकिरण युद्ध में सन्तप्त होकर चमचमाने लगे। [वरजित विसिख विवरजित

वाउ] (दोनों दलों का निकट से युद्ध होने के कारण) बाण (चलने) बंद हो गये हैं—(वही)—वायु का (चलना) बंद हो गया है। [धड़ि धड़ि धारूजल धार धबकि] (सैनिकों के) शरीर शरीर पर तलवारों की धारें चमक रही हैं [सिहर सिहर सिलाऊ समखै]—(वही) शिखर शिखर पर बिजलियाँ चमक रही हैं ॥

भावार्थ :—वर्षा होने से पहले सूर्यकिरणों के प्रखर तेज से गर्मी बहुत बढ़ जाती है और हवा बन्द हो जाती है। इसके पश्चात् बादलों में बिजलियाँ चमकने लगती हैं। वैसे ही, यहाँ भी, कुछ दूरी से युद्ध करते हुए दोनों दल अब पास पास आ गये हैं; अतएव बाणों का चलना बन्द हो गया है और भालों का प्रहार प्रारम्भ हो गया है। इस प्रकार बाणों का चलना क्या बन्द हुआ है मानो वर्षा से पहले हवा का चलना बन्द हो गया है। अब शीघ्रता से प्रहार करते हुए भाले सूर्य की किरणों में चमचमाने लगे। अनवरत प्रहार करने से भालों का लोह संतप्त हो उठा। इस प्रकार भालों से युद्ध करते हुए योद्धागण जब परस्पर और सन्निकट आगये तब उनमें तलवारों से युद्ध होने लगा उस समय कवच पहिने हुए सैनिकों के शरीरों पर प्रहार करती हुई तलवारों की धारें इस प्रकार चमकने लगीं, मानो शीघ्र ही वृष्टि करनेवाले बादलों के शिखर शिखर पर बिजलियों ने चमकना आरम्भ कर दिया हो ॥११९॥

कांपिया उर कायराँ असुभकारियौ
गाजंते नीसाणे गड़ड़ै।
ऊजलियाँ धाराँ ऊवड़ियौ
परनाले जल रुहिर पड़ै ॥१२०॥

[नीसाणे गड़ड़ै गाजंते] नगारों की गड़गड़ाहट रूपी मेघ-गर्जन से [कायराँ असुभकारियौ उर कांपिया] (रणभीरू)

कायरों रूपी अशुभचिन्तकों (यथा किसानों को सूद के बोझ से दबानेवाले और मँहगी से लाभ उठानेवाले, बनियों) के हृदय काँपने लगे। [ऊजलियाँ धाराँ ऊवड़ियौ रुहिर जल परनाले पड़ै] (शस्त्रों की) चमकीली धाराओं से उमड़ते हुए (वर्षापक्ष में—स्वच्छ धाराओं में बरसते हुए) रुधिररूपी जल के परनाले बहने लगे ॥१२०॥

चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि
धू ढलियै ऊकसै धड़।
अनँत अनै सिसुपाल औझड़ै
झड़ मातौ माँडियौ झड़ ॥ १२१ ॥

[चोटियाली चौसठि चाचरि कूदै] (लम्बी लम्बी) चोटियों-वाली चौसठ योगिनियाँ युद्धस्थल में कूद रही हैं, [ध्रू ढलियै धड़ ऊकसै] शिरों के (कट कट कर) गिरने पर धड़ (कबन्ध) उकसते हैं। [अनँत अनै सिसुपाल औझड़ै झड़ माँडियौ] बलराम और शिशुपाल ने अविरल (शस्त्रप्रहार की) झड़ी लगा रखी है। [मातौ झड़ माँडियौ]—(वही मानो)—वर्षा ने गहरी झड़ी लगा रखी है ॥१२१॥

रिण अंगणि तेणि रुहिर रलतलिया
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊँधा पत्र बुदबुद जल आकृति
तरि चालै जोगिणी तणा ॥ १२२ ॥

[घणा हाथ हूँ घणा पड़ै] बहुत से हाथों से (प्रहारित) बहुत से (कट कटकर) गिर रहे हैं [तेणि] जिससे [रिण अंगणि रुहिर रलतलिया] युद्ध-भूमि में रुधिर बह चला। [जल बुद बुद

आकृति ऊँधा जोगिणी तणा पत्र तरि चालै] (और उसमें) जल के बुदबुदों की आकृतिवाले उलटे किये हुए योगिनियों के खप्पर (खोपड़ियाँ) तैर चले ॥१२२॥

बेली तदि बलभद्र बापूकारे
सत्र साबतौ अजे लगि साथ ।
वूठै वाहवियै आ वेला
हल जीपिस्यै जु वाहिस्यइ हाथ ॥ १२३ ॥

[तदि बलभद्र बेली बापूकारे] तब बलभद्रजी ने (अपने) साथियों को (यह कहकर) उत्तेजित किया —[सत्र साथ अजे लगि साबतौ] "शत्रुदल अभी तक साबित (सही-सलामत) खड़ा है ! [वूठै हल वाहवियै जीपिस्यै] वर्षा होने पर जो हल जोतते हैं (वे ही) जीतते हैं; [आ वेला जु हाथ वाहिस्यइ जीपिस्यै] (वैसे ही) इस समय जो हाथ चलावेंगे (शस्त्र प्रहार करेंगे) वही जीतेंगे ॥१२३॥

विसरियाँ विसर जस बीज बीजिजै
खारी हालाहलाँ खलाँह।
त्रूटै कन्ध मूल जड़ त्रूटै
हलधर काँ वाहताँ हलाँह ॥ १२४ ॥

[विसरियाँ विसर जस बोज बीजिजै] "(इस लिये, हे वीरो !) बीते हुए समय को बिसार कर यश के बीज बोना चाहिए (वीरता के साथ युद्ध करना चाहिए) [खलाँह हालाहलाँ खारी] (जिससे कि, "आ वेला" (देखो १२३)) शत्रुओं को हलाहल (विष) के समान कड़वी लगे ।" [हलधर काँ वाहताँ हलाँह कन्ध मूल त्रूटैं] (इतना कहकर युद्ध में प्रवृत्त) हलधर (बलराम) के चलाये

हुए हलों (के प्रहार) से (शत्रुओं के) कन्धोंरूपी डालियों की जड़ें टूटने लगीं। [हल्धर काँ वाँहताँ हलाँह जड़ त्रूटै] (जैसे) किसान के चलाये हुए हलों से (खेत में) जड़ें (डंठल) टूटती हैं ॥१२४॥

घटि घटि घण घाउ घाइ घाइ रत घण
ऊँच छिछ ऊछलै अति।
पिड़ि नीपनौ कि खेत्र प्रवाली
सिरा हंस नीसरै सति ॥१२५॥

[घटि घटि घण घाउ घाइ घाइ घण रत] (योद्धाओं के) शरीरों में बहुत से घाव हो रहे हैं (और) घाव घाव से बहुत सा रक्त बह रहा है, [अति ऊँच छिछ ऊछलै] (जिसके) अति ऊँचे फुहारे उछल रहे हैं [कि] मानो [खेत्र पिड़ि प्रवाली नीपनौ] खेत में पेड़ियों पर किशलय (लाल लाल नये पत्ते) उत्पन्न हो रहे हैं [सिरा हंस नीसरै सति] (और) धान के बालरूपी (शत्रुओं के सिरा से) प्राण निकल रहे हैं ॥१२५॥

वलदेव महाबल तासु भुजाबलि
पिड़ि पहरन्तै नवी परि।
बिजड़ां मुहे बेड़ते बलभद्र
सिराँ पुंज कीधा समरि ॥१२६॥

[महाबल वलदेव तासु भुजाबलि नवी परि पिड़ि पहरन्तै] अतुल बलशाली बलदेव अपनी भुजाओं के बल से नवीन (चमत्कारिणी) रीति से धान्य की पेड़ियों (रूपी शत्रु योद्धाओं) का प्रहार कर रहे हैं। [समरि बलभद्र बिजड़ां मुहे बेड़ते सिराँ पुंज कीधा] खेतरूपी रणक्षेत्र में बलभद्रजी ने अपने हँसुआ (रूपी तलवार) की धार से काटते हुए बालों (रूपी शिरों) का ढेर लगा दिया ॥१२६॥

रिण गाहटतै राम खलां रिण
थिर निज चरण स मेढ़ि थिया।
फ़िरि चड़ियै संघार फेरता
केकाणाँ पाइ सुगह किया ॥१२७॥

[रिण खलाँ गाहटतै] युद्ध-भूमि-रूपी खलिहान में (शत्रुदल-रूपी धान्य का) गाहटन करते हुए [राम रिण निज थिर चरण स मेढ़ि किया] बलभद्र के रण में स्थिर रहनेवाले अपने चरण ही मेढ़ हुए, [चड़ियै फिरि फेरता संघार केकाणाँ पाइ सुगह किया] (और) चढ़कर फिरा-फिराकर फेरते (और) कुचलते हुए घोड़ों के पैरों से (उन्होंने शत्रुरूपी धान्य का) अच्छी तरह से गाहटन किया ॥१२७॥

कण एक लिया किया एक कण कण
भर खञ्चे भंजियौ भिड़।
बलभद्र खलै खलाँ सिर बैठी
चारौ पल ग्रीधणी चिड़ ॥१२८॥

[एक कण लिया] कृषकरूपी बलराम ने (कई) एक कणों को (—आहत योद्धाओं को—) प्राप्त किया (पकड़ लिया) [एक कण कण किया] (और) (कई) एक को कण कण कर दिया (—टुकड़े टुकड़े करके नष्ट कर दिया—)। [भिड़ भंजियौ भर खञ्चे] (और जिनको) युद्ध करके भगा दिया, (वह मानो) धान्य के भार (गाड़ियों में) खिँचे जा रहे हैं। [बलभद्र खलै] (युद्ध-भूमि-रूपी) बलभद्र के खलिहान में [खलां सिरि बैठी ग्रीधणी चिड़] (मरे हुए शत्रुरूपी) धान्य के शिरों पर बैठी हुई

गिद्धनी चिड़ियाँ है, [पल् चारौ] (और मृत-शवों का) मांस (उनका) चारा है ॥१२८॥

सरिखां सूँ बलभद्र लोह साहियै
वड़फरि उछजतै विरुधि ।
भलाभली सति तोईज भंजिया
जरासेन सिसुपाल् जुधि ॥१२९॥

[बलभद्र सरिखां सूँ लोह साहियै] बलभद्र अपने सदृश (बलशाली) सुभटों से लोहा लेते हैं (—युद्ध करते हैं—)। [विरुधि वड़फरि ऊछजतै] उनके (शत्रुओं के प्रहार का) निरोध करने के लिए ढाल को उठाते हुए [भलाभली सति] "भलाभली पृथ्वी" (वाली कहावत) सत्य है। [तोईज जरासेन सिसुपाल् जुधि भंजिया] तभी तो जरासंध और शिशुपाल (जैसे योद्धाओं) को युद्ध में (बलभद्र ने) भगा दिया ॥१२९॥

आडो अड़ि एकाएक आपड़े
वाग्यो एम रुषमणी वीर
अबल् लेइ घणी भुँइ आयौ
आयौ हूँ पग माँडि अहीर ॥१३०॥

[रुषमणी वीर आडो अड़ि एकाएक आपड़े] श्रीरुक्मिणी का भाई [राजकुमार रुक्मि] तिरछा होकर (रोकते रोकते) अकस्मात् (सामने) आकर [एम वाग्यो] यों बोला,— [अबल् लेइ घणी भुँइ आयौ] (तू) निर्बल स्त्री को लेकर बहुत दूर चला आया है। [हूँ आयौ, अहीर पग माँडि] (अब) मैं आगया हूँ। अरे अहीर, पग रोक ! (खड़ा रह !) ॥१३०॥

विलकुलियौ वदन जेम वाकार्यौ
सङ्ग्रहि धनुख पुणच सर सन्धि
क्रिसन रुकम आउध छेदण कजि
वेलखि अणी मूठि द्रिठि बन्धि ॥१३ ॥

[जेम वाकार्यौ वदन विलकुलयौ] (रुक्मि ने) ज्योंही ललकारा त्योंही (श्रीकृष्ण का) मुख (मारे क्रोध के) लाल होगया, [धनुख सङ्ग्रहि पुणच सर सन्धि] और धनुष को लेकर और प्रत्यंचा पर बाण को चढ़ा कर [रुकम आउध छेदण कजि क्रिसन वेलखि मूठि अणी द्रिठि बन्धी] रुक्मि के शस्त्रों को काटने के लिए श्रीकृष्ण ने बाण की पुंख (फर) को मुट्ठी में और (उसकी) नोक को दृष्टि में बाँधा ॥१३१॥

रुकमइयौ पेखि तपत आरणि रणि
पेखि रुषमणी जल प्रसन ।
तणु लोहार वाम कर निय तणु
माहव किउ साँडसी मन ॥ १३२ ॥

[रणि आरणि] युद्धक्षेत्ररूपी (लोहार के) ऐरण पर [तपत रुकमइयौ पेखि] संतप्त (क्रुद्ध) रुक्मि को देखकर [तपत] (स्वयं) कुपित होते हुए [रुषमणी जल प्रसन पेखि] (और) रुक्मिणी का अश्रुजल (प्रस्रवण) मोचन देखकर [प्रसन] द्रवीभूत होते हुए [माहव निय तणु लोहार तणु वाम कर मन साँड़सी कियउ] श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को लोहार का बाँया हाथ (जिसमें वह साँडसी पकड़ता है) और अपने मन को साँडसी किया ।

भावार्थ—युद्ध-क्षेत्र में अत्यन्त क्रोध से सन्तप्त होकर रुक्मि भगवान् पर अनेक शस्त्रास्त्र का प्रहार करने लगा और उन्हें युद्ध के लिए

ललकारने लगा। अतएव श्रीकृष्ण रुक्मि पर अत्यन्त क्रुद्ध होगये। परन्तु रुक्मिणीजी भाई को इस प्रकार मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होते देखकर नेत्रों से अश्रुजल बहाने लगीं। इस पर, एक तरफ़ तो रुक्मि की युद्ध ललकार से कुपित और दूसरी ओर प्रिया के नेत्रों को अश्रु-प्लावित देखकर द्रवी-भूत, भगवान के मन और शरीर की दशा वर्णन कवि लोहार के व्यापारों की साम्यता से करता है। ऐसी दशा में श्रीकृष्ण का शरीर तो लोहार का बाँया हाथ हो रहा है और उनका मन उसमें पकड़ी हुई साँडसी की तरह हो रहा है। जिस प्रकार लोहार बाँयें हाथ से साँडसी पकड़कर उससे तपे हुए लाल लोहे को अग्नि से निकाल कर पीटने के लिए ऐरण पर रखता है, और जब साँडसी गरम हो जाती है और उससे उसका हाथ जलने लग जाता है, तो साँडसी को पास रखे हुए जल में देकर ठण्ढी कर लेता है, उसी प्रकार युद्धक्षेत्र में क्रोधाग्नि से रुक्मि को तपते देखकर भगवान् स्वयं क्रुद्ध होकर उसे मारने का मन करते हैं अर्थात् अपने मनरूपी साँडसी से पकड़ कर रुक्मिरूपी संतप्त लोह को पीटने के लिए ऐरण पर डालते हैं, परन्तु लोहार के बाँयें हाथ के समान उनका शरीर शीघ्र ही सन्तप्त हो जाता है और जिस प्रकार लोहार साँडसी को जल में देकर ठंढी करता है उसी प्रकार भगवान् का मन भी रुक्मिणी के नेत्रजल को देखकर अपने क्रोध को त्याग देता है। सारांश, श्रीकृष्ण को अपने क्रोध में इच्छा होती है कि रुक्मि को मार डालें परन्तु रुक्मिणी के दैन्य को देखकर वे ऐसा नहीं करते। उनका क्रोध शान्त हो जाता है ॥१३२॥

सगपण ची सनस रुषमणी सन्निधि
अण मारिवा तणी आलोजि।
ए अखियात जु आउधि आउध
सजै रुकम हरि छेदै सोजि ॥१३३॥

[सगपण ची सनस] (साला होने के) सम्बन्ध की लाज से, [रुषमणी सन्निधि] (और) रुक्मिणी के निकट (सामने) [अण मारिवा तणै आलोजि] नहीं मारने के विचार से [आउधि रुकमजु आउध सजै हरि सोजि छेदै, ए अखियात] युद्ध में रुक्मि जिन आयुधों का प्रयोग करता है, भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें काट देते हैं, यह आश्चर्य्य है ! ॥१३३॥

निराउध कियौ तदि सोनानामी
केस उतारि विरूप कियौ ।
छिणियै जीवि जु जीव छण्डियौ
हरि हरिणाखी पेखि हियौ ॥१३४॥

[तदि सोनानामी निराउध कियौ] तब सुवर्ण का नाम रखने-वाले (रुक्मि) को निःशस्त्र किया [केस उतारि विरूप कियौ] (और) केस काटकर विरूप कर दिया। [जु छिणियै जीवि] जो (रुक्मि) क्षणजीवी ही था [हरि हरिणाखी हियौ पेखि जीव छण्डियौ] भगवान् श्रीकृष्ण ने हरिणाक्षी (रुक्मिणी) का हृदय (हार्दिक इच्छा का भाव) देखकर (उसको) जीवित छोड़ दिया ॥१३४॥

अनुज ए उचित अग्रज इम आखै
दुसट सासना भली दई ।
बहिनि जासु पासै बैसारी
भलौ काम किउ भला भई ॥१३५॥

[अग्रज इम आखै] (इतने में) बड़े भ्राता (बलभद्र) यों (व्यंग्यपूर्वक) कहने लगे—[भला भई भलौ काम किउ] वाह, भई वाह ! भला काम किया !! [जासु बहिनि पासै बैसारी] जिसकी

बहिन को पार्श्व में बिठाई है, [दुसट सासना भली दई] (उसी को) दुष्टोचित दंड खूब दिया ! [अनुज ए उचित] हे अनुज, क्या यह उचित है ? ॥१३५॥

सुसमित सुनमित निज वदन सुव्रीड़ित
पुँडरीकाख थिया प्रसन ।
प्रथम अग्रज आदेस पालिवा
मिरिगाखी राखिवा मन ॥१३६॥

[प्रथम अग्रज आदेश पालिवा] प्रथम तो, बड़े भाई की आज्ञा पालने के लिए [मिरगाखी मन राखिवा] (फिर) मृगनयनी (रुक्मिणी) का मन रखने के लिए [पुँडरीकाख सुव्रीड़ित निज वदन सुनमित सुसमित प्रसन थिया] कमलनयन (श्रीकृष्ण) लजाते हुए अपने मुख को नीचा किये हुए, मन्द मन्द मुसकराते हुए (रुक्मि पर) प्रसन्न हुए ॥१३६॥

कृत करण अकरण अन्नथा करण
सगले ही थोके ससमत्थ ।
हा लिया जाइ लगाया हूँता
हरि साले सिरि थापे हत्थ ॥१३७॥

[अकरण करण कृत अन्नथा करणं] असम्भाव्य को करनेवाले, किये हुए को अन्यथा करनेवाले [सगले ही थोके ससमत्थ] सब बातों में पूर्ण सामर्थ्यवान [हरि साले सिरि हत्थ थापे] भगवान ने साले के सिर पर हाथ रखे [जाइ लिया हा लगाया हूँता] (और) जिन (हाथों) से लिये थे (उन्हीं से बालों को फिर) लगा दिये ॥१३७॥

परदल पिण जीपि पदमणी परणे
आणँद उभै हुआ एकार ।
वह तै कटकि माहि वादोवदि
वाधण लागा वधाइहार ॥१३८॥

[पर दल जीपि] शत्रु-दल को जीतकर [पदमणी पिण परणे] पद्मिनी को भी ब्याही । [उभै आणँद एकार हुआ] ये दोनों आनन्द एक ही साथ हुए । [वह तै कटकि माहि वादोवदि] (इस कारण से) चलते हुए सैन्यदल में बदाबदी करते हुए [वधाइ हार वाधण लागा] बधाई देनेवाले बढ़ने लगे ॥१३८॥

ग्रिह काज भूलिग्या ग्रहि ग्रहि ग्रहगति
पूछीजै चिन्ता पड़ी ।
मन अरपण कीधै हरि मारग
चाहै प्रज ओटे चड़ी ॥१३९॥

[ग्रह ग्रह चिन्ता पड़ी] (इधर द्वारिका में) घर घर में चिन्ता व्याप्त है; [ग्रिह काज भूलिग्या] (सब अपने अपने) घरों के काम काज भूल गये; [ग्रह गति पूछीजै] (और ज्योतिषियों से) ग्रहों की गति (भाग्यफल) पूछते हैं [हरि मारग मन अरपण कीधै प्रज ओटे चड़ी चाहै] और हरि के मार्ग में मन लगाये हुए प्रजा ऊँचे स्थानों पर चढ़ी हुई (उत्कंठित होकर) देख रही है ॥१३९॥

देखताँ पथिक उतामला दीठा
झाँखाणा उरि उठी झल ।
नील डाल करि देखि नीलाणा
कुमसथली वासी कमल ॥१४०॥

[देखताँ] देखते देखते [उतामला पथिक दीठा] शीघ्रता से आते हुए पथिक दिखाई दिये। [झाँखाणा] (देखकर) कुम्हला गये, [उरि झल उठी] (और उनके) हृदयों में (चिन्ता की) ज्वाला उठी, [करि नील डाल देखि] (परन्तु उनके) हाथों में हरी डालियाँ देखकर [कुससथली वासी कमल नीलाणा] कमल-रूपी द्वारिकानिवासी हरित होगये ॥१४०॥

सुणि आगम नगर सहू साऊजम
रुषमिणि कृसन वधावण रेसि।
लहरिउँ लियै जाणि लहरीरव
राका दिन दरसण राकेसि ॥१४१॥

[नगर आगम सुणि] नगर में शुभागमन सुनकर [सहू रुषमिणि कृसन वधावण रेसि साऊजम] सभी (नगर-निवासी) श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण का स्वागत करने के लिए उद्यमशील हो उठे [जाणि] मानो [राका दिन राकेसि दरसण लहरीरव लहरिउँ लियै] पूर्णिमा के दिन पूर्ण-चन्द्र के दर्शन के लिए समुद्र लहरें ले रहा है ॥१४१॥

वधाउआँ गृहे गृहे पुरवासी
दलिद्र तणौ दीधौ दलिद्र।
ऊछव हुआ अखित ऊछलिया
हरी द्रोब केसर हलिद्र ॥१४२॥

[पुरवासी गृहे गृहे] नगर-निवासियों ने घर घर में [वधाउआँ दलिद्र तणौ दलिद्र दीधौ] बधाईदारों को (उनकी) दरिद्रता का दारिद्र्य (अभाव) दिया (अर्थात् इतना दिया कि उनकी दरिद्रता नष्ट हो गई) [अखित ऊछव हुआ] निरन्तर उत्सव होने

लगे, [हरी द्रोब केसर हलिद्र ऊछलिया] और हरी दूब से केशर और हल्दी उछाले जाने लगे ॥१४२॥

नर मारगि एक एक मगि नारी
क्रमिया अति उछाह करेउ ।
अङ्कमाल हरि नयर आपिवा
बाहाँ तिकरि पसारी बेउ ॥१४३॥

[एक मारगि नारी एक मगि नर] एक मार्ग से नारियाँ और एक मार्ग से नर [अति उछाह करेउ क्रमिया] बड़ा उत्साह करते हुए चले । [नयर हरि अङ्कमाल आपिवा तिकरि बेउ बाहाँ पसारी] (मानो) द्वारिकापुरी ने हरि को गले लगाने के लिए अपनी दोनों बाहें फैलाई हैं ॥१४३॥

वीजलि दुति दंड मोतिए वरिखा
झालरिए लागा झड़ण ।
छत्रे अकास एम औछायौ
घण आयौ किरि वरण घण ॥१४४॥

[दंड वीजलि दुति] (मंडपों के रत्नजटित) दंड ही (मानो) बिजली की चमक है; [झालरिए झड़ण लागा मोतिए वरिखा] मंडपों की झालरों से झड़ते हुए मोती ही वर्षा (की बूँदें) हैं [छत्रे अकास एम औछायौ] (और मंडपों के ऊँचे ऊँचे गगन-स्पर्शी रंग-बिरंगे) छत्रों से आकाश इस प्रकार छाया हुआ है [किरि घण वरण घण आयौ] मानो रंग बिरंगे मेघ (घनघटा) आये हैं ॥१४४॥

मुकरमै पोलि पोलिमै मारग
मारग सुरँग अबीरमई ।

पुरि हरि सेन एम पैसार्‌यौ
नीरोवरि प्रवसन्ति नई ॥१४५॥

[मारगप्रोलिमै] राज-मार्ग (स्वागतार्थ निर्मित अनेक) द्वारों से सुशोभित हो रहा है [प्रोलि मुकरमै] और द्वार दर्पणमय (मुकुर-सुसज्जित) हैं, [मारग सुरँग अबीरमई] मार्ग सुन्दर रंगों की गुलाल से आच्छादित हो रहे हैं। [हरि पुरी सेन एम पैसार्‌यौ] (तब) भगवान् ने नगर में सेना का इस प्रकार प्रवेश कराया [नई नीरोवरि प्रविसन्ति] जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है ॥१४५॥

धवलहरे धवल दियै जस धवलित
धण नागर देखे सधण
सकुसल सबल सदल सिरि सामल
पुहप बूँद लागी पड़ण ॥१४६॥

[जस धवलित सधण देखे] यश से उज्ज्वलीकृत (श्रीहरि को) बधू सहित देखकर [धवलहरे नागर धण धवल दियै] ऊँचे ऊँचे श्वेत भवनों में नागरिकों की (चतुर) स्त्रियाँ मांगलिक गीत गाने लगीं। [सबल सदल सकुसल सिरि सामल] और बलभद्रजी तथा सैन्यदल के सहित सकुशल (लौटे हुए) श्रीश्यामसुंदर पर [पुहप बूँद पड़ण लागी] पुष्परूपी बूँदें बरसने लगीं ॥१४६॥

जीपे सिसुपाल जरासिँधु जीपे
आयौ गृहि आरती उतारि।
देखे मुख वसुदेव देवकी
वार वार वारै पै वारि ॥१४७॥

[सिसुपाल जरासिँधु जीपे] शिशुपाल और जरासिंध को जीत-कर [जीपे गृहि आयौ] विजय प्राप्त करके घर आया है, [आरती उतारि] (इससे) आरती उतारकर [पै वारि] जल वार कर [वसुदेव देवकी मुख देखे वार वार वारै] वसुदेव देवकी (अपने प्यारे पुत्र का) मुख देखकर बार बार बलैयाँ लेते हैं ॥१४७॥

विधि सहित वधावे वाजित्र वावे
भिन भिन अभिन बाणि मुख भाखि ।
करै भगति राजान क्रिसन ची
राजरमणि रुषमिणि गृह राखि ॥१४८॥

[विधि सहित वधावे] विधिपूर्वक स्वागत होरहे हैं । [वाजित्र वावे] बाजे बज रहे हैं; [भिन्न भिन्न मुख अभिन बाणि भाखि] भिन्न भिन्न मुखों से एक ही (—भगवान के यश की—) बात कही जा रही है; [राजान क्रिसन ची भगति करै] राजा लोग श्रीकृष्णजी का प्रेमपूर्वक सत्कार कर रहे हैं [राजरमणि रुषमिणि गृह राखि भगति करै] (और) रानियाँ श्रीरुक्मिणीजी को अन्त:पुर में रख कर प्रेमपूर्वक सत्कार कर रही हैं ॥१४८॥

दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी
पहिलौ ई पूछै प्रसन ।
दियौ लगन जोतिख ग्रँथ देखे
कइ परणै रुषमणी क्रिसन ॥१४९॥

[दैवग्य तेड़ि वसुदेव देवकी पहिलौ ई प्रसन पूछै] ज्योतिषियों को बुलाकर वसुदेव देवकी पहला यही प्रश्न पूछते हैं, [जोतिख ग्रँथ देखे लगन दियौ कइ क्रिसन रुषमणी परणै] (कि) ज्योतिष के ग्रंथ देखकर शुभ लग्न बतलाओ कि कब श्रीकृष्ण और रुक्मिणी का विवाह हो ॥१४९॥

वेदोगत धरम विचारि वेदविद

कम्पित चित लागा कहण ।

हेकणि सुत्री सरिस किम होवै

पुनह पुनह पाणिग्रहण ॥१५०॥

[वेदविद वेदोगत धरम विचारि कम्पित चित कहण लागा] वेदज्ञ (पंडित) वेदोक्त धर्म का विचार करके [कम्पित चित्त कहण लागा] काँपते हुए (सशंक) चित्त से कहने लगे [हेकणि सुत्री सरिस पुनह पुनह पाणिग्रहण किम होवै] (कि) एक ही स्त्री के साथ बार बार पाणिग्रहण कैसे हो सकता है ? ॥१५०॥

निरखे ततकाल त्रिकाल निदरसी

करि निरणै लागा कहण ।

सगले दोख विवरजित साहौ

हूँतौ जई हूऔ हरण ॥१५१॥

[त्रिकाल निदरसी ततकाल निरखे] त्रिकालज्ञ ब्राह्मण उस काल (हरण-काल के शुभाशुभ) को देखकर [निरणै करि कहण लागा] निर्णय करके कहने लगे [जई हरण हुऔ सगले दोख विवरजित साहौ हूँतौ] (कि) जिस समय हरण हुआ था (उस समय) सर्वदोषरहित श्रेष्ठ मुहूर्त्त था ॥१५१॥

वसुदेव देवकी सूँ ब्राहमणे

कही परसपर एम कहि ।

हुए हरण हथलेवौ हूऔ

सेस संसकार हुवइ सहि ॥१५२॥

[ब्राहमणे परसपर कहि] ब्राह्मणों ने आपस में सलाह करके [वसुदेव देवकी सूँ एम कहि] वसुदेव और देवकी से इस प्रकार

कहा—[हुए हरण हथलेवौ हूऔ] कि हरण होने से ही पाणि-ग्रहण हो चुका [सेस संसकार सहि हुवइ] शेष विवाह-संस्कार अवश्य होंगे ॥१५२॥

विप्र मूरति वेद रतनमै वेदी
वंस आद्र अरजुनमै वेह।
अरणी अगनि अगरमै इन्धण
आहुति घृत घणसार अछेह ॥१५३॥

[विप्र वेद मूरति] ब्राह्मण वेदमूर्त्ति हैं; [वेदी रतनमै] विवाह-वेदी रत्नजटित है [वंस आद्र वेह अरजुनमै] (विवाह-मंडप के) बाँस हरे हैं और मंगलकलश (वेह) सोने-चाँदी के हैं; [अरणी अगनि अगरमै इन्धण] (काष्ठ की रगड़ से उत्पन्न, पवित्र) अरण्याग्नि में अगरमय इन्धन है [घृत घणसार आहुति अछेह] और घृत और कपूर की आहुति निरन्तर दी जा रही है ॥१५३॥

पच्छिम दिसि पूठ पूरब मुख परठित
परठित ऊपरि आतपत्र।
मधुपर्कादि संसकार मंडित
त्री वर बे बैसाणि तत्र ॥१५४॥

[मधुपर्कादि सँसकार मंडित] मधुपर्कादि संस्कारों से मंडित, [ऊपरी आतपत्र परठित] और ऊपर छत्र से सुशोभित [तत्र] वहाँ (उस मंडप में) [पूरब मुख पच्छिम दिसि पूठ परठित] पूर्व की ओर मुख और पश्चिम की ओर पीठ कराकर [वर त्री बे बैसाणि] वर और वधू दोनों बिठाये गये ॥१५४॥

आरोपित आँखि सहू हरि आननि
गरभ उदधि ससि मछे गृहीत ।
चाहै मुख अंगणि ओटे चढि
गावै मुखि मंगल् करि गीत ॥१५५॥

[सहू आँखि हरि आननि आरोपित] सब आँखें श्रीहरि के मुख पर लगी हुई हैं, [उदधि गरभ ससि मछे गृहीत] (मानो) समुद्र के गर्भ में (प्रतिबिम्बित) चन्द्र मछलियों से घिरा हुआ है । [अंगणि ओटे चढ़ि मुख चाहै मुखि मंगल् करि गीत गावै] स्त्रियाँ ऊँचे ऊँचे स्थानों पर चढ़ चढ़ कर (भगवान के) मुख को बड़ी चाह से निरख रही हैं और मुख से मांगलिक गीत गा रही हैं ॥१५५॥

आगलै प्रिया प्री चौथै आरँभि
फेरा त्रिण्हि इण भाँति फिरि ।
कर सांगुष्ट ग्रहण कर सूँ करि
करी कमल् चम्पियौ किरि ॥१५६॥

[आरँभि त्रिण्हि फेरा इण भाँति फिरि] आरम्भ में तीन भाँवरें (वर के आगे वधू) इस प्रकार फिर कर [चौथे प्री प्रिया आगलै] चौथे फेरे में प्रिय (भगवान) प्रिया (रुक्मिणी) के आगे हो गये । [सांगुष्ट कर सूँ कर ग्रहण करि] सांगुष्ठ हाथ से हाथ पकड़ रखा है [किरि] मानो [करी कमल् चम्पियौ] हाथी ने (अपनी सूँड़ में) कमल को पकड़ रखा है ॥१५६॥

पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे
वाच परसपर यथा विधि ।

लाधी वेला माँगी लाधी
निगम पाठके नवे निधि ॥१५७॥

[त्रिया वामै पधरावि] प्रिया को (वधू को) बाँई ओर बिठाकर [यथा विधि परसपर वाच प्रभणावे] (ब्राह्मण) यथाविधि (वरवधू में) परस्पर (सप्तपदी के) वचन कहलाते हैं। [लाधी वेला] (बड़े भाग्य से) उपलब्ध (इस) वेला में [निगम पाठ के नवे निधि माँगी लाधी] वेदपाठी ब्राह्मणों ने नवनिधि मुँह माँगी पाई ॥१५७॥

दूलह हुइ आगै पाछै दुलहणि
दीन्हा क्रम सूणहर दिसि ।
छँडि चौरी हथलेवै छूटै
मन बन्धे अञ्चला मिसि ॥१५८॥

[हथलेवै छूटै] पाणिग्रहण छूटने पर [अञ्चला मिसि मन बन्धे] ग्रंथि-बन्धन के मिस मन बँधे हुए [चौरी छँडि] विवाह मंडप को छोड़कर [आगै दूलह दुलहणि पाछै हुइ] आगे आगे वर (और) पीछे पीछे वधू होकर [सूणहर दिसि क्रम दीन्हा] शयनागार की ओर धीरे धीरे चले ॥१५८॥

आगै जाइ आलि केलि गृह अन्तरि
करि अंगण मारजण करेण ।
सेज वियाज खीर सागर सजि
फूल वियाज सजे तसु फेण ॥१५९॥

[केलि गृह अन्तरि] केलिगृह में [आलि आगै जाइ] सखियों ने आगे (ही से) जाकर [करेण अंगण मारजण करि] अपने हाथों से (उसके) आँगन को साफ़ करके [सेज वियाज

खीर सागर सजि] शय्या के मिस क्षीरसागर (उसके सदृश स्वच्छ और उज्ज्वल) सजाकर (बिछाकर) [फूल वियाज तसु फेन सजे] फूलों के मिस से उस पर फेन सजाये ॥१५९॥

आभा चित्र रचित तेणि रँगि अनि अनि
मणि दीपक करि सूध मणि ।
माँडि रहे चन्द्रवा तणै मिसि
फण सहसेई सहस फणि ॥१६०॥

[तेणि सूध मणि] उस प्रासाद श्रेष्ठ के [अनि अनि रँगि रचित चित्र] अनेक प्रकार के रंगों से (भीत पर) बनाये हुए चित्रों की [मणि दीपक करि आभा] मणिमय दीपकों से (ऐसी) शोभा है, [माँडि रहे चन्द्रवा तणै मिसि सहसेई फण सहस फणि] (मानो) चित्रित किये हुए चन्दवों के मिस सहस्र फणों सहित शेषनाग हो ॥१६०॥

मँदिरन्तरि किया खिणन्तरि मिलिवा
विचित्रे सखिए समावृत ।
कीधै तिणि वीवाह संसक्रित
करण सु तणु रति संसकृत ॥१६१॥

[तिणि वीवाह संसकृत कीधै] उनके विवाह-संस्कार कर चुकने पर [खिणन्तरि रति सु तणु संसक्रित करण मिलिवा] थोड़े ही समय के बाद रति सम्बन्धी संस्कार करने को मिलने के लिए [विचित्रे सखिए समावृत] चतुर सखियों ने इकट्ठी होकर [मँदिरन्तरि किया] (वरवधू को) अलग अलग महलों में किया ॥१६१॥

संकुड़ित समसमा सन्ध्या समयै
रति वञ्छिति रुषमणि रमणि ।
पथिक वधू द्रिठि पंख पंखियाँ
कमल् पत्र सूरिज किरणि ॥१६२॥

[सन्ध्या समयै] सन्ध्या समय में [पथिक वधू द्रिठि] पथिक वधू की दृष्टि [पंखियाँ पंख] पक्षियों के पंख [कमल् पत्र] कमल की पंखुड़ियाँ [सूरिज किरणि सम] और सूर्य की किरणों के समान [रति वञ्छिति रमणि रुषमणि संकुड़ित समा] रति को चाहती हुई रमणी श्रीरुक्मिणी संकुचित सी हो रही हैं ॥

भावार्थ—सन्ध्या समय का बड़ा ही स्वभाव-सुन्दर वर्णन-चित्र है। इस रमणीय समय में, सारे दिन के परिश्रम और विस्तार के बाद, कर्मक्षेत्र से हट कर, विश्रान्ति को चाहती हुई प्रकृति की प्रायः सभी वस्तुएँ संकोच अथवा अपेक्षाकृत शान्ति को प्राप्त होती हैं। उदाहरणतः कवि ने, पथिकवधू की प्रतीक्षोत्सुक दृष्टि, गगनगामी पक्षियों के पंख, कमल की विकसित पंखुड़ियाँ और सूर्य की किरणमाला का सन्ध्याकालीन स्वाभाविक संकोच उपमानरूप में उपस्थित किया है। जिस सन्ध्याकाल में प्राकृतिक नियमानुसार उपरोक्त सभी वस्तुएँ विश्रान्ति की इच्छा करती हुई अपने अपने कार्य में संलग्न, विस्तृत शक्तियों का संकोच करने में तत्पर था, उस काल में भला श्रीरुक्मिणीजी के रतिप्लावित हृदय में संकोच क्यों न होता ? प्रियमिलनोत्सुक श्रीरुक्मिणी के हृदय में रति की प्रेरणा होते हुए भी एक अनिर्वचनीय संकोच का भाव उत्पन्न होने लगा। सन्ध्या का प्राकृतिक संकोचभाव उनकी आत्मा में प्रतिफलित होकर उसके रतिमूलक विस्तार को संकुचित करने लगा। तात्पर्य्य यह है

कि जिस प्रकार प्रवासी पति के लौटने की प्रतीक्षा में उत्सुकतापूर्वक सारे दिन उसकी बाट जोहने पर, पतिव्रता स्त्री की उत्सुक दृष्टि को सन्ध्या का अंधकार आकर घेर लेता है और देखते रहने पर भी उसकी दृष्टि का संकोच कर देता है; जिस प्रकार सन्ध्या होने पर, अपने घोंसलों की तरफ़ उड़ कर जाने की इच्छा रखते हुए भी, पक्षी सन्ध्या के अंधकाररूपी अवरोध के उपस्थित हो जाने पर जहाँ कहीं पक्षसंकोच करके बैठ रहने को बाध्य होते हैं; जिस प्रकार सारे दिन विकसित रही हुई कमल की पंखुड़ियाँ सन्ध्या के संकोचमय समय में सिकुड़ जाती हैं; और जिस प्रकार सारे दिन कर्त्तव्यपथारूढ़ भगवान् सूर्य अपने किरणजाल को फैलाये रहते हैं परन्तु सन्ध्या अकस्मात् आकर उसपर अंधकार का संकोचमय परदा डाल देती है, उसी प्रकार प्रिय मिलन के लिए उत्सुक होते हुए भी इस संकोचमय सन्ध्याकाल में श्रीरुक्मिणीजी का हृदय एक अपूर्व संकोच को प्राप्त हो रहा है। इस संकोचभाव के मनोवैज्ञानिक तथ्य को वे ही जान सकते हैं जो सहृदय हैं—रसज्ञ हैं ॥१६२॥

पति अति आतुर त्रिया मुख पेखण
निसा तणौ मुख दीठ निठ।
चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर
द्रवडित अभिसारिका द्रिठ ॥१६३॥

[चन्द्र किरणि कुलटा अभिसारिका सु निसाचर द्रिठ द्रवडित] (निशामुख में) चन्द्रमा की किरणें, व्यभिचारिणी, अभिसारिका और निशाचरों की दृष्टि दौड़ने लगीं (विस्तार को प्राप्त हुईं) [त्रिया मुख पेखण अति आतुर पति] (और) स्त्री (रुक्मिणी) का मुख देखने के लिए अतीव आतुर (व्याकुल) पति (श्रीकृष्ण)

ने [निठ निसा तणौ मुख दीठ] बड़ी कठिनाई से (बड़ी प्रतीक्षा के बाद) रात्रि का मुख देखा ॥

भावार्थ—सन्ध्या समय के प्राकृतिक संकोच का पूर्व दोहले में वर्णन करके अब कवि निशामुख के प्राकृतिक विस्तारभाव का चित्र चित्रित करते हैं। अब सन्ध्या का तिमिरमय संकोच धीरे धीरे दूर होने लगा है। उसके स्थान पर चन्द्रकिरणों की हृदयाह्लादकारिणी ज्योत्स्ना का विस्तार हो रहा है, कुलटा स्त्रियें अपने दिन भर के संकोच को दूर कर अपने उपपतियों से मिलने को तैयार हो रही हैं, अभिसारिका नायिकाएँ अपने प्रेमियों से मिलने को संकेतस्थल की ओर चल पड़ी हैं और निशाचर—सिंह, व्याघ्र, राक्षस, उलूकादि हिंस्रक जन्तु—निर्बल और निर्दोष जन्तुओं का संहार कर अपना भक्ष्य पाने के हेतु जिधर तिधर चल पड़े हैं। ऐसे विकासोन्मुख समय में भगवान श्रीकृष्ण के हृदयस्थ रतिभाव में विकास होना परम स्वाभाविक है। उनकी प्रियामिलनोत्सुकता विकसित एवं विस्तृत होकर अब आतुरता अर्थात् व्याकुलता बन गई है। प्रिया के दर्शनों की लालसा से वे व्याकुल हो रहे हैं। प्रतीक्षा में क्षण क्षण घंटों की तरह व्यतीत हो रहे हैं, दिन का समय बड़ी कठिनता से कटा है। बड़ी कठिन तपस्या के पश्चात् उनको आशागर्भित निशामुख का दर्शन हुआ है। उनके हृदय में रतिभाव के विकास का इस समय कौन अनुमान लगा सकता है ? ॥१६३॥

अनि पँखि बन्धे चक्रवाक असन्धे
निसि सन्धे इमि अहो निसि ।
कामिणि कामि तणी कामागनि
मन लाया दीपकाँ मिसि ॥१६४॥

[निसि सन्धे] रात्रि की सन्धि में [अहो निसि इमि संधे] दिवस और रात्रि का इस प्रकार संयोग हुआ [अनि पँखि बन्धे] (कि) अन्य पक्षी तो (अपने जोड़ों से) संयुक्त हुए [चक्रवाक असन्धे] परन्तु चक्रवाक का वियोग हुआ [लाया दीपकाँ मिसि] और जलाये हुए दीपकों के मिस [कामिणि कामिमन तणी कामागनि] कामिनी स्त्रियों और कामी पुरुषों के मनों में कामाग्नि (प्रकट हो रही है) ॥१६४॥

ऊभी सहु सखिए प्रसंसिता अति
क्रितारथी प्री मिलण कृत ।
अटत सेज द्वार विचि आहुटि
स्रुति दे हरि घरि समाश्रित ॥१६५॥

[प्री मिलण क्रितारथी] (इधर) प्रियमिलन के निमित्त [सहु सखिए अति प्रसंसिता ऊभी कृत] सब सखियों से अति प्रशंसिता (रुक्मिणी) खड़ी (जाने के लिए तैयार) की गई । [हरि सेज द्वार विचि अटत] (और उधर) श्रीकृष्ण शय्या और द्वार के बीच घूम रहे हैं [आहुटि स्रुति दे घरि समाश्रित] और आहट पर (सुनने के लिए) कान देकर (पुनः) केलिगृह में चले जाते हैं ॥१६५॥

हँसा गति तणी आतुर थया हरि सूँ
वाधाऊआ जेही वहे ।
सूँधावास अनै नेउर सद
क्रमि आगै आगमन कहे ॥१६६॥

[वाधाऊआ जेही वहे] बधाईदारों जैसे चलते हुए [सूंधावास अनै नेउर सद] सुगन्धित द्रव्यों की सुवास और पायलों के शब्द ने

[आगै क्रमि] आगे चल कर [आतुर थ्या हरि सूँ हँसा गति तणौ आगमन कहे] (पूर्व दोहले में वर्णित) आतुर हुए हरि से हंसगमनि (श्रीरुक्मिणी) के आगमन की सूचना दी ॥१६६॥

अवलंबि सखी कर पगि पगि ऊभी
रहती मद वहती रमणि ।
लाज लोह लंगरे लगाए
गय जिम आणी गयगमणि ॥१६७॥

[सखी कर अवलंबि पगि पगि ऊभी रहती] सखी का हाथ पकड़कर पग पग पर खड़ी रहती हुई [मद वहती गयगमणि रमणि] यौवन-मद को झलकाती हुई गजगामिनी सुन्दरी (रुक्मिणी) [लाज लोह लंगरे लगाए गये जिम आणी] लज्जारूपी लोह के लंगरों से बन्धे हुए (मदोन्मत्त) हाथी की भाँति लाई गई ॥१६७॥

देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी
आणँद को ऊपनौ अमाप ।
तिण आपही करायौ आदर
ऊभा करि रोमांसूँ आप ॥१६८॥

[देहली धसति हरि जेहड़ि दीठी] देहली में प्रवेश करती हुई [श्रीरुक्मिणी) को जैसे ही श्रीहरि ने देखा [को अमाप आणँद ऊपनौ] (तैसे ही) क्या ही असीम आनन्द उत्पन्न हुआ [तिण आपही आप ऊभा करि रोमा सूँ आदर करायौ] उस (आनन्द) ने आपही आप खड़ा करके रोमों से (श्रीरुक्मिणी का) आदर करवाया ॥१६८॥

वहि मिली घड़ी जाइ घणा वाँछता
घण दीहाँ अन्तरै घरि ।

अंकमाल् आपे हरि आपणि
पधरावी त्री सेज परि ॥१६९॥

[जाइ घणा वाँछता) जिसकी बड़ी इच्छा थी [घणा दीहाँ अन्तरै] बहुत दिनों के बाद [घरि] घर में ही [वहि घड़ी मिली] वह घड़ी मिल गई । [हरि आपणि अंकमाल् आपे] हरि ने अपनी गोद में लेकर [त्री सेज परि पधरावी] प्रिया (श्रीरुक्मिणी) को शय्या पर विराजमान किया ॥१६९॥

अति प्रेरित रूप आँखियाँ अत्रिपत
माहव जद्यपि त्रिपत मन।
वार वार तिम करै विलोकन
धण मुख जेही रंक धन ॥१७०॥

[जद्यपि माहव त्रिपत मन] यद्यपि माधव तृप्त मन (पूर्णकाम) है [अति रूप प्रेरित आँखियाँ अत्रिपत] (तथापि श्रीरुक्मिणी के) परम मनोहर रूप से चलायमान (श्रीभगवान्) की आँखें अतृप्त हैं । [धण मुख वार वार तिम विलोकन करै] वे प्रिया के मुख को बार बार इस प्रकार देखते हैं, [जेही रंक धन] जिस प्रकार रंक धन को ॥१७०॥

आजाति जाति पट घूँघट अन्तरि
मेलण एक करण अमिली ।
मन दम्पती कटाछि दूति मै
निय मन सूत्र कटाछि नली ॥१७१॥

[दूति मै कटाछि] दूतिकारूपी (श्रीरुक्मिणी के) नेत्र-कटाक्ष [सूत्र निय मन नली कटाछि] (अथवा) सूत्र बुनने की नलिकारूपी

(रुक्मिणी के) नेत्र-कटाक्ष [दम्पति अमिली मन मेलण एक करण] दम्पति के (अभी तक) न मिले हुए मन को मिला कर एक करने के लिए [घूँघट पट अन्तरि आजाति जाति] घूँघटरूपी वस्त्र के अन्दर आते हैं और जाते हैं ॥१७१॥

वर नारि नेत्र निज वदन विलासा
जाणियौ अँतहकरण जई ।
हसि हसि भ्रूहे हेक हेक हुइ
गृह बाहरि सहचरी गई ॥१७२॥

[वर नारि नेत्र निज वदन विलासा] वर (श्रीकृष्ण) और वधू (श्रीरुक्मिणी) के नेत्रों (और) उनकी मुख की चेष्टाओं से [जई अँतहकरण जाणियौ] जब (उनके) आन्तरिक भावों को जान लिया [भ्रूहे हसि हसि] तब भौंहों से हँसती हुई [हेक हेक हुइ सहचरी गृह बाहरि गई] एक एक होकर सखियाँ महल के बाहर चली गईं ॥१७२॥

एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरँभ
दीठौ सु न किहि देव दुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै
सुख ते जाणणहार सुजि ॥१७३॥

[एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरँभ] (तब) एकान्त में होने योग्य क्रीड़ा का आरंभ हुआ [सु किहि देव दुजि न दीठौ] (जिसे) किसी देवता अथवा ऋषि मुनि ने भी नहीं देखा। [अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै] अनदेखी अनसुनी (बात) किस प्रकार कही जाय ? [सुजि सुख जाणणहार ते] उस सुख को जाननेवाले वे (श्रीकृष्ण रुक्मिणी) ही हैं ॥१७३॥

पति पवन प्रारथित त्री तत्र निपतित
सुरत अन्त केहवी श्री ।
गजेन्द्र क्रीडता सु विगलित गति
नीरासइ परि कमलिनी ॥१७४॥

[पति पवन प्रारथित] पति (श्रीकृष्ण) द्वारा पवन डुलाने के लिए प्रार्थना की जाती हुई [सुरत अन्त तत्र निपतित त्री केहवी श्री] रति के अन्त में वहाँ (शय्या पर) पड़ी हुई श्रीरुक्मिणीजी की कैसी शोभा है [सु क्रीडता गजेन्द्र] मानो क्रीड़ा करते हुए गजेन्द्र द्वारा [विगलित गति कमलिनी नीरासइ परि] (तोड़ कर) म्लान दशा को प्राप्त कमलिनी सरोवर में पड़ी हो ॥१७४॥

कीधै मधि माणिक हीरा कुन्दण
मिळिया कारीगर मयण ।
स्यामा तणै लिलाट सोहिया
कुंकुम विन्दु प्रसेद कण ॥१७५॥

[स्यामा तणै लिलाट] श्रीरुक्मिणी के ललाट पर [प्रसेद कण कुंकुम विन्दु सोहिया] पसीने के कणों में कुंकुम का बिन्दु शोभित है । [कारीगर मयण कुन्दण मधि हीरा कीधै माणिक मिळिया] (मानो) कामदेवरूपी कारीगर (जड़िये) ने सुवर्ण में हीरे जड़ कर बीच में माणिक मिला दिया है ॥१७५॥

त्री वदन पीतता चित व्याकुलता
हियै धगधगी खेद हुइ ।
धरि चख लाज पगे नेउर धुनि
करे निवारण कंठ कुहु ॥१७६॥

[स्री वदन पीतता, चित व्याकुलता, हिये ध्रगध्रगी खेद हुइ] श्रीरुक्मिणीजी के मुख पर पीलापन, चित्त में व्याकुलता, हृदय में धकधकी और खेद (सुरतान्त संताप) हो रहा था। [चख लाज धरि पगे नेउर धुनि कंठ कुह निवारण करे] (उन्होंने) नेत्रों में लज्जा धारण करके पैरों में नेवर की झंकार (और) कंठ में (मधुर) कोकिल स्वर को बन्द कर दिया ॥१७६॥

तिणि तालि सखी गलि स्यामा तेही
मिली भमर भारा जु महि।
वलि ऊभी थई घणा घाति वल
लता केलि अवलंब लहि ॥१७७॥

[भमर भारा महि मिली] भ्रमरों के बोझ से पृथ्वी से मिली हुई [जु लता केलि अवलंब लहि] जो लता कदली का सहारा पाकर [घणा वल घाति वलि ऊभी थइ] (उसपर) बहुत से बल डाल कर (अर्थात् लिपट कर) फिर खड़ी हो जाती है, [तेही तिणि तालि] उसी प्रकार उस समय [स्यामा सखी गलि (अवलंब लहि ऊभी थई)] श्रीरुक्मिणी सखी के गले का सहारा लेकर (शय्या पर से) उठ खड़ी हुई ॥१७७॥

पुनरपि पधरावी कन्है प्राणपति
सहित लाज भय प्रीति सा।
मुगत केस त्रूटी मुगतावलि
कस छूटी छुद्र घंटिका ॥१७८॥

[केस मुगत, मुगतावलि त्रूटी, कस छूटी छुद्र घंटिका छूटी] (जिनका) केशपाश खुल गया है, मोतियों की माला टूट गई है, (कंचुकी की) कस खुल गई है, (और) कटिमेखला भी खुल गई

है [सा] (ऐसी) वे (श्रीरुक्मिणी) [लाज भय प्रीति सहित प्राणपति कन्है पुनरपि पधरावी] लज्जा, भय और प्रीति सहित प्राणपति (श्रीकृष्ण) के पास फिर से पहुँचाई गई ॥१७८॥

सुख लाधै केलि स्याम स्यामा सँगि
सखिए मनरखिए सँघट ।
चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाली
हुइ रहियौ कहकहाहट ॥१७९॥

[स्याम स्यामा सँगि केलि सुख लाधै] श्रीश्याम के श्यामा के साथ केलि-सुख लाभ करने पर [मनरखिए सखिए सँघट] उनके मन रखनेवाली सखियों के समूह में [चौकि चौकि ऊपरि चित्रसाली कहकहाहट हुइ रहियौ] चौक चौक पर बनी हुई चित्रशालाओं (रंगमहलों) में खिलखिलाहट हो रही है ॥१७९॥

राता तत चिन्तारत चिन्तारत
गिरि कन्दरि घरि बिन्हे गण ।
निद्रावस जग एहु महानिसि
जामिए कामिए जागरण ॥१८०॥

[एहु महानिसि जग निद्रावस] इस निशीथकाल में (अखिल) जगत् निद्रा के वशीभूत हो रहा है । [तत चिन्ताराता जामिए गिरि कन्दरि, रत चिन्तारत कामिए घरि] (परन्तु) परमतत्व के चिन्तन में संलग्न योगी-जन पर्वतों की गुफाओं में (और) रतिचिन्ता में लीन कामीजन घरों में—[बिन्हे गण]—दोनों (प्रकार के) पुरुष—[जागरण] जाग रहे हैं ॥१८०॥

लिखमीवर हरख निगरभर लागी
आयु रयणि त्रूटन्ति इम
क्रीड़ाप्रिय पोकार किरीटी
जीवितप्रिय घड़ियाल जिम ॥१८१॥

[क्रीड़ाप्रिय हरख निगरभर लिखमीवर] रति क्रीड़ा-प्रिय, आनन्द के समूह में निमग्न लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण) को [त्रूटन्ति रयणि] रात्रि के अवसान में [किरीटी पोकार इम लागी] कुक्कुट की पुकार इस प्रकार लगी [जिम जीवितप्रिय त्रूटन्ति आयु घड़ियाल] जिस प्रकार जीवितप्रिय पुरुष को व्यतीत होती हुई ज़िन्दगी (के समय) में घटिका (का शब्द लगता है) ॥१८१॥

(प्रभात वर्णन)

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गलन्ती
वर मन्दा सइ वदन वरि ।
दीपक परजलतौ इ न दीपै
नासफरिम सू रतनि नरि ॥१८२॥

[रयणि गलन्ती] रात्रि के व्यतीत होने पर [ससि गत प्रभा थियौ] चन्द्रमा कान्तिहीन हो गया [वर मन्दा सइ वरि वदन] (जैसे) पति के अस्वस्थ होने से पतिव्रता का सुन्दर मुख । [दीपक परजलतै इ न दीपै] दीपक जलता हुआ भी प्रकाश नहीं करता, [नासफरिम सू नरि रतनि] जैसे आज्ञा भंग हो जाने से (हुकूमत) न रहने से नरश्रेष्ठ (राजा) ॥१८२॥

मेली तदि साथ सुरमण कोक मनि
रमण कोक मनि साध रही ।

फूले छंडी वास प्रफूले
ग्रहणे सीतलता इ ग्रही ॥१८३॥

[तदि कोक मनि सुरमण साध मेली] उस समय चक्रवाक के मन की रमण करने की वाञ्छा पूर्ण हुई [कोक रमण मनि साध्र रही] (परन्तु) कोकशास्त्रानुसार रमण करनेवालों (नायक-नायिकाओं) के मन की इच्छा निवृत्त हुई [प्रफूले फूले वास छंडी] प्रफुल्लित फूलों ने अपनी सुगंध छोड़ी, [ग्रहणे सीतलता इ ग्रही] (और) आभूषणों ने शीतलता ग्रहण की ॥१८३॥

धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि
अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास ।
माया पटल निसामै मंजे
प्राणायामे ज्योति प्रकास ॥१८४॥

[संख भेरि धुनि अनाहत धुनि उठी] शंख और भेरी का शब्दरूपी अनाहत् नाद उठा । [अरुणोदय जोग अभ्यास थियौ] सूर्योदयरूपी योगाभ्यास हुआ । [निसामै माया पटल मंजे] रात्रिरूपी माया का परदा हट गया । [प्राणायामे ज्योति प्रकास] (और सूर्य का प्रकाशरूपी) प्राणायाम में परम ज्योति का प्रकाश हुआ ॥

भावार्थ—अब सूर्योदय हो गया । यही योगाभ्यास का परम-पवित्र समय हुआ । इस विशुद्ध काल में मंदिरों, देवस्थानों आदि में शंख, भेरी, झालर, झांझ और नगाड़े आदि के बजने का परम मनोहर शब्द होता है । वही मानो संयतात्मा योगाभ्यास-निरत योगी को अपनी

अन्तरात्मा में अनाहत नाद सुनाई देता है। अब रात्रि का अंधकार दूर होकर भगवान भास्कर की परम-पावन ज्योति का प्रकाश हो गया है। यही मानो यम-नियमासन ध्यान-धारणा समाधि योगसाधनों द्वारा अज्ञान एवं माया का मोहान्धकारमय परदा हट कर योगी की परिष्कृत अन्तरात्मा में विशुद्ध ब्रह्म-ज्ञान का पवित्र प्रकाश प्रकट हुआ है। इस प्रकाश का दर्शन योगीजन प्राणायाम के अन्त में अन्तरात्मा में प्रकट हुई परमज्योति के प्रकाश के रूप में अनुभव करते हैं ॥१८४॥

संयोगिणि चीर रई कैरव श्री
घर हट ताळ भमर गोघोख।
दिणयर ऊगि एतला दीधा।
मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख ॥१८५॥

[दिणयर ऊगि] सूर्य ने उदय होकर [संयोगिणि चीर रई कैरव श्री एतला मोखियाँ बंध दीधा] संयोगिनी स्त्रियों के वस्त्र, मंथन-दंड, कुमुदिनी की शोभा—इतनी मुक्त (खुली हुई) वस्तुओं को बंधन दे दिया। [घर हट ताळ भमर गोघोख एतला बंधियाँ मोख (दीधा)] (और) घर, हाट, ताले, भ्रमर और गोशालाएँ—इतनी बंद वस्तुओं को मुक्त किया (खोल दिया) ॥१८५॥

भावार्थ—प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश में कवि ने बंधन और मोक्ष देने की शक्ति का अनुमान किया है।

संयोगिनी स्त्रियाँ रात्रि में प्रेमपूर्वक अपने पतियों से रति-क्रीड़ा करती हैं। इस क्रीड़ा में उनके वस्त्रबंध शिथिल हो जाते हैं। प्रातःकाल

होने पर लज्जावश ये संयोगिनी स्त्रियाँ अपने खुले हुए वस्त्रों को पुनः बाँधती हैं। प्रात:काल होने पर गृहस्थों में गृहस्वामिनियाँ उठ कर दधिमंथन करने के लिए आवश्यक सामान जुटाती हैं। दही मथने का दंड–रई–जो रात्रि में खुला पड़ा था, इस समय पुनः बाँधा जाता है। चन्द्रवल्लभा कुमुदिनी रात्रि को विकसित अर्थात् मुक्तावस्था में थी परन्तु अब सूर्योदय होने पर सकुचाकर बंद हो गई है।

इसके विपरीत घरों के द्वार, बाज़ार की हाटें और उनपर पड़े हुए ताले, जो रात्रि में चौरादि के भय से बन्द थे अब सूर्योदय होने पर खोल दिये गये हैं। बिचारा भ्रमर मकरंद के लोभ में आकर रात को कमलकोश ही में बंद हो गया था। सूर्योदय ने आकर उस बंदी को भी कारागार विमुक्त किया। गोशालाएँ तथा अन्य घरेलू पशुओं के बाड़े रात्रि को बन्द कर दिये थे। प्रात:काल होते ही वे पशु वन अथवा गोचर-भूमि में चरने को बाहर निकाले गये। इनको भी मुक्ति प्राप्त हुई॥

वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट
चोर चकव विप्र तीरथ वेल़।
सूर प्रगटि एतला समपिया
मिल़ियाँ विरह विरहियाँ मेल़॥१८६॥

[सूर प्रगटि] सूर्य ने प्रकट होकर [वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट एतला मिल़ियाँ विरह समपिया] वणिकों को (अपनी) स्त्रियों से, गौओं को बछड़ों से, और कुलटाओं को लम्पट पुरुषों से—इतने मिले हुओं को वियोग दिया। [चोर चकव विप्र तीरथ वेल़ विरहियाँ मेल़ (समपिया)] (और) चोरों (को उनकी स्त्रियों

से) चकवों (को चकवियों से) और विप्रों को तीर्थ की लहरों से—इतने बिछुड़े हुओं को मिलन (संयोग-सुख) दिया ॥

भावार्थ—पूर्व दोहले की भाँति इसमें भी सूर्योदय की वियुक्त जीवों को संयुक्त करने और संयुक्त जीवों को वियुक्त करने की शक्ति का अनुमान किया गया है।

व्यापार वृत्तिवाले वणिक् जो रात्रि को अपनी अपनी स्त्रियों के साथ आनन्दपूर्वक रहे, अब प्रातःकाल होते ही अपने अपने काम-धन्धों में लग गये, अतएव दिन भर के लिए अपनी स्त्रियों से वियुक्त होगये। गाय और बछड़े रात्रि को एक ही गो-घोष में प्रेमपूर्वक रहे परन्तु प्रातःकाल होते ही दोनों वन में चरने के लिए निकाल दिये गये। वहाँ पर चरते चरते एक दूसरे से अलग निकल गये। अतएव उनका परस्पर वियोग हो गया। कुलटा और लम्पट पुरुषों को रात्रि के अन्धकार में छिपकर संकेतस्थल पर मिलने का मौक़ा मिला था, परन्तु अब सूर्योदय होते ही वे वियोग को प्राप्त हुए।

इनके विपरीत चोर, जो रात्रि में चोरी करने को बाहर निकलने के कारण अपनी अपनी स्त्रियों से अलग रहे, अब लौट कर घर आये और अपने अपने घरों में छिप रहे। अतएव इन वियोगियों का दिन में अपनी प्रियाओं से संयोग हुआ। साहित्य में प्रसिद्ध है कि चकवा-चकवी का रात्रि में वियोग हो जाता है। प्रातःकाल होने पर इनका पुनर्मिलन हुआ। इसी प्रकार कर्मकाण्डी धर्मनिष्ठ ब्राह्मण जो रात्रि में तीर्थस्थल को छोड़ कर अन्यत्र चले गये थे, प्रातःकाल होते ही ब्राह्ममुहूर्त्त में सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म करने को पुनः तीर्थ पर आये। अतएव तीर्थ के पवित्र जल से उनका पुनः संयोग हुआ ॥१८६॥

ऋतु-वर्णन

(ग्रीष्म)

नदि दीह वधे सर नीर घटे निसि
गाढ़ धरा द्रव हेमगिरि
सुतरु छाँह तदि दीध जगत सिरि
सूर राह किय जगत सिरि ॥१८७॥

[तदि सूर जगति सिर राह किय] तब सूर्य ने जगत् के सिर पर से होकर मार्ग बनाया [सुतरु छाँह जगत सिरि दीध] (और) सघन वृक्षों ने (अपनी) छाया जगत् के सिर पर की। [नदि दीह वधे] नदी और दिन बढ़ने लगे; [सर नीर निसि घटे] सरोवरों का जल और रात्रि घटने लगे; [धरा गाढ हेमगिरि द्रव] पृथ्वी में कठोरता और हिमालय में द्रव-भाव आगया ॥१८७॥

आकुल थ्या लोक केहवो अचिरज
वंछित छाया ए विहित
सरण हेम दिसि लीधौ सूरिज
सूरिज ही व्रिख आसरित ॥१८८॥

[आकुल थ्या लोक छाया वंछित] व्याकुल हुए लोग छाया चाहते हैं। [ए विहित, केहवो अचिरज] यह ठीक ही है, (इसमें) कौनसा आश्चर्य्य है। [सूरिज हेम दिसि सरण लाधौ] (क्योंकि इस समय) सूर्य ने भी हिमदिशा (उत्तर दिशा) की शरण ली है। [सूरिज ही व्रिख आसरित] (और) स्वयं सूर्य भी वृक्ष (वृषराशि) के आश्रित हैं ॥१८८॥

श्रीखंड पंक कुमकुमौ सलिल सरि
दलि मुगता आहरण दुति।

जल् क्रीड़ा क्रीड़न्ति जगतपति
जेठ मासि एही जुगति ॥१८९॥

[दलि मुगता आहरण दुति जगतपति] अंगों पर मोतियों के आभूषणों की कान्तिवाले जगत्पति (कृष्ण) [कुमकुमै सलिल श्रीखंड पंक सरि] गुलाबजलरूपी पानी और चंदनरूपी पंकवाले सरोवर में [एही जुगति जेठ मासि जल्क्रीड़ा क्रीड़न्ति] इस विधि से ज्येष्ठ मास में जलक्रीड़ा करते हैं ॥१८९॥

मिलि माह तणी माहुटि सूँ मसि व्रन
तपि आसाढ तणौ तपन।
जन ओजन पणि अधिक जाणियौ
मध्यरात्रि प्रति मध्याह्न ॥१९०॥

[माह तणी माहुटि सूँ मिलि] माघ मास की मेघ-घटाओं से आच्छादित [मसि व्रन मध्यरात्रि प्रति] कृष्णवर्ण (घोर अंधेरी) अर्द्धरात्रि की अपेक्षा [अधिक ओजन पणि] अधिक निर्जनता [तपन तपि आसाढ तणौ मध्याह्न जन जाणियौ] सूरज से तपे हुए आषाढ़ मास के मध्याह्न में, मनुष्यों को ज्ञात हुई ॥१९०॥

नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर
धणी भजै धण पयोधर।
झोलै वाइ किया तरु झंखर
लवली दहन कि लू लहर ॥१९१॥

[नैरन्ति प्रसरि] नैऋत्यकोण से चल कर [झोलै वाइ तरु झंखर किया] झोले के वायु ने वृक्षों को झंखाड कर दिया [लू लहर लवली दहन कि] (और) लू की लपेटों ने लताओं को जला दिया। [धणी धण पयोधर भजै] (ऐसे ग्रीष्मकाल में) पति (अपनी) स्त्रियों

के कुचों का सेवन करते हैं [निरधण गिरि नीझर भजै] (परन्तु) स्त्री-हीन पुरुष पर्वतीय झरनों का सेवन करते हैं ॥१९१॥

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि
नवै विहाणै नवी परि।
कुसुम कमल् दल् माल् अलंकित
हरि क्रीड़ै तिणि धवल्हरि ॥१९२॥

[कसतूरी गारि कपूर ईंट करि तिणि धवल्हरि] कस्तूरी की गार और कर्पूर की ईंटों के उस (प्रसिद्ध) महल में [कमल् कुसुम दल् माल् अलंकित हरि] कमल आदि पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित श्रीहरि [नवै विहाणै नवी परि क्रीड़ै] प्रत्येक नये प्रभात में नए नए प्रकार से क्रीड़ा करते हैं ॥१९२॥

ऊपड़ी धुड़ी रवि लागी अम्बरि
खेतिए ऊजम भरिया खाद्र।
मृगशिर वाजि किया किंकर मृग
आद्रा वरसि कीध धर आर्द्र ॥१९३॥

[मृगशिर वाजि मृग किंकर किया] मृगवात (बड़े वेग से चलने-वाली गरम हवा) ने चल कर हरिणों को किंकर्त्तव्यविमूढ (व्याकुल) कर दिया; [धुडी ऊपड़ी अम्बरि रवि लागी] (और) धूलि उड़कर आकाश में सूर्य से जा लगी। [आद्रा वरसि धर आर्द्र कीध] आर्द्रा में (आर्द्रा नक्षत्र पर सूर्य के आते ही) वर्षा ने बरस कर पृथ्वी को गीली कर दिया [खाद्र भरिया] गड्ढे (जल से) भर गये [खेतिए ऊजम] (और) किसान उद्यम (कृषि) में लगे ॥१९३॥

(वर्षा)

बग रिखि राजान सु पावसि बैठा
सुर सूता थिउ मोर सर।
चातक रटै बलाहकि चंचल
हरि सिणगारै अम्बहर ॥१९४॥

[बग रिखि राजान सु पावसि बैठा] बगुले, ऋषि-मुनि तथा राजा लोग पावस ऋतु में बैठ गये हैं (एक स्थान में टिक गये हैं); [सुर सूता] देवगण सो गये हैं; [मोर सर थिउ] मोरों की ध्वनि होने लगी; [चातक रटै] पपीहे टेर लगाने लगे, [हरि चंचल बलाहकि अम्बहर सिणगारै] (और) इन्द्र चंचल बादलों से आकाश को शृंगारने लगा ॥१९४॥

काली करि काँठलि ऊजल कोरण
धारे श्रावण धरहरिया।
गलि चालिया दिसो दिसि जलग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया ॥१९५॥

[काली काँठलि ऊजल कोरण करि] काले काले वर्त्तुलाकार मेघों (और उनके) प्रान्त भागस्थ श्वेत बादलों की कोरवाली घटाओं सहित [श्रावण धारे धरहरिया] श्रावण मूसलाधार (वृष्टि) से पृथ्वी को जलप्लावित करने लगा। [दिसो दिसि जलग्रभ गलि चालिया] दिशा दिशा में बादल पिघल चले। [थंभि न विरहिण नयण थिया] वे थमते नहीं; विरहिणी स्त्री के (अश्रुजल धार बहते) नेत्र हो रहे हैं॥

भावार्थ—वर्षाऋतु के श्रावण मास में काले काले वर्त्तुलाकार बादलों की घटाएँ सब दिशाओं में उठ रही हैं। उनके आगे आगे

पवन के झकोरों से बहाये जाते हुए श्वेत रंग के बादलों के लोर चल रहे हैं। इस समय सभी दिशाओं में पानी से भरे हुए बादल पिघले पड़ते हैं और वे मूसलाधार वर्षा करके पृथ्वी को जलप्लावित कर देते हैं। थोड़े ही समय में सारा स्थल जलमय प्रतीत होता है। इस प्रकार घटाओं का अविरल बरसना उसी प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार किसी विरहिणी नायिका के नेत्रों से अविरल अश्रु-धार का बहना ॥१९५॥

> वरसतै दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया
> सघण गाजियौ गुहिर सदि।
> जल़निधि ही समाइ नहीं जल़
> जल़बाल़ा न समाइ जल़दि ॥१९६॥

[दड़ड़ वरसतै] बड़े जोर से बरसने से [अनड़ नड़ वाजिया] पर्वतों के नाले शब्दायमान होने लगे। [सघण गुहिर सदि गाजियौ] सघन मेघ गंभीर शब्द से गर्जने लगा। [जल़निधि ही जल़ न समाइ] समुद्र में भी जल नहीं समाता [जल़बाल़ा जल़दि न समाइ] और बिजली बादलों में नहीं समाती है ॥१९६॥

> निहसे वूठौ घण विणु नीलाणी
> वसुधा थलि़ थलि़ जल़ वसइ
> प्रथम समागम वसत्र पदमणी
> लीधे किरि ग्रहणा लसइ ॥१९७॥

[निहसे घण वूठौ] गर्जन सहित घन बरसा [विणु नीलाणी वसुधा थलि़ थलि़ जल़ बसइ] हरियाली रहित पृथ्वी पर स्थान स्थान पर जल भरा पड़ा है [किरि प्रथम समागम पदमणी वसत्र लीधै]

जैसे प्रथम सम्मिलन में पद्मिणी स्त्री के वस्त्र उतार लेने पर [ग्रहणा-लसइ] (उसके) आभूषण शोभा पाते हैं ॥१९७॥

तरु लता पल्लवित तृणे अंकुरित
नीलाणी नीलम्बर न्याइ।
प्रथमी नदिमै हार पहरिया
पहिरे दादुर नूपुर पाइ ॥१९८॥

[तरु लता पल्लवित] तरु लता (अब) पल्लवित हो गये हैं, [तृणे अंकुरित] तृणों के अंकुर निकल आये, [प्रथमी नीलम्बर न्याइ नीलाणी] (जिनसे) पृथ्वी हरी साड़ी पहनी हुई (नायिका) की भाँति हरित होगई है। [नदिमै हार पहरिया] (उसने) नदीरूपी हार धारण किया है [पाइ दादुर नूपुर पहिरे] (और) पैरों में दादुररूपी नूपुर पहने हैं ॥१९८॥

काजल गिरि धार रेख काजल करि
कटि मेखला पयोधि कटि।
मामोलौ बिन्दुलौ कुँकूँमै
पृथिमी दीध निलाट पटि ॥१९९॥

[काजल गिरिधार किरि काजल रेख] (वर्षा से भीगे हुए) काले काले पर्वतों की श्रेणी ही मानो (पृथ्वीरूपिणी नायिका के नेत्रों में) काजल की रेख है; [कटि पयोधि कटि मेखला] कटि में समुद्र ही मानो कटिमेखला (करधनी) है [पृथिमी निलाट पटि कुँकूँमै मामालौ बिन्दुलौ दीध] (और) पृथ्वी ने अपने ललाट पर बीरबहूटी रूपी कुंकुम की बिन्दी लगाई है ॥१९९॥

मिळियै तट ऊपटि बिथुरी पिळिया
धण धर धाराधर धणी।
केस जमण गंग कुसुम करम्बित
वेणी किरि त्रिवेणी वणी ॥२००॥

[धर धण धाराधर धणी मिळिया] (जब) पृथ्वीरूपिणी पत्नी और मेघरूपी पति मिले [ऊपटि तट मिळियै गंग जमण त्रिवेणी] (तब) उमड़ कर तटों को मिलाती हुई (जलमग्न करती हुई) गंगा और यमुना का संगम स्थान—त्रिवेणी—ही [किरि] मानो [बिथुरी कुसुम करम्बित केस वेणी वणी] बिखरी हुई, फूलों से गुथी हुई (पृथ्वी-रूपिणी नायिका की) वेणी बनी (अर्थात् शोभायमान हुई) ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रति-क्रीड़ा के समय स्त्री का केशपाश बिखर जाता है, उसी प्रकार मेघरूपी पति तथा पृथ्वीरूपिणा पत्नी का जब समागम हुआ तब नायिका का बिखरा हुआ केशपाश ऐसा दिखाई देने लगा मानो त्रिवेणी का जल अपने तटों को जलमग्न करता हुआ उमड़ कर उनसे बाहर निकल गया और इधर उधर विस्तृत होकर बहने लगा। यह दृश्य इसी प्रकार मनोहर प्रतात होता था मानो उपरोक्त संयोगिनी पृथ्वी नायिका के बिखरे हुए केशपाश में यत्र-तत्र गुथे हुए सुन्दर शुभ्र और लाल पुष्प-गुच्छ भी बिखर गये। इस सादृश्य में नायिका का बिखरा हुआ केश-कलाप उमड़ कर बहते हुए जमुना के श्याम जल के सदृश और उसमें बीच बीच में गुथे हुए श्वेत और लाल पुष्प गंगा और सरस्वती के श्वेत और लाल जल के सदृश हुए। त्रिवेणीरूपी वेणी का अपूर्व सौन्दर्य्य है ॥२००॥

धर श्यामा सरिस स्यामतर जल्धर
घेघूँचे गलि बाहां घाति ।
भ्रमि तिणि सन्ध्या वंदन भूला
रिखिय न लखे सकै दिन राति ।।२०१।।

[धर श्यामा सरिस जल्धर स्यामतर] पृथ्वी श्रीरुक्मिणी की भाँति (और) बादल घनश्याम श्रीकृष्ण की भाँति [गलि बाहां घाति घेघूँचे] गल बाहें डालकर एक हो रहे हैं [दिन राति न लखे सकै] दिन और रात्रि का भेद नहीं जाना जा सकता [तिणि रिखिय भ्रमि सन्ध्या वंदन भूला] (जिससे) ऋषि मुनिगण भ्रम में पड़कर सन्ध्या वंदन करना भूल गये ।।२०१।।

रूठा पै लागि मनावि करे रस
लाधी देह तणौ गिणि लाभ ।
दम्पतिए आलिंगन दीधा
आलिंगन देखे धर आभ ।।२०२।।

[धर आभ आलिंगन देखे] पृथ्वी और मेघ के आलिंगन को देख कर [देह लाधी तणौ लाभ गिणि] मनुष्य शरीर पाने का यही लाभ है (ऐसा) विचार कर [रूठा पै लागि मनावि दम्पति ए आलिंगन दीधा] रूठे हुओं को पैरों पड़ पड़कर, मनाकर स्त्री पुरुष आलिंगन दिये हुए [रस करे] प्यार करते हैं ।।२०२।।

जल्जाल् श्रवति जल् काजल् ऊजल्
पीला हेक राता पहल ।
आधो फरै मेघ ऊधसता
महाराज राजै महल ।।२०३।।

[काजल ऊजल जलजाल जल श्रवति] श्याम और श्वेत बादल जल बरसा रहे हैं। [आधों फरै मेघ ऊधसता] (और जिनके) छज्जों पर मेघ रगड़ते हुए चलते हैं (ऐसे) [हेक पीला पहल राता महल महाराज राजै] कई पीले और दूसरे लाल महलों में महाराज शोभायमान हैं ॥२०३॥

करि ईंट नीलमणि कादो कुंदण
थम्भ लाल पट पाँचि थिर।
मँदिरे गौख सु पदमरागमै
सिखरि सिखि रमै मन्दिर सिर ॥२०४॥

[लाल थिर थम्भ पाँचि पट] (जिनके) लाल मणियों के सुदृढ़ खम्भे हैं और (उनपर) पंचरत्नों के (छत के) पाट लगे हुए हैं [गौख सु पदमरागमै] (जिनके) झरोखे पद्मराग मणि निर्मित हैं [नीलमणि ईंट कादो कुन्दण करि] (ऐसे) नीलमणि की ईंटों और सुवर्ण के गारे से बनाये हुए [मन्दिर सिखर सिर सिखि रमै] महलों के शिखर शिखर पर मयूर क्रीड़ा कर रहे हैं ॥२०४॥

धरिया तनि वसत्र कुमकुमै धोया
सौंधा प्रखोलित महल सुख।
भर श्रावणि भाद्रवि भोगविजै
रुषमिणि वर एहवी रुख ॥२०५॥

[कुमकुमै धोया वसत्र तनि धरिया] सुगन्धित गुलाबजल से धुले हुए वस्त्र अपने शरीर पर धारण किये हुए [सौंधा प्रखोलित महल] सुगंधित द्रव्यों से छिड़के हुए महलों में [वर रुषमिणि भर श्रावणि भाद्रवि एहवी रुख सुख भोगविजै] श्रीकृष्ण और श्रीरुक्मिणी

सम्पूर्ण श्रावण और भाद्रपद के महीनों में इस प्रकार से सुख भोग रहे हैं ॥२०५॥

(शरद)

वरिखा रितु गई सरद रितु वळती
वाखाणि सु वयणा वयणि ।
नीखर धर जळ रहिउ निवाणे
निधुवनि लज्जा त्री नयणि ॥२०६॥

[वयणा वयणि वाखाणि] (जिसका अनेक प्रकार के) वचनों द्वारा बखान किया गया है [सु सरद ऋतु वळती वरिखा रितु गई] ऐसी शरद ऋतु के आने पर वर्षा ऋतु चली गई। [जळ नीखर नीवाणे धर रहिउ] जल निर्मल होकर नीची (ढलाऊ) भूमि में जा रहा, [निधुवनि लज्जा त्री नयणि] (जैसे) रति समय में लज्जा स्त्री के नेत्रों में जा रहती है ॥२०६॥

पीळाणी धरा ऊखधी पाकी
सरदि काळि एहवी सिरी ।
कोकिल निसुर प्रसेद ओसकण
सुरति अंति मुख जिम सुत्री ॥२०७॥

[ऊखधी पाकी धरा पीळाणी] वनस्पतियों के पक जाने से पृथ्वा पीली होगई [ओसकण प्रसेद] ओसकण ही (उसका) प्रस्वेद है [कोकिल निसुर] (उसका) कोकिलरूपी कंठ नीरव होगया है। [सरदि काळि एहवी सिरी] शरत्काल की ऐसी शोभा है [जिम सुरति अंति निसुर प्रसेद सुत्री मुख] जैसे रति के अन्त में स्वररहित, प्रस्वेदयुक्त सुन्दरी स्त्री के (पीतवर्ण) मुख की ॥२०७॥

वितए आसोज मिले नभि बादल
पृथी पंक जलि गुडलपण।
जिम सतगरु कलि कलुख तणा जण
दीपति ग्यान प्रगटे दहण ॥२०८॥

[वितए आसोज] आश्विन के व्यतीत होते ही [नभि बादल पृथो पंक जल गुडलपण मिले] आकाश में बादल, पृथ्वी में कीचड़ और जल में गँदलापन विलीन हो गये [जिमि] जैसे [सतगरु ग्यान दहण दोपति प्रगटे] श्रेष्ठ गुरु को ज्ञानाग्नि का प्रकाश प्रकट होते ही [जण तणां कलि कलुख] मनुष्य के कलिकाल के पाप (विलीन हो जाते हैं) ॥२०८॥

गो खीर श्रवति रस धरा उदगिरति
सर पोइणिए थई सुश्री।
वली सरद श्रगलोग वासिए
पितरे ही मृत लोक प्री ॥२०९॥

[सरद वली] शरद ऋतु आई। [गो खीर श्रवति] गायें दूध झरने लगीं; [धरा रस उदगिरति] पृथ्वी रस उगलने लगी। [सर पोइणिए सुश्री थई] (और) सरोवरों में कमलों की सुन्दर शोभा बनी। [श्रगलोग वासिए पितरे ही मृत लोक प्री] स्वर्गलोक में निवास करनेवाले पितरों को भी मर्त्यलोक प्यारा लगने लगा ॥२०९॥

बोलन्ति मुहुरमुह विरह गमै बे
तिसी सुकल निसि सरद तणी।
हँसणी ते न पासै देखै हँस
हंस न देखै हंसणी ॥२१०॥

[सरद तणी निसि तिसी सुकल] शरद की रात्रि ऐसी शुक्लवर्ण है [विरह बे गमै] (कि एक ही स्थान पर होते हुए भी) दोनों विरह-दुख में अपने आपे को भूले हुए हैं; [हँसणी ते पासै हँस न देखै हंस हंसणी न देखै] हंसिनी अपने निकटस्थित हंस को और हंस हंसिनी को नहीं देख सकते। [मुहरमुह बोलन्ति] (अतएव विरह से व्यथित होकर) बारम्बार बोल रहे हैं ॥२१०॥

ऊजल अदरसणि निसि उजुयाली
घणूँ किसूँ वाखाण घणौ।
सोलह कला समाइ गयौ ससि
ऊजासहि आप आपणै ॥२११॥

[निसि घणूँ उजुयाली ऊजल अदरसणि] रात्रि की घनी चाँदनी में उज्ज्वल वस्तुएँ अदृश्य हो रही हैं। [घणौ किसूँ वाखाण] अधिक क्या वर्णन किया जाय! [सोलह कला ससि आपणै ऊजासहि आप समाइ गयौ] षोड़श कलाओं से युक्त चन्द्रमा आपही अपने (स्वच्छ) प्रकाश में समा गया ॥२११॥

तुलि बैठौ तरणि तेज तम तुलिया
भूप कणय तुलता भू भाति।
दिणि दिणि तिणि लघुता पामै दिन
राति राति तिणि गौरव राति॥२१२॥

[तरणि तुलि बैठौ] सूर्य तुलाराशि पर बैठा [भूप कणय तुलता भू भाति] (तुला संक्रान्ति के पर्व पर) राजागण सुवर्ण के बराबर तुलते हुए पृथ्वी पर शोभित होने लगे [तेज तम तुलिया] (इस अवसर पर) प्रकाश और अंधकार भी बराबर बराबर तुल गये।

[तिणि दिणि दिणि दिन लघुता प्रामै] इसी कारण से (अंधकार जैसे तुच्छ पदार्थ के बराबर तौले जाने के पराभवजन्य अमर्ष से) प्रतिदिन लघुता को प्राप्त होने लगा। [तिणि राति राति रति गौरव प्रामै] (और) इसी कारण से (तेज जैसे श्रेष्ठ पदार्थ के बराबर तौले जाने के गर्व से प्रफुल्लित होकर) प्रतिरात्रि गौरव (वृद्धि) को प्राप्त होने लगी ॥२१२॥

दीधा मणि मँदिरे कातिग दीपक
सुत्री समाणियाँ माहि सुख।
भीतर थका बाहिर इम भासै
मनि लाजती सुहाग मुख ॥२१३॥

[कातिग मँदिरे मणि दीपक दीधा] कार्त्तिक मास में मंदिरों में मणि दीपक बाले गये। [भीतर थका बाहिर इम भासै] (वे) भीतर होते हुए भी बाहर इस प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं [समाणियाँ माहि लाजती] (जैसे) समवयस्का सखियों में लजाती हुई [सुत्रो मुख मनि सुहाग सुख] सुंदर स्त्री के मुख पर (उसके) मन में निवास करनेवाला सुहाग सुख (उद्भासित होता है) ॥२१३॥

छवि नवी नवी नव नवा महोछव
मंडियै जिणि आणंद मई।
कातिग घरि घरि द्वारि कुमारी
थिर चीत्रन्ति चित्राम थई ॥२१४॥

[नवी नवी छवि नव नवा महोछव जिणि मंडियै] नई नई छवि से नये नये महोत्सवों का जिसमें आरंभ हो रहा है [कातिग घरि घरि द्वार आणन्दमई कुमारी] (ऐसे) कार्त्तिक मास में घर घर में,

द्वारों पर आनन्दमयी कुमारिकाएँ [थिर चीत्रन्ति चित्राम थई] स्थिरता से (एकाग्रचित्त से) चित्र चित्रित करती हुई (स्वयं) चित्र बन गई ॥२१४॥

सेवन्ति नवै प्रति नवा सवे सुख
जग चाँ मिसि वासी जगति।
रुषमिणि रमण तणा जु सरद रितु
भुगति रासि निसि दिन भगति॥२१५॥

[रुषमिणि रमण तणा जु नवै प्रति नवा सवे सुख] रुक्मिणीरमण (श्रीकृष्ण) के नवीन प्रकार के जो सभी नये नये सुख हैं [जग चाँ सुख मिसि] (उनका) सांसारिक सुखों के मिस से [जगति वासी सेवन्ति] द्वारिका निवासी सेवन करते हैं। [सरद रितु निसि रासि भगति] शरद-ऋतु में उनकी रात्रि तो रास-क्रीड़ा में व्यतीत होती है [दिन भगति] (और) दिन (भगवान् की) भक्ति (करने) में ॥२१५॥

एहिज परि थई भीरि कजि आयाँ
धनञ्जय अनै सुयोधन।
मासे मगसिर भलउ जु मिलियौ
जागिया मींट जनारजन॥२१६॥

[धनञ्जय अनै सुयोधन भीरि कजि आयाँ थई] (महाभारत के आरंभ में) अर्जुन और दुर्योधन के (श्रीभगवान के पास पक्षयाचनार्थ) आने पर जैसा हुआ [एहिज परि] उसी भाँति [जनारजन मींट जागिया] (देव-प्रबोधिनी एकादशी को) भगवान विष्णु के नींद से जागने पर [जु मगसिर मिलियौ] जो मार्गशीर्ष मास (सामने) मिला [मासे भलउ] (वही) मासों में श्रेष्ठ (समझा गया) ॥२१६॥

फिरियौ पछि वाउ ऊतर फरहरियौ
सहुए सूहव उर सरग।
भुयँग धनी प्रथमी पुड़ भेदे
विवरे पैठा बे वरग ॥२१७॥

[पछि वाउ फिरियौ] शरद ऋतु का पाश्चिमात्य पवन (हेमन्त के लगते ही) बदल गया [ऊतर फरहरियौ] (और) उत्तर दिशा से चलने लगा। [सहुए सूहव उर सरग] सब ही (पतियों) को (अपनी) पत्नियों के हृदयस्थल स्वर्ग हो गये। [भुयँग धनी बे वरग प्रथमी पुड़ भेदे विवरे पैठा] सर्प और धनाढ्य—ये दोनों वर्ग—पृथ्वी की सतह को भेद कर विवरों (बिलों अथवा तलघरों) में रहने लगे ॥२१७॥

हुवइ घटि नदी हेम हेमाळै
विमळ श्रृंग लागा वधण।
जोवनागमि कटि क्रुस थायै जिम
थायै थूळ नितम्ब थण ॥२१८॥

[नदी घटि हुवइ] नदियाँ घटने लगीं; [हेमाळै हेम विमळ श्रृंग वधण लागा] (और) हिमालय पर्वत पर हिम के निर्मल शृङ्ग बढ़ने लगे [जिम जोवनागमि] जिस प्रकार यौवन के आने पर [कटि क्रुस थायै नितम्ब थण थूळ थायै] (किसी नायिका की) कमर पतली हो गई हो (और) नितम्ब तथा उरोज स्थूल हो गये हों ॥२१८॥

भजन्ति सुग्रह हेमन्ति सीत भै
मिळि निसि तु न कोई वहै मगि।
कोई कोमळ वसत्रे कोइ कम्बळि
जण भारियौ रहन्ति जगि ॥२१९॥

[हेमन्ति जगि जण सीत भै] हेमन्त ऋतु में जगत् में लोग शीत के भय से [निसि मिलि तु कोई मगि न वहै] रात्रि हुए पीछे तो कोई भी मार्गों में नहीं चलते हैं [सुगृह भजन्ति] (किन्तु) अपने अपने घरों में ही रहते हैं; [कोई कोमल वसत्रे कोइ कम्बलि भारियौ रहन्ति] कोई तो कोमल कपड़ों में (और) कोई कम्बलों में लपेटा हुआ (लदा हुआ) रहता है ॥२१९॥

दिन जेही रिणी रिणाई दरसणि
क्रमि क्रमि लागा संकुडिणि ।
नीठि छुडै आकास पोस निसि
प्रौढ़ा करषणि पंगुरिणि ॥२२०॥

[दिन क्रमि क्रमि संकुडिणि लागा] दिन धीरे धीरे संकोच को प्राप्त होने लगे [जेही रिणी रिणाई दरसणि] जिस प्रकार कोई ऋणी ऋणदाता को देखकर (संकोच को प्राप्त होता है) [पोस निसि आकास नीठि छुडै] पौष की रात्रि से आकाश (रूपी पति) बड़ी कठिनता से छूटता है [प्रौढ़ा करषणि पंगुरिणि] (जिस प्रकार) प्रौढ़ा नायिका द्वारा खींचा जाता हुआ (रात्रि के अवसान में नायक का) वस्त्र ॥२२०॥

उलझाया तन मन आप आपमै
विहत सीत रुषुमिणी वरि ।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवंत
पुहप गंध गुण गुणी परि ॥२२१॥

[सीत विहत वरि रुषुमिणी] शीत निवारणार्थ श्रीकृष्ण (और) श्रीरुक्मिणी ने [आप आपमै तन मन उलझाया] परस्पर में तन और

मन को (ऐसे) उलझाया [जिम वाणि अरथ सकति सकति-वँत पुहप गंध गुण गुणी परि] जिस भाँति वाणी और अर्थ, शक्ति और शक्तिमान, पुष्प और गंध तथा गुण और गुणी ॥२२१॥

मकरध्वज वाहणि चढयौ अहिमकर
उत्तर वाउ वाए अउर।
कमल् बालि् विरहिणीवदन किय
अम्ब पालि् संजोगि उर ॥२२२॥

[अहिमकर मकरध्वज वाहणि चढ़यै] सूर्य कामदेव के वाहन मकर (मकर राशि) पर चढ़ा [अउर उत्तर वाउ वाए] और उत्तर दिशा के (अत्यन्त शीतल) पवन ने चलकर [कमल् बालि् विरहिणी वदन किय] कमलों को जला कर वियोगिनी स्त्री के मुख जैसा कर दिया [अम्ब पालि् संजोगि उर] (और) आम्र वृक्षों का पालन करके संयोगिनी स्त्री के हृदय के समान कर दिया ॥२२२॥

पारथिया कृपण वयण दिसि पवणै
विण अम्बह बालिया वण।
लागै माघि लोक प्रति लागै
जल् दाहक सीतल् जलण ॥२२३॥

[माघि लागै] माघ के लगते ही [लोक प्रति जल् दाहक जलण सीतल् लागै] लोगों को जल् दाहक और अग्नि शीतल लगने लगी [पारथिया कृपण वयण दिसि पवणै] याचना करने पर कृपण के वचन-वाली (अर्थात् "उत्तर") दिशा के पवन ने [अम्बह विण वण बालिया] आम्र वृक्षों को छोड़कर (और) वनों को जला दिया ॥२२३॥

नियँ नाम सीत जालै वण नीला
जालै नलणी थकी जलि।
पातिग तिण द्वारिका न पैसै
मँजियै विणु मन तणौ मलि ॥२२४॥

[नियँ नाम सीत] (उसका) निजका नाम तो शीत है [जालै नीला वण] (परंतु) जला देता है हरे भरे वनों को; [जलि थकी नलणी जालै] (यही नहीं,) जल में स्थित कमलिनी को भी जला देता है [तिण पातिग] जिस पाप से [मन तणौ मलि मँजियै विणु] मन के मैल को माँजे (मार्जन किये) बिना [द्वारिका न पैसै] (वह) द्वारिकापुरी में प्रवेश नहीं करता ॥२२४॥

प्रतिहार प्रताप करे सी पाले
दम्पति ऊपरि दसै दिसि।
अरक अगनि मिसि धूप आरती
नियँ तणु वारै अहोनिसि ॥२२५॥

[अरक प्रताप प्रतिहार करे दसै दिसि सी पाले] सूर्य (अपने) प्रताप को पहरेदार बनाकर दशों दिशाओं में शीत को रोकता है; [धूप आरती अगनि मिसि नियँ तणु दम्पति ऊपर अहोनिसि वारै] (और) धूप तथा आरती की अग्नि के मिस (वह) अपना शरीर दम्पति के ऊपर दिन रात न्यौछावर करता है ॥२२५॥

(शिशिर)

रवि बैठौ कलसि थियौ पालट रितु
ठरे जु डहकियौ हेम ठंठ।
ऊडण पंख समारि रहे अलि
कंठ समारि रहे कलकंठ ॥२२६॥

[रवि कल्सि बैठै] सूर्य कुम्भराशि पर आया [रितु पालट थियौ] ऋतु में परिवर्त्तन होने लगा [हेम ठरे जु ठंठ] हेमन्त की शीत से जो (वृत्त) ठंठ हो गये थे [डहकियै] (शिशिर के आते ही) वे नवजीवित होने लगे। [अलि ऊडण पंख समारि रहे] भ्रमर उड़ने के लिये पंख सँवारने लगे [कलकंठ कंठ समारि रहे] (और) कोयलें अपने कंठ सँवारने लगीं ॥२२६॥

वीणा डफ महुयरि वंस वजाए
रोरी करि मुख पंचम राग।
तरुणी तरुण विरहि जण दुतरणि
फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥२२७॥

[वीणा डफ महुयरि वंस बजाए] वीणा, डफ, अलगूंजा, बाँसुरी बजाते हुए [करि रोरी मुख पंचम राग] हाथों में गुलाल और मुख में पंचम राग सहित [तरुणी तरुण घरि घरि फाग खेलै] युवक युवतियाँ घर घर फाग खेल रहे हैं। [फागुण विरहि जण दुतरणि] ऐसा फाल्गुन मास विरही जनों को बड़ा दुखदाई है ॥२२७॥

अजहुँ तरु पुहप न पल्लव अंकुर
थोड़ डाल् गादरित थिया।
जिम सिणगार अकीधै सोहति
प्री आगमि जाणियै प्रिया ॥२२८॥

[अजहुँ तरु पुहप पल्लव न] अभी तक वृत्तों पर पुष्प और पत्ते नहीं (निकले) हैं [थोड़ अंकुर डाल् गादरित थिया] (किन्तु) थोड़े थोड़े अंकुरों से डालियाँ हरी हरी होगई हैं [जिम प्रिया प्री आगमि जाणियै सिणगार अकीधै सोहति] जिस प्रकार प्रिया प्रियतम का आगमन जान कर शृङ्गार न किये हुए (भी) शोभा देती है ॥२२८॥

(वसन्त)

दस मास समापित गरभ दीध रित
मन व्याकुल मधुकर मुणणन्ति ।
कठिण वेयणि कोकिल मिसि कूजति
वनसपती प्रसवती वसन्ति ॥२२९॥

[रित गरभ दीध दस मास समापित] (वसन्त) ऋतु को गर्भ में धारण किये हुए दस मास पूरे होने पर [मधुकर मुणणन्ति मन व्याकुल] भ्रमर की गुंजाररूपी मन की व्याकुलता [कोकिल कूजति मिसि कठिण वेयणि] और कोकिल की कूजरूपी कठिन (वेदनापूर्ण) वचनों सहित [वनसपती वसन्ति प्रसवती] (देवी) वनस्पति (ऋतुराज) वसन्त का प्रसव कर रही है ॥२२९॥

पकवाने पाने फल़े सुपुहपे
सुरँगे वसत्रे दरब स्रब ।
पूजियै कसटि भँगि वनसपती
प्रसूतिका होलि़का प्रब ॥२३०॥

[वनसपती प्रसूतिका कसटि भँगि] वनस्पतिरूपी जच्चा की प्रसववेदना दूर हो जाने पर [पकवाने पाने फल़े सुपुहपे सुरँगे वसत्रे स्रब दरब होलि़का प्रब पूजियै] पकवानों, पत्रों, फलों, सुन्दर सुन्दर पुष्पों से तथा सुन्दर रंगे हुए वस्त्रों एवं सब प्रकार के द्रव्यों से होलिकोत्सव पूजा जाता है ॥२३०॥

लागी दलि कलि़ मलयानिल़ लागै
त्रिगुण परसतै पुधा त्रिस।
रटति पूत मिसि मधुप रूँखराइ
मात श्रवति मधु दूध मिसि ॥२३१॥

[पूत दलि त्रिगुण कलि मलयानिल परसतै] (वसन्तरूपी) पुत्र के (किशलयरूपी) अंगों को त्रिगुणात्मक (शीतल, मंद, सुगंध) मलयानिलरूपी त्रिगुणात्मक (सत्व, रजस्, तमस्मय) कलिपवन के परसते (लगते) ही [षुधा त्रिस लागी] भूख और प्यास लगी [मधुप मिसि रटति] (जिससे वह) भ्रमर गुंजार के मिस रोता है। [रूँखराइ मात दूध मिसि मधु श्रवति] (और उसकी) वनस्पति-रूपी माता दूध के मिस मधु झरती है ॥२३१॥

वनि नयरि घराघरि तरि तरि सरवरि
पुरुख नारि नासिका पथि।
वसन्त जनमियौ देण वधाई
रमै वास चढि पवन रथि ॥२३२॥

[वसन्त जनमियौ वधाई देण] वसन्त का जन्म हुआ है (यह) बधाई देने के लिए [वास पवन रथि चढ़ि] सुगंधरूपी बधाईदार पवन के रथ पर चढ़कर [वनि नयरि घराघरि तरि तरि सरवरि] वन में, नगर में, घर घर में, तरु तरु में, और सरोवर सरोवर में [पुरुख नारि नासिका पथि रमै] (और) सब नर-नारियों के नासिका के पथ में विहार कर रहा है ॥२३२॥

अति अम्ब मौर तोरण अजु अम्बुज
कली सु मंगल कलस करि।
वन्नरवाल बँधाणी वल्ली
तरुवर एका बियै तरि ॥२३३॥

[अति अम्ब मौर तोरण] घनी आम्रमंजरी ही मानो तोरण है [अजु अम्बुज कली सु मंगल करि कलस] और जो कमल की कलियाँ हैं वेही मानो मंगल-कलश हैं। [तरुवर एका बियै तरि

वल्ली वन्नरवाल् बँधाणी] (और) एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर (लिपटी हुई) लताएँ ही (मानो) वन्दनवार बाँधी गई हैं ।।२३३।।

फुट वांनरेण कच नालिकेर फल्
मज्जा तिकरि दधि मँगलिक ।
कुंकुम अखित पराग किंजल्क
प्रमुदित अति गायन्ति पिक ।।२३४।।

[वानरेण फुट कच नालिकेर फल् तिकरि मज्जा मँगलिक दधि] बन्दरों से फोड़े हुए कच्चे नारियल फलों की गिरी (गूदा) ही मांगलिक दही है; [पराग कुंकुम किंजल्क अखित] (पुष्पों की) केसर ही कुंकुम और किंजल्क ही अक्षत हैं; [पिक प्रमुदित अति गायन्ति] (और) अत्यन्त आह्लादित कोयलें गा रही हैं (वही मानो सुन्दर पिकवयनी स्त्रियाँ कलकंठ से मधुर मांगलिक गान कर रही हैं) ।।२३४।।

आयौ इलि वसँत वधावण आई
पोइणि पत्र जल् एणि परि ।
आणंद वणे काचमै अङ्गणि
भामिणि मोतिए थाल भरि ।।२३५।।

[इलि वसँत आयौ] पृथ्वी पर वसन्त आया । [पोइणि पत्र जल् एणि परि] (जल में खड़ी हुई) नलिनी के पत्र पर जल (कण) इस भाँति सुशोभित हैं [काचमै वणे अङ्गणि] (जैसे) काच के बने हुए आँगन में [आणंद भामिणि मोतिए थाल भरि वधावण आई] आनन्दित सुन्दरियाँ मोतियों से थाल भर कर बधावे को आई हैं ।।२३५।।

कामा वरखन्ती कामदुधा किरि
पुत्रवती थी मन प्रसन।
पुहप करणि करि केसू पहिरे
वनसपती पीला वसन ॥२३६॥

[करणि केसू पुहप करि पीला वसन पहिरे] कर्णिकार और टेसू के पुष्पों के पीले वस्त्र पहने हुए [पुत्रवती वनसपती] पुत्रवती वनस्पति (देवी) [कामदुधा किरि कामा वरखन्ती] कामधेनु की भाँति कामनाएँ बरसाती हुई [मन प्रसन थी] मन में प्रसन्न हुई ॥२३६॥

कणियर तरु करणि सेवंती कूजा
जाती सोवन गुलाल जत्र।
किरि परिवार सकल पहिरायौ
वरणि वरणि ईए वसत्र ॥२३७॥

[जत्र कणियर तरु करणि सेवंती कूजा जाती सोवन गुलाल] (जहाँ वनों में) कनियार के पेड़ में कर्णिकार पुष्प, सेवती, कूजा, मालती, सोहनी और गुल्लाला इत्यादि पुष्प (पुष्पित होकर) खड़े हैं [किरि] मानो [ईए सकल परिवार वरणि वरणि वसत्र पहिरायौ] इस (वनस्पति) ने (अपने) सब परिवार को रंग रंग के वस्त्र पहिनाये हैं ॥२३७॥

विधि एणि वधावे वसँत वधाए
भालिम दिन दिन चढ़ि भरण।
हुलरावणे फाग हुलरायौ
तरु गहवरिया थिय तरुण ॥२३८॥

[एणि विधि वसँत वधावे वधाए] इस प्रकार वसंत को बधावों द्वारा बधावा दिया गया। [फाग हुलरावणे हुलरायौ] फाल्गुन मास के गाने बजाने द्वारा (बड़े लाड़ प्यार से) लोरी दिया गया [दिन दिन भालिम चढ़ि भरण] दिन दिन कान्ति और सौन्दर्य्य के चढ़ बढ़ कर पूर्णता को प्राप्त होने पर [तरु गहवरिया तरुण थिय] (पत्र पुष्पों के भार से) सगर्व सघन वृक्षों के मिस तरुण हुआ ॥२३८॥

मंत्री तहां मयण वसँत महीपति
सिला सिँघासण धर सधर।
माथै अम्ब छत्र मंडाणा
चलि वाइ मंजरि ढलि चमर ॥२३९॥

[तहां वसँत महीपति मयण मंत्री] वहाँ (वनों में) राजा तो ऋतुराज वसंत है और कामदेव मंत्री है। [धर सधर सिला सिँघासण] पर्वतों की शिलाएँ ही सिंहासन हैं। [माथै अम्ब छत्र मंडाणा] ऊपर आम्र-वृक्षों के छत्र तने हुए हैं [वाइ चलि मंजरि चमर ढलि] और वायु से संचालित मंजरी ही मानो चँवर डुलाये जा रहे हैं ॥२३९॥

दाड़िमी बीज बिसतरिया दीसै
निउँछावरि नाँखिया नग।
चरणे लुंचित खग फल चुम्बित
मधु मुंचंति सीचन्ति मग ॥२४०॥

[विसतरिया दाड़िमी बीज दीसै] बिखरे हुए अनारों के दाने दिखाई दे रहे हैं (वे ही मानो) [निउँछावरि नग नाँखिया] (ऋतुराज की) न्योछावर में रत्न डाले हैं। [खग चरणे लुंचित चुम्बित फल

मधु मुंचंति] पक्षियों के पंजों से नोचे हुए (और उनकी) चोंचों से विदीर्ण फल रस टपका रहे हैं, (मानो) [मग सींचन्ति] मार्गों पर जल सींच रहे हैं ॥२४०॥

राजति अति एण पदाति कुंज रथ
हँस माल बन्धि लास हय ।
ढालि खजूरि पूठि ढलकावै
गिरिवर सिणगारिया गय ॥२४१॥

[एण पदाति] हरिण पैदल सिपाहियों (की भाँति) [कुंज रथ] वृक्षकुंज रथों (की भाँति) [हँस माल बन्धि हय लास] हंसों की पंक्ति बँधे हुए घोड़ों (अथवा घुड़सवारों) की पंक्ति (की भाँति) [गिरिवर खजूर ढालि पूठि ढलकावै सिणगारिया गय] (और) पर्वत खजूरोंरूपी ढालें पीठ पर लटकाये हुए सजाये हुए हाथियों (की भाँति) [अति राजति] अत्यन्त शोभित हैं ॥२४१॥

तरु ताल पत्र ऊँचा तड़ि तरला
सरला पसरन्ता सरगि ।
बैठै पाटि वसन्त बन्धिया
जगहथ किरि ऊपरी जगि ॥२४२॥

[सरगि पसरन्ता ऊँचा ताल तरु सरला तड़ि] स्वर्ग तक पसरे हुए ऊँचे ताड़ के वृक्षों की सीधी पेंडियों पर [तरला पत्र] चंचल पत्ते (ऐसे लगते हैं) [किरि] मानो [वसन्त पाटि बैठे] वसन्त ने राजसिंहासनासीन होकर [जगि ऊपरी जगहथ पत्र बन्धिया] जगत् के ऊपर (अपनी) दिग्विजय के घोषणा-पत्र बाँधे है ॥२४२॥

(ऋतुराज की महफिल)

(रूपक)

आगलि रितुराय मंडियौ अवसर
मण्डप वन नीझरण मृदंग ।
पंचबाण नायक गायक पिक
वसुह रंग मेलगर विहंग ॥२४३॥

[ऋतुराय आगलि अवसर मंडियौ] ऋतुराज के सन्मुख महफिल लगी है [वन मंडप] (जिसमें) वन ही मंडप हैं; [मृदंग नीझरण] निर्झर ही मृदंग हैं [पंचबाण नायक] कामदेव ही उत्सवनायक है [पिक गायक] कोकिला गायक है [विहंग रंग वसुह मेलगर] (और) पक्षी ही उस रंगभूमि में एकत्रित (दर्शकगण) हैं ॥२४३॥

कलहंस जाणगर मोर निरतकर
पवन तालधर ताल पत्र ।
आरि तन्तिसर भमर उपंगी
तीवट उघट चकोर तत्र ॥२४४॥

[कलहंस जाणगर] (इस महफिल में) राजहंस ही कला के जाननेवाले (वाह, वाह करनेवाले) हैं । [मोर निरतकर] मोर ही नर्त्तक हैं । [पवन ताल धर] पवन ताल देनेवाला है । [पत्र ताल] पत्ते ही ताल (करताल) हैं । [आरि तन्तिसर] झिल्ली की झंकार तार के बाजों का स्वर है । [भमर उपंगी] भ्रमर नसक्तरंग बजानेवाला है । [चकोर तंत्र तीवट उघट] और चकोर ही वहाँ त्रिवट ताल देनेवाला है ॥२४४॥

विधि पाठक सुक सारस रस वंछक
कोविद खंजरीट गतिकार।
प्रगलभ लाग दाट पारेवा
विदुर वेस चक्रवाक विहार ॥२४५॥

[सुक विधि पाठक] तोता विधि बतानेवाला है (अर्थात् नाचने अथवा गाने के तोड़ों वा गतों इत्यादि को यथा शास्त्र-विधि अपने मुख से पाठ करके बतानेवाला है) [सारस रस वंछक] सारस रस को चाहनेवाला (रसज्ञ) है; [कोविद खंजरीट गतिकार] चतुर खंजन पत्ती गतें लेनेवाला है; [पारेवा लाग दाट प्रगलभ] कबूतर लागडाँट (नामक भावों को बताने) में चतुर है [चक्रवाक विहार विदुर वेस] (और) चकवे की क्रीड़ा ही विदूषक का अभिनय है ॥२४५॥

आंगणि जल तिरप उरप अलि पिअति
मरुत चक्र किरि लियत मरू।
रामसरी खुमरी लागी रट
धूया माठा चन्द धरू ॥२४६॥

[अलि आंगणि जल पिअति] भ्रमर (वनस्थली के) आँगन में पड़े हुए पानी को पी रहे हैं; (अर्थात् जल पृष्ठ को छूते हुए थिरक थिरक कर उड़ रहे हैं) [तिरप उरप] (वह मानो) त्रिसम ताल पर (उड़प) नृत्य विशेष हो रहा है; [मरुत चक्र किरि मरू लियत] वायु का चक्राकार घूमना ही मानो मूर्च्छना लेना है; [रामसरी खुमरी रट लागी] रामसरी और खुमरी नामक चिड़ियों की रटन हो रही है [धूया माठा चन्द धरू] (वही मानो) मधुर ध्रुवा और चन्द्रक ध्रुपद नामक रागिनियाँ हो रही हैं ॥२४६॥

निगरभर तरुवर सघण छाँह निसि
पुहपित अति दीपगर पलास ।
मौरित अम्ब रीझ रोमंचित
हरखि विकास कमल कृत हास ॥२४७॥

[निगरभर तरुवर सघण छाँह निसि] भरे हुए घने घने वृक्षों की सघन छाया ही रात्रि है । [अति पुहपित पलास दीपगर] पुष्पों से लदे हुए पलाश वृक्ष ही (मानो) बहुत से दीपकोंवाली दीवटें हैं [अम्ब मौरित रीझ रोमंचित] आम्र का मंजरीयुक्त होना ही (मानो ऋतुराज की महफिल का) रीझकर पुलकित होना है [कमल विकास हरखि कृत हास] (और) कमलों का विकास ही (उस महफिल में) हर्षित होकर किया हुआ हास्य है ॥२४७॥

प्रगटै मधु कोक सँगीत प्रगटिया
सिसिर जवनिका दूरि सिरि ।
निज मंत्र पढे पात्र रितु नाँखी
पहुपंजलि वणराय परि ॥२४८॥

[मधु प्रगटै] वसन्त के प्रकट होते ही [कोक सँगीत प्रगटिया] कोक (अर्थात् रस, अलंकार, शृंगार, भावादि सहित) संगीत प्रगट हुआ । [सिसिर सिरि जवनिका दूरि] शिशिर ऋतु की शोभारूपी यवनिका को दूर करके [पात्र निज मंत्र पढे रितुराय परि वणराय पुहपंजलि नाँखी] अभिनेताओं ने अपने (आशीर्वादात्मक) मंत्र पढ़ कर ऋतुराज वसंत पर वनराजि की पुष्पांजलि डाली ॥२४८॥

प्रज उदभिज सिसिर दुरीस पीड़तौ
ऊतर ऊथापिया असन्त

प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवर्त्यौ
वनि वनि नयरे राज वसन्त ॥२४९॥

[सिसिर दुरीस] शिशिररूपी दुष्ट राजा [उदभिज प्रज पीड़तौ] वृक्षों तथा लताओंरूपी प्रजा को पीड़ा देता था [राज वसन्त] ऋतुराज वसन्त ने [असन्त ऊतर ऊथापिया] (शिशिर के अन्यायरूपी) दुष्ट उत्तर-दिशा के अत्यंत ठंढे पवन को हटाकर [वनि वनि नयरे प्रसन वायु मिसि न्याय प्रवर्त्यौ] प्रत्येक वनरूपी नगर में सुखद वायु के मिस न्याय का प्रचार किया ॥२४९॥

पुहपाँ मिसि एक एक मिसि पाताँ
खाडिया द्रब मांडिया ऊखेलि ।
दीपक चम्पक लाखे दीधा
कोड़ि धजा फहराणी केलि ॥२५०॥

[एक पुहपाँ मिसि] एक ने पुष्पों के मिस [एक पाताँ मिसि] और एक ने पत्तों के मिस [खाडिया द्रब ऊखेलि मांडिया] गड़ा हुआ धन खोद कर प्रकट किया; [चम्पक लाखे दीपक दीधा] (लखपती) चम्पक वृक्ष ने लाखों (के द्रव्य पर) पुष्पों के दीपक जलाये [केलि कोड़ि धजा फहराणी] (और करोड़पति) केलि ने अपने करोड़ों के द्रव्य पर (अपने पत्तों की) ध्वजाएँ फहराईं ॥२५०॥

मलयानिल वाजि सुराज थिया महि
भई निसङ्कित अङ्क भरि ।
वेली गलि तरुवराँ विलागी
पुहप भार ग्रहणां पहरि ॥२५१॥

[मलयानिल वाजि महि सुराज थिया] मलयज पवन चलने लगी वही मानो पृथ्वी पर (ऋतुराज का) स्वराज्य (स्थापित) हुआ। [निसङ्कित भई पुहप भार ग्रहणां पहरि] (तब) निश्शंक हुई, पुष्पभार के गहने पहन कर [वेली अङ्क भरि तरुवरां गलि विलागी] लतिकाएँ अंक भर कर वृक्षों के गले लगीं ॥२५१॥

पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ
दुख टाल्यौ वसन्त हितदाखि।
व्याए वेली तणी तरुवराँ
साखाँ विसतरियाँ वैसाखि ॥२५२॥

[पीड़न्ति हेमन्त सिसिर रितु पहिलौ दुख] पीड़ा देते हुए हेमन्त और शिशिर-ऋतु-जन्य पहिले के दुख को [हितदाखि वसन्त टाल्यौ] हित करके ऋतुराज वसन्त ने टाल दिया [तरुवराँ तणी साखाँ विसतरियाँ वेलि] श्रेष्ठ वृक्षों की शाखाओं पर (लिपट कर) फैली हुई लतिकाओं ने [वैसाखि व्याए] (शाखाओं से उत्पन्न) वैसाख मास को जन्म दिया ॥२५२॥

दीजै तिहाँ डंक न दँड न दीजै
ग्रहणि मवरि तरु गानगर।
करग्राही परवरिया मधुकर
कुसुम गंध मकरन्द कर ॥२५३॥

[गानगर मधुकर करग्राही परवरिया] गुंजार करनेवाले भ्रमररूपी कर ग्रहण करनेवाले इधर उधर फिर रहे हैं [तरु मवरि कुसुम गंध मकरन्द कर ग्रहणि] (जो) वृक्षों (रूपी प्रजा) से मंजरी, पुष्पगंध तथा रसरूपी राज्यकर लेने में [डंक न दीजै]

डंक नहीं मारते [तिहाँ दंड न दीजै] (जैसे) सुराज्य में दंड नहीं दिया जाता ॥२५३॥

भरिया तरु पुहप वहे छूटा भर
काम बाण ग्रहिया करगि ।
वलि रितुराइ पसाइ वेसन्नर
जण भुरड़ीतौ रहै जगि ॥२५४॥

[रितुराइ पसाइ तरु पुहप भरिया] ऋतुराज की कृपा से वृक्ष पुष्पों से लद गये हैं, [वहे भर छूटा] (जिनके) हिलने से पुष्प-भार झड़ रहे हैं [काम बाण करगि ग्रहिया] मानो कामदेव ने कुसुम शरों को अपने कराग्र में पकड़ा है। [वलि जगि जण वेसन्नर भुरड़ीतौ रहै] फिर (ऋतुराज की कृपा से) जगत में लोग अग्नि तापने से रह गये हैं ॥२५४॥

नोट—दोहले की चतुर्थ पंक्ति में "रहै" श्लिष्ट है। अतएव इस दोहले के विधि तथा निषेधात्मक दो अर्थ हैं। दूसरे अर्थ के लिए पीछे नोट देखिए।

वरखा जिम वरखत चातक वंचित
वंचि न को तिम राज वसन्त
फुल्ल पंख कृत सेव लवध फल
बँदि कोलाहल खग बोलन्त ॥२५५॥

[जिम वरखा वरखत चातक वंचित] जिस प्रकार वर्षा के बरसने पर भी पपीहा वंचित ही रह जाता है, [तिम वसन्त राज] उस प्रकार वसन्त के राज्य में [वंचि न को] कोई भी वंचित नहीं रहता। [खग बोलन्त] पक्षी बोल रहे हैं [बँदि कोलाहल]

(मानो) बन्दीगणों का (यश गानजनित) कोलाहल हो रहा है। [पंख फुल्ल कृत सेव लबध फल] (और वे पक्षी) पाँखों को फुलाये हुए हैं (मानो बन्दिजन) सेवाओं का फल पा रहे हैं ॥२५५॥

कुसुमित कुसुमायुध ओटि केलि कृत
तिहि देखे थिउ खीण तन।
कन्त सँजोगणि किंसुख कहिया
विरहणि कहे पलास वन ॥२५६॥

[कुसुमायुध ओटि केलि कृत] पुष्पधन्वा कामदेव की कल्पना करके रति-क्रीड़ा की इच्छा करती हुई [कन्त सँजोगणि] पति से संयोगवाली स्त्री ने [तिहि कुसुमित देखे] उसको (टेसू के वृक्ष को) पुष्पित हुआ देख कर [कहिया किंसुख] कहा, "यह किंसुख (किंशुक) है" (अर्थात् कैसा सुखदायी है)। [विरहणि खीण तन थिउ] परन्तु वियोगिनी ने क्षीणतन होकर [कहे वन पलास] कहा, "यह तो वन में पलास (राक्षस) है" ॥२५६॥

तसु रंग वास तसु वास रंग तण
कर पल्लव कोमल कुसुम।
वणि वणि मालिणि केसरि वीणति
भूली नख प्रतिबिम्ब भ्रम ॥२५७॥

[तसु रंग वास तसु तण वास रंग] उसके (केसर के) रंग और सुगंध जैसा जिनके शरीर का रंग और सुवास है [कोमल कुसुम कर पल्लव] और (केसर के) कोमल फूलों के सदृश जिनके कर-पल्लव हैं [मालिणि वणि वणि केसरि वीणति] ऐसी मालिनियाँ

वन वन में केसर बीनती हुई [नख प्रतिबिम्ब भ्रम भूली] (अपने स्वच्छ) नखों में (केसर कुसुमों के) प्रतिबिम्ब के भ्रम में (बीनना) भूल गई ॥२५७॥

सबल़ जल़ सभिन्न सुगंध भेट सजि
डिगमिगि पाउ वाउ क्रोध डर ।
हालियौ मल़याचल़ हूँत हिमाचल
कामदूत हर प्रसन कर ॥२५८॥

[सबल़ जल़ सभिन्न] जल से आर्द्र होकर सबल हुआ (कुछ कुछ स्वस्थ-चित्त हुआ) [क्रोध डर डिगमिगि पाउ] (रुद्र के) क्रोध के डर से डगमगाते हुए पैरोंवाला, [सुगंध भेट सजि] सुगंधि की भेंट सजा कर [हर प्रसन कर] महादेव को प्रसन्न करने के लिए [कामदूत मल़याचल़ हूँत वाउ हिमाचल हालियौ] कामदेव का दूत, शीतल, मंद, सुगंध (मलय) वायु हिमाचल को चला ॥२५८॥

तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरि तरि
वेलि वेलि गल़ि गल़ै विलग्ग ।
दखिण हूँत आवतौ उतर दिसि
पवन तणा तिणि वहै न पग्ग ॥२५९॥

[नदि नदि तरतौ तरि तरि ऊतरतौ] नदी नदी को तैरते हुए और वृक्ष वृक्ष पर फाँदते हुए [वेलि वेलि गल़ि गल़ै विलग्ग] लतिकाओं के गले लगते हुए [दखिण हूँत उतर दिसि आवतौ] दक्षिण से उत्तर दिशा को आते हुए [तिणि पवन तणा पग्ग न वहै] उस पवन के पांव आगे नहीं चलते ॥२५९॥

केवड़ा कुसुम कुन्द तणा केतकी
श्रम सीकर निरझर श्रवति ।

ग्रहियै कन्धे गंध भारगुरु
गंधवाह तिणि मन्द गति ॥२६०॥

[केवड़ा कुन्द केतकी कुसुम तणा गंध गुरुभार कन्धे ग्रहियै] केवड़े, कुंद और केतकी के पुष्पों की सुगंधि का भारी बोझ (अपने) कंधे पर उठाये हुए हैं [तिणि गन्धवाह गति मंद] इसलिए गन्धवाह पवन की चाल धीमी हो रही है [श्रम सीकर निरझर श्रवति] और वह श्रमविन्दु के रूप में निर्झर शीकरों को बहाता है ॥२६०॥

लीयै तसु अंग वास रस लोभी
रेवा जलि कृत सौच रति ।
दखिणानिल आवतौ उतर दिसि
सापराध पति जिम सरति ॥२६१॥

[तसु अंग वास लीयै] उनको (लतिकाओं की) अंग की सुवास को लिए हुए [रेवा जलि रति सौच कृत] रेवा नदी के जल में रत्यन्त शौच करके [रस लोभी दखिणानिल उतर दिसि आवतौ] रस का लोभी (रसिक) मलयानिल उत्तर दिशा की ओर आता हुआ [सापराध पति जिम सरति] सापराध (अन्यत्र रति-क्रीड़ा करके अपनी नायिका के पास आये हुए) पति की तरह (संकुचित होकर) चलता है ॥२६१॥

पुहपवती लता न परस पमूँके
देतौ अंग आलिंगन दान ।
मतवालौ पय ठाइ न मंडै
पवन वमन करतौ मधुपान ॥२६२॥

[मधुपान करतौ] (मदिरारूपी) पुष्पासव का पान करता हुआ [वमन करतौ] (और सौरभ) वमन करता हुआ [मतवालौ पवन]

उन्मत्त नायकरूपी पवन [पय ठाइ न मंडै] पाँव ठीक स्थान पर नहीं रखता। [अंग आलिंगन दान देतौ] (और अपने) अंग का आलिंगन दान देता हुआ [पुहपवती लता परस न पमूँके] (रजस्वला नायिका-रूपी) पुष्पवती लताओं का स्पर्श करना नहीं छोड़ता है ॥२६२॥

तोय झरणि छंटि ऊघसत मल्य तरि
अति पराग रज धूसर अंग।
मधु मद श्रवति मंद गति मल्हपति
मदोनमत्त मारुत मातङ्ग ॥२६३॥

[झरणि तोय छंटि] झरनों के पानी के छींटे उड़ाता हुआ [मल्य तरि ऊघसत] चंदन वृक्षों से (अपने अंगों का) घर्षण करता हुआ [अति पराग रज धूसर अंग] बहुत सी पराग-रजरूपी धूलि से धूसरित अंगवाला [मधु मद श्रवति] पुष्परसरूपी मद झरता हुआ [मदोनमत्त मारुत मातङ्ग मंद गति मल्हपति] मदमत्त पवनरूपी हाथी मंदगति से (मस्त चाल) चल रहा है ॥२६३॥

गुण गन्ध ग्रहित गिलि गरल ऊगलित
पवण वाद ए उभय पख।
स्रीखँड सैल सँयोग संयोगिणि
भणि विरहिणी भुयङ्ग भख ॥२६४॥

[उभय पख पवण वाद ए] दोनों पक्षों में (वासन्तिक) पवन के विषय में यह वाद विवाद है—[विरहिणी भणि] वियोगिनी कहती है, [भुयङ्ग भख] कि (यह पवन) सर्प का भक्ष्य है, [गिलि ऊगलित गरल] जो (सर्पद्वारा) निगला जाकर उगला हुआ विष है। [संयोगिणि भणि] संयोगिनी कहती है, [स्रीखँड सैल सँजोग गुण

गन्ध ग्रहित (पवन)] कि (यह तो) चन्दन तरुओंवाले पर्वत (मलयाचल) के संयोग से (उसके) गुण (शीतलता और) गंध को ग्रहण किया हुआ पवन है ॥२६४॥

रितु किहि दिवस सरस राति किहि सरस
किहि रस सन्ध्या सुकवि कहन्ति ।
बे पख सूधति बिहूँ मास बे
वसन्त ताइ सारिखौ वहन्ति ॥२६५॥

[सुकवि किहि रितु दिवस सरस किहि राति सरस किहि सन्ध्या रस कहन्ति] श्रेष्ठ कविजन किसी ऋतु के दिनों को सरस, किसी की रातों को सरस और किसी (ऋतु) की सन्ध्या को रसयुक्त कहते हैं। [वसन्त ताइ बे] (परन्तु) वसन्त उन दोनों को (अपने दिन रात को) [बिहूँ मास] दोनों महीनों को [बे पख] (और प्रत्येक मास के) दोनों (कृष्ण और शुक्ल) पक्षों को [सूधति सारिखौ वहन्ति] विशुद्ध करता हुआ (सरस बनाता हुआ) एक समान चला जाता है ॥२६५॥

निमिख पल वसन्ति सारिखौ अहोनिसि
एकण एक न दाखै अन्त ।
कन्त गुणे वसि थायै कन्ता
कान्ता गुणि वसि थायै कन्त ॥२६६॥

[वसन्ति अहोनिसि निमिख पल सारिखौ] वसन्त में रात दिन, प्रत्येक पल और निमेष एक समान (रसदायी) है। [कन्त कान्ता गुणे वसि थायै] (ऐसे समय में) कान्त (श्रीकृष्ण) कान्ता (श्रीरुक्मिणीजी) के गुणों के वशीभूत हो रहे हैं [कान्ता कन्त गुणि

वसि थायै] और कान्ता कान्त के गुणों के वशीभूत हो रही है। [एक एकण अन्त न दाखै] एक दूसरे को (अपने प्रेम का) अंत नहीं देते हैं ॥२६६॥

> ग्रह पुहप तणौ तिणि पुहपित ग्रहणौ
> पुहप ई ओढ़ण पाथरणि।
> हरखि हिँडोलि पुहपमै हिण्डति
> सहि सहचरि पुहपाँ सरणि ॥२६७॥

[तिणि] उनके (श्रीकृष्ण तथा श्रीरुक्मिणी के) [पुहपित ग्रह, पुहप तणौ ग्रहणौ, पुहप ई ओढ़ण पाथरणि] पुष्पों से सजाये हुए महल हैं, पुष्पों के (बने) गहने हैं, और पुष्पों के ही ओढ़ने और बिछाने के वस्त्र हैं। [हरखि पुहपमै हिँडोलि हिण्डति] (वे) प्रसन्न होकर पुष्पों के हिंडोले में झूलते हैं [सहि सहचरि पुहपाँ सरणि] और (उनकी) सब सखियाँ पुष्पों पर आश्रित हैं। (अर्थात् उनकी जीविका पुष्पों के आभूषण गूंथने और सजाने पर निर्भर है) ॥२६७॥

> पौढाड़ै नाद वेद परबोधै
> निसि दिनि वाग विहार नितु।
> माणग मयण एण विधि माणै
> रुषमिणि कन्त वसन्त रितु ॥२६८॥

[निसि नाद पौढाड़ै दिनि वेद परबोधै] रात्रि में अनाहत नाद (शब्द ब्रह्म, उनको) सुलाता है और प्रात:काल (स्वयं) वेद भगवान् (उनको) जगाते हैं; [वाग विहार नितु] नित्य वाणी (सरस्वती) का विलास होता है। [माणग मयण रुषिमिणि कन्त एण विधि वसन्त

रितु माणै] कामदेव के सदृश रसिक (विलासप्रिय) रुक्मिणी-कन्त इस प्रकार वसन्त ऋतु का उपभोग करते हैं ॥२६८॥

अवसरि तिणि प्रीति पसरि मन अवसरि
हाइ भाइ मोहिया हरि ।
अंग अनंग गया आपाणा
जुड़िया जिणि वसिया जठरि ॥२६९॥

[तिणि अवसरि] उस समय [मन अवसरि प्रीति पसरि] (श्रीरुक्मिणी के) मन के भीतर प्रेम ने बढ़कर [हाइ भाइ हरि मोहिया] हाव भावों से श्रीहरि को मोहित कर लिया। [जठरि अनंग वसिया] (श्रीरुक्मिणीजी के) उदर में कामदेव ने आकर निवास किया [जिणि गया आपाणा अंग जुड़िया] जिससे (अनंग के) विनष्ट हुए अपने अंग (श्रीरुक्मिणी की कृपा से) पुन: मिल गये ॥२६९॥

वसुदेव पिता सुत थिया वासुदे
प्रदुमन सुत पित जगतपति ।
सासू देवकी रामा सुवहू
रामा सासू वहू रति ॥२७०॥

[वसुदेव पिता वासुदे सुत थिया] वसुदेव पिता के वासुदेव (श्रीकृष्ण) पुत्र हुए [जगतपति पित] और जगत्पति (श्रीकृष्ण) पिता के [प्रदुमन सुत] प्रद्युम्न पुत्र हुए। [सासू देवकी रामा सुवहू] देवकीजी सास के लक्ष्मी (श्रीरुक्मिणी) पुत्रवधू हुईं [रामा सासू रति वहू] और श्रीरुक्मिणी सास के रति पुत्रवधू हुईं ॥२७०॥

लीलाधण ग्रहे मानुखी लीला
जगवासग वसिया जगति ।

पित प्रदुमन जगदीस पितामह
पोतौ अनिरुध ऊखापति ॥२७१॥

[लीलाधण मानुखी लीला ग्रहे] अनन्त लीलावाले (लीला के स्वामी भगवान्) ने मनुष्य लीला ग्रहण को [जगवासग जगति वसिया] जगत् को (अपने में) बसानेवाले (भगवान) जगत् में बसने लगे । [जगदीस पितामह पित प्रदुमन ऊखापति अनिरुध पोतौ] (उस समय उनके पारिवारिक सुख का क्या पारावार था कि जिसमें) जगत् के स्वामी (श्रीकृष्ण) तो दादा हुए, प्रद्युम्न (कामावतार) पिता हुए और उषा के पति अनिरुद्ध पोते हुए ॥२७१॥

किं कहिसु तासु जसु अहि थाकौ कहि
नारायण निरगुण निरलेप ।
कहि रुषमिणि प्रदुमन अनिरुध का
सह सहचरिए नाम सँखेप ॥२७२॥

[नारायण निरगुण निरलेप] (श्रीकृष्ण) जो साक्षात् नारायण, त्रिगुणातीत और निर्लिप्त हैं, [तासु जसु अहि कहि थाकौ] उनका यश वर्णन करते हुए शेषनाग भी थक गया [किं कहिसु] (तो) मैं क्या कह सकता हूँ ? [सह सहचरिए रुषमिणि प्रदुमन अनिरुध का नाम सँखेप कहि] (किन्तु) सखियों सहित श्रीरुक्मिणी और प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम संक्षेप में कहता हूँ ॥२७२॥

लोकमाता सिंधुसुता श्री लिखमी
पदमा पदमालया प्रमा।
अवर गृहे अस्थिरा इन्दिरा
रामा हरिवल्लभा रमा ॥२७३॥

श्रीरुक्मिणी के नाम इस प्रकार कहते हैं—[लोकमाता] जगज्जननी [सिंधुसुता] समुद्र की पुत्री [श्री] (सर्वोत्कृष्ट) शोभा [लिखमी] लक्ष्मी [पदमा] पद्मा-पद्मिनी-कमल के चिह्नवाली [पद्मालया] कमल में वास करनेवाली [प्रमा] प्रमितवाली—प्रमाणवाली [अवर गृहे अस्थिरा] (भगवान् विष्णु के अतिरिक्त) दूसरों के घर में स्थिरता से न ठहरनेवाली—चंचला [इन्दिरा] परम ऐश्वर्य्य देनेवाली [रामा] विष्णु भगवान में रमण करनेवाली [हरिवल्लभा] विष्णु-प्रिया [रमा] रमण-शीला ।।२७३।।

दरपक कंदरप काम कुसुमायुध
सम्बरारि रति पति तनुसार ।
समर मनोज अनंग पंचसर
मनमथ मदन मकरध्वज मार ।।२७४।।

प्रद्युम्न के नाम गिनाते हैं—[दरपक] अभिमान करनेवाला [कंदरप] कंदर्प-कुत्सित अभिमान करानेवाला [काम] कामदेव [कुसुमायुध] पुष्पों के अस्त्रशस्त्र रखनेवाला [सम्बरारि] शंबर नामक दैत्य का शत्रु [तनुसार] बलवान शरीरवाला [समर] स्मर, अभीष्ट का स्मरण करानेवाला [मनोज] मन में उत्पन्न होनेवाला [अनंग] बिना अंगवाला [पंचसर] उन्मादन, तापन, शोषण, सम्मोहन तथा स्तम्भन नामक पाँच बाण रखनेवाला अथवा अरविंद, अशोक, चूत, नवमल्लिका तथा नीलोत्पल—इन पाँच पुष्पबाणों को रखनेवाला [मनमथ] मन को मथने (विचलित) करनेवाला [मकरध्वज] ध्वजा में मकर के चिह्नवाला और [मार] मारनेवाला ।।२७४।।

चतुरमुख चतुरवरण चतुरातमक
विग्य चतुर जुग विधायक ।
सर्वजीव विश्वकृत ब्रह्मसू
नरवर हँस देहनायक ॥२७५॥

अब अनिरुद्ध के नाम कहते हैं—[चतुरमुख] चार मुखोंवाला [चतुरवरण] चार वर्णों की रचना करनेवाला [चतुरातमक] कुशल बुद्धिवाला [विग्य] विशेष जानने वाला [चतुर जुग विधायक] चारों युगों की रचना करनेवाला [सर्वजीव] सबका जीवात्मा [विश्वकृत] विश्व का कर्त्ता [ब्रह्मसू] वेदों को उत्पन्न करनेवाला [नरवर] नरों में श्रेष्ठ [हँस] जीवात्मा [देहनायक] देह का नियन्ता ॥२७५॥

सुन्दरता लज्जा प्रीति सरसती
माया कान्ती क्रिपा मति ।
सिद्धि वृद्धि सुचिता रुचि सरधा
मरजादा कीरति महति ॥२७६॥

श्रीरुक्मिणी की सहचरियों के नाम कहते हैं—सुन्दरता, लज्जा, प्रीति, सरस्वती, माया, कान्ति, कृपामति, सिद्धि, वृद्धि, शुचिता, रुचि, श्रद्धा, मर्यादा, कीर्ति और महत्ता ॥२७६॥

संसार सुपहु करता गृह संगृह
गिणि तिणि हीज पंचमा गालि ।
मदिरा रीस हिंसा निन्दा मति
च्यारे करि मूँकिया चंडालि ॥२७७॥

[संसार सुपहु] संसार के श्रेष्ठ प्रभु (श्रीकृष्णजी) ने [गृह संगृह करता] गृहस्थ धारण करते हुए—लोकसंग्रह करते हुए

[मदिरा रीस हिंसा निंदा मति च्यारे] मदिरा, क्रोध, हिंसा और निंदक-बुद्धि, इन चारों को [पंचमी गालि तिणि हीज गिणि] और पाँचवीं गाली को भी वैसा ही समझ कर [चंडालि करि मूँकिया] चांडाल करके (समझकर) छोड़ दिया ।।२७७।।

हरि समरण रस समझण हरिणाखी
चात्रण खल खगि खेत्र चढ़ि ।
बैसे सभा पारकी बोलण
प्राणी वंछइ त वेलि पढ़ि ।।२७८।।

[प्राणी] हे प्राणी ! [हरि समरण] (यदि) हरिभजन की, [हरिणाखी रस समझण] मृगनयनी के रस (प्रेम) को समझने की, [खेत्र चढ़ि खल खगि चात्रण] रणक्षेत्र में चढ़कर शत्रुओं को खड्ग से काटने की, [पारकी सभा बैसे बोलण] और दूसरों की सभा में बैठकर बोलने की [वंछइ त] इच्छा हो तो [वेलि पढ़ि] वेलि को पढ़ ।।२७८।।

सरसती कंठि श्री गृहि मुखि सोभा
भावी मुगति तिकरि भुगति ।
उवरि ग्यान हरि भगति आतमा
जपै वेलि त्यां ए जुगति ।।२७९।।

[ए जुगति] इस युक्ति से [वेलि जपै] जो वेलि का पाठ करते हैं [त्यां कंठि सरसती] उनके कंठ में सरस्वती [गृहि श्री] घर में लक्ष्मी [मुखि सोभा] और मुख में शोभा विराजती है; [भावी तिकरि मुगति भुगति] भविष्य के लिए मुक्ति और बहुत से भोगों की प्राप्ति होती है, [उवरि ग्यान आतमा हरि भगति] और हृदय में ज्ञान और आत्मा में हरिभक्ति उत्पन्न होती है ।।२७९।।

महि सुइ खट मास प्रात जल् मंजै
आप अपरस अरु जित इन्द्री।
प्रागै वेलि पढ़न्ताँ नित प्रति
त्री वंछित वर वंछित त्री ॥२८०॥

[खट मास महि सुइ] छः महीनों तक पृथ्वी पर सोते हुए [प्रात जल् मंजै] प्रातःकाल जल में स्नान करके [आप अपरस] स्वयं अस्पृश्य रह कर [अरु जित इन्द्री] और जितेन्द्रिय रहकर [नित प्रति वेलि पढ़न्ताँ] नित्य प्रति वेलि का पाठ करनेवाले [वर वंछित त्री त्री वंछित वर] वर को इच्छित स्त्री और स्त्री को इच्छित वर की प्राप्ति होती है ॥२८०॥

ऊपजै अहोनिसि आप आप मै
रुषमणि क्रिसन सरीख रति।
कहै वेलि वर लहै कुमारी
परणी पूत सुहाग पति ॥२८१॥

[वेलि कहै] वेलि का पाठ करने से [कुमारी वर] कुमारी वर को [परणी पूत पति सुहाग] और विवाहिता पुत्र को और पति के सुहाग को [लहै] प्राप्त करती है। [आप आप मै अहोनिसि रुषमणि क्रिसन सरीख रति ऊपजै] (और पति-पत्नी में) परस्पर रात-दिन श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण जैसा प्रेम उत्पन्न होता है ॥२८१॥

परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे
अरु साहण भंडार इम।
जण रुषमिणि हरि वेलि जपंताँ
जग पुड़ि वाधै वेलि जिम ॥२८२॥

[रुषमिणि हरि वेलि जपंताँ जण] श्रीरुक्मिणी और श्रीकृष्ण की (इस) वेलि के जप करनेवाले मनुष्य के [परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे अरु साहण भंडार इम वाधै] कुटुम्ब में पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र और हाथी, घोड़े, रथादि साधन और भंडार इस प्रकार बढ़ते हैं [जिम] जिस प्रकार [जब पुड़ि वेलि] पृथ्वी पर लताएँ (फैलती हैं) ॥२८२॥

पेखे कोइ कहति एक एक प्रति
विमल् मंगल् गृह एक वगि ।
एणि कवण सुभ क्रम आचरताँ
जाणियै वेलि जपन्ति जगि ॥२८३॥

[विमल् मंगल्] निर्मल मंगलाचार को [एक गृह] एक घर में [वगि] एकत्रित हुए [पेखे] देखकर [कोई एक एक प्रति कहति] कोई एक मनुष्य किसी दूसरे से कहता है, [जगि एणि कवण सुभ क्रम आचरताँ] जगत् में इसने कौन से शुभ कर्मों का आचरण करते हुए (उपरोक्त समृद्धि प्राप्त की है) ? [जाणियै वेलि जपंति] जान पड़ता है कि यह वेलि का जप करता है ॥२८३॥

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा
ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि ।
काया कजि उपचार करन्ताँ
हुवै सु वेलि जपन्ति हुवि ॥२८४॥

[काया कजि उपचार करन्ताँ] शरीर के लिए चिकित्सा करते हुए [ससत्र उखध मँत्र तँत्र सुवि चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा हुवै] शस्त्र, औषधि, मंत्र तंत्र सभी चार प्रकार की (जो) वेदोक्त चिकित्साएँ होती हैं [सु वेलि जपन्ति हुवि] सो वेलि के पाठ करने (मात्र) से हो जाती हैं ॥२८४॥

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम
पिंड प्रभवति कफ वात पित।
त्रिविध ताप तसु रोग त्रिविधि मै
न भवति वेलि जपन्त नित ॥२८५॥

[पिंड प्रभवति आधिभूतक आधिदेव अध्यातम त्रिविध ताप] शरीर में होनेवाले आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक, ये तीन प्रकार के ताप [कफ वात पित त्रिविध मै रोग] तथा कफ, वात और पित्त इन त्रिविध विकारों से युक्त रोग [तसु न भवति वेलि जपन्त नित] उसको नहीं होते हैं जो वेलि का सदा जप करता है ॥२८५॥

मन सुद्धि जपन्ताँ रुषमिणि मंगल
निधि सम्पति थाइ कुसल नित।
दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा
नासै दुसुपन दुर निमित ॥२८६॥

[रुषमिणि मंगल सुद्धि मन जपन्ताँ] इस श्रीरुक्मिणी-मंगल—(वेलि)—को शुद्ध मन से जपने से [निधि सम्पति नित कुसल थाइ] कोष में धन और सदैव कुशल रहता है। [दुरदिन दुरग्रह दुसह दुरदसा दुसुपन दुर निमित नासै] और बुरे दिन, खोटे ग्रह, असहनीय बुरी दशा, दुःस्वप्न और अशुभ शकुन नष्ट हो जाते हैं ॥२८६॥

मणि मंत्र तंत्र बल जंत्र अमंगल
थलि जलि नभसि न कोइ छलन्ति।
डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत डर
भाजै उपद्रव वेलि भणन्ति ॥२८७॥

[वेलि भणन्ति] वेलि पढ़ने से [मणि मंत्र तंत्र जंत्र बल कोई अमंगल] मणि, मंत्र, तंत्र और यंत्र आदि के बल से (शत्रुओं द्वारा किया हुआ) कोई अनिष्ट [जलि थलि नभसि न छलन्ति] जल थल अथवा आकाश में भी नहीं छल सकता [डाकिणि शाकिणि भूत प्रेत उपद्रव डर भाजै] और डाकिनी, शाकिनी, भूत प्रेतादि के किये हुए उपद्रव डर कर भागते हैं ॥२८७॥

सन्यासिए जोगिए तपसि तापसिए
काँइ इवड़ा हठ निग्रह किया ।
प्राणी भवसागर वेलि पढ़न्तां
थिया पार तरि पारि थिया ॥२८८॥

[संन्यासिए जोगिए तापसिए तपसि इवड़ा हठ निग्रह किया काँइ] संन्यासियों, योगियों और तपस्वियों की तपस्या में ऐसा हठ और संयम करने से क्या ! [प्राणी वेलि पढ़न्तां भवसागर तरि पारि थिया पार थिया] जन साधारण (तो) वेलि को पढ़कर (ही) भवसागर तैरकर पार हो गये,—(निश्चय ही)—पार हो गये !! ॥२८८॥

किं जोग जाग जप तप तीरथ किं
व्रत किं दानाश्रम वरणा ।
मुख कहि क्रुसन रुषमिणि मंगल
काँइ रे मन कलपसि क्रुपणा ॥२८९॥

[किं जोग जाग जप तप तीरथ किं] योग, यज्ञ, जप, तप से क्या ? (अथवा) तीर्थ से क्या ? [व्रत दानाश्रम वरणा किं] व्रत करने से, दान देने से अथवा वर्णाश्रम धर्म पालने से क्या ? [रे क्रुपणा मन काँइ कलपसि] रे, क्रुपण मन, क्यों दुख पाता है ? [क्रुसन

रुखमिणा मंगल मुख कहि] श्रीकृष्ण रुक्मिणी के मंगल (इस वेलि) को मुख से कह ॥२८९॥

बे हरि हर भजै अतारू बोलै
ते ग्रब भागीरथी म तूँ
एक देस वाहणी न आणाँ
सुरसरि सम सरि वेलि सूँ ॥२९०॥

[बे हरि हर भजै, अतारू बोलै, एक देस वाहणी, आणाँ न] (तू) विष्णु और शिव--दोनों--का आश्रय लेती है, तैरना न जाननेवाले को डुबा देती है और एक ही प्रदेश में (सीमित होकर) बहनेवाली है—अन्यत्र नहीं [ते भागीरथी तूँ ग्रब म] इसलिए, हे भागीरथी, तू (पतितोद्धारिणि होने का) गर्व न कर। [वेलि सम सुरसरि सरि सूँ] वेलि के समान सुरसरि (गंगा) की शोभा कैसी ? ॥२९०॥

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ
महि थाणौ प्रिथु दास मुख।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे
सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥

[वल्ली] (यह जो) वेलि (रूपिणी लता) है [तसु बीज भागवत] इसका बीज (मूलाधार) श्रीमद्भागवत है [दास प्रिथु मुख महि थाणौ वायौ] (जो) भक्त पृथ्वीराज (कवि) के मुखरूपी पृथ्वी के थाँवले में बोया गया। [मूल ताल जड़] (इसके दोहलों का) मूल पाठ और (उनके गाने की) ताल जड़ें हैं [अरथ सुथिर मण्डहे] और (उनके) अरथरूपी दृढ़ मंडप पर [सुख छाँह करणि चढ़ि] सुखद छाया करने के लिये (यह वेलि) फैली है ॥२९१॥

पत्र अक्खर दल् द्वाला जस परिमल्
नव रस तन्तु त्रिधि अहोनिसि ।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी
मुगति फूल फल् भुगति मिसि ॥२९२॥

[अक्खर दल् पत्र] (इस वेलि-लता के) अक्षरों के समूह ही पत्ते हैं, [द्वाला जस परिमल्] दोहलों में वर्णित (श्रीभगवान् और रुक्मिणी का) यश ही (इसकी) सुगन्धि है, [नव रस तन्तु त्रिधि अहोनिसि] (और इसके) नवरसरूपी तन्तुओं की रात दिन वृद्धि होती रहती है । [रसिक मधुकर भगति सु मंजरी] काव्य-प्रेमी और भक्तजन ही भ्रमर हैं और भक्ति हो मंजरी है । [भुगति मिसि फूल मुगति फल्] सांसारिक सुख साधनरूपी (इसके) फूल हैं और मुक्ति ही फल है ॥२९२॥

कलि् कलप वेलि वलि् कामधेनुका
चिन्तामणि सोमवल्लि चत्र ।
प्रकटित पृथिमी पृथु मुख पंकज
अखरावलि् मिसि थाइ एकत्र ॥२९३॥

[कलि् कलप वेलि कामधेनुका चिन्तामणि वलि् सोमवल्लि चत्र] कलियुग में कल्पलता, कामधेनु, चिन्तामणि और सोमलता, ये चारों [पृथु मुख पंकज एकत्र थाइ अखरावलि् मिसि] पृथ्वीराज के मुखकमल में एकत्र हुई अक्षर पंक्ति के मिस [पृथिमी प्रकटित] पृथ्वी पर प्रकट हुई हैं ॥२९३॥

प्रिथु वेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाली
आगम नीगम कजि अखिल् ।

मुगति तणी नीसरणी मंड़ी
सरग लोक सोपान इल् ॥२९४॥

[प्रिथु वेलि कि] पृथ्वीराज द्वारा रचित यह वेलि क्या है, [इल् पँचविध प्रसिध प्रणाली] पृथ्वी पर पाँच प्रकार की प्रसिद्ध रीति (साधन-मार्ग) है; [आगम नीगम अखिल् कजि] (यथा) शास्त्र, वेद, सर्वप्रकार की कार्यसिद्धि; [मुगति तणी मंड़ी नीसरणी] मुक्ति को बनी-बनाई निसैनी [सरग लोक सोपान] (और) स्वर्गलोक की (प्राप्ति की) सीढ़ी है ॥२९४॥

मोतिए विसाहण ग्रहि कुण मूँकै
एक एक प्रति एक अनूप।
किल सोभण मुख मूझ वयण कण
सुकवि कुकवि चालणी न सूप ॥२९५॥

[एक एक प्रति एक अनूप मोतिए विसाहण] एक से एक अधिक अनुपम मोतियों को ख़रीदने के लिए (जिस प्रकार) [चालणी सूप ग्रहि मूकै कुण सोभण न] चलनी तथा सूप द्वारा किसे लेना और किसे छोड़ना यह संशोधन नहीं किया जाता, [किल] (उसी प्रकार) निश्चय ही [मूझ मुख वयण कण] मेरे मुख से कहे हुए (उपरोक्त) वचनोंरूपी मुक्ता-कणों का [सुकवि कुकवि ग्रहि मूकै कुण सोभण न] सुकवियों तथा कुकवियों द्वारा, कौनसा ग्राह्य और कौनसा त्याज्य होगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता ॥२९५॥

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए
महि मूँ वाणी वेलि मई।

जग गलि लागी रहै असै जिमि
सहै न दूखण जेम सई ॥२९६॥

[महि] पृथ्वी पर [वेलि मई मूँ वाणी] वेलिमयी मेरी यह कविता (कामिनी) [पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए] अपने शरीर पर नखसिख (काव्यालंकाररूपी) आभूषण पहिने हुए है—[असै जिमि जग गलि लागी रहै] यह असली स्त्री के समान जगत के गले में लिपटी रहती है [सई जेम दूखण न सहै] (परन्तु) सती स्त्री के समान दोष (कलंक) को सहन नहीं कर सकती है ॥२९६॥

भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता
मूझ भारती ए मरम ।
रस दायिनी सुन्दरी रमताँ
सेज अन्तरिख भूमि सम ॥२९७॥

[भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता] भाषा में (डिंगल, व्रज अथवा हिन्दी भाषाओं में), संस्कृत में अथवा प्राकृत में काव्यरचना करते हुए [मूझ भारती ए मरम] मेरी कविता का यही मर्म है, (अर्थात् मेरी कविता भी ऐसी ही रसदायिनी है) (जैसे) [रस दायिनी सुन्दरी रमताँ सेज अन्तरिख भूमि सम] आनन्द देनेवाली सुन्दरी (के साथ) रमण करते हुए शय्या, ऊँचा स्थान (झूला, पलंग इत्यादि) अथवा भूमि एक समान हैं ॥२९७॥

विवरण जौ वेलि रसिक रस वंछौ
करौ करणि तौ मूझ कथ ।
पूरे इते प्रामिस्यौ पूरौ
इत्रे ओछे ओछौ अरथ ॥२९८॥

[रसिक] हे रसिको ! [जै वेलि विवरण रस वंछौ] जो वेलि में वर्णित रस की इच्छा करते हो [तौ मूझ करणि करौ] तो मेरा कहा कार्य करौ। [इते पूरे] उतने (जिनका आगे के दोहले में कथन किया गया है) सब मनुष्य पूरे पूरे विद्यमान होंगे, तो [पूरौ अरथ प्रामिस्यौ] (आप लोग वेलि का) पूरा पूरा अर्थ पा सकोगे [इम्रे ओछे ओछौ] (किन्तु) उनमें से (जितने) कम होंगे (उतना ही) कम अर्थ प्राप्त कर सकोगे ॥२९८॥

ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी
संगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चित्र
करि एकठा तो अरथ कहि ॥२९९॥

[ज्योतिषी, वैद, पौराणिक, जोगी, संगीती, तारकिक, चारण, भाट भाखा चित्र सुकवि] ज्योतिषी, वैद्य, पुराणों का ज्ञाता, योगी, संगीतज्ञ, तार्किक, चारण, भाट, भाषा में शब्द, रस, भावादि का चमत्कार उत्पन्न करनेवाले सुकवि [सहि एकठा करि तो अरथ कहि] सबको एकत्रित किया जाय तो (इस वेलि का) पूरा पूरा अर्थ कहा जा सकता है ॥२९९॥

ग्रहिया मुखि मुखा गिलित ऊग्रहिया
मूँ गिणि आखर ए मरम।
मोटां तणौ प्रसाद कहै महि
ऐठौ आतम सम अधम ॥३००॥

[मुखा ग्रहिया] (गुरुजन महापुरुषादि के) मुखों से (निकले हुए वचनामृत को) ग्रहण किया [गिलित गिणि मुखि

ऊग्रहिया] (और वहाँ से) निकले हुए (वचनों का) मनन करके अपने मुख से (उनको, वेलि के रूप में) उगल दिया; [ए मूँ आखर मरम] यही मेरे (इन) अक्षरों का रहस्य है [महि मोटां तणौ प्रसाद कहै] संसार में (सत्पुरुष तो इसे) गुरुजन विद्वानों आदि महापुरुषों का प्रसाद कहेंगे [अधम आतम सम ऐठौ कहै] और अधम जन (निंदक, असत्पुरुष आदि इसे) अपने समान झूँठा कहेंगे ॥३००॥

हरि जस रस साहस करे हालिया
मो पंडिता वीनती मोख ।
अम्हीणा तम्हीणे आया
श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥३०१॥

[हरि जस रस साहस करे हालिया] हरियश रस के कारण साहस करके चले हुए [अम्हीणा सदोख वयण तम्हीणे स्रवण तीरथे आया] मेरे दोषपूर्ण वचन आप लोगों (रसिकों, रसज्ञों) के श्रवणोंरूपी तीर्थों तक आये हैं। [पंडिता मो वीनती मोख] हे पंडितो ! मेरी विनती है कि (उन दोषों से मुझे) मुक्त करो ॥३०१॥

रमताँ जगदीसर तणौ रहसि रस
मिथ्या वयण न तासु महे ।
सरसै रुषमणि तणी सहचरी
कहिया मूँ मैं तेम कहे ॥३०२॥

[रमताँ जगदीसर तणौ रहसि रस] रमण करते हुए जगत्पति (श्रीकृष्ण) का एकान्त (गोप्य) केलि-रस [तासु महे मिथ्या

वेयण न] उसमें (उसके वर्णन में) कोई मिथ्या वचन नहीं है [रुषमणि तणी सहचरी सरसै] क्योंकि श्रीरुक्मिणी की सहचरी सरस्वती देवी ने [मूँ कहिया मैं तेम कहै] जैसा मुझे कहा, मैंने (भी) वैसा ही कह दिया है ॥३०२॥

तूँ तणा अनै तूँ तणी तणा त्री
केसव कहि कुण सकै क्रम ।
भलौ ताइ परसाद भारती
भूंडो ताइ माहरौ भ्रम ॥३०३॥

[केसव] हे केशव, [तूँ तणा अनै तूँ तणी त्री तणा] आपके और आपकी स्त्री (प्रिया, श्रीरुक्मिणी) के [क्रम कुण कहि सकै] कर्मों (लीलाओं) का कौन वर्णन कर सकता है । [भलौ ताइ भारती परसाद] (इस वेलि में जो कुछ) अच्छा है वह सरस्वती का प्रसाद है [भूंडो ताइ माहरौ भ्रम] (और) बुरा है वह (उतना) मेरा (मेरी बुद्धि का) भ्रम है ॥३०३॥

रूप लखण गुण तणा रुषमिणी
कहिवा सामरथीक कुण ।
जाइ जाणिया तिसा मैं जम्पिया
गोविंद राणी तणा गुण ॥३०४॥

[रुषमिणी तणा रूप लखण गुण कहिवा कुण सामरथीक] श्रीरुक्मिणी के स्वरूप, सौन्दर्य्य, शुभलक्षण और गुण कहने में कौन समर्थ है ? [गोविँद राणी तणा गुण] (किन्तु) श्रीगोविन्द की पटरानी श्रीरुक्मिणी के गुण [जाइ जाणिया तिसा मैं जम्पिया] जितने मैंने (अपनी अल्पबुद्धि से) जाने, वैसे ही (उतने ही) कहे हैं ॥३०४॥

वरसि अचल गुण अंग ससी संवति
तवियौ जस करि श्री भरतार ।
करि श्रवणे दिन रात कंठ करि
पामै स्री फल भगति अपार ॥३०५॥

[अचल गुण अंग ससी संवति वरसि] ७ पर्वत, ३ गुण, ६ वेदाङ्ग और १ चन्द्रवाले (काव्य प्रथानुसार इनके विपरीत क्रमवाले) संवत् वर्ष में (अर्थात् संवत् १६३७ में) [श्री भरतार करि जस तवियौ] मैंने लक्ष्मी (श्रीरुक्मिणी) और उनके पति (भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र) का यश गाया (अर्थात् यह 'वेलि' रची) [दिन रात श्रवणे करि कंठ करि अपार स्री भगति फल पामै] (जो कोई इसे) सर्वदा सुनते हैं अथवा कंठस्थ करते हैं (वे) अनन्त लक्ष्मी (धनसम्पत्ति, संवृद्धि) और भगवद्भक्ति फलस्वरूप में प्राप्त करते हैं ॥३०५॥

॥ इति शुभम् ॥

पाठान्तर

पाठान्तर

"वेलि" के वर्त्तमान संस्करण का सम्पादन करते हुए, इसके संपादकों ने वेलि की चार प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से और डाकृर टैसीटरी द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, के संस्करण से लाभ उठाया है। इन पाँचों में पाठान्तर का बहुत मतभेद है। हमारी सुविधा के अनुसार जो पाठ हमें सबसे सरल और उपयुक्त जँचा है, उसी पाठ का ग्रहण इस संस्करण में किया गया है। बाक़ी पाठान्तरों को, जिज्ञासु पाठकों की सूचना और मनन के हेतु, यहाँ पर प्रत्येक दोहले का नम्बर देकर पृथक् अवतरण कर दिया है। यों तो जिन पाँच प्रतियों के पाठ का आधार हमने लिया है, उनके उपरान्त भी कुछ और प्राचान वेलि की प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं और उनमें भी भिन्न भिन्न पाठान्तर मिलते हैं, परन्तु वर्त्तमान संस्करण का उद्देश्य केवल इन प्रधान पाँच प्रतियों हीं से पूर्ण हो जाता है। जिन प्रतियों का आधार इसमें लिया गया है, वास्तव में वे ही प्रामाणिक प्रतियाँ रही हैं। निर्माणकाल की दृष्टि से भी वे प्रतिष्ठित और प्रामाणिक समझी गई हैं। डाक्टर टैसीटरी ने इनमें से तीन प्रधान प्रतियों के सिवाय और और प्रतियों की भी खोज की थी और उन्होंने अपने संस्करण में उनके पाठान्तरों को भी दिया है। जिन पाठकों को उन पाठान्तरों का अध्ययन करना हो, वे एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण को देखें। हमने, जहाँ जहाँ आवश्यकता हुई है, डा० टैसीटरी के संस्करण से इन इतर पाठान्तरों का लाभ उठाया है। हमारी समझ में पाठान्तरों के विषय में

डा० टैसीटरी का संस्करण प्रामाणिकता और उपयोगिता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है। 'सु' प्रति हमारी निजी खोज है। इसका डा० टैसीटरी को पता न था।

पृथक् पृथक् प्रतियों के लिए, हमने सुविधा के वास्ते निम्नाङ्कित अक्षर-संकेतों का उपयोग किया है—

(१) 'ढूं'=ढूँढारी प्रति। यह संवत् १६७३ की लिखी हुई है। इसमें मूल दोहलों के पाठ के अनन्तर प्रत्येक दोहले के पीछे पूर्वीय राजस्थानी अथवा ढूँढाड़ी भाषा में टीका भी है। इस टीका को हमने इस संस्करण के अंत में स्वतंत्ररूप में प्रकाशित करने की आयोजना की है। यह सबसे प्राचीन अतएव सबसे ज्यादा प्रामाणिक प्रति है। वर्त्तमान संस्करण का विशेष आधार इसी पर है। यह टीका पृथ्वीराजजी के किसी समसामयिक चारण-कवि की कृति है। महाराजा श्रीसूर्यसिंहजी के राज्यकाल में यह बीकानेर में लिखी गई थी। बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में यह प्रति सुरक्षित है।

(२) 'मा'=मारवाड़ी प्रति। इस प्रति में भी मूल दोहले और उनकी टीका हैं। टीका पश्चिमी राजस्थानी भाषा में, जिसे मारवाड़ी कहते हैं, लिखी हुई है। यह किसी जैन पंडित की लिखी हुई प्रतीत होती है। मूल का अर्थ स्पष्ट करने में यह टीका भी बहुत सहायक होती है। महाराज पृथ्वी-राजजी की मृत्यु के पचास वर्ष के अन्दर अन्दर यह टीका बनी होगी, यह हमारा अनुमान है।

(३) 'सु०'='सुबोधमंजरी' नामक संस्कृत टीकायुक्त सं० १६८३ में लिखित प्रति। वाचक सारंग की मौलिक प्रति से,

जो सं० १६७८ में पाल्हणपुर में निर्मित हुई थी, यह प्रति केवल पाँच वर्ष बाद लिखी गई थी। यह डा० टैसीटरी की सं० १७८१ में लिखित ऊदासरवाली (U) प्रति से, जिसका हमने 'सं' नाम रखा है, लगभग १०० वर्ष पुरानी है, अतएव ज्यादा प्रामाणिक है। डा० टैसीटरी को इस प्रति का पता नहीं लगा था, अन्यथा वे 'सं' को न ग्रहण कर, इसे ही ग्रहण करते। एक शताब्दी का अन्तर पड़ जाने से 'सं' और 'सु' प्रतियों के पाठान्तरों में पर्याप्त भेद पड़ गया है। इन दोनों प्रतियों की तुलना करने से कुछ साधारण विभिन्नताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। 'सं' प्रति के ए-ऐकारान्त और ओ-औकारान्त शब्द 'सु' में क्रमश: इकारान्त और उकारान्त पाये जाते हैं। वर्त्तनी (Spelling) का यह भेद प्राचीनता द्योतक है। 'सं' प्रति के दन्त्य सकार 'सु' में प्राय: तालव्य-शकार पाये जाते हैं। और भी बहुत सी विभिन्नताएँ हैं। हमने दोनों प्रतियों के पाठान्तर दे देना उचित समझा है। इस ग्रंथ में अन्यत्र, स्वतंत्ररूप में 'सुबोधमंजरी' संस्कृत टीका को सं० १६८३ की प्रति से नक़ल करके प्रकाशित करने की आयोजना की गई है।

(४) "सं०" = संस्कृत टीकायुक्त प्रति। इसमें मूल पाठ के साथ साथ "सुबोधमंजरी" नामक संस्कृत भाषा में एक सरल टीका भी है। इसको वाचक सारंग नामक लेखक ने लाखा चारण द्वारा लिखित "बालावबोध" नामक एक पूर्व टीका के आधार पर लिखा है। यह संवत् १६७८ में बनी थी। डा० टैसीटरी को इस टीका की सं० १७८१ में लिखी हुई ऊदासर की प्रति मिली थी। डा० टैसीटरी को इस टीका से अन्य

टीकाओं की अपेक्षा ज्यादा सहायता मिली। यह भी बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित है।

(५) "टैसी" = डा० टैसीटरी-द्वारा सम्पादित एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल, का संस्करण। इसमें डा० टैसीटरी-द्वारा खोज की हुई अन्य कई एक प्रतियों के पाठान्तरों का भी समावेश है। हमने इस पुस्तक का भी अध्ययन किया है और उपयोग किया है। पुस्तक के प्रारंभ में एक संक्षिप्त भूमिका अँगरेज़ी में लिखी हुई है और अन्त में अँगरेजी में कुछ नोट भी दिये गये हैं, जिनमें अधिकांश राजस्थानी व्याकरण और छंद से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ टीकाओं के आलोचनात्मक अवतरणांश भी दिये हैं। यह संस्करण हमारे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है।

पाठान्तर।

दो० १—सु० परमेस्वर। मा० प्रणमि। ढूँ० पुण। सं० पिणि। सु० पिण। मा० माधव। सु० माहवा। सं० चारि। सु० च्यार। ढूँ० सु० स। मा० अेहो। सु० गाईयइ।

दो० २—सु० मइँ। सु० कीयउ। मा० सं० सु० ऊपायउ। ढूँ० करि। ढूँ० कठचित्र। मा० कठचीत। सु० कठि। ढूँ० चीतारइ, मा० चीतारा। ढूँ० चित्रणि। सु० चीत्रारू। सु० गात्रण।

दो० ३—मा० करेवा ('कहेवा' के स्थान में)। सं० सु० वागहीण। टैसी० वागहीणि। सु० जांणे। सु० मांडीयउ।

दो० ४—टैसी० वाउआ। ढूँ० हुवौ क। सु० सूझइ, सोझइ। ढूँ० सु० मनि। मा० सरसउ। ढूँ० मनि। सं० पांगुलउ। टैसी० पङ्गुलौ। सु० वाऊआ। सु० हूओ। सु० पांगुलुं।

दो० ५—सु० फण (‘फणि’ के स्थान में)। मा० सं० जीहि जीहि। ढूँ० सु० तिण। मा० सं० सु० लाधउ (“पायौ” के स्थान में)। सं० डेडरा।

दो० ६—मा० ढूँ० सं० श्रीपति। मा० सं० समथ (‘सु मति’ के स्थान में)। ढूँ० तुज्झ। ढूँ० चित्रवति। मा० तवत। ढूँ० लग। मा० किरि। सु० समँद्र।

दो० ७—ढूँ सु० जिण। टैसी० जिणि। ढूँ० मुष। सु० मुख। ढूँ० कृसन। मा० सं० किसन। सु० तणु। ढूँ० मा० सं० संपोषण (टैसी० “जु पोषण” के स्थान में)। ढूँ० तणै (‘तणौं’ के स्थान में)। ढूँ० ते (‘तिणि’ के स्थान में)। सं० तडं (‘तिणि’ के स्थान में)। ढूँ० तणा (दूसरे ‘तणौ’ के स्थान में) ढूँ० सं० मा० श्रम। ढूँ० विन। सु० विण।

दो० ८—ढूँ० सुषदेव। ढूँ० सं० जयदेव। सु० वयास, जिदेव। ढूँ० सु० तु (‘ते’ के स्थान में)। सं० पहिलुं। ढूँ० पहिलै। सु० पहिलउँ। सु० कीजइ। ढूँ० तिण। सु० जिणि। (‘तिणि’ के स्थान में)। ढूँ० गूंथियौ। सु० गूंथीयइ। मा० सं० जेण। सं० सु० शृंगार।

दो० ९—मा० उयर। सु० ऊअर। सं० उदर। सु० बरिस। ढूँ० ह्याँ, सु० ईहाँ। सु० जेवड़ी। ढूँ० पूत्र। ढूँ० हेति। सं० सु० हेत। टैसी० हेतु। मा० जोवतां। ढूँ० विसेषत।

दो० १०—मा० सं० दच्छिण। ढूँ० दच्छण। सु० दच्छिणि। ढूँ० विदुरभति। मा० सं० सिरिहर।

दो० ११—ढूँ० पांच पूत। ढूँ० मा० छठी। टैसी० छठ्ठी। सु० स पुत्री (‘सुपुत्री’ के स्थान में)। ढूँ० कुंअर। टैसी० कुंवर। मा० कुंयर। सु० कूंवर। सु० रुकम बाह।

दो० १२—मा० तइ। मा० सं० रुषमणि। टैसी रुकमणि। सु० रुखिमिणी। सं० बालगति। मा० किर। ढूँ० सं० करि। ढूँ० दुहुं ('बिहुँ' के स्थान में)। सं० करि।

दो० १३—मा० अन। ढूँ० इनि। ढूँ० वरिस। टैसी० वरसि। सं० सु० वरस। ढूँ० सं० मा० मास। टैसी० मासि। सं० अे। ढूँ० सं० मा० मास (दूसरे 'मासि' के स्थान में)। सु० ताई। सं० ढूँ० पहर। सु० पुहर। टैसी० पहरि। मा० कुंयरि। सं० सु० कुंअरि। टैसी० कुमरि। सु० डूलड़ो।

दो० १४—टैसी० सँगि। ढूँ० सीत सखी। ढूँ० सु० सील। टैसी० सीलि। सं० सु० कुल। टैसी कुलि। मा० सं० सु० वेस। टैसी० वेसि। ढूँ० पदिमणी। टैसी० पदमणी। सु० पदमिणी। ढूँ० सं० कुंअरि। टैसी० कुँयरि। ढूँ० रायअंगण। टैसी० रायङ्गणि। ढूँ० मा० सं० उडोयण। टैसी० उडियण। ढूँ० वीरज। टैसी० बीरज। सु० ऊड़ीयणि।

दो० १५—मा० सोसव। सं० सु० शैशव। ढूँ० तन। सं० सु० तनु। टैसी० तनि। सु० जोयण। ढूँ० जोअण। टैसी० जोवण। मा० सं० जोवन।। मा० सं० सुहणा। सु० सुँहणा। सु० जु। सु० होइस्यइ। मा० होसी। सं० होइस्यै। ढूँ० सु० सं० प्रथम। टैसी० प्रिथम।

दो० १६—ढूँ० सं० मुष। टैसी० मुखि। ढूँ० थयो। सं० थिउ। सु० थिउँ। ढूँ० सं० सु० अरुणोदय। मा० अंबरि। सं० किर। सं० पयोधर। सं० सु० संध्या। मा० वंदन। सु० पेखे प्रात जागीया।

दो० १७—सु० जंपि। ढूँ० सं० आवंतउ। सु० जाणणहार। मा० वीछड़तो। टैसी० वीछड़तै। ढूँ० संगाती।

दो० १८—ढूँ० पितु। ढूँ० आंगणि। ढूँ० काजि। मा० अंग। मा० ढूं० करंता। सं० करंतां।

दो० १९—ढूँ० सइसव। सं० सु० शैशव। सु० सुजि। ढूँ० सुसिर। सु० सिसिर। मा० वतीत। सु० वतीति। सु० थयु। सं० सु० परिगह। मा० परिगहि। मा० लेउ। सं० तरुणापण। मा० तरुणपणइ। ढूँ० सं० रतिराउ। मा० रितुराय। सु० रुतिराव।

दो० २०—मा० सं० सु० फूल। मा० वनि। मा० वरण चंपक ('नयण कमल' के स्थान में)। सु० सुहाव। ढूँ० सुहावि। सं० पांपिणि। सं० मा० सु० समारि। सं० भुंहा। स० भुंहारे। ढूँ० भमिया। सु० भ्रमीआ। ढूँ० मा० भमर।

दो० २१—ढूँ० सं० सुतन। मा० मलय। मा० मवरे। सं० कलीअ। सु० कलीयु कि। मा० तिणइ। सु० तणु। सं० तणइ। सं० सु० दक्षिण।

दो० २२—ढूँ० जि। मा० उदय। ढूँ० कमोदनि। सं० कुमोदिनि। सु० केस, राकेस।

दो० २३—सु० वधीया, तन। ढूँ० सरवर। ढूँ० मा० सं० वेस। टैसी० वेसि। ढूँ० मा० जोवन। सं० तणु। सु० तणूं तणूं। ढूँ० तणइ। सं० सु कामिणि। सं० डोरि। सु० दोरि। ढूँ० मा० वरण। सु० तणा। ढूँ० मा० किर। सु० मा० दोर ('डोर' के स्थान में)।

दो० २४—मा० सं० सु० कामिणि । टैसी० कामणि । सं० वषांण । सु० कठिण । सु० करी करि । सं० श्यामता । मा० सामता । ढूँ० विराजत । सु जोयण । मा० सं० जोवण, टैसी० जोवणि । सं० दिषाल्या । मा० दिषालि । सं० जाण । सु० जाँण ।

दो० २५—मा० सं० धराधर । ढूँ० सं० मा० सु० शृंग । टैसी० स्रिँग । मा० सुपीन । ढूँ घणौ । टैसी० घणूँ । सु० घणुँ । मा० सं० सु० पदमिणि । ढूँ० नाभ । सं० प्रयाग । सु० प्रीयाग । ढूँ० श्रोण । मा० सोणि । सु० त्रीवल, त्रीवेणी ।

दो० २६—मा० सु० नितंबिणि । ढूँ० नितंबिनि । सं० नितम्बनि । मा० निरूपित । सु० जुवलि । ढूँ० जुग्रलि । सं० जुयल । मा० नाल । ढूँ० सु० तस । सु० वाखाणी ।

दो० २७—मा० ढूँ० श्रोपरि । ढूँ० मा० सु० पदपल्लव । ढूँ० मा० सं० सु० पुनर्भव । टैसी० पुनरभव । ढूँ० निर्मल । मा० ससहर । सु० तेजक । सु० साव कि ससहर ।

दो० २८—ढूँ० मा० सं० सु० सम्रति । टैसी० सम्रिति । ढूँ० सास्र । ढूँ० तस । सु० षट् । सु० तस मभि ।

दो० २९—मा० सं० सु० संभलि । सु० थयु । ढूँ० मा० सामा । सं० श्यामा । सं० सुणि । ('भणि' के स्थान में) । सु० भणी । ढूँ० जिकाइ । मा० सं० हर । टैसी० हरि (पहले 'हर' के स्थान में) । सु० बन्दइ । मा० ढूँ० सं० हर । टैसी० हरि (दूसरे 'हर' के स्थान में) । सं० गोरि ।

दो० ३०—ढूँ० पितु । ढूँ० श्रेरसा । सु० एरसा । ढूँ० करण ("करै" के स्थान में) । मा० ढूँ० सं० सु० सील कुल । टैसी०

सीलि कुलि । ढूँ० करि कुल । ढूँ० मा० सं० सु० किसन । टैसी० क्रिसन । ढूँ० सरि । टैसी० सिरि । सं० सिर । सु० स्वरि ।

दो० ३१—मा० पभणंति । मा० सं० पूत । सु० ईसी । सु० ग्यात । सु० जात, पाँत ।

दो० ३२—ढूँ० जि । सु० ओलंडे । सं० सु० वृद्धापणि । ढूँ० वृधपणइ । मा० वृद्धपणइ । सु० मत कोई । मा० सं० मत । मा० वेससउ । ढूँ० मा० सं० टैसी० इ । सु० माता पिता ।

दो० ३३—टैसी० पिता मात पभणै ('प्रभणै पित मात' के स्थान में) ढूं० मा० पित । सं० सु० पितृ मातृ । सं० प्रभणइ । सु० प्रभांणि । टैसी० सु० म ('मत' के स्थान में) । सं० पंतरि । सु० जै स्रेव । ढूं० जै ('जसु' के स्थान में) । सं० लषिमी । ढूँ० सं० रुषमणी । ढूँ० सु० वासदेव । सु० रुषुमिणी । मा० सं० सम । टैसी० समै ('सम सुत' के स्थान में) ।

दो० ३४—मा० मर्याद । सं० म्रयाद । सु० मृजाद । ढूँ० कोई । ढूँ० ससिपाल । सं० सुर । सं० सिरि । ढूँ० सं० सु० अंब । सं० सु० कोप । मा० वर । सु० कुंयर ।

दो० ३५—ढूँ० गुर । ढूँ० ग्रेहि । ढूँ० जाणि चूक । सु० चूकि । सं० सु० नंद ("लियौ" के स्थान में) । सु० बडु । मा० हूउ । सं० हुई । ढूँ० परोहित । सं० सु० सु प्रोहित । ढूँ० जो वरै ।

दो० ३६—ढूँ० मा० जेण । मा० बुरी । टैसी० वुरी । ढूँ० पहिलो ई । सं० पहिलुं । सु० पहिलु जाइ । मा० ताइ ('जाइ' के स्थान में) । मा० सं० सु० पहुतउ । सु० चंदेरी ।

दो० ३७—ढूँ० होइ। मा० हूउ। सु० हुअ। सं० हूअ। मा० सं० हरख। सु० घणि। टैसी० हरखि। सु० होइ। ढूँ० ससिपाल्। सं० शिशुपाल्। मा० गाया। ढूँ० जेण। मा० तेणि। सं० तेण।

दो० ३८—सं० सु० आगम। ढूँ० ससिपाल्। सं० सु० शिशुपाल। मा० मंडियउ। सं० सु० मंडीयइ। सं० उच्छव। मा० सं० सु० पड़ते। मा० सं० छाईयइ। सु० छाइयइ। सं० सु० कुंदणपुर। सं० कंचणइ। मा० वांदइ ("बाभै" के स्थान में)। सु० बाभे।

दो० ३९—मा० सं० सु० गृह। सं० हींगलो। सं० फटिकमइ। सं० चंदन। सु० चंदण। ढूँ० सं० कपाटे। ढूँ० सं० मा० सु० ई। मा० पना। टैसी० इ।

दो० ४०—मा० सामल। सं० सु० स्यामल। ढूँ० साज ("सोई" के स्थान में)। सु० घुरि। टैसी० सु० नीसाण। सं० सु० साजि। मा० घनघोर। सु० परठ वीजइ। सं० मांडइ। मा० किर। मा० तांडव।

दो० ४१—ढूँ० सं० मा० हुंता। टैसी० हुता। सं० ढूँ० निलाटि। सु० निलाट। ढूँ० सं० मा० नयर। टैसी० नैर। सु० धमलागिरि। ढूँ० मा० सं० सु० किना। टैसी० किन। सु० धमलहर।

दो० ४२—सं० किर। ढूँ० चड़ि। सु० चडि चडि। मा० गौखे चढ़ि चढ़ि मंगल गावे (प्रथम पंक्ति के स्थान में) ढूँ० मने। ढूँ० ससिपाल। मा० सं० शिशुपाल। ढूँ० सु० पदमिनि। मा० सं० सु० पदमिणि। टैसी० पदमणि।

सं० अनइ । ढूँ० मा० इणि परि फूलइ । सु० अवरि । सु० रुखुमिणी । मा० रुषमिणी । सं० रुखमिणि । टैसी० रुखमणी । मा० कुमोदिनी । सु० कमोदिणी ।

दो० ४३—मा० गमि ('मगि' के स्थान में) । ढूँ० चड़ि । सं० पंथी चढि चढि । सु० पंथी चडि चडि । ढूँ० जोयै । ढूँ० भुयण । सं० भवण । सु० भुंवण । सं० मा० सु० सुतनु । ढूँ० भिलत । सु० तास । सु० राखीयउँ । सं० राषियउ । मा० कागल राषे । ढूँ० लेषण । मा० सं० सु० लेषिणि । ढूँ० मस । सु० मिसि । सु० अंसू ।

दो० ४४—ढूँ० एक (अेक) । सं० सु० इक । ढूँ० सं० सु० देषि ('दीठ' के स्थान में) । मा० सं० पवित्र । टैसी० प्रवित । मा० गलितागउ । सं० गलित्रागुं । ढूँ० संदेसो । सं० सु० संदेसउ । ढूँ० लगैं । सु० लगइँ । ढूँ० सं० सु० द्वारिका । सु० ब्राह्मण ।

दो० ४५—मा० सं० मम ढील करे । सु० ढील करे हव । ढूँ० हल ('हिव' के स्थान में) । ढूँ० हेकमनि । सं० अेकमन । सु० एक मन । मा० जाअे । ढूँ० जाह । सं० जाहि । ढूँ० सु० जादवे । सु० जत । सं० हूंतउ । मा० मुष ('मुखि' के स्थान में) । सु० हूँता । ढूँ० वंदन । सु० देई । सु० पत ('पत्र' के स्थान में) ।

दो० ४६—ढूँ० गृहे । ढूँ० थिय । सु० थयु । सं० होइ ('कोइ' के स्थान में) । सु० होइ वह रही । ढूँ० वह हय ('कोइ वह' के स्थान में) । सु० सुज । सु० निशा । ढूँ० रहे । टैसी० रही । ढूँ० ज । ढूँ० द्विज । सं० दुजु ।

दो० ४७—ढूँ० मा० सं० नेड़उ। ढूँ० मा० सु० भउ। सं० भऊ। ढूँ० सु० पुहचेस्यां। सं० पुहचस्यां। सु० केण भति। सं० सांभि। सु० संभि। ढूँ० सु० कुँदणपुर। मा० कुंदनपुरि। मा० सं० परभाते। टैसी० परभाति।

दो० ४८—सं० धुनि सुणत वेद। सु० धुणि सुणत वेद कहाँ। मा० सुणत। ढूँ० किहीं। सं० कहाँ ('कहुँ' के स्थान में)। सु० धुणि।

दो० ४९—मा० सं० पणिहार। सु० पीणीहारि। सं० सीस। टैसी० सीसि। ढूँ० सु० कलकरि। टैसी० करि करि ('करि कर' के स्थान में)। सु० तीरथ तीरथ। सु० ब्राह्मण।

दो० ५०—ढूँ० जोअइ। सु० जोइ। ढूँ० मा० सं० सु० गृहि। टैसी० ग्रहि। ढूँ० जगनि ('जगन' के स्थान में)। ढूँ० मारग। ढूँ० आंब। ढूँ० मौरीये। सं० मोरिया। मा० आंबि। सु० मोरीया। सु० अंबि अंबि।

दो० ५१—ढूँ० सांप्रति। सु० सुहिणु। सु० आयु। सु० हुँ। सु० पूछीऊँ। मा० सु० तिणि। ढूँ० सं० सु० तेणि। सु० जंपीउ। मा० अे ('आ' के स्थान में)। ढूँ० सं० द्वारामती। सु० सु या ('सु आ' के स्थान में)।

दो० ५२—ढूँ० श्रवण। सं० सु० संभले ('सुणि स्रवणि' के स्थान में)। ढूँ० थयौ। सु० थयु। सु० क्रमयो। ढूँ० सु० तास। मा० सं० गयउ। सु० गयु। मा० अंतहपुर। मा० सं० हुयउ। सु० हूऊं।

दो० ५३—सु० आप आलोचइ आप सूं। ढूँ० आलोजै। ढूँ० सं० आप आप। ढूँ० सु० हव। ढूँ० रुषमणी। सं० रुकमिणी।

सु० रुषुमिणी। टैसी० रुकमणी। ढूँ० सं० मा० कृतारथ। टैसी० क्रितारथ। ढूँ० होसें। सं० सु० होस्यइ। मा० सं० हुयउ। सु० हूउ। ढूँ० मा० सं० कृतारथ। टैसी० क्रितारथ। ढूँ० सं० पहिल।

दो० ५४—ढूँ० सु० जगत्रपति। सु० अन्तरयामी। सु० दूरन्तरि। सु० आवँतु। ढूँ० वंदन। सं० सु० आतिथि। सं० धर्म। मा० तेण। सं० जेण। ढूँ० विसेष।

दो० ५५—ढूँ० कस्मिन् कह किल कसमात किमरर्थी (प्रथम पंक्ति के स्थान में)। मा० कस्मात् कस्मिन् मित्र किमर्थ। मा० कार्य। ढूँ० काजि। सु० परिजंति। ढूँ० परजंति। ढूँ० कति ('कुत्र' के स्थान में)। मा० सं० येन। ढूँ० जो ('भो' के स्थान में)। मा० ब्रह्मण। मा० पूरतूं। ढूँ० प्रेरतह। सु० प्रेरितं। ढूँ० पति ('पत्र' के स्थान में)। मा० सं० पत्रं। सु० कस्मिन् कथ ("कस्मिन् किल" के स्थान में) सु० यो ('भो' के स्थान में)। सु०ब्रह्मन्।

दो० ५६—मा० सं० कुंदनपुर। सं० कुंदनपुरि। मा० कुंदनपुर। ढूँ० दीन्हौ। मा० सं० राज। टैसी० राजि। ढूँ० मा० सं० रुषमणी। सु० रुखमिणी। टैसी० रुकमणी। मा० इण।

दो० ५७—ढूँ० आणंदमै। ढूँ० लेषिण रोमांचि। सु० लेखण। सं० रोमायंच। सु० रोमांच। मा० रोमायंचत। ढूँ० गहगह। ढूँ० दीन्हौ। सु० दीधु। ढूँ० करणाकरि। सु० करुणाकरि। ढूँ० सं० सु० तिण। ढूँ० मा० ब्राहमण। टैसी० ब्राह्मण।

दो० ५८—मा० दूयइ। टैसी० सु० वाचण। सु० ब्राह्मण। सु० पूर्वक। मा० विध। ढूँ० वीनमियौ। मा० तूं जि ('तूझ' के स्थान में)।

दो० ५९—मा० मूं जु। सु० मुझ। ढूँ० स्याल। टैसी० सु० सियाल। मा० संघ। ढूँ० पासै। सु० जु। ढूँ० बीजै। सु० बीजु। ढूँ० धेन। सं० किर।

दो० ६०—ढूँ० अम। मा० छांडि। ढूँ० अैठित। सं० अइठिति। टैसी० ऐठति। ढूँ० मा० सं० करि। मा० सं० सु० सालिग्राम। ढूँ० गृहि। ढूँ० संगृहि। ढूँ० मेछां।

दो० ६१—मा० ढूँ० वाराह। मा० सं० हुअे ('हए' के स्थान में)। सु० हये। मा० सं० हरिणाइष। सु० हरणाइख। सं० पाताल। सु० हुँ (दूसरी)। सु० कहु। मा० सं० करुणामय। ढूँ० करणामय। ढूँ० सं० किण। टैसी० किणि। सु० सुं।

दो० ६२—मा० सं० नेत्रे। ढूँ० सं० मंदिर। मा० सं० मथे महण। ढूँ० सं० हुं ('मूं' के स्थान में)। सु० हुँ। ढूँ० तम। सु० तम्ह। सं० सु० किण। सं० सीषविया। सु० सीखवीआ।

दो० ६३—सं० अवतार। मा० ढूँ० सं० रणि। टैसी० रिणि। मा० सं० रावण। टैसी० सु० रामण। सु० हुँ। ढूँ० करणा-करण। ढूँ० हूंता। मा० बांधे।

दो० ६४—सु० चउथी या। सं० चौथी आ। टैसी० चौथिया। मा० सं० वाहर। टैसी० वाहरि। सु० धरि। ढूँ० चतुरभुज। मा० सं० मुख। टैसी० मुखि। सु० कहि। सु० किसुँ। सु० अन्तरयामी। सु० सुँ।

दो० ६५—मा० सं० हूँ। सु० हुँ। सु० सकुँ। सु० तीश्रा। ढूँ० सु० प्रेमातुरी। सं० राज। टैसी० राजि। सं० दुआरिका। मा० दुवारिका। ढूँ० मा० सं० नेडउ। ढूँ० मा० सु० आयउ। टैसी० नैड़ौ।

दो० ६६—ढूँ० त्रिण। मा० त्रिन्ह। ढूँ० सं० आड़ा वेला तइ। मा० तीयइ ('तै' के स्थान में)। सु० तइ। ढूँ० घणौ। सु० घणु। सु० किसुं। मा० सु० कहोयइ। सं० कहुँ। सु० या। सं० आविस। सु० आविसु। मा० सं० सु० पुरुषोत्तम। ढूँ० अंबिकालै। मा० सु० अंबिकालये। ढूँ० नैर।

दो० ६७—सु० शिलीमुख। सु० टैसी० साथि। सु० चु ('चौ' के स्थान में)। ढूँ० सारिथो। ढूँ० मा० सं० कृपानिधि। टैसी० क्रिपानिधि। मा० सं० रथ। टैसी० रथि। सु० संभलि।

दो० ६८—ढूँ० समवेगि। मा० सं० ईसु। सु० इसु। सु० विहंति। सु० लागु। ढूँ० गिरतर। सं० तरुगिरि। सु० धाअन्ति।

दो० ६९—ढूँ० थांभि। ढूँ० छंडउ। सु० छंडु। सु० यु ('औ' के स्थान में)। सु० आयु ('आयौ' के स्थान में)। मा० अमीणउ। सु० अम्हारुं। ढूँ० साम। टैसी० स्याम ('स्यामा' के स्थान में)। सु० स्यांम।

दो० ७०—सु० रहीया। ढूँ० मा० रुषमणि। टैसी० रुकमणि। सं० रुकमिणि। सु० रुषुमिणि। ढूँ० ईतरी। मा० सं० चित। टैसी० चिति। ढूँ० चिंत। सं० चिंतवतां। सु० इम चित चींतवतो।

दो० ७१—ढूँ० थयउ। सं० थिउ। सु० थीउ। ढूँ० सं० द्रिज। ढूँ० रहित। सं० सकि न रहंति। सु० सकिउ रहति।

ढूँ० सं० सु० इम ('औ' के स्थान में) ढूँ० स आसनौ। सं० सु आसनउ। मा० मुह।

दो० ७२—ढूँ० सील ('सन्ति' के स्थान में)। सं० संति। टैसी० सन्त। मा० सं० श्यामा। ढूँ० मनह। मा० मन सु विचार। ढूँ० सं० सु० इम ('ए' के स्थान में)। सं० सु० कहे। सं० कुसस्थली। सु० हुँता। ढूँ० मा० किसन। टैसी० क्रिसन। सु० कुन्दणपुर।

दो० ७३—ढूँ० बांभण। ढूँ० वांदे। मा० वंदे। ढूँ० हेत। ढूँ० स। ढूँ० बीजै। मा० सं० सु० श्रवण। ढूँ० सांभली। मा० संभलि। ढूँ० पाय। मा० सं० पय। ढूँ० मा० कोई। सं० सु० कोइ। ढूँ० लाधौ। सं० मा० सु० लाधा।

दो० ७४—मा० चडिया। मा० सुणे। ढूँ० चड़िया। सु० चड़ोआ (दोनों जगह)। सु० सुणे। ढूँ० नह। टैसी० नहु। ढूँ० कीध। मा० सं० सु० किद्ध। मा० सं० ढूँ० उजाथरइ। सु० उजाघर। ढूं० मा० सु० कलह। ढूँ० अेवहा। सं० अेहवा। टैसी० अेवाहा। ढूँ० सहि। मा० सु० आखाढ-सिद्धि। ढूँ० सिधि।

दो० ७५—ढूँ० पिण। टैसी० पिणि। सं० पथि पथि। ढूँ० पंथ। टैसी० पंथि। सु० जूजूया। सु० पुर। ढूँ० सं० सु० भेले। ढूँ० होय ('मिलि' के स्थान में)। सं० सु० हुइ ('मिलि' के स्थान में)। मा० कोध ('कियौ' के स्थान में)। ढूँ० सहि। सु० सहु। टैसी० सवि। मा० मिलि। ('सहि' के स्थान में)। सु० जोअण। ढूँ० नार्ये नाग रिषि नरेस (अंतिम पंक्ति)।

दो० ७६—मा० सं० सु० कामिणि। टैसी० कामणि। मा० ढू० सं० कहइ ('कहि' के स्थान में)। सु० कहिं। सु० कहें। ढू० मा० सं० नारायण। टैसी० नाराइण। मा० सं० वेदवित ('वेदवंत' के स्थान में)। ढू० तंत सं० तत्व। सु० योग। सु० योगेसवर।

दो० ७७—सु० तणु। सं० सु० पुणि सुणिं। मा० सं० इउ। सु० यु। ढू० रुषमणी। टैसी० रुकमणी। मा० सं० सु० रुषमिणी। ढू० हर। सु० तणु। सु० आयु। टैसी० हरि। सु० कर। ढू० इन। मा० अन। मा० ढू० सं० रायहर। टैसी० राइहर।

दो० ७८—मा० सु० आवास। सु० ऊतारे। ढू० करि। सं० जणा जणउ। सु० जणाजणु। ढू० कृष्ण। मा० सं० सु० किसन। टैसी० क्रिसन। मा० सं० तउ। सु० तुउ। ढू० कोइ। मा० सं० सु० कुण। ढू० अचिरज। टैसी० सु० अचरिज। टैसी० मनुहारि। सु० मनहारि तणु।

दो० ७९—सु० आषि। मा० सं० ढू० रुषमणी। टैसी० रूकमणी। सु० रुषुमिणी। सं० कह। मा० सं० तउ। सु० आज कहु तु आप। ढूँ० आज आप। सं० आवउँ। सु० आवाँ। मा० जात। सु० अंबि।

दो० ८०—मा० सु० दूउ। सं० दूयउ। ढूँ० रुषमणी। टैसी० रुकमणी। मा० रुषमिणी। सु० रुषुमिणी। सं० रुकमिणी। ढू० मा० सं० व्याज काज। टैसी० व्याजि काजि। मा० सं० श्यामा। सु० आरंभीआ।

दो० ८१—मा० ढू० कुमकुमइ। सं० सु० कमकमइ। ढू० सु० सं० मंजन। सु० धोत। ढू० सं० सु० वसत्र। सं० चूयण

सु० चूत्रणा। ढू॑० सं० सु० छीने। मा० छीना। मा० सु० छिछोहा। सु० मकतूल।

दो० ८२—सं० सु० धूपणे लीधे। ढू॑० सं० मा० सु० मृग। टैसी० म्रिग। ढूँ० वाउरि। सु० विसतरणि।

दो० ८३—मा० वाजवटा। मा० सु० राजकुंअरि। टैसी० राजकुँवारि। सं० कुंयरि। ढू० सं० शृंगार। मा० सु० सिंगार। ढू॑० अेतै। सु० इतइ। ढूँ० मा० सं० अेक। टैसी० इक। सु० एक। ढू॑० आदरिस। सु० आणण आगल आदिरस।

दो० ८४—सं० कंठ। टैसी० कण्ठि। मा० क। सं० कहाँ। सु० कहिँ। ढू॑० लीलकंठ। ढू॑० करि। मा० किर। सं० सु० श्री ('किरि' के स्थान में)। मा० संषधर। सं० अेकिणि। सु० मा० सं० आंगुली। टैसी० सु० सङ्खधरि। सु० ग्रहीउ।

दो० ८५—ढूँ० करि। सं० सु० कर। मा० गुंथति। सं० गुंफित। ढूँ० कुसम। सु० यमुण। ढूँ० जमन। सं० पावन। सु० पावंत। मा० जगि। ढूँ० मा० सं० उतमंग। टैसी० उत-मँगि। सु० करि। सु० उतदँग। सं० अंबर। टैसी० अम्बरि। मा० सं० आधोअध। सु० अधोअध। मा० कुँआरमग। टैसी० कुमारमग। सं० कुंवारिमग। सु० कुंयारमग।

दो० ८६—मा० नयन। सं० षरसाण। ढूँ० मा० सं० सु० वलै। टैसी० वली। सं० वाढ़ि। सु० बाढ़ि। करि ('वरि' के स्थान में)।

दो० ८७—ढूँ० कउ ('चै' के स्थान में)। सु० कु ('चौ' के स्थान में)। सं० सु० कामिणि ('निज करि' के स्थान

में)। सं० सु० बे काढ़े। मा० ढूँ० संप्रत। ढूँ० सं० कीया। सु० कीआ। सं० सु० मुखि। ढूँ० निलाटि।

दो० ८८—सु० शिख। ढूँ० सिषि। मा० ची संधि ('तिलक' की जगह)। सु० गयु ज हुँतउ। ढूँ० हंतौ। ढूँ० क्रस्न। सं० क्रसनि। मा० किसनि। ढूँ० मांग। टैसी० सु० माँगि। मा० मग। टैसी० सु० मगि। सु० आयु। ढूँ० भालियल। सु० भालीअली।

दो० ८६—ढूँ० जों सहरी। ढूँ० सं० मा० सु० मृग। टैसी० म्रिग। ढूँ० विषधरि। सु० रास। ढूँ० सु ('कि' के स्थान में)। मा० सं० अलिक। सु० वक। मा० किर। ढूँ० सं० सु० चंद। टैसी० चन्द्र। सु० वांकीआ। ढूँ० ताटंक। टैसी० ताड़ङ्क। सु० त्राटंक चक।

दो० ६०—सं० कुचकी। मा० सं० सु० शंभु। ढूँ० संभि। मा० सं० सु० कामि। मा० सं० ढूँ० सु० क। टैसी० कि। ढूँ० मन। ढूँ० आगै ('आगमि' के स्थान में)। सं० सु० आगम। सं० मंडीयड। सु० मंडीअ। ढूँ० मंडप मंडे। सं० सु० वारगह। टैसी० बारिगह।

दो० ६१—ढूँ० हरिणाची। ढूँ० कंठ अंतरिख। सु० कंठि। सु० हुंती। टैसी० कण्ठि अँतरीख। मा० सं० बहरि। ढूँ० किर।

दो० ६२—सु० बाजूबध। ढूँ० बांधे। सं० बंधीया। सु० बंधीअ गोर बांह बे। मा० सं० बाह। सं० बे। मा० शाम। ढूँ० मा० सं० सु० श्री। मा० मणिमय। ढूँ० हींड। सं० हींडोलइ। मा० हींडिलइ। सु० हीँडुलइ। मा० ढूँ० किर। मा० ढूँ० सं० सु० श्रीषंड। टैसी० सिरीखण्ड।

दो० ९३—सं० सु० नवग्रहे प्रंचीया प्रंचे। मा० वलय। ढूँ० हस्त। ढूँ० निषित्र। मा० सं० सु० नक्षत्र। ढूँ० वेधायउ। ढूँ० सं० कि हिमकर। मा० हिमकिर। ढूँ० आविरत।

दो० ९४—ढूँ० आरोपत। ढूँ मा० थयउ। सु० थीयउ। ढूँ० उरुस्थलि। मा० उरस्थल। टैसी० उरुस्थल। सं० सु० उरसस्थल। ढूँ० कुंभस्थलि। सु० सुज। ढूँ० जि। ढूँ० तिण। ढूँ० सिर। टैसी० सु० सिरि।

दो० ९५—सु० धरीया। सु० ऊतारे। ढूँ० नौ। ढूँ० सं० सु० तन। टैसी० तनु। सु० तइँ। मा० तिणि ('तै' के स्थान में)। ढूँ० किमत। मा० किमित्र। मा० सं० सु० पयोधर। मा० ओ ('तौ' के स्थान में)। सं० सु० तु ("तौ" के स्थान में)

दो० ९६—मा० सं० सु० श्यामा। मा० सं० समर्पित। ढूँ० कुसा। सं० सु० किसा। सं० सु० अंगि। सं० सु० हूआ ('थिया' के स्थान में)। मा० सहु। मा० सं० सिंहरासि। सु० राशि। सु० गणग्रह।

दो० ९७—ढूँ० चंदाणणि। टैसी० चँद्राणणि। सु० चँद्राणण। ढूँ० नूपुरि। सु० कीआ। सं० पहराइति।

दो० ९८—मा० सं० बीण। सु० लीउ। सं० सु० ताइ ('जाइ' के स्थान में)। सु० साषीआत। ढूँ० सुसत। ढूँ० सु० मोताहल। ढूँ० सं० मा० सु० मुख। टैसी० मुखि। ढूँ० भागवति। सु० मुख सुक।

दो० ९९—ढूँ० कंजुलिक। मा० किंजल्क। ढूँ० सं० सु० द्युति। ढूँ० अेक। मा० इकु। सं० सु० बोडुं। ढूँ० कि ('सु' के स्थान में)। ढूँ० सु० तस।

दो० १००—मा० सिंगार। सु० कोधुँ। मा० सु० श्यामा। मा० देवी। सु० तणी। सं० होड। टैसी० होडि। मा० सं० छांडि। सु० छाडि। मा० पानही। सु० पांनही।

दो० १०१—ढूँ० अंतरि। सं० सु० ऊपरि। मा० संजोईन। सु० सदनि सदनि। मा० सदनि सदनि जाणे संजोई। ढूँ० मुदिति।

दो० १०२—ढूँ० सं० मा० किही करि। ढूँ० कुमकुमौ। टैसी० कुमकमै। सं० किहि करि कुंकुम। सु० कमकमुं किहीं करि कुंकुम। ढूँ० सु० किहीँ। ढूँ० धूप। टैसी० धोति। सं० सु० धोत। ढूँ० धर।

दो० १०३—ढूँ० मा० चउडोल। सु० चुडोल। सु० लगि। सु० तई। सु० सुँ। मा० सं० मांहि। टैसी० माहि। ढूँ० मा० सामा। ढूँ० आविरित।

दो० १०४—ढूँ० सं० मा० आविस्यइ। सं० सु० साथ। मा० से। ढूँ० सु० चड़ि चड़ि। सु० लाग। ढूँ० मा० ताक। ढूँ० सं० मा० मांहि। टैसी० माहि। ढूँ० सं० संयेषीयइ। सं० सुकर। सु० संपेखीइ।

दो० १०५—ढूँ० सं० मा० सु० पदमिणि। टैसी० पदमणि। मा० रषत्राल। ढूँ० हलवलिया। ढूँ० हिलिया। ढूँ० गलित। टैसी० गुड़ित। मा० सु० गिरोअर।

दो० १०६—ढूँ० असि। मा० सं० सु० वेग। सु० वहिं। सं० सु० अंतरित। मा० अंतरोष। सु० चडीया। सं० चढिया ('चालिया' के स्थान में)। टैसी० चँद्राणणि। मा० ढूँ० चंदाणणि। सं० सु० चंद्राणण। मा० मगि। सु० बेकुंठ। मा० किर। मा० ढूँ० सं० सु० अयोध्यावासी। टैसी०

अजोध्यावासी । ढूँ० सं० मंजन । मा० मंजणि । सु० मा० सं० करे । ढूँ० सिरी । ढूँ० दधि । मा० नद । सं० ढूँ० मांहि । टैसी० माहि ।

दो० १०७—सं० सु० संपूरे ('सम्पेखे' के स्थान में) । ढूँ० जाणे । ढूँ० मेर । ढूँ० सं० पाषली । सु० पाखलिं । मा० नक्षत्र । सं० नक्षत्र ची माला । सु० नाखित्र । ढूँ० धूमाला । मा० संकर । टैसी० सङ्करि । सु० शंकरि ।

दो० १०८—मा० देवालय । सु० देवाले । सु० पेसि । मा० ढूँ० सं० भाव हित । सु० भावि । टैसी० भावि हिति । ढूँ० सु० पूजे । सु० कीउ । ढूँ० सं० सु० हाथ । ढूँ० सं० सु० लग । मा० ढूँ० सं० रुषमणी । टैसी० रूकमणी । सु० रुषुमिणी ।

दो० १०९—ढूँ० आकरषण । मा० सं० सु० आकर्षण । टैसी० आकरसण । मा० सं० मन ('गति' के स्थान में) । सं० सु० तणि ('गति' के स्थान में) सं० सु० संकुचिणि । सं० सुंदर । मा० दुवारि । सं० द्वार । मा० सं० सु० देहरा । टैसी० देहुरा ।

दो० ११०—ढूँ० मन पंग । सं० मनुपंगु । ढूँ० सं० सु० थया । मा० तनु ('तह' के स्थान में) । सु० संपंखतिं । ढूँ० संपेषितै । सं० संपेषति । मा० किर । सु० करि । मा० नीपाई । सु० नीपायु । ढूँ० तदे । मा० तदही । मा० ढूँ० निकुंटी । सं० निकंटिश्रे । सु० निकंटीए ।

दो० १११—ढूँ० असि । ढूँ० षड़ि । मा० षड़े । ढूँ० मंडल ('सेन' के स्थान में) । सं० सु० सेण । सु० ढूँ० अंतरि । ढूँ० पृथमी । मा० सं० प्रथिमी । टैसी० प्रिथमी । ढूँ० गति कि । सु० तणुं । सं० गति किना । मा० पथि । सं० सु० तइ ('तिणि' के स्थान में) । सु० प्रथमी गति किना आकाश ।

दो० ११२—मा० सं० सु० बलिबंध। टैसी० बलिबँधि । ढूँ० समथि । मा० सं० सु० समथ । सं० रथ। टैसी० रथि । ढूँ० बेसाणो । सं० बइसारे । सु० बेसारे । सं० श्यामा । मा० सामा । ढूँ० करि । मा० सं० ढूँ० वाहर । टैसी० वाहरि । मा० ढूँ० हरणाषी । ढूँ० गयो ('जाइ' के स्थान में)।

दो० ११३—ढूँ० सांभलित । ढूँ० धमल । सु० तेथ ('सर' के स्थान में)। सं० सद ('सर' के स्थान में) । ढूँ० सांभलि । सु० ठाव्हे । ढूँ० कंगल । सं० सु० किंगल ।

दो० ११४—ढूँ० असि । मा० आस । ढूँ० चितरांम । ढूँ० निहषरता । टैसी० नह खरता । सु० नहषरता । ढूँ० हुऔ । सु० महीआरो ।

दो० ११५—सु० उंवड़ी । मा० महि ('मझि' के स्थान में)। सु० एवहू । मा० जेहवउ । सं० चक । सं० सु० पंति । सु० सुणियइ । मा० सं० सुणीयइ । सं० सु० वरिहासां । सं० नासा० । टैसी० निवैसहस ('सद नीहस' के स्थान में)।

दो० ११६—मा० अलगा । मा० सं० नेडी । मा० कीध । ढूँ० उखवते । टैसी० उद्रमते । मा० सं० ओप्रमते । सु० देठालु । सं० दीठालू । ढूँ० थयो ('हुऔ' के स्थान में) सं० सु० हूउ । ढूँ० दुहुँ । सं० वागा । ढूँ० ढेवरीये । सु० वाहरूए । सु० मारकूए । सं० मारगूए । मा० फोरिया ।

दो० ११७—मा० सु० घड़ा । सु० कठठे । ढूँ० कठठी करि आणी घटा कालाहणि सामही । सु० संमहे । सु० आमो सामहईं । मा० सं० आम्हो । मा० सं० सु० जोगिणि ।

टैसी० जोगणि । ढूँ० आवी । सु० आवइ । टैसी० आवै । मा० वहिसी ('वरसै' के स्थान में) मा० रुति । सं० बेपड़इ । सु० बेपड़इँ ।

दो० ११८—सु० हथनालि । मा० कुहकुबाण । सु० हुबि । ढूँ० होइअ । सं० गहेगहण । सु० गहेगगहण । ढूँ० सिलह लोह ऊपरि । सु० ऊपरि । मा० सं० सु० सिरि । सं० सु० माहीं । सु० बुंद ।

दो० ११९—ढूँ० किरणि । सं० सु० ऊकलि कलि । ढूँ० वरसत । सं० वरजित । टैसी० वरसति । ढूँ० विसेष । ढूँ० कलकि ('धबकि' के स्थान में) । टैसी० सु० धड़कि ('धबकि' के स्थान में) । सु० सिहरि । ढूँ० संबरवि । सं० संमर । सु० समरवि । ढूँ० सलाउ ।

दो० १२०—ढूँ० कांपिया । टैसी० कँपिया । ढूँ० सं० सु० कायरां । टैसी० काइराँ । सु० असुभकारीयु । सु० गाजते । ढूँ० सं० गाजंते । टैसी० गाजँति । मा० गाजिते । मा० सं० धारा । ढूँ० औवड़ीयौ । सु० ऊअड़ियउ ।

दो० १२१—मा० चोटीयालीउं । सु० चउँडिआल्युं । सं० चउटीयाल्युं । ढूँ० मा० ढलीअे । सु० पडीइ ('ढलिये' के स्थान में) सं० पड़ीयइ ("ढलिये" के स्थान में) । ढूँ० ससिपाल । ढूँ० सं० सु० ओझड़ां । ढूँ० लागौ ('मातौ' के स्थान में) । मा० मातइ ।

दो० १२२—ढूँ० रण । सं० सु० रिणि । मा० रुलतलोया तेण रुहिर अंगण रण (प्रथम पंक्ति) । ढूँ० घणै । सं० सु० घणे । ढूँ० हाथि । सं० पड़े । सु० बुदबुदा । सं० जल बुदांबुदा । मा० सं० सु० आकृति । ढूँ० आकति । टैसी० आक्रिति ।

सं० सु० चाले । मा० चाल्या । मा० सं० ढूँ० जोगिणी । टैसी० जोगणी । सु० योगिणी ।

दो० १२३—मा० बलभद्र । टैसी० बलिभद्र । ढूँ० बलिभद्रि । ढूँ० सं० सु० बापूकारे । टैसी० बापूकारै । मा० बापूकारीया । मा० सं० सत्रु । सु० साबतु । मा० साबता । ढूँ० सं० सु० अजी । सु० लाग । ढूँ० लग । सं० त्यां वेलां । सु० हिव ('हल' के स्थान में) । मा० जीपिसइ । ढूँ० वाहसे । मा० सं० वाहिस्यइ । टैसी० वाहिसि । सु० वाहस्यइ ।

दो १२४—सं० सु० विसरिया बीज जस (यश) बीज बीजिस्यै । मा० विसरी वार जस बीज बीजिजै । सं० षरी । मा० हालाहल । ढूँ सं० षलां । सं० रां ('काँ' के स्थान में) । सु० त्रूटि । मा० ढूँ० सं० सु० वहतां । सं० हलां ।

दो० १२५—ढूँ सं० अंच । ढूँ० छंछ । सं० चंच । ढूँ० पिंड । सं० चेत्र । सु० नीपनु । सु० नीर रगत षल हालिया नीसंख, अंच चंच ऊछलि अति (पूर्वार्द्ध के स्थान में) ।

दो० १२६—सं० सु० तास । सं० सु० भुजां वलि । ढूँ० पिंड । मा० पहरतइ । मा० बिजड़ां । टैसी० बिजड़ा । मा० बेड़ते । टैसी० वेड़तै । सं० बेड़ीया । सु० बेड़िया । ढूँ० सं० बलभद्र । सु० बलिभद्र । टैसी० बलिभद्रि । ढूँ० सिरा ।

दो० १२७—सं० राम । टैसो० रामि (खलि) । मा० ढूँ० सं० खलि । मा० रणि (दूसरे 'रिण' के स्थान में) । मा० ढूँ० सं० स । टैसी० सु । सु० निय । मा० मेटि । सु० मेढि । सं० सु० थया । मा० संहार । सं० फेरता । टैसी० फेरताँ । मा० पाय । सु० कीत्र्यां ।

दो० १२८—सं० कण लीधा हेक। सु० कण लीधा एक कीआ। मा० भंजीउ। सु० भंजिऊं। मा० सं० ढूँ० बलभद्र। टैसी० बलिभद्र। सं० खले। सु० सिरि।

दो० १२९—सु० सं० सधरां ('सरिखाँ' के स्थान में)। मा० ढूँ० सं० बलभद्र। टैसी० बलिभद्रि। सु० बलिभद्र। सु० साहीए। मा० सं० ऊछजीओ। सु० ऊछजिए। सं० विरुद्ध। मा सु० विरुध। ढूँ० भला भला। ढूँ० तोईज। टैसी० तोजि। ढूँ० जरासंधि। ढूँ० सिसपाल। सु० जुध।

दो० १३०—ढूँ० आडोहड़। मा० आडोहडि। ढूँ० अेकैअेक। मा० ढूँ० वाइयउ। सं० वागियौ। सं० अेक ('एम' के स्थान में) ढूँ० मा० रुषमणी। टैसी० रुकमणी। सं० सु० रुकमिणी। सु० लेई। सु० हुँ। सु० आहीर।

दो० १३१—मा० सु० विलकुलीउ। मा० ढूँ० वदन। टैसी० वदनि। ढूँ० वाकारे। सं० वाकारिउ। मा० वाकारीयउ। ढूँ० पिणछ। सं० सु० कुसन। मा० आयुध। सं० कुसन रुकम छेदण आयुधि करि। सु० रुक्म छेदण आयुध करि। मा० बेलष। सं० सु० बेलक। सु० मूंठि। मा० मूठ। ढूँ० द्रिठि। टैसी० द्रिढ। मा० सं० दृढ।

दो० १३२—सु० रुकमईउ। मा० सं० ढूं० सु० आरण। ढूं० रण। सं० सु० रिण। मा० रणि। मा० रुषमणी। टैसी० रुकमणी। सं० सु० रुकमिणी। मा० तणउ। सु० तण। सं० तनु ('तणु' के स्थान में)। सं० करि। सं० माहव। टैसी० माहवि। सं० कीयौ। सु० कीयउ।

दो० १३३—ढूँ० मा० सनस। सु० संनिधि ('सनँसि' के स्थान में)। टैसी० सनसि। ढूँ० मा० रुषमणी। टैसी० रुकमणी०।

सं० सु० रुकमिणी। सु० संनस ('सन्निधि' के स्थान में)। सं० सांनिधि। सं० सु० आलोज। सं० अषईयात। ढूँ० आवधि आवध। सं० सु० सोज।

दो० १३४—ढूँ० निरआउध। सु० निरायुध। मा० निरआवध। सु० कीयउ (दोनों 'कियौ' के स्थान में)। ढूँ० तद। मा० सं० तदि। ढूँ० सेन ('सोना' के स्थान में)। मा० सं० सु० ऊतारि। सं० छिणीइ। मा० सं० जीव ('जीवि' के स्थान में)। मा० ढूं० सं० सु० छांडियउ। ढूँ० सु हरि। सु० हीउं।

दो० १३५—सं० अनंत ('अनुज' के स्थान में)। ढूँ० अग्रज ईष कहै अनुज अे अनुचित। सं० दुष्ट। सं० सु० वासना। ढूँ० तास ('भली' के स्थान में)। ढूं० जास। ढूँ० बैसाणी। ढूं० सं० कीयर। ढूँ० भली ('भला' के स्थान में)।

दो० १३६—सं० सुसमिति। ढूँ० सव्रीडित। मा० संव्रीडित। सं० सुव्रीडति। मा० ढूँ० पुंडरीकाइष। सं० सु० पुंडरीकाख्य ढूँ० थीउ। सु० थीअ। ढूँ० मा० प्रसन्न। मा० ढूं आदेस। टैसी० आअेस। ढूं० मृगनयणी। मा० मृगानयणी। सं० मृगाषी। सु० मृगाखि।

दो० १३७—मा० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। ढूँ० अनिथाई। मा० सं० अन्यथा। ढूँ० करण। ढूँ० सिगिले। सु० समथ। सं० समरथ। ढूँ० हालीयो। मा० सं० जाइ। ढूँ० जिके ('जा' के स्थान में)। टैसी० जा इलगाया ('जाइ लगाया' के स्थान में)। मा० सं० सु० अलगाया। सु० हुँता। मा० साला। ढूँ० सं० सु० थापि। ढूँ० हथि।

दो० १३८—सं० पिण। टैसी० पिणि। ढूँ० सं० सु० जीति। मा० सं० रुषमिणी। सु० रुकमिणी ("पदमणी" के स्थान

में)। ढूँ० आणंद उभै हूआ एकार। टैसी० सत्रुसिरि अधिक वावरै सार। सु० सित्र सिर अधिक वावरे सार (दूसरा पंक्ति)। सु० लागा। ढूँ० महा ('माहि' के स्थान में)। सं० तइ वेला ('वादोवदि' के स्थान में)। सु० तई बेला ('वादोवदि' के स्थान में)। सं० सु० वधाईया।

दो० १३९—ढूँ० ग्रिह। टैसी० ग्रह। मा० सं० सु० गृह। ढूँ० सं० सु० काजि। ढूँ० गा। सं० गृहे गृहे। ढूँ० गृहगति गृहि गृहि। टैसी० ग्रहि ग्रहि। सं० ढूँ० मन। टैसी० मनि। मा० आपेण। सं० अर्पण। मा० कीधौ। ढूँ० मा० मारग। टैसी० सु० मारगि। मा० ओटइ।

दो० १४०—सु० दूर पथि ('देखतां' के स्थान में)। ढूँ० देषते। मा० देषता। ढूँ० पंथि पथिक। ढूँ० उतावलि। सं० दूरा पथि पथिक ऊतामल देषे। सु० ऊतामल देखे। सु० उरि ऊठी। मा० ढूँ० नीलो। ढूँ० तिणि। मा० सं० ढूँ० सु० नीलाणा। टैसी० निलाणा। सु० डालि।

दो० १४१—ढूँ० आगमि। ढूँ० मा० नयर। ढूँ० सु सहू। ढूँ० सऊजम। सं० ढूँ० सु० रुषमिणि। टैसी० रुकमणि। सं० ढूँ० सु० क्रुसन। मा० किसन। सं० वधामण। मा० ढूँ० सं० रेसि। टैसी० रेस। ढूँ० लहरी। मा० लहिरिउं। सु० लीइ। मा० दिन। सु० दिनि। मा० दरसण। सु० दरसणि ढूँ० राकेसि। टैसी० राकेस।

दो० १४२—ढूँ० गृहे गृहां। मा० सं० सु० गृहे गृहे। टैसी० ग्रिहे ग्रिहे। ढूँ० पुरवासीयइ। मा० दलिद। सं० दिसा ('तणौ' के स्थान में)। सु० दिसि ("तणौ" के स्थान में)। ढूँ० मा० दीन्हउ। सं० सु० दीधुं। मा दलिद। सं० हूया। मा०

हूआं । सु० हूआ । ढूं० सं० सु० केसरि । मा० सं० सु० हलद्र । सु० हरी ।

दो० १४३—सं० सु० मारग । मा० मारगे । सं० सु० मग । मा० मारगि । ढूँ० मा० क्रमियां । मा० तासु ('अति' के स्थान में) । ढूँ० नयरि । ढूँ० तकरि । मा० तिकर । सु० तिकिरि । मा० सं० पसारइ । सु० पसारइँ ।

दो० १४४—ढूँ० सं० वीजुल । सु० वीजुलि । सं० द्युति । ढूँ० डंड । ढूँ० आकास । मा० सं० सु० आकाश । सु० अव-छायु । ढूँ० सं० अवछायउ । सं० आया । ढूँ० मा० करि । सु० जाणे घण आया ।

दो० १४५—ढूँ० सं० मुकरमै । टैसी० मूकुरमै । ढूँ० प्रोलि । टैसी० प्रौलि । सं० सु० पोलि । ढूं० अबीरमै । मा० सं० अबीर-मइ । ढूँ० पइसारी । मा० सं० पइसारउ । मा० पइसंति । सु० पैसारउं । ढूँ० नै । मा० सं० नइ ।

दो० १४६—सु० दीपिं ('दियै' के स्थान में) । ढूँ० जसि । ढूँ० धमलित । ढूँ० सं० धण । टैसी० धणि । ढूँ० नागरि । मा० पेषे । ('देखे' के स्थान में) । ढूँ० सुधण । टैसी० सु० सकिसल । ढूँ० सिर । सु० बुंद ।

दो० १४७—सु० जीते । ढूँ० जुधि जोते । सं० युधि जीपे । मा० जधि ('जीपे' के स्थान में) । ढूँ० ससिपाल । ढूँ० सं० जरासंधि । ढूँ० जीपे । ढूँ० आये । सं० आया । ढूँ० सं० गृहि । सु० गृह । टैसी० ग्रिहि । मा० गृहे । ढूँ० उआरे । सु० ऊतारि । मा० सं० उवारइ । ढूं० पीयै ("पै" के स्थान में) । सु० अँवारि पि ('वारै पै' के स्थान में) ।

दो० १४८—ढूँ० सहिति । मा० सं० भिन्न । मा० अभिन । मा० वाणि वणि । सं० मुष । टैसी० सु० मुखि । सु० करिं । ढूँ० कृसण । सं० कृष्ण । सु० राजांन कृसन । ढूँ० रुषिमिणि । टैसी० रुकमणि । सं० रुकमिण । सु० रुषुमिणि । ढूं० मा० गृहि । सं० सु० गृह । टैसी० ग्रिहि ।

दो० १४९—ढूँ० दैवगति । मा० सं० दैवज्ञ । सु० तेड़ । सं० पहिलुं । सं० ई । सु० पहिलुं कीध प्रसंन । मा० पूछी । ढूँ० सं० कोधउ ए । सं० ज्योतिष । ढूँ० कइ । मा० सं० सु० कई । टैसी० कदि ('कइ' के स्थान में) । सु० रुषुमिणी मा० ढूँ० रुषमणी । सं० रुकमिण । टैसी० रुकमणि । ढूँ० सं० सु० कृसन । मा० किसन ।

दो० १५०—सु० धर्म्म । मा० विचार । ढूँ० वेदवंत । मा० वेदि-वित । सु० वेदवित । मा० हो त्री ('सुत्री' के स्थान में) । मा० क्युं ('किम' के स्थान में) । सु० होवि । मा० सं० सु० पुनः पुनः । मा० ढूँ० सं० पाणिग्रहण । टैसी० पाणि गरहण ।

दो० १५१—मा० कवि ('करि' के स्थान में) । मा० सं० निरणय । सु० निर्णय । ढूं० करण ('कहण' के स्थान में) । ढूँ० दोषि । सु० विवर्जित । सं० सु० जदि । मा० सु० हूउ ।

दो० १५२—सु० ब्राह्मणै । ढूँ० कहे । मा० कहीयउ । सं० कही कह । ('कही' के स्थान में) । सु० हूइ । मा० हूयउ । सं० हरण । सु० हथ लेवु । टैसी० हरणि । मा० सु० हूउ । ढूं० सं० सु० सेष । ढूँ० करउ ('हुवइ' के स्थान में) । मा० कउ ('हुवइ' के स्थान में) । सं० हुवइ । टैसी० हुइ । सु० हूवि ।

दो० १५३—मा० सं० रतनमय । ढूँ० वांस । सं० वंश । सं० आर्द्र । सु० अरजनमै । ढूँ० अरिजरामै । मा० अरुजनमय वेहि । सं० सु० अनल (अगनि) । सु० ईधरा । ढूँ० घृति । मा० सं० सु० घृत । टैसी० घ्रित । सं० घनसार ।

दो० १५४—सु० पश्चिम । ढूँ० पछमि । सं० दिशि । सं० पूठ । मा० पट परठित । सु० पट परठित ऊपरि । ढूँ० मधुपरकादि । मा० सं० मधुपर्कादि । टैसी० मधुपरिकादि । मा० ढूँ० सं० सु० सहसकार । मा० मांडे । ढूँ० सु० बे । सु० बेसाणि ।

दो० १५५—सु० आँखि । ढूँ० आणण । ढूँ० सु० आनन । ढूँ० सं० गरभ । टैसी० गरभि । मा० सं० मच्छ । मा० ढूँ० सं० गृहीत । टैसी० ग्रहीत । सु० चाहिं । ढूँ० आंगणै । मा० आंगणि । सु० ओंटे । मा० ढूँ० ओटा । सु० गाइं । सं० मुष । मा० सं० सु० किरि ।

दो० १५६—ढूँ० आगलि । सु० आगली । सं० आगइ । ढूँ० सं० प्रिया । टैसी० त्रिया । सं० त्री ('प्री' के स्थान में) । सु० चुथि । सं० चौथि आरंभी । सु० त्रिणि । सं० फिरइ । ढूँ० संगुष्ट । सं० सु० सांगुष्ट । टैसी० सांगुसट । ढूँ० सों । ढूँ० कर ('करि' के स्थान में) । मा० कमल करी । सं० सु० चंपतउ ।

दो० १५७—ढूँ० सु० पधरावी । सं० सु० त्री० । सु० वामिं । मा० प्रभणावी । सं० परस्पर । मा० ढूं० सं० यथा । टैसी० जथा । मा० मांगे लीधी । ढूँ० सं० नवे । टैसी० नवै ।

दो० १५८—सु० दुल्लह होइ आगिं । सु० सुणहर । सु० चुरी । सं० सु० दिसी । सं० हथलेवौ छूटौ । मा० हथलेवा

छूटी । सु० हथलेवि । सु० छूटि । ढूँ० बांधे । सु० आंचलां मिस ।

दो० १५६—सं० सु० आगलि । ढूँ० केलिगृहि । मा० सं० केलिगृह । टैसी० केलिग्रिह । ढूँ० अंगणि । मा० मारजन । ढूँ० सेझ । मा० ढूँ० सं० वियाज । टैसी० वियाजि । सु० वयाज । सं० सु० सझि० । सु० विआज सझे तस ।

दो० १६०—मा० तेण । सु० अति । ढूँ० रंग । ढूँ० सं० सु० मण । ढूँ० चंदूआ । सु० चांद्रवा । सु० तणि । सं० फणि । ढूँ० ही । ढूँ० सहस फण ।

दो० १६१—ढूँ० मंदरि अंतरि । सु० कीआ । ढूँ० सं० मिलवा । मा० सं० सु० समावृत । टैसी० समाव्रित । सु० कीधि । मा० कीधा । ढूँ० तणि । मा० सं० सु० संसकृत । टैसी० संसक्रित । ढूँ० सुतिणि । मा० सुतणु । टैसी० सु० सुतण ।

दो० १६२—मा० संकुचित । मा० सं० सु० समये । ढूँ० सं० सु० वंछित । मा० वंछिति । टैसी० वञ्छति । ढूँ० सं० रुष-मणि । टैसी० रुकमणि । ढूँ० सं० मा० सु० रमण । मा० सं० सु० द्रठि । मा० सं० ढूँ० किरण । सु० सूरिज ।

दो० १६३—ढूँ० दंपति ('पति' के स्थान में) । ढूँ० त्रीय । मा० त्री । सु० प्रीया ('त्रिया' के स्थान में) । मा० सं० ढूँ० मुख । टैसी० मुक्ख । ढूँ० मा० सं० देषण । ढूँ० निठि । ढूँ० चंद । ढूँ० किरणि । टैसी० किरण । सं० द्रिविड कि । मा० द्रठ । सु० द्रवड़ क अति अभिसारिका ······(अन्तिम पंक्ति)

दो० १६४—ढूँ० इन । सं० सु० अन । ढूँ० सं० सु० पंष । ढूँ० मा० सं० सु० बंधइ । ढूँ० चकवाक । ढूँ० मा० सं० असंधइ । ढूँ० नेसि । मा० संधइ । ढूँ० संधि । सु० संधे अहोनिसि ।

मा० सं० कामिणि। टैसी कामणि। ढूँ० मा० सं० सु० कामियां ('कामि' के स्थान में) । ढूँ० तणा । मा० ढूँ० सं० लीया। मा० दीपका।

दो० १६५—ढूँ० सु० सह। सं० कृतारथा। ढूँ० प्रिय। सं० प्रिय। मा० ढूँ० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। ढूँ० अटत। टैसी० अटति। सं० ढूँ० सु० द्वारि। मा० सं० ढूँ० सु० विचि। टैसी० वीचि। सु० श्रुत। ढूँ० आहुठि। मा० सं० ढूँ० शुति। मा० ढूँ० सं० सु० समाश्रित। टैसी० समास्रित।

दो० १६६—ढूँ० हंसागय। सं० सु० थया। मा० थीया। ढूँ० सौं। सु० सुं। ढूँ० जही। मा० वहे वहस। सु० सुंधावास। मा० सं० सूँधावास। टैसी० सूँधावासि। सु० अनि। ढूँ० मा० नूपुर। सु० नेपुर। मा० सं० सद। टैसी० सदि। ढूँ० मा० क्रम। सु० आगिं। ढूँ० सु० आगम।

दो० १६७—ढूँ० अविलंब। मा० अंविलंबि। सं० आलंबि। ढूँ० करि। ढूँ० मदि। ढूँ० लगायै। सु० लगावे। सं० लगावे। मा० सं० गय। सु० जिम। टैसी० गै। मा० सं० ढूँ० सु० गयगमणि। टैसी० गैगमणि।

दो० १६८—सु० धसत। ढूँ० सं० जेहरि। सु० जेहड़। मा० आनंद। ढूँ० कोईज थयौ। मा० कोजु थयउ। सु० ऊपनु। ढूँ० अमाप। टैसी० उमाप। सु० ऊमाप। सं० तिण। टैसी० तिणि। मा० आपे। सु० करायु। मा० ह। ढूँ० रामां सौं। सु० रोमाँसू।

दो० १६९—ढूँ० वहि। टैसी० विहि। सं० सु० वह। मा० मिलण। सं० घड़ी मिली। सु० घड़ी मिलि। सु० घणु। ढूँ० घणा। टैसी० घणूँ। सं० सु० घणां दीहां। टैसी० दीहा। सं० सु० आंतरे। ढूँ० आंपण।

दो० १७०—मा० प्रेरति। मा० सं० रूप। टैसी० सु० रूपि। सु० आँखीआँ। ढूँ० अत्रिपित। सु० अतृपति। ढूँ० जदिपि। सु० जद्यपि। टैसी० जदिअपि। मा० सं० यद्यपि। ढूँ० मा० त्रिपित। मा० तिउं ('तिम' के स्थान में)। सु० करि। ढूँ० बिलोकण। मा० धणि। मा० जेहां। सु० जीही। सं० जीहा।

दो० १७१—मा० सं० सु० आयाति याति। टैसी० सु० घूँघट। ढूँ० मा० मिलिअे। ढूँ० सु० दंपति। मा० सं० सु० कटाच्छ। सु० नीय। ढूँ० मनि सूत। टैसी० सु० अमली ('अमिली' के स्थान में)। सु० कटाच्छ। (दूसरा)

दो० १७२—ढूं० विलासी। सु० जाणीउ। सं० अ्रहां। सु० अ्रह। ढूँ० होय। मा० सं० गृह। टैसी० ग्रिह। ढूँ० सु० बाहरि। टैसी० बाहिरि। सु० सहचरि।

दो० १७३—सं० सु० एकंत। टैसी० एकन्ति। सु० चु। मा० सं० दीठ। मा० कहि। ढूँ० क्यों ('किहि' के स्थान में)। मा० सं० देव। टैसी० देवि। मा० सं० सु० दुज। ढूँ० अदीठ। मा० ढूं० सं० अश्रुत। टैसी० अस्रुत। सं० जाणइ जाणणहार। मा० सु० तइ। सं० सु० सुज।

दो० १७४—ढूँ० मा० सं० पवन। टैसी० पवनि। ढूँ० सु० पारथित। ढूँ० त्रीय। ढूँ० निपतित। टैसी० निपतति। सं० अंत। टैसी० अन्ति। सु० सुरतांत। मा० ढूँ० सं० सु० श्री। टैसी० सिरी। सु० क्रीड़िता। ढूँ० क्रीड़ता। मा० सं० क्रीड़ित। टैसी० क्रीड़ताँ। ढूँ० सु। सु० किं ('सु' के स्थान में)। मा० सं० स। मा० सं० वियाकुल गति।

ढूँ० कंवि गलित। टैसी० व्याकुल गति। ढूँ०नीरासइ। टैसी० नीरासयै। सं० सु० नीरासय। सु० कमलिणी।

दो० १७५—सु० कीध। सु० मणिक। मा० मिलियउ। ढूँ० सामा। मा० लिलाट। टैसी० लिलाटि। सं० ललाटि। ढूँ० कुं कुं विंद।

दो० १७६ —ढूँ० मा० सं० सु० वदन। टैसी० वदनि। मा० सं० सु० चित। टैसी० चिति। मा० सं० होयइ। सं० सु० हूय। सं० सु० चष। टैसी० चखु। ढूँढारी प्रति में यह दोहला छोड़ दिया गया है।

दो० १७७—सं० ताल। ढूँ० सामा। सु० भमर। ढूँ० भाराज। मा० भाराजु। टैसी० सु० वाराजु। सं० सु० थी। मा० अवलंब। सं० अविलंबि। टैसी० अविलंब।

दो० १७८—मा० पधराश्रे। सु० कन्हिं। मा० ढूँ० सं० सु० भय। टैसी० भै। ढूँ० मा० सु० त्रूटी। टैसी० तूटी। सं० छूटी। मा० त्रूटी ('छूटी' के स्थान में)। ढूँ० त्तुद्र। मा० छिद्र।

दो० १७९—मा० ढूँ० सं० सुष। टैसी० सुखि। सु० लाधि। सु० केलि स्यामा सँगि ('स्याम' छोड़ दिया है)। ढूँ० स्याम। टैसी० स्यामि। ढूँ० चुंक चुंक। सु० चुंक चोक। सं० चुंक चौंक। ढूँ० होय। सु० रहीउ।

दो० १८०—मा० ढूँ० राता तति चिंता रति राता। सु० राता तत चिंता राति राता (प्रथम पंक्ति)। सं० राता तत भर चिंता रत राता। मा० सं० बिन्हें। टैसी० बिन्है। सु० गुण। मा० ढूँ० निद्रावस। टैसी० सु० निद्रावसि। ढूँ० थियौ ('एहु' के स्थान में)।

दो० १८१—मा० लषमीवर। सं० लषिमीवर। टैसी० सु० हरषि। ढूँ० निगरभरि। सु० निगर्भर। ढूँ० आउ। सं० रयण। ढूँ० तूटंति। ढूँ० क्रीडाप्री। ढूँ० पोकार। टैसी० सु० पोकारि। ढूँ० जीवत प्रिय। मा० घड़ियालि।

दो० १८२—मा० ढूँ० मांदां। मा० ढूँ० सं० सु० सइ। टैसी० सति। ढूँ० सूरतन। सु० जिम नाश फरिम ('नासफरिम' के स्थान में)।

दो० १८३—ढूँ० मिली। ढूँ० तद। ढूँ० साध। टैसी० साध्रि। सं० सु० साधि। ढूँ० सं० साध्र। सु० साध। टैसी० साध्रि। मा० ढूँ० सं० इ। सु० इ (छोड़ दी गई है)।

दो० १८४—सं० उठी। टैसी० ऊठि। सु० ऊठी। मा० सं० सु० अरुणोदय। टैसी० अरुणोद। मा० थियौ। सु० थोउ। सु० येग। सं० निसामय। सं० ज्योति। टैसी० जोति। सु० प्रकाश।

दो० १८५—सं० सु० संयोगिणि। ढूँ० संजोगिणी। टैसी० संजोगणि। मा० सं० सु० श्री। टैसी० स्री०। मा० घरि। मा० ढूँ० गऊघोष। सु० गौ। मा० ढूँ० सु० दिणयर। टैसी० दिणयरि। सु० उगि। सं० एतला। मा० अेतले। टैसी० अेतलाँ। ढूँ० दीधौ। सु० दीधो।

दो० १८६—ढूँ० वाणिजू। सं० वाणिज। ढूँ० गऊ। ढूँ० असैई। सं० सु० असई। मा० असइ। टैसी० असै। ढूँ० चकवि। मा० सं० ढूँ० सूर। टैसी० सूरि। ढूँ० प्रघटि। सं० प्रकटि। सु० प्रगट। मा० एतला। टैसी० अेतलाँ। ढूँ० समपीयो। मां० समर्पिया।

दो० १८७—टैसी० सु० वधे, घटे। ढूँ० द्रवि। ढूँ० सुतर। सं० सुरतरु। ढूँ० तद। ढूँ० जगत्र। मा० सु० जगति। ढूँ० कीयो। सु० कीअ। मा० सु० जगत्र। टैसी० राहु ('राह' के स्थान में)।

दो० १८८—सं० थिया। ढूँ० केहवो। टैसी० केवि हुअ। सु० केवि हूअ। मा० सं० हूअ। ढूँ० अचिरज। टैसी० सु० अचरिज। ढूँ० लीयो हेमदिसि। सु० लीधु सूरिज। मा० सं० सु० वृष।

दो० १८९—मा० ढूँ० सं० श्रीषंड। टैसी० स्रीखण्ड। ढूँ० कुमकुमौ। सं० कमकमउ। टैसी० कुमकमौ। सं० कमकमो। सं० दल। सं० सु० मुक्ता। ढूँ० आभरण।

दो० १९०—ढूँ० सु० माहुठि। मा० माहुति। ढूँ० सों। सु० सुं। मा० सु० मिसि। सं० मिस। सु० व्रंन। सु० तण। मा० जण। ढूँ० सु० नीजणपणि। मा० वीजनपिणि। सु० जाणीया। ढूँ० मधिराति। मा० सु० मध्यराति।

दो० १९१—ढूँ० नईरत। सं० नैरति। सु० नेरन्ति। ढूँ० सं० सु० पसर। मा० सं० सु० निरधन। ढूँ० निंभरि। सु० निंभर। मा० धनी ('धणी' के स्थान में)। ढूँ० सं० धण। सु० भजिं। टैसी० धणि। सु० वाय। ढूँ० सु० तर। ढूँ० लवलां। सु० लवल्यां। सं० लहरि।

दो० १९२—मा० नवउ विहाणउ। सु० नवे। ढूँ० सं० सु० विहाणे। सं० सु० क्रीड़ति। ढूँ० धमलहरि। सु० अलं-कित। टैसी० अलङ्कित ('अलंक्रित' के स्थान में)।

दो० १९३—सु० ओ चँडी। सं० उचडी धुड़ीरज। ढूँ० धूलिरवि। सु० रज ('रवि' के स्थान में)। टैसी० धुड़ीरव। ढूँ० सं०

षेत्रीग्रे । सु० खेत्रीये । मा० सं० ऊजम । टैसी० उजम । सं० मृगशिर । सु० मृगसिर । मा० मगसिर । टैसी० म्रिगसिरि । सं० वायइ ('वाजि' के स्थान में) । ढूँ० थयौ वैरी ('किया किंकर' के स्थान में) । मा० हूउ वइरी । मा० सं० ढूँ० मृग । टैसी० म्रिग । ढूँ० मा० सं० आर्द्र । टैसी० आद्र । मा० कीयो । ढूँ० मा० भुइ ('धर' के स्थान में) । सु० आद्रे ('आद्रा' के स्थान में) ।

दो० १९४—ढूँ० रिष । ढूँ० थिय । सं० थिग्री । ढूँ० चातिग । सु० रटिं । टैसी० बलाकी । ढूँ० हर । सु० सिणगारिं ।

दो० १९५—ढूँ० धारां । सु० धारै । मा० ढूँ० सं० श्रावण । टैसी० स्रावण । ढूँ० दिसादिसि । मा० सं० दिशोदिश । ढूँ० थंभै । सं० विरहिण । टैसी० विरहणि । सु० विरहिणी । सु० थीया ।

दो० १९६—मा० सं० दडडि । सं० सघन । सु० गाजीउं ।

दो० १९७—ढूँ० निहिसे । ढूँ० सु० विण । टैसी० सु० थलि २ । ढूँ० समागम । टैसी० सु० समागमि । ढूँ० सं० पदमिनी । सु० पदमिणी । सं० लीधइ । सु० लीधि । सं० सु० ग्रहणे ।

दो० १९८—ढूँ० तर । सु० तरुल्लता । ढूँ० त्रिण । मा० सं० सु० तृणे । टैसी० त्रिणे । ढूँ० अंकुरते । मा० सं० अंकूरित । टैसी० अंकुरिव । मा० नीलंबरि । सं० नीलांबर । ढूँ० प्रथमी । मा० सं० पृथिमी । टैसी० प्रिथमी । सु० मि ('मै' के स्थान में) । ढूँ० हारि । ढूँ० सं० पहरिया । टैसी० पहिरिया । मा० परठिया ('पहरिया' के स्थान में) मा० पहिरिया ('पहिरे' के स्थान में) । मा० नेउर ।

दो० १९९—सु० काजल (दोनों जगह)। सं० कज्जल। मा० ढूँ० रेह। सं० सु० किरि। सु० बिंदुलु, कुंकूमि। ढूँ० पृथवी। सं० पृथिमी। टैसी० प्रिथमी। मा० ढूँ० सं० सु० निलाट। टैसी० लिलाट।

दो० २००—ढूँ० मिलियौ। सु० मिलीइ। ढूँ० मा० तट। टैसी० तटि। ढूँ० ऊपट। ढूँ० विथरी। ढूँ० सं० धण धर। टैसी० धणि धर। ढूँ० सं० सु० धाराहर। सं० जमुन। सु० यमुन। मा० जवण। मा सं० सु० किर। ढूँ० वेणी ('त्रिवेणी' के स्थान में)। मा० त्रिवेणीज।

दो० २०१—मा० सं० श्यामा। टैसी० स्यामा। ढूँ० सरस। ढूँ० घेघूंबे। सु० घेघुंचे। ढूँ० गल। ढूँ० बांहा। सं० बांहां। मा० बाहां। टैसी० बाहा। ढूँ० सं० भ्रम। ढूँ० सं० वंदन। टैसी० सु० वन्दण। ढूँ० रिषिये। मा० ऋषय। ढूँ० लिषि। मा० लषी। सु० सकिं।

दो० २०२—मा० सं० सु० रूठां। ढूँ० पाय। सु० पाइ। मा० सं० पय। मा० मनाइ करेरुष। सु० दंपतीए। मा० गिण। सं० दीधउ।

दो० २०३—ढूँ० सं० श्रवति। टैसी० स्रवति। मा० सु० श्रवत। सं० सु० कज्जल। ढूँ० पीयला। सं० सु० श्रेक। सु० आधोफरे। सं० आधोफेरे। ढूँ० औघसता। ढूँ० सं० सु० राजे।

दो० २०४—ढूँ० कादो। टैसी० कादूँ। सु० कादुं। ढूँ० कुंदणि। सं० षभ। ढूँ० मंदरे। सं० पदमरागमय। सु० मि ('मै' के स्थान में)। ढूँ० मा० सिषरि। ढूँ० सिषरिमे। मा० सिषरकीय, सिरि। टैसी० सिखर सिखर मै ("सिखरि सिखि रमै" के स्थान में)। सु० सिखरमि।

दो० २०५—ढूँ० धरिये । मा० सं० सु० तिणि ('तनि' के स्थान में)। ढूँ० वसत । ढूँ० कुमकुमइ । मा० कमकमे । सं० कुंकुमे । सं० धोयां । ढूँ० सौंधा । टैसी० सुधा । ढूँ० षवलिति ('प्रखोलित' के स्थान में) । सु० धवलित । सं० प्रचालित ('प्रखोलित' के स्थान में) । सं० सु० महलि । मा० ढूँ० सं० सुष । टैसी० सुखि । ढूँ० भर । ढूँ० सं० सु० श्रावणि । मा० श्रावण । टैसी० स्रावण । ढूँ० भाद्रवि । टैसी० भाद्रव । मा० ढूँ० सं० सु० रुषमिणि । टैसी० रुकमणि । ढूँ० वरि श्रेवही । ढूँ० मा० रुष । टैसी० रुखि ।

दो० २०६—सु० वरिषा । ढूँ० रिति । सं० ऋतु । सु० ऋत । सं० शरद । ढूँ० मा० वाषाणिसि । ढूँ० वइणो वइणि । सु० वायणा ढूँ० सु० नीषरि । मा० धरि । ढूँ० रह्यो । मा० रह्यउ ।

दो० २०७—ढूँ० औषधी । सु० टैसी० सरदि कालि । मा० सं० सु० श्री । ढूँ० सुरता । सु० अंति । मा० ढूँ० सं० सु० जिम । टैसी० जेम ।

दो० २०८—ढूँ० वितजे । मा० वितिश्रे । सं० नभ । ढूँ० पृथी । टैसी० प्रिथी । सं० जल । सु० जले । मा० गुडुलपण। ढूँ० सु० गुरि । मा० मिलि ('कलि' के स्थान में) । सं० जल ('जण' के स्थान में) । ढूँ० दीपति । सु० दिषत । टैसी० दिपत । सं० ज्ञान । सं० प्रगटी । मा० सं० दहन ।

दो० २०९—ढूँ० गऊषोर । मा० ढूँ० सं० श्रवति । टैसी० स्रवति । मा० सं० सु० सुश्री । टैसी० सुस्री । ढूँ० सरद । टैसी० सु० सरदि । ढूँ० श्रगलोग । स्रगलोक । ढूँ० मातलोक । मा० सं० सु० मृतलोक । टैसी० म्रित्तलोक ।

दो० २१०—सु० बोलंति । मा० महुरमुह । सं० मुहुरमहु । मा० सकल । मा० निस । मा० सरदि । ढूं० त । मा० तिणि । सं० तिण ('ते' के स्थान में) । सु० हंसिणी । सु० तिन पासि देखि ।

दो० २११—सं० ऊजलां । सु० उजूलां । ढूं० सं० अदरसणि । टैसी० सु० अदरिसण । ढूं० सु० अजुआली । सं० उजुयाली । टैसी० उजुआलो । ढूं० घणा । सु० घणि । मा० घणउ । ढूं० किसौ । सु० किसुं । ढूं० वाषाणि घणौ । ढूं० औजासैहै । सं० ऊजासां हि । ढूं० आपणौ ।

दो० २१२—मा० बइठा । ढूं० तरुणि । मा० सं० सु० कणय । टैसी० कणै । मा० तुलिता । ढूं० भुंइ । ढूं० सं० सु० दिन दिन । मा० दिणि दिणि । टैसी० दिनि दिनि । सं० तिण । सु० दिण ।

दो० २१३—ढूं० मा० दीन्हा । ढूं० मा० सु० कातिग । टैसी० कातिक । ढूं० थका । ढूं० सु० बाहिर । टैसी० सु० थकी । टैसी० बाहिरि । टैसी० सु० भीतरि । सु० भासिं । ढूं० सं० सु० जिम मनि । ढूं० सु० मुखि ।

दो० २१४—सं० सु० नवनवी । ढूं० नवी नवनवा मही महोछव । सु० महौछव । ढूं० मांडोयै । सं० सु० जिण । ढूं० जइ ।

दो० २१५—ढूं० नवै । सु० नवि । टैसी० नवी । मा० नवउ । सं० सु० नवि ('नवा' के स्थान में) । ढूं० चा । ढूं० मा० रुषमिणि । टैसी० रुकमणी । सं० रुकमिण रमणि । सु० रुषुमिणि रमणि । ढूं० ति ('जु' के स्थान में) । ढूं० रिति । ढूं० सं० भुगत । सं० राशि निशि ।

दो० २१६—ढूँ० अेह। सं० अेही। सु० एहोज। मा० पर। ढूँ० सं० सु० भीर। मा० सं० सु० धनंजय। टैसी० धनञ्जै। ढूँ० अनियै। मा० सं० नइ। मा० सं० सु० सुयोधन। टैसी० सुजोधन। ढूँ० सं० भलउ। टैसी० भलै। सु० भलु। ढूँ० ज। ढूँ० मा० मींट। सु० मीट। टैसी० मींटि। ढूँ० मा० जनारजन। सं० जनारदन। टैसी० जनार्जन।

दो० २१७—ढूँ० वाइ। मा० सं० वाय। सु० फिरि वाय पछी उत्तर फरहरीया। सं० उत्तर। सु० उत्तर ('उर' के स्थान में)। मा० भुवंग। ढूँ० प्रथमी। टैसी० प्रिथमी।

दो० २१८—ढूँ० होवे। सं० सु० हुवि। मा० हुवइ। टैसी० हुऔ। ढूँ० घट। सं० हेम। टैसी० हेमे। मा० हेमि। सं० हिमालय। सं० मा० ढूँ० सु० शृंग। टैसी० स्रिङ्ग। सु० योवनागम। ढूँ० मा० क्रुस। टैसी० क्रिस। सं० कृश। सु० थीए, थाये।

दो० २१९—सु० भूजन्ति। ढूँ० सं० सु० सुगृह। टैसी० सुग्रिह। मा० सुगृहे। ढूँ० सं० सु० हेमंत। मा० भय। सं० मिलन। ढूँ० मिलि निसि तन। टैसी० मलिन सुतनु ('मिलि निसि तु न' के स्थान में)। सु० तनु ('तु न' के स्थान में)। ढूँ० सं० सु० कोई। टैसी० केइ। मा० सं० सु० मग। मा० जिणि। सं० सु० जिण। सु० भारीयउ, जग।

दो० २२०—मा० जेहां। सं० सु० दरिसण। मा० दरसिणि। सं० सु० संकुडिणि। टैसी० सङ्कुड़ण। ढूँ० सं० नीठ। ढूँ० छंडै। ढूँ० सं० करषणि। टैसी० करखण। मा० कर्षण।

सं० पंगुरणि । मा० पंगुरिणि । टैसी० पङ्गुरण । सु० जिम प्रौढ़ा करखणि पंगुरणि । (चतुर्थ पंक्ति) ।

दो० २२१—ढूँ० उलझाया । टैसी० सु० अलुझाया । मा० तनुमनु । ढूँ० मांहि । सं० विहित । सु० विहत । ढूँ० सीति । सु० मा० रुषुमिणी । सं० रुषमिणि । टैसी० रुकमणी । मा० सं० सु० वर । सु० सगति । ढूँ० सति सतिवंत ।

दो० २२२—ढूँ० मकरधजि । मा० वाहनि । सं० सु० वाहन । ढूँ० चडे । ढूँ० मा० सं० सु० उत्तर । टैसी० ऊतर । सं० वायु । ढूँ० अतुर । सु० आतुर ('अउर' के स्थान में) । मा० विरहिणी । टैसी० विरहणी । सं० विरहिण । सु० कोअ । सु० संयोग ।

दो० २२३—मा० ढूँ० सं० सु० कृपण । टैसी० क्रिपण । ढूँ० पवनहि । सं० पवणह । सु० पवनह । सु० अंब । ढूँ० अंबहि । सं० माह । सु० माधि । ढूँ० मा० सं० लोक । टैसी० लोग । सु० लागु । सं० शीतल । सं० जलणि ।

दो० २२४—ढूँ० सं० वन । सु० जालि । ढूँ० नलिणी । मा० सु० नलिनी । ढूँ० पातिगि । सु० पातगि । सं० पातिग । टैसी० पातिक । मा० पातक । सं० तिण । टैसी० तिणि । सु० पेसइ । मा० मंजिया । सं० मांजीया । सु० मींजीआ । मा० सं० तणा । सु० विण, तणि ।

दो० २२५—ढूँ० प्रतिहारि । सं० सु० सीय । मा० सीउ । मा० ढूँ० सं० पाले । टैसी० पालै । सु० ऊपरि । सं० सु० दिसे । सं० अरकि । ढूँ० अगनि अरक । सु० अरक । ढूँ० तन । मा० सं० उवारइ । सु० उँवारइ ।

दो० २२६—ढूँ० थिश्रे। मा० थीउ। ढूँ० पालटि। ढूँ० रिति। सं० रति। सु० थई रति पालट। मा० ऋतु। मा० सं० सु० दह। मा० सं० कीय। सु० कीश्र। टैसी० द्रह कियौ ('डहकियौ' के स्थान में)। ढूँ० कलिकंठ।

दो० २२७—ढूँ० बेगा। मा० ढूँ० सं० महुयरि। टैसी० महुवरि। सु० महूयरि। ढूँ० वजावइ। ढूँ० रोरी। टैसी० रीरी। ढूँ० सं० मुष। टैसी० मुखि। ढूँ० सं० विरह। ढूँ० जणि। मा० दुतरिणि। सं० फागुण। टैसी० सु० फागुणि। सु० घरि घरि।

दो० २२८—सु० अजहुँ न तरु। ढूँ० तरि। सं० न तरु। सु० पलव। ढूँ० थुड़ डालां। ढूँ० गादरिति। ढूँ० सं० सु० थया। मा० सं० सिणगार। टैसी० सिणगारि। ढूँ० सोहै। मा० सोभति। सु० सोहति। मा० सं० सु० जाणे।

दो० २२९—सं० सु० सु ('समा' के स्थान में)। ढूँ० समापित। टैसी० समापति। ढूँ० दधी। सु० दीधि। सं० दीधी। ढूँ० रित। टैसी० सु० रति। मा० सं० मन। टैसी० मनि। ढूँ० मणि। ढूँ० वेण। मा० सं० वेयणि। टैसी० वेइण। सु० वइण। मा० मिसि कोकिल। मा० कूजंति। सु० कोकि मिसि कूजति। सु० वनस्पती।

दो० २३०—सु० पान। ढूँ० फूले ('फले' के स्थान में)। सु० सुं ('सु०' के स्थान में)। मा० वस्त्रे। सं० सु० धरब। मा० सं० पूजीश्र। सु० पूजीए। सं० कसेवटि। सं० संगि ('भँगि' के स्थान में)। सु० कसटि, वनसपती।

दो० २३१—मा० सं० सु० कल़। सु० लागि। मा० सं० ढूँ० मल-यानिल, त्रिगुण। सु० त्रिगुण। टैसी० मलियानलि, त्रिगुणि।

सं० सु० पसरति। ढूँ० षुधा त्रिस। टैसी० अम्बु त्रिसि। सु० अम्बु त्रिस। ढूँ० पूत। मा० सं० सु० पूत्र। टैसी० पुत्र। मा० सं० मधूक ('मधुप' के स्थान में)। सु० मधुक। मा० सं० ढूँ० श्रवति। टैसी० स्रवति।

दो० २३२—सं० वन। मा० तरु तरु। सं० सरूयरि। सु० सरूअरि। सु० पुरष। सं० पथ। ढूँ० जनमीयां। सु० जनमीउ। ढूँ० दियण। सु० देअण। ढूँ० रमी। ढूँ० चडि पवनि।

दो० २३३—ढूँ० मवर। सं० सु० प्रवर ('मौर' के स्थान में)। ढूँ० अज। मा० कलीय। सं० सु० किरि। सु० वंन्नर०। सं० वन्नरमाल। मा० वन्नरवाल। टैसी० वन्दरवाल। ढूँ० वेली। ढूँ० मा० तरयर। सं० तरुयरि। सु० तरूअरि। सं० सु० अेकां। ढूँ० बियै। मा० बीअे। सं० बीय। टैसी० बीयै। सु० बीए।

दो० २३४—ढूँ० फटि। मा० सु० फट। ढूँ० वनरेगि। सु० वंनरेण सं० वन्नरेग। सु० नालकेर। ढूँ० मजात। सं० मज्जति। मा० सं० करि। टैसी० मज्जाति किरि ('मज्जा तिकरि' के स्थान में)। ढूँ० कुंकूं। मा० कुंकम। मा० अचित। ढूँ० किंजुलिक। सु० किरि ('तिकरि' के स्थान में)। सु० मंगलिक।

दो० २३५—ढूँ० सं० सु० आया। मा० इलि। टैसी० इल। सं० वधामणी। ढूँ० सु० आवी। सं० पोइण। सु० पोयणि। सु० एण। मा० सं० आणंद। टैसी० आणँदि। सु० काचमिं। मा० ढूँ० सं० भामिणि। टैसी० भामणि।

दो० २३६—मा० सं० सु० करि। सु०पूत्र०। ढूँ० थय। मा० थयउ। ढूँ० सं० मा० सु० मन। टैसी० मनि। ढूँ० पीयला।

दो० २३७—मा० सं० सु० कणीयर। ढूँ० सु० तर। ढूँ० करुणि। सं० सु० करण। सं० सेवंती। सु० सेवँती। टैसी० सेवन्त्री। मा० कूंजा। ढूँ० जात्री। ढूँ० वरन वरन विध दे। सु० वरण वरण। सु० वसत्रि।

दो० २३८—सं० सु० सहित ('एणि' के स्थान में)। मा० वधायउ। सु० बधायो, बधावे। सं० दिन दिन। टैसी० सु० दिनि दिनि। सं० भरणि। ढूँ० मा० हूलामणी। सं० सु० हूलावणे। ढूँ० फागि। मा० ढूँ० सं० हूलायउ। सु० हूलायो। ढूँ० सु० तर। सं० थिया। सु० थिअ।

दो० २३९—मा० सं० ढूँ० तहां। सु० तहाँ। टैसी० तिहाँ। मा० सु० सं० सिल। ढूँ० सु० सिंघासणि। ढूँ० सु० धरि। सु० माथि। ढूँ० चलि। टैसी० सु० चल। मा० सं० ढलइ। सु० चमरि।

दो० २४०—सं० लुंबित। ढूँ० चुंवति। सु० बुंचति ('चुम्बित' के स्थान में)। ढूँ० मुंचित। मा० सु० मुंचति। सं० मुंचंति। टैसी० मुँचन्ति।

दो० २४१—ढूँ० मा० सं० लास। सु० ल्हास। टैसी० ल्हासि। ढूँ० मा० हई। सु० हइय। ढूँ० ढाल। सु० खजूडि। मा० ढलकायउ। मा० गिरवर। ढूँ० मा० गई। सु० गइय।

दो० २४२—ढूँ० सं० सु० तर। मा० तड। सु० तुंड। ढूँ० सं० तुड ('तड़ि' के स्थान में)। ढूँ० मा० सरग। सं० बैठि। सु० बेठि। मा० ढूँ० सं० वसंत। टैसी० वसन्ति। सं० जगिहथ। ढूँ० ऊपरी। टैसी० ऊपरा। ढूँ० जग।

दो० २४३—ढूँ० रिति राउ। सु० रितुराउ। मा० मंडीयइ। सु० मंडीउं। मा० अवसरि। मा० ढूँ० सं० मृदंग। टैसी० म्रिदङ्ग। मा० ढूँ० सं० नायक, गायक। टैसी० सु० नाइक, गाइक।

दो० २४४—मा० नृत्यकर। मा० सु० पवण। मा० सं० आर। ढूँ० त्रीवटि उघटि।

दो० २४५—सं० शुक। ढूँ० सं० सु० लाग। टैसी० लागि। ढूँ० दाट। टैसी० दाटि।

दो० २४६—ढूँ० आंगणि। सं० सु० अंगण। टैसी० अङ्गणि। सं० सु० तरप। मा० उरप तरप। ढूँ० अल। ढूँ० पिअति। टैसी० सु० पीयति। सं० किर। ढूँ० लियत मरू। टैसी० लियति मरू। मा० लिय तिमरू। सं० लीय तिपुरू। सु० लीयति पुरू। ढूँ० रामसरा। सं० रामलिरो। ढूँ० लगी। ढूँ० धूवा। मा० सं० सु० धूया। ढूँ० धुरू। टैसी० धूआ।

दो० २४७—ढूँ० तरवर। मा० तरुवर। टैसी० सु० तरूअर। सं० तरुयर। ढूँ० दीपकर। ढूँ० सं० मवरित। ढूँ० मा० सं० सु० रीझ। टैसी० रीझि। ढूँ० हरिष। टैसी० सु० विमल ('कमल' के स्थान में)। मा० सं० कृत। टैसी० क्रित।

दो० २४८—ढूँ० प्रघटै। सं० प्रकटित। सु० प्रगटित। ढूँ० मधि। ढूँ० प्रघटीयौ। सं० प्रकटीया। ढूँ० सुसिरि। मा० सं० सु० ससिर। ढूँ० जमनिका। मा० जवनिका। सं० सु० दूर। टैसी० सु० सरि ('सिरि' के स्थान में)। टैसी० जवणिका। ढूँ० निजि। ढूँ० पात्रि। ढूँ० रिति। मा० सं० सु० रति। सु० नंषी। मा० सु० वणराइ।

दो० २४६—ढूँ० अदभुज । टैसी० सु० अम्बुज ('उदभिज' के स्थान में) । ढूँ० सुसिरि । मा० सं० सु० ससिर । सु० दुरिस । सं० वायु । टैसी० वाउ । मा० सं० न्याय । टैसी० न्याउ । सु० न्याइ । सु० थापीया ('ऊथापिया' के स्थान में) ।

दो० २५०—ढूँ० पानां । सु० षाडीया । ढूँ० मा० सं० षाडिया । टैसी० खाडया । सं० द्रव्य । ढूँ० मा० मंडिया । सं० मांडिया । टैसी० माँडया । सु० मंडीया ।

दो० २५१—मा० ढूँ० सं० सुराज । टैसी० सुराजि । ढूँ० थिया । टैसी० थया । सु० निसंकित । सु० सरि ('भरि' के स्थान में) । ढूँ० तरवरां । सं० विलग्गी । मा० ग्रहणां । टैसी० ग्रहणा ।

दो० २५२—ढूँ० पीडंति । टैसी० पीडँत । सु० हिमंत । ढूँ० सुसिर । मा० सिसर । ढूँ० सु० रिति । ढूँ० टालीयो । सु० टालीउ । मा० सं० टालीयउ । सु० व्यापे । सु० वेलि । ढूँ० तरवरां । सु० तरवरा । ढूँ० विसतरियौ । सं० सु० विसतरीयउ । सं० वेसाष ।

दो० २५३—ढूँ० तिहिं । ढूँ० सं० सु० ग्रहण मवर । ढूँ० सु० तर । टैसी० डङ्कन ('डंक न' के स्थान में) । मा० करगाही ।

दो० २५४—सु० भारीया । ढूँ० तर । सं० काम । टैसी० कामि । सु० कांमि । ढूँ० रितिराइ । मा० वेसन्नरि । सु० वेसनर । सु० भुरडीतु । मा० सु० जग ।

दो० २५५—मा० सं० बरषा । टैसी० वरिखा । मा० वरषत । टैसी० वरखति । सं० सु० वरषित । सं० सु० चातग । मा० चातक । टैसी० चातिग । ढूँ० वंचति । सं० वंछित । ढूँ०

सं० सु० वंच । सु० तिम । ढूँ० सु० राजि । ढूँ० फूलि । मा० फूल । ढूँ० पंष । टैसी० पङ्खि । सं० सु० पंखि । मा० सं० कृत । टैसी० क्रित । मा० लद्ध । सु० लब्ध । ढूँ० मा० सं० बोलंति ।

दो० २५६—ढूँ० कुसमित । ढूँ० कुसुमायुध । टैसी० कुसुमाउध । ढूँ० उदै । ढूँ० सं० सु० कृत । टैसी० क्रित । मा० त्री ('तिहि' के स्थान में) । सं० सु० तह ('तिहि' के स्थान में) । ढूँ० थिय । सं० सु० थीउ । ढूँ० पीन । सं० पेषे अेक रुंष पंति परिफूलित । वदइ नारि अनि अनि वचन । परन्तु टीका में ऊपर दिया साधारण पाठान्तर भी दिया हुआ है । मा० किंसुष । टैसी० किंसुक । सु० संयोगिणि, किंशुक, कहे । सु० पेखे एक रुंख पँति परिफूलित, बदइँ नार अन अन वचन (पूर्वार्द्ध के स्थान में) । साधारण पाठान्तर भी दिया है ।

दो० २५७—ढूँ० सं० सु० तस । मा० सं० कुसुम । टैसी० कुसम । ढूँ० वनिवनि । ढूँ० मा० भालिणि । टैसी० मालणि । ढूँ० केसरि । टैसी० केसर । मा० वीणत ।

दो० २५८—सु० सभिन । ढूँ० भेट । टैसी० सु० भेटि । सं० सु० सभि । ढूँ० मा० डगमग । सं० सु० डिगिमिगि । टैसी० डिगमिग । ढूँ० पाउ वाउ । टैसी० सु० पाय वाय । मा० सं० वायु । सं० सु० क्रुद्ध । मा० धर ('डर' के स्थान में) । मा० हालिया । ढूँ० सं० सु० मलयाचला । ढूँ० हेमाचलि । मा० हेमाचल । टैसी० मलयाचल हिमाचल ("मलयाचल हूँत हिमाचल" के स्थान में) । मा० हरि । सु० डिगिमिगि पाय वाय क्रुद्ध डर (द्वितीय पंक्ति) । सु० हालीउं मलया चला हिमाचल (तृतीय पंक्ति) ।

दो० २५९—ढूँ० सं० सु० गलि गलि विलग। ढूँ० दखण। सु० दषिण। मा० सं० दच्छिण। मा० हूंतउ। सु० हुंत। सु० आवतु। सं० सु० उत्तर। ढूँ० त न वहै ("तिणि वहै न" के स्थान में)। ढूँ० पग। सं० पगि। सु० ति न। सु० वहिं ('वहै न' के स्थान में)।

दो० २६०—ढूँ० कुसम। ढूँ० सं० तणौ। सु० तणउं। मा० सं० ढूँ० श्रम। टैसी० स्रम। सं० सु० निर्झर। मा० सं० ढूँ० श्रवति। टैसी० स्रवति। ढूँ० कांधे। मा० षंधे। सं० कंधइ। ढूँ० गुर। सु० तिण।

दो० २६१—ढूँ० लीधै। सु० लीइ। ढूँ० तस। सं० वास अंग। सु० जलि। मा० सं० सु० कृत। टैसी० क्रित। मा० शोच। टैसी० सोच ('सौच' के स्थान में)। मा० सं० सु० दच्छिणानिल। सु० आवतु। ढूँ० सं० सु० उत्तर।

दो० २६२—सु० पुहुप। मा० सु० परसपर मूंके। सं० परस्पर मूके ('न परस पमूँके' के स्थान में)। ढूँ० देयतौ। सं० सु० देतु। ढूँ० अंग। टैसी० अँगि। सु० अंगि। सु० आलिंगिन। सु० मतवालु। सं० पाय। मा० पय। टैसी० पै। सं० ठाइ। टैसी० ठाहि। सु० पाइ ठांइ।

दो० २६३—ढूँ० तोइ झरणि। सु० तोइ झरण। टैसी० तोय झरण। ढूँ० छंटि। टैसी० छँडि। सु० छंडि। ढूँ० औघसति। मा० सं० सु० ऊघसत। टैसी० ऊघसति। ढूँ० मलै। मा० तरु। सं० अंगि। मा० ढूँ० सं० श्रवति। टैसी० स्रवति। सं० ढूँ० मलपति। सु० महिपति। मा० मदोनमत्त। टैसी० मदोमत्त।

दो० २६४—सं० ओगलित। सु० उगलित। सं० सु० पवरा। टैसी० पवन। सं० मा० सु० उभय। टैसी० उभै। मा० पच्च। ढूँ० सयल। मा० सेल। सं० सु० संयोग। मा० सँयोगि। मा० सं० सु० संयोगिणि। सं० विरहिणी। टैसी० संजोगणि, विरहणी। टैसी० सु० अख ('भख' के स्थान में)।

दो० २६५—ढूँ० रति। सं० रिति। ढूँ० कहिमि। सं० कहि। ढूँ० दिवसि रसि। सं० रस ('सरस' के स्थान में)। ढूँ० कहिमि। ढूँ० रस ('सरस' के स्थान में)। ढूँ० किही। ढूँ० कहंति। टैसी० कहन्त। मा० सं० पष। टैसी० पक्ख। सं० सुद्ध। ढूँ० त। सु० सुद्धति। सु० सारीषु। ढूँ० वसंति। ढूँ० वहंति। टैसी० वहन्त। सु० रिति कहिय दिवस रस राति किहिय रस कहि। (प्रथम पंक्ति)।

दो० २६६—ढूँ० वसंति। टैसी० वसँत। ढूँ० सारिषा। सु० सारीख। ढूँ० ओकै ओक। सं० सु० ओकां ओक। ढूँ० थिय। सं० सु० थई। ढूँ० सं० कांता कांता। सु० वस ('वसि' के स्थान में)। सं० गुण ('गुणि' के स्थान में)। ढूँ० थिय। सं० सु० थयउ। सु० जिम कंत गुणे······(तृतीय पंक्ति)।

दो० २६७—मा० सं० सु० गृह। टैसी० ग्रिह। ढूँ० सु० तणि। ढूँ० सु० ग्रहणा। ढूँ० पोहपई। सु० युं ('इ' के स्थान में)। मा० पुहप सु। ढूँ० औढणि। ढूँ० पाथरणि। टैसी० पाथरण। सं० हींडोल। सु० हींगेलि। सं० हींचति। सु० हाजति। मा० सं० सु० सह। मा० सु० सहचरि। टैसी० सहिचरि। सं० सहचर। ढूँ० मा०

सु० सरणि। टैसी० सरण। सु० पुहपमि ('पुहपमै' के स्थान में)।

दो० २६८—सु० परबोधिं। ढूँ० मा० नित। सं० सु० निति। मा० ढूँ० सं० सु० मयण। टैसी० मैण। सं० श्रेण। टैसी० श्रेणि। ढूँ० परि ('विधि' के स्थान में)। ढूँ० मा रुषमिणि। सु० रुषुमिणि। सं० रुकमिण। टैसी० रुकमणि। ढूँ० सु० रिति।

दो० २६९—मा० पसर। ढूँ० अनुसरि (दूसरे 'अवसरि' के स्थान में)। मा० सं० हावभाव। सं० अंगि। मा० आपण। सु० जिण।

दो० २७०—ढूँ० वसदेव। सं० सु० थया। ढूँ० वासदेव। सं० सु० वासुदेव। ढूँ० प्रदिमन। सं० सु० प्रद्युमन। सु० देवकी। मा० राम सहोदर रुकमिणि सासू। सु० द्वितीय पंक्ति का 'पित' लुप्त है। सु० अन्तिम पंक्ति के अन्तिम शब्द 'रति' को छोड़ कर सब पंक्ति लुप्त है।

दो० २७१—ढूँ० सु० ग्रहे। मा० सं० गृहे। टैसी० ग्रिहे। मा० पुत्र ('पित' के स्थान में)। ढूँ० प्रदिमन। सं० सु० प्रद्युमन। ढूँ० पौत्रौ। सु० पोत्रो। सं० पोत्रउ। मा० सं० अनिरुद्ध।

दो० २७२—ढूँ० सं० कहिसि। मा० कहसि। ढूँ० सु० तास। ढूँ० जसु। सु० यश। मा० थाकिउ। ढूँ० कहि कहि। मा० ढूँ० सं० नारायण। टैसी० नाराइण। मा० निगुण। सं० त्रिगुण। सु० त्रिगुण। मा० सु० निलेप। सु० रुषुमिणि। मा० ढूँ० सं० रुषमिणि। टैसी० रुकमणि। ढूँ० प्रदिमन। सं० प्रद्युमन। सु० प्रद्युम्न। मा० सं०

अनिरुद्ध । सु० अनरुध । ढूँ० सहचरिहै । मा० सहचरी । सं० सहचरीहे । सु० सहचरिहिं ।

दो० २७३—सु० लोकमता । मा० ढूँ० सं० श्री । टैसी० स्री । ढूँ० लषमी । मा० लषिमी । मा० सं० सु० पद्मा पद्मालया । ढूँ० पदमालया प्रिया पदमा । ढूँ० अपर । ढूँ० ग्रहे । मा० सं० सु० गृहे । मा० सं० अस्थिरा । टैसी० असथिरा । टैसी० ग्रिहे ।

दो० २७४—मा० सं० सु० दर्प्पक कंदर्प्प । मा० ढूँ० सं० सु० कुसुमायुध । टैसी० कुसुमाउध । ढूँ० तनसार । सं० सु० स्मर । मा० सं० सु० मन्मथ । मा० सं० मकरध्वज । टैसी० मकरधज ।

दो० २७५—ढूँ० चतुरथ स चतुरवरण चतुरातम । सु० चतुर्मुख चतुर्व्रण चतुरातम । सं० चतुर्वर्ण चतुर्मुष चतुरातम । मा० चतुरातम । ढूँ० विग्य । टैसी० विगत । सं० सु० विक्त । सं० सु० चतुर्युग । मा० सं० सु० सर्वजीव । टैसी० सरवजीव । ढूँ० विस्वकेत । मा० सं० सु० विश्वकृत । टैसी० विसवक्रित । ढूँ० सं० ब्रह्मसू । टैसी० ब्रहमसू । मा० ब्रह्मसु ।

दो० २७६—ढूँ० सुरसती । ढूँ० क्रांति । मा० सं० सु० कांति कृपा । ढूँ० रिधि विधि । मा० सं० सु० वृद्धि । टैसी० व्रिद्धि । ढूँ० सुचि । सं० शुचिता । मा० सं० सु० श्रद्धा । मा० सं० सु० मर्यादा ।

दो० २७७—ढूँ० सुपह । मा० सं० सु० गृह । टैसी० ग्रिह । मा० सं० सङ्ग्रह । टैसी० सङ्ग्रह । सं० ज्ञान । सु० सं० तणीज । सं० जु । टैसी० ग्यान तणी पञ्चमी जु गालि ।

ढूँ० गांणि तिणि हीज पंचमी गालि। सं० सु० निंद्या। ढूँ० मूंको। सु० मूंकी, चांडालि।

दो० २७८—सु० खगि। मा० सं० षेत्र। टैसी० सु० खेत्रि। सु० बेसे। ढूँ० छभा। सं० बोलणि। मा० सं० वंछइ। सु० बंछति। टैसी० वञ्छि। ढूँ० त। टैसी० तो। सं० तौ। टैसी० प्राणिया ('प्राणी' के स्थान में)।

दो० २७९—सु० कंठि। मा० ढूँ० सं० सु० श्री। टैसी० स्री। मा० ढूँ० सं० सु० गृहि। सु० सुखि। टैसी० ग्रिहि। मा० शोभा। सं० मुकति। सु० करि ('तिकरि' के स्थान में)। सं० जपे। ढूँ० त्यां। टैसी० ताँ। सु० ता।

दो० २८०—ढूँ० सोइ। मा० सुइ। टैसी० सु० सूइ। सं० सूर्य। मा० सं० जल। टैसी० जलि। मा० स्पर्श। ढूँ० हरु। टैसी० आप सपरस हरु जित इँद्री ("आप अपरस अरु जित इन्द्री"—के स्थान में)। मा० जपंतां ('पढन्ताँ' के स्थान में)। सं० अपर स्परस जिंतेंद्री अत्र। वेलि पढ़ंती नित प्रति त्रीवंछक। वंछित वर पामइ त्री विचित्र। सु० आप स्परसि जितेन्द्री अत्र (द्वितीय पंक्ति)। सु० बेलि पढ़त नित्य प्रति त्री वंछक, वांछित पामि त्री विचित्र (तृतीय, चतुर्थ पंक्तियाँ)।

दो० २८१—ढूँ० आंपमहि ('आप मै' के स्थान में)। ढूँ० रुषमणि। टैसी० रुकमणि। मा० रुषमिणि। सु० रुषुमिणी। सं० रुकमिण। सं० सु० क्रुसन। सं० सरीस। सु० कहिं। सं० कुमारी। टैसी० कुँवारी। ढूँ० मा० सोहाग। सु० पूत्र।

दो० २८२—ढूँ० मा० पूत । टैसी० पूत्रि । सं० पूत्र । सु० पोत्रे (दोनों स्थान में) । ढूँ० सु० अर । ढूँ० सांहिणि । सं० मा० सु० साहण । टैसी० साहणि । मा० सं० भंडार । टैसी० भण्डारि । ढूँ० जन । मा० ढूँ० सं० रुषमिणि । सु० रुषुमिणि । टैसी० रुकमणि । ढूँ० सं० पढंतां ('जपन्ताँ' के स्थान में) । ढूँ० जगि पुड़ ।

दो० २८३—ढूँ० कहंति । सु० कहति । ढूँ० अेकै अेक । सु० एक एक । मा० कहइ अेक अेकां प्रति । ढूँ० ग्रहि । मा० सं० सु० गृह । टैसी० ग्रिहि । सं० सु० एण । मा० सं० शुभ । ढूँ० करम आचरइ । सं० जांणीअे जु । सु० जाणीएजु । सु० जपंति ।

दो० २८४—ढूँ० चतुरविधि । सं० सु० चतुर्विध । मा० ढूँ० सं० सु० प्रणीत । टैसी० परणीत । ढूँ० चिकिछा । मा० सं० सु० चिकित्सा । टैसी० चिकितसा । सं० सु० शस्त्रौषध । सं० उपकार । ढूँ० सु० जपंति । टैसी० जपँताँ । सु० हुवि ।

दो० २८५—मा० ढूँ० सं० आधिभूतक । टैसी० आधिभूतिक । सु० आधिभृतिक । ढूँ आधिदईव । ढूँ० पडि । मा० सं० पिंड । टैसी० पिँडि । ढूँ० तस । ढूँ० जपंत । टैसी० जपँताँ । सु० जपंति । सु० त्रिविर्धाम ।

दो० २८६—ढूँ० सूधि । सं० सुध । सु० सूध । मा० ढूँ० सं० रुषमिणि । टैसी० रुकमणि । सु० रुषुमिणि । मा० नवनिधि । सं० थायइ । मा० थाइ । सं० कुशल । ढूँ० दुरदसा । टैसी० दुरदिसा । मा० दुरदशा । सं० सु० दुर्दशा । मा०

दुसुपुण। सु० न्हासिं। सु० दुसपन। सं० दुसमन। सं० दुरतिमति। सु० दुरनिमति।

दो० २८७—ढूँ० मिणि। सं० वलि यंत्र। सु० बल यंत्र। सु० थलि। ढूँ० मा० सं० सु० डाकिणि। मा० सं० सु० शाकिणि। टैसी० डाकणि साकणि। सु० भाजिं।

दो० २८८—ढूँ० सिन्यासिश्रे। सु० कीया। मा० सं० प्राणी। टैसी० प्राणिया। मा० पार। टैसी० पारि। ढूँ० तरि पारि। टैसी० ऊतरे ('तरि पारि' के स्थान में)। टैसी० पढ़ि ('पढ़न्तां' के स्थान में)। सु० पढ़ि थिया ('पढंता' के स्थान में)। सु० पारि ऊतरि ('थिया पार तरि' के स्थान में)।

दो० २८९—सु० योग याग। ढूँ० ज्याग, दान आश्रम। सु० किं तकि ("व्रत किं" के स्थान में)। मा० सं० दानाश्रम। टैसी० दानास्रम। ढूँ० वरण। सं० मुष। टैसी० मुखि। सं० सु० करि। ('कहि' के स्थान में)। मा० सं० सु० कृसन। टैसी० क्रिसन। सु० रुषुमिणी। ढूँ० सं० रुषमिणी। टैसी० रुकमणी। ढूँ० कलपै। सं० सु० कलपिस। ढूँ० क्रिपण। मा० सं० कृपणा। टैसी० क्रिपणा।

दो० २९०—ढूँ० बोढ़ै। सु० बोडइ। ढूँ० ग्रबि। सं० सु० अंबु ('ग्रब' के स्थान में)। मा० जल ('ग्रब' के स्थान में)। ढूँ० न ('म' के स्थान में) ढूँ० दिसा ('देस' के स्थान में)। मा० सं० वाहिनी। ढूँ० आंणूं।

दो० २९१—ढूँ० वेली। ढूँ० तस। सु० तिसु। सु० थाणु। सं० पृथीदास। मा० प्रथीदास। मा० सं० मुष। ढूँ० मांडहौ।

ढूँ० सुघड़ । ढूँ० करुणि । ढूँ० चडि । ढूँ० सुषि ।

दो० २९२—ढूँ० प्रति । मा० सं० सु० अत्तर । ढूँ० प्रत ('दल' के स्थान में) । सं० तंति । सं० सु० विधि । ढूँ० वधि मा० वृद्धि । ढूँ० सुकवि ('रसिक' के स्थान में) । सं० तु ('सु' के स्थान में) । ढूँ० अरथ ('भगति' के स्थान में) ।

दो० २९३—ढूँ० कलपवेल । मा० कलपवल्लि । ढूँ० किना ('वलि' के स्थान में) । ढूँ० समवेल । मा० सं० सु० सोमवल्ली । मा० चित्र । ढूँ० प्रघटित । मा० प्रगटित । मा० ढूँ० सं० पृथिमी । टैसी० प्रिथमी । ढूँ० पृथ । मा० सं० पृथु । टैसी० प्रिथु । सु० प्रथु । ढूँ० मा० अषरावलि । टैसी० अखराउलि । सं० सु० अत्तरावलि । ढूँ० थियु । मा० मिले ·('थाइ' के स्थान में) । सु० टैसी० थाइ ।

दो० २९४—ढूँ० प्रिथुवेल । ढूँ० सं० सु० पंचविधि । मा० सु० प्रसिद्ध । सं० प्रसिद्धि । टैसी० प्रनाली ('प्रणाली' के स्थान में) । सु० निगमि । मा० अमिय ('मंडी' के स्थान में) । सु० अमीय कि ('मंडी' के स्थान में) । सं० अमिय कि ('मंड़ी' के स्थान में) । ढूँ० अनकसरग ('सरगलोक' के स्थान में) । मा० सं० स्वर्गलोक । सु० सर्गलोक ।

दो० २९५—मा० मोतीयां । ढूँ० विसाहणे । मा० विसाहणउ । सु० पहि ('ग्रहि' के स्थान में) । ढूँ० कर ('कुण' के स्थान में) । ढूँ० मूंका । मा० मूंकि । ढूँ० सं० कलि ('किल' के स्थान में) । सं० मुंभ्क । ढूँ० कुण ('कण' के स्थान

में)। मा० किल मुष मुंभ्ह वयण सोभण कण। सं० चालिणी।

दो० २६६—ढूँ० पंडि। मा० सं० पिंडे। ढूँ० लग। मा० गहणे ढूँ० सं० सु० भूषणे। ढूँ० मै। सु० वांणि। सं० मइ। सं० लागि रहि। ढूँ० सै। सं० सु० सइ। सु० रहि असइ जिमि।

दो० २६७—ढूँ० भाषा पराकृत सहकृत। टैसी० भाखा। मा० सं० संस्कृत, प्राकृत। सु० प्राकृत संस्कृत। टैसी० संसक्रित, पराक्रित। ढूँ० भणंता। टैसी० भणताँ। मा० ढूँ० सं० सु० रसदायिनी। टैसी० रसदाइनी। सु० सेजि। सं० अंतरइ। सु० अंतरि। मा० अंतरीष। ढूँ० भोम। मा० सं० सु० भूमि। टैसी० भोमि।

दो० २६८—ढूँ० वेल। सं० करण। ढूँ० कहण ('करणि' के स्थान में)। ढूँ० जो ('तौ' के स्थान में)। सं० मुंभ्ह। मा० इतो। ढूँ० अरथ ('इते' के स्थान में)। सं० सु० ताइ ('इते' के स्थान में)। सं० प्रामिसउ। ढूँ० प्रामिसे पूरे। सु० प्रामिस्यु। मा० ईयां। ढूँ० अर ('इग्रे' के स्थान में)। सु० पूरु, अरु।

दो० २६६—मा० सं० ज्योतिषी। टैसी० जोतिखी। सु० योतिषी। सं० सु० वेद। ढूँ० पुराणिक। मा० तारकीक। सं० तार्किक। सं० करइ। सु० करे। मा० अेकटा। सु० अंतिम पंक्ति का 'तो' लुप्त किया गया है।

दो० ३००—मा० गिलीया ('ग्रहिया' के स्थान में)। ढूँ० मुषि। टैसी० सु० मुख। ढूँ० मा० उगलिया ('ऊग्रहिया' के स्थान में)। मा० मइं। ढूँ० गणि। मा० गिणि।

टैसी० गुण। ढूँ० मोटां। टैसी० मोटा। सु० कहिं। मा० अउ अइठउ आतम अधम। ढूँ० स्रम।

दो० ३०१—सु० यस। सं० करि। ढूँ० मूं। ढूँ० वेनती। सं० अम्हीणाहं। ढूँ० मा० तम्हीणे। सं० तुम्हीणइ। सु० तुम्हीणि। टैसी० तुम्हीणे। ढूँ० स्रमण। मा० श्रवण। टैसी० स्रवण। सं० श्रवणे। सं० सु० वचन ('वयण' के स्थान में)।

दो० ३०२—सं० जगदीस। ढूँ० तणा। ढूँ० रसि। ढूँ० तस। सु० तसु। ढूँ० सरसति। ढूँ० रुषमणि। टैसी० रुकमणि। सं० रुषमिणा। सु० रुषुमिणि। मा० रुषमिणि। मा० सं० ढूँ० मइ। सु० मि ("मैं" के स्थान में)। ढूँ० तिम्ह। सु० तिम।

दो० ३०३—ढूँ० तू। सु० अनि। सु० सकि। सु० कम्भ। सु० भलुं। ढूँ० तिको ('ताइ' के स्थान में)। ढूँ० भूंडो। टैसी० भूँडुँ। मा० भूंडउ। सु० भूडुं। सु० माहरुं।

दो० ३०४—मा० सं० लषण। टैसी० लक्खण। ढूँ० रूपमे लषिण त्री तणां रुषमणी। सु० मा० सं० रूषमिणी। टैसी० रुकमणी। ढूँ० जंपि ('जाइ' के स्थान में)। सु० मईं ("मैं" के स्थान में)। मा० जाणिया जिसा ('जाइ जाणिया' के स्थान में)।

दो० ३०५—सु० बरस। सं० ससि। मा० न रस शशि वच्छरि ('अङ्ग ससी संवति' के स्थान में)। सु० सं० श्री। सं० श्रवणे। सं० कंठ। टैसी० स्री०, स्रवणे, कण्ठि। सु० राति। सं० सु० भगत। ढूंढाड़ी प्रति में यह दोहला छोड़ दिया गया है।

———

हिन्दी में नोट

दोहला १—

काव्य के आरम्भ में शास्त्ररीति के अनुसार मंगलाचरण होना चाहिए। प्राय: सभी संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के कवियों ने इस रीति का प्रतिपालन किया है।

दण्डिन के मतानुसार ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण तीन प्रकार से किया जाना चाहिए। "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्"। इस दृष्टि से देखने पर वेलि का प्रारम्भिक मंगलाचरण 'नमस्क्रिया' और 'वस्तुनिर्देश' दोनों प्रकार से किया गया है।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने मंगलाचरण की प्रणाली में और किसी शास्त्र-निर्देश का भी अनुगमन किया है।

'चार सु ए ही मंगलचार' पर टिप्पणी करते हुए "वेलि" के संस्कृत टीकाकार, वाचक सारंग ने अपनी 'सुबोध-मंजरी' टीका में निम्न श्लोक को उद्धृत किया है :—

"मंगलं चाभिधेयं च सम्बन्धश्च प्रयोजनं।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता॥"

संभव है, कवि का आशय इन्हीं चार मंगलाचरणों से रहा हो, परन्तु क्रम-पूर्वक परमेश्वर, सरस्वती, सद्गुरु को प्रणाम करके मंगल-स्वरूप माधव का गुणानुवाद करना प्रमाणित करता है कि कवि का लक्ष्य किसी दूसरे उच्च, व्यापक एवं उदार आध्यात्मिक आदर्श की ओर है; न कि केवल "मंगलं चाभिधेयं" इत्यादि, की ओर। हमारा विचार है कि केवल मंगलाचरण की लोक-सस्मत संख्या

को चार मान कर कवि ने स्वतन्त्र रूप में अपने ही ढंग से चार प्रकार का मंगलाचरण किया है। 'ए ही' कह कर इस स्वतन्त्रता एवं मौलिकता की ओर संकेत भी किया गया है।

इस दोहले में प्रथम तो कवि ने सृष्टि के नियन्ता, उसकी उत्पत्ति, प्रलय और रक्षा के हेतुस्वरूप सर्वतोपरं परमेश्वर को प्रणाम किया है; पुन: सरस्वती देवी का अभिवादन किया है, जो ज्ञान, विज्ञान और काव्य की अधिष्ठातृ देवी हैं और कवियों की पूज्या इष्टदेवी हैं। तीसरी बार में गुरुदेव को नमस्कार किया है, जिनकी कृपा से कवि सरस्वतीदेवी की कृपा का पात्र बन सका, जिन्होंने कवि को प्रतिभा के आलोकित साम्राज्य में प्रवेश कराया और अन्त:करण का प्रज्ञा-चक्षु खोलकर 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का मार्ग दिखलाया। व्याप्य-व्यापक के न्याय से यह क्रम युक्ति-संगत ही प्रतीत होता है।

चौथी बार में माधव के मंगल-रूप का गान करने से कवि का विशेष आशय 'वेलि' की कथावस्तु की ओर निर्देश करने का है, न कि अपने इष्टदेव का सबसे अन्त में प्रणाम कर किसी प्रकार भी उनके महत्त्व को कम बताने का।

'मंगल रूप गाइजै माहव' कवि की इस उक्ति के अनुसार, जिसकी पूर्णरूप से पुष्टि कवि ने ग्रन्थ के उत्तर भाग में की है, समस्त 'वेलि' काव्य माधव के गुणों की एक स्तुति-मात्र है। अतएव अन्त में कथावस्तु की ओर निर्देश करते हुए कवि ने 'वेलि' को माधव की स्तुति बताकर अपना आशय स्पष्टत: प्रकट कर दिया है।

ततसार = तत्त्व का सार, तत्त्व का तत्त्व, अन्तिम तत्त्व।

वयणसगाई—प्रत्येक दोहले का प्रत्येक पंक्ति के प्रथम और अन्तिम शब्दों के प्रथम वर्णों में जो अनुप्रास होता है, उसे

डिंगल में वयण-सगाई कहते हैं। डिंगल-काव्य में इस शब्दालंकार का बहुतायत से प्रयोग होता है और यह इस साहित्य का एक विशेष चमत्कार है। वयण=वचन अथवा शब्द। सगाई=सम्बन्ध, सगपन। इस प्रकार इस अलंकार का शाब्दिक अर्थ,—वचनों अथवा शब्दों का पारस्परिक सम्बन्ध अथवा मैत्री—स्पष्ट है। वेलि में इस अलंकार का नियमत: सर्वत्र प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं आपत्ति भी हुई है। उस स्थल पर नोट देखना चाहिए।

दो० २—

जेणि (डिं०)=[सं० येन (सर्व० यत्)] कर्तृ वाच्य प्रयोग

उपायौ (डिं०) = (सं० उत्पादित) प्रा० उप्पाइउ— उपायौ= उत्पन्न किया।

हूँ (डिं०) = (सं० अहम्)=मैं। देखो अपभ्रंश रूप, "हउँ जिज्झउँ"। व्रजभाषा, 'हौं'।

किरि (डिं०)=उपमा, दृष्टान्त और उत्प्रेक्षा में समानता का निश्चयार्थक चिह्न। देखो० दो० १२, १६, २३, २४, ४०, ८४।

कठचीत्र (डिं०)=(सं० काष्ठचित्रित) काष्ठमयी मूर्त्ति अथवा काष्ठ पर रंगों द्वारा चित्रित मूर्त्ति। राजस्थान में काष्ठ के कपाटों पर कृष्णादि देवताओं के चित्र रंगों में चित्रित किये हुए अब भी देखे जाते हैं।

पूतली (डिं०)=(सं० पुत्तलिका) लकड़ी, मिट्टी, धातु, कपड़े अथवा रंग से बनी हुई आकृति या मूर्त्ति।

चीत्रारै (डिं०)=(सं० चित्रकार) प्रा० चित्तआर=चित्रकार (कर्म) को

अलंकार=दृष्टान्त। उत्प्रेक्षा।

"चीत्रारै—चित्रण" में असम्भव अलंकार की ध्वनि है।

नोट—ग्रन्थारम्भ में विषय की गहनता और अपेक्षाकृत अपनी अक्षमता को प्रकट करना कवियों में प्रथानुमत है। देखो तुलसीकृत रामचरितमानस, अथवा कालिदासकृत रघुवंश। भूमिका में उक्त कवियों की इस समानता को प्रकट किया गया है।

दो० ३—

तणी (डिं०) = (सं० तनु = शरीर) (स्त्रीलिंग), तनी। हिन्दी—तन, तनी = तरफ, प्रति, की, का—सम्बन्धकारक षष्ठी का चिह्न। उदा० "विहँसे करुणा ऐन, चितै जानकी लखन तन"। तुलसी

कहेवा = (सं० कथन० प्रा० कहण) = कहना। व्रजभाषा, और बुन्देलखण्डी भाषाओं में ऐसे रूपों का अधिक प्रचार है। उदा० "कहिवे को हरिनाम"

आदरी = (सं०) स्वीकार किया है; अंगीकार किया है; आदर किया है। उदा० "जो प्रबन्ध बुध नहीं आदरहीं, सो श्रम वादि बाल-कवि कहहीं" तुलसी।

जु (डिं०) = (हिन्दी) जो।

जाणे (डिं०) = (सं० जाने) उत्प्रेक्षा का चिह्न। यथा, हिन्दी में, जनु, मनु, जानौ, मानौ। उदा० "जनु विधु मंडल लोल" तुलसी।

वाद माँडियौ (डिं० मुहावरा) = (सं० वाद + मंडनम् = हठ ठानना, वाद करना। देखो हिन्दी का मुहाविरा—'बाद मेलना'। उदा० "वाद मेलि कर खेल पसारा, हार देय जो खेलन हारा" जायसी

जीपण (डिं०) = जीतना, जीतने के लिए।

वागेसरी = (सं०वागीश्वरी) वाग्देवी—सरस्वती । यह देवी पुराणों में ब्रह्मा की पुत्री और स्त्री दोनों कही गई है । महाभारत में इसे दक्षप्रजापति की कन्या भी कहा गया है। लक्ष्मी और सरस्वती का स्वाभाविक बैर प्रसिद्ध ही है ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा

विरोधाभास = चतुर्थपंक्ति

यमक = आदर—आदरी—में

दो० ४—

सूझै = (सं० सुध्यै) = ज्ञात होना, दिखाई देना । उदा० 'असमंजस मन को मिटै, सो उपाय न सूझै'। (तुलसी)

सोझै = 'सूझ' का प्रेरणार्थक रूप ।

ताइ (डिं०) = सं० ता (सर्व० स्त्री) + हि (प्रत्यय) = उसे । देखो, हिन्दी रूप ताहिं, ताइ उदा० 'ताइ प्रात हुलरावै गुलाब चटकारी दै' (देव)

इसी प्रकार के प्रयोग के लिए देखो दो० १३

वाउलौ (डिं०) = (सं० वातुलकः प्रा० वाउलउ) हिन्दी—बावला, पागल० उदा० । पिय विहीन अस वाउर जीऊ, पपिहा जस बोलै पीउ पीउ' ।। (जायसी)

वाउवा (डिं०) = सं० वातुल का दूसरा रूप = वातरोगग्रस्त ।

सरिसौ (डिं०) = (सं० सदृश) प्रा० सरिस = समान ।

पहि (डिं०) = परन्तु

पाँगुलौ (डिं०) = (सं० पङ्गुलकः) प्रा० पाँगुलउ = पङ्गु, पैरविहीन ।

पूजै (डिं०) = (सं० पूर्य्यते, प्रा० पूज्जइ)—पूजै = पूरा होना, बराबर होना, पहुँचना ।

देखो हिन्दी-मुहाविरा, 'कमो पूजना,' 'अवधि का पूजना'

नोट—परमतत्व परमेश्वर की शुद्ध विभूति को ध्यान में लाना मन की गति से परे है। उपनिषद्कारों ने इस विषय में लिखा है, 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। कवि ने इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा है।

अलंकार—सन्देह = पूर्वार्ध में।

विशेषोक्ति = उत्तरार्ध में।

अनन्वयोपमा = तृतीय पंक्ति में।

दो० ५—

जिणि (डिं०) = (सं० (सर्व०) यत्-येन) (हिं०); जिस, जिन (डिं०) जेण, जिण।

बि बि (डिं०) = (सं० द्वि) = दो दो, देखो हिन्दीप्रयोग, बि, बिय, बे इत्यादि उदा० (१) 'बि बि रसना तन श्याम है, वक्र चलनि विषखानि' (तुलसी)

(२) 'श्रुति मंडल कुंडल बि बि मकर, सुविलसत सदन सदाई' (सूर)

जीह (डिं०) = (सं० जिह्वा) हिन्दी—जीभ। उदा० 'राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार, तुलसी भीतर बाहरौ। जो चाहसि उजियार।' (तुलसी)

नव नव = (सं०) उदा० 'स्तर किरीट अति लसत जटित नव नव कनगूरे।' (गिरिधर)

तिणि = (सं० (सर्व०) तत्-तेन), जिण—तिण—अपेक्षित सर्वनाम हैं।

त्रीकम = (सं० त्रिविक्रम) विष्णु का पाँचवाँ अवतार वामन के रूप में बलि राजा को छल कर उसका गर्व दूर करने के लिए हुआ था। वामनावतार में विष्णु का नाम त्रिविक्रम इसलिए

पड़ा क्योंकि उन्होंने तीन पैंड में आकाश, पृथ्वी और पाताल लोकों को नाप कर बलि से दान में माँग लिया था। देखो, भट्टिकाव्य—"विष्णुस्त्रेधा विचक्रमे।"

अथवा—"छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन"—(जयदेव)

वयण (डिं०)=(सं० वचन, प्रा० वयण) बोली, वचन।

डेडराँ (डिं०)=(सं० डुंडुभ)—डेडहा—एक प्रकार का पानी का साँप जिसमें विष बहुत कम होता है। यहाँ पर आशय मेंढक से है जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उसके एक भी जीभ नहीं होती। अपनी वाणी को मेंढक की उपमा देना उपयुक्त ही है। जहाँ "शेष सहस फण, फणि फणि बि बि जीह" से भी भगवद्गुणानुवाद नहीं किया जाता, वहाँ बिना जीभवाले मेंढक की असामर्थ्य तो स्वतः स्पष्ट है। 'डेडरा' राजस्थानी भाषाओं में सदा मेंढक के लिए प्रयुक्त होता है।

किसौ=(सं०कीदृशः+अक्)—प्रा० किसउ—किसौ=कौन सा।

अलंकार—सार—समस्त दोहले में। शेष के सहस फण, प्रत्येक फण में दो जीभ, प्रत्येक जीभ में "नवनवौ जस"—

परिकराङ्कुर='डेडरा' शब्द साभिप्राय विशेष्य है।

काव्यार्थापत्ति=उत्तरार्ध में (जब शेष गुणानुवादन कर सका, तो मेंढक क्या करेगा)

पुनरुक्ति प्रकाश=फणि-फणि; बिबि, नवनवौ, में।

दो० ६—

तूझ (डिं०)=(सं० तुभ्यम्—प्रा० तुज्झं)—तूझ=तेरे देखो दो० ५८

तवति (डिं०)=(सं० स्तवति) स्तुति कर सकता है, देखो दो० ३०५, 'तवियौ'

सु—जु (डिं०) = (सं० स—य:) आपेक्षिक सर्वनाम। सो, जो।

तारू (डिं०) = तरनेवाला—तैराक।

कुण—कवण (डिं०) = (सं० क:) हिं० कवन। उदा० 'कारन कवन नाथ मोहिं मारा'—(तुलसी)

गयण (डिं०) = (सं० गगन) प्रा० गयण।

लगि (हिं०) = (सं० लग्न) = पर्यंत, तक। उदा० (१) "जब लगि घट में प्राण" (गिरधर)

(२) एक मुहूरत लगि कर जोरी, नयन मूँद श्रीपतिहिं निहोरी।
(तुलसी)

करि = सप्तमी विभक्त्यन्त 'कर' = हाथ में।

मेरु = एक पौराणिक विख्यात पर्वत-विशेष। यह सुवर्ण का माना गया है। इसे सुमेरु भी कहते हैं।

अलंकार—निदर्शना-माला—"स्रीपति·········करै।

सरिस वाक्य युग के अरथ, करिये एक अरोप।
भूषण ताहि निदर्शना, कहत बुद्धि दै ओप॥
जो, सो, जे, ते, पदन करि, असम वाक्य सम कोन।
ता कँह प्रथम निदर्शना, वरनै कवि परवीन॥

दो० ७—

दीध (डिं०) = (सं० दत्त) प्रा० और अपभ्रंश दिन्ह, दिण्ण। हिं० दीन्ह।

कीधा (डिं) = (सं० कृत) प्रा० अपभ्रंश 'किन्ह'। हिं० कीन्ह

कीरतन = (सं० कीर्तन) = यशगान। यथा—हरिकीर्त्तन, नगरकीर्तन।

जगि, मुखि = सप्तमी विभक्त्यन्त जग, मुख = जग में, मुख में।
जीहा (डिं०) = (सं० जिह्वा) हिं० जीभ।
पोखण (डिं०) = (सं० पोषण) डिंगल में मूर्धन्य 'ष' का 'ख' उच्चारण होता है और तदनुसार लिपि-प्रयोग भी।
तणौ (डिं०) = (सं० तनु) डिंगल में षष्ठी विभक्ति, सम्बन्ध कारक का चिह्न।

हिन्दी में इसी प्रकार का प्रयोग देखो—उदाहरण

"विहँसे करुणा ऐन, चितै जानकी लखण तन"

केम (डिं०) = (सं० किम्) = क्योंकर, क्यों। डिंगल में इस प्रकार के गुजराती भाषा के कई प्रयोग मिलते हैं।
सरै (डिं०) = सरना, पूजना, पूरना। हिन्दी में बोलचाल में इसका प्रयोग देखा जाता है।

अलंकार—वृत्यानुप्रास दो० ८— { जिणि, जनम, जगि, जीहा। तणो, तिणि, तणौ, कीरतन।

शुकदेव = कृष्ण-द्वैपायन व्यासजी के पुत्र। ये पुराणों के भारी ज्ञाता थे। इन्होंने राजा परीक्षित को मरने से पहले मोक्षधर्म का उपदेश किया था। कहते हैं यही उपदेश भागवतपुराण में निहित है। देखो—

'भजति कि शुक मुखि भागवत'—(वेलि)

व्यास = पराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन, जिन्होंने वेदों का संग्रह, विभाग और सम्पादन किया था। कहा जाता है कि अठारहों पुराण, महाभारत, वेदान्तदर्शन इत्यादि के रचयिता यही हैं। भागवत के रचयिता होने के नाते कृष्णभक्तों में कवि ने इनकी गणना की है और श्रद्धासहित काव्यगुरु माना है।

जैदेव = संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध कवि, 'गीतगोविन्द' के रचयिता, वैष्णव भक्तश्रेष्ठ। इनका जन्म ८००-९०० वर्ष पूर्व पश्चिम बंगाल में हुआ था। गौड़ महाराज लक्ष्मणसेन की सभा में राज्यकवि थे। भक्तमाल में इनकी कृष्ण-भक्तों की श्रेणी में गणना हुई है।

सारिखा (डिं०) = (सं० सदृश)—प्रा० सरिस, हिं० सरिस = समान।

सन्थ (डिं०) = (सं० सन्ति) = हैं, हुए हैं।

गूँथियै = (सं० ग्रंथन) हिं० गूँथना। 'ग्रंथ' के संकलन के सम्बन्ध में इस क्रिया का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है।

त्रीवरण........सिंगार ग्रंथ = शास्त्राज्ञा का प्रमाण है। "आदौ वाच्य: स्त्रिय: राग: पुंस: पश्चात्तदिङ्गितै:" (सा० दर्पण)

जिस प्रकार, उदा० "पार्वतीपरमेश्वरौ" (रघुवंश)
"राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह: केलय:" (जयदेव)

दो० ९—

वळे (डिं०) = (सं० वलय) = फिर, पुन: समय का पुनरावर्त्तन।

इहाँ (डिं०) = हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० "इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाँही" (तुलसी)

जिवड़ी (डिं०) = (सं० जीव) = जीव, आत्मा।

हेत (डि०) = (सं० हित) = स्नेह, प्रेम। उदा० "हित करि श्यामसों कह पायौ" (सूर)

पेखताँ (डिं)=(सं० प्रेक्षण) प्रा० पेक्खण=देखते । हिन्दी में प्रयोग—उदा० "मज्जन फल पेखिय तत्काला" (तुलसी)

प्रति (सं०)=अपेक्षा ।

वली (डिं०)=स्त्रीलिंग में 'वलै' का रूप ।

विसेखै (डिं०)=(सं० विशेष) अधिक ।

दो० १०—

दीपति=(सं० दीप्त) प्रकाशित होता है; शोभित है ।

सिरहर=(सं० शिरोधार्य्य) प्राकृत की तरह डिंगल में भी ध, थ, ख, फ, का 'ह' हो जाता है=शिरमौर, श्रेष्ठ ।

डा० टैसीटरी इसे सं० 'शिखर' का डिंगल रूप बताते हैं । शिखर=सिहर, 'र' का आगम ।

कुँदणपुर=कुंडिनपुर अथवा कुंडिन । एक प्राचीन नगर जो विदर्भ देश में था । विदर्भ का अर्वाचीन नाम बिदर (Bidar) है जो हैदराबाद राज्य में है । बिदर से कुछ दूर पर कुंडिलवती नाम की पुरानी नगरी आज तक है जिसके ध्वंसों से पूर्व समृद्धि के चिह्न पाये जाते हैं ।

विदर्भ=आधुनिक बरार-प्रान्त का प्राचीन नाम है । इसी नाम के एक राजा ने इस प्रान्त को बसाया था । कुंडिनपुर इसकी राजधानी थी ।

दो० ११—

ताइ (डिं०)=(सं० सर्व ता(स्त्री) + हि) वह, उसकी, उसका, देखो दो० १२

विमलकथ=(सं०)=निष्कलंक ख्यातिवाला ।

अनै, नै (डिं०)=और । इसी अर्थ में "अने" का गुजराती में प्रयोग होता है । "नै" का प्रयोग जोधपुरी भाषा में अब तक होता है ।

दो० १२—

रामावतार=पौराणिक गाथा के अनुसार सीता, रुक्मिणी और राधिका लक्ष्मी का अवतार मानी गई हैं ।

बालकति=(सं० बालकृति) बाल्यकाल की क्रीड़ाएँ ।

मानसरोवरि= (सं०) हिमालय के उत्तर प्रदेश में एक प्रसिद्ध पौराणिक झील है । इच्छामात्र से ब्रह्मा ने इसे उत्पन्न किया था । इसके चारों ओर की प्राकृतिक शोभा अद्भुत है । प्राचीन ऋषि-मुनि इसे स्वर्ग-भूमि मान कर इसके आस-पास रहा करते थे । सप्तऋषि इसमें स्नान-सन्ध्या करके ईश-चिन्तन किया करते थे । हंसों का इसके साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है । शरद् के आगम में वे सब दिशाओं से यहाँ आते हैं । महात्मा तुलसीदास ने रामायण में इसी मानसरोवर का साहित्यप्रसिद्ध रूपक 'रामचरितमानस' के रूप में लिखा है ।

मेरुगिरि=भागवत के अनुसार पर्वतों का राजा सुमेरु है । यह सोने का है । भारतवर्ष के सात द्वीपों में से प्रथम जम्बू-द्वीप में स्थित है । यह चार आश्रित पर्वतों, चार सुरम्य उद्यानों और चार मनोरम सरोवरों से घिरा हुआ है । सुराङ्गनाओं के साथ देवता लोग यहाँ विहार करते हैं ।

हंस =(सं०)=बत्तख के आकार और जाति का एक जलपक्षी-विशेष । इसकी गर्दन लम्बी और सुन्दर; चाल मनोहर और रङ्ग श्वेत माना गया है । इन गुणों में संस्कृत और हिन्दी-कविता

में कवियों-द्वारा यह उपमान की तरह बहुतायत से प्रयुक्त हुआ है। हंस भारतवर्ष में वर्षाकाल के प्रारम्भ में मानसरोवर की ओर से चले आते हैं और शरद् के प्रारम्भ में वहीं लौट जाते हैं। कविप्रथानुसार मुक्ता चुगना, नीरक्षीर-विवेक करना हंस के विशिष्ट गुण माने गये हैं। यह सरस्वती देवी का वाहन माना गया है। अँग्रेज़ी काव्य में हंस का अन्तिम संगीत Swan-song अत्यन्त मनोहर माना जाता है।

चौ (डिं०) = संबन्धकारक का विभक्ति-चिह्न 'का'। मराठी में इसका प्रयोग होता है।

बालक = यह शब्द उभयलिङ्ग द्योतक है—पुंल्लिङ्ग नहीं। शिशु, बच्चा। अँग्रेज़ी में जिस प्रकार 'Child' साधारणलिङ्गद्योतक (Common gender) होता है।

कनक-बेलि = (सं०) कनक-लता, ज्योतिष्मती, सुरलता, मेधावती, तेजोवती, सुरप्रभा इत्यादि साहित्य में इसके कई नाम हैं। इसे साधारण भाषा में मालकँगनी लता कहते हैं। यह हिमालय पर्वत पर ४००० फ़ुट की ऊँचाई पर, उत्तरीय भारत, बरमा, लङ्का इत्यादि प्रदेशों के पहाड़ों में पाई जाती है। इसकी पत्तियाँ गोल और नुकीली होती हैं। पेड़ों पर फैल कर यह लता उन्हें भली भाँति आच्छादित कर लेती है। चैत्र में गुच्छे के गुच्छे फूल लगते हैं और इसके फलों के बीज वैद्यक में उपयोगी होते हैं।

बिहुँ (डिं०) = (सं० द्वि) दो। हिन्दी के कवियों ने इस शब्द का प्रयोग किया है। उदा० माणिक निखर सुख मेरु के शिखर, बिहुँ कनक बनाए विधि कनक सरोज के। (देव)

पान (डिं०) = (सं० पर्ण) प्रा० पण्ण, हिन्दी० पान, पत्ते। उदा० ओषधि मूल, फूल, फल, पाना, कहे नाम गनि मङ्गल नाना। (तुलसी)

अलंकार = वाचकधर्मलुप्तोपमा

"किरि" को उत्प्रेक्षा का चिह्न लेकर—उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

यथासंख्य अथवा क्रमालंकार—यथा:—

(१) मानसरोवर में "हंस चौ बालक।"

(२) मेरु गिरि में "कनक-वेलि बिहुँ पान किरि"।

"कनकवेलि...किरि"—मिलाओ:—ऊपर मेरु मनो मनरोचन, स्वर्ण लता जनु रोचति लोचन। (केशव)

दो० १३—

अनि (डिं०) = (सं० अन्यत्) स्त्री प्रत्ययान्त = दूसरी

वधै (डिं०) = (सं० वर्द्धन) प्रा० बढ्ढण, हिं० बढ़ना, डिं० बधणो।

ढूलड़ी (डिं०) = गुड्डियाँ

रमन्ति = खेलती है। हिं० उदा० "अलि यों रमै ज्यों मुक्त" (केशव)

लखण बत्रीस = बाललीला के वे प्रसिद्ध ३२ लक्षण कौन से हैं, जिनका कवि ने उल्लेख किया है, पता नहीं लगता। परन्तु डिंगल में और प्रचलित मारवाड़ी भाषाओं में स्त्री-सौन्दर्य के आदर्श को लक्ष्य करके साधारणतया बत्तीस लक्षणों की गणना की जाती है। हमारी समझ में ये बत्तीस लक्षण बाल्यकाल के नहीं, परन्तु उदीयमान युवावस्था के हाव-भाव, अंगविकास, हेला इत्यादि स्वाभाविक अलङ्करण हो सकते हैं। साहित्य में इनकी संख्या इस प्रकार मानी गई है:—

यौवने सत्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यका: ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा: ॥
शोभाकान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्य्यश्च प्रगल्भता ।
औदार्य्यं धैर्य्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजा: ॥

इस प्रकार १८ सत्वज अलङ्कार + ३ अंगज (हाव, भाव, हेला) + ७ अयत्नज भाव = २८ । इनमें स्थायि, संचारी, व्यभिचारी और सात्विक जोड़ने पर भावों की संख्या ३२ होती है । यह हमारी कल्पना है । शायद कवि का आशय दूसरे किन्हीं लक्षणों से रहा हो, जिनका हमें पता नहीं है ।

पहले के १८ सत्वज अलङ्कार ये हैं :—

लीलाविलासौ विच्छित्तिर्विव्वोककिलकिंचितै ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मद: ॥
विकृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यका: ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

कामसूत्र में नायिका की भाव-परीक्षा के ३० लक्षणों का विवेचन किया है, जो इन्हीं से कुछ मिलते-जुलते हैं ।

दो० १४—

वेस (डिं०) = (सं० वयस्) = उमर में

समाणी (डिं०) = समान (स्त्री०) समानवयस्का

परि (डिं०) = के समान । यह उपमा के वाचक शब्द की तरह डिंगल में प्रयुक्त होता है ।

कली = अधखिला फूल—अतएव अप्राप्तयौवना, मुग्धा ।

पदिमणी = कोकशास्त्र के मतानुसार स्त्रियों की चार जातियों में से सर्वोत्तम जाति की स्त्री।

रतिमंजरी में पद्मिनी की परिभाषा यों दी गई है:—

भवति कमलनेत्रा, नासिका क्षुद्ररंध्रा।
अविरलकुचयुग्मा, चारुकेशी कृशाङ्गी॥
मृदुवचनसुशीला, गीतवाद्यानुरक्ता।
सकलतनुसुवेशा, पद्मिनी पद्मगंधा॥

वीरज = (सं० विरज) (१) रजरहित, निर्मल, स्वच्छ। (२) बीज (डिं०) = दूज का चाँद। डिंगल में कहीं कहीं शब्द के बीच में 'र' का निरर्थक आगम कर दिया जाता है। अतएव 'बीज' का बीरज बना। यथा:—'शिखर' का "सिरहर" देखो दो० १०

अम्ब = (सं० अम्बर) आकाश। यह शब्द 'अम्बर' से लघुत्व को प्राप्त होकर बना है। 'र' उड़ गया है।

उदा० "अम्बर के तारे डिगैं, जूआ लाड़ै बैल"॥

हरि (सं०) चन्द्रमा।

अम्बहरि (डिं०) = अम्बरि। यहाँ शब्द के बीच में 'ह' का निरर्थक आगम किया गया है। देखो इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग दो० १९४

उडीयण (डिं) = (सं० उडुगण) ताराओं के समूह।

अलंकार—उपमा।

नोट—डा० टैसीटरी ने 'अम्बहरि' को अम्बरि का परिवर्त्तित रूप सिद्ध किया है। और 'वीरज' को डिंगल 'बीज' अर्थात् दूज का रूपान्तर। प्रथम में 'ह' का और द्वितीय में 'र' का निरर्थक आगम किया गया है। इस प्रकार के दृष्टान्त डिंगल में मिलते हैं। इस प्रकार इस पंक्ति का अन्वयार्थ यों होगा:— [अम्बहरि उडियण बीरज] अर्थात् आकाश में ताराओं के बीच में दूज का चन्द्रमा। यह अर्थ भी सुन्दर है।

दो० १५—

सुखपति—जाग्रति—सुहिणा = सं० सुषुप्ति, जागृति, स्वप्न। ये तीन शरीर की अवस्थाओं के नाम हैं।

(१) वेदान्तदर्शन के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं:—

(१) जागृति (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति (४) तुरीय।

(२) सांख्यदर्शन के मतानुसार पदार्थों की तीन अवस्थाएँ होती हैं:—

(१) अनागतावस्था, (२) व्यक्ताभिव्यक्तावस्था, (३) तिरोभाव। साधारणतया भौतिक शरीर की ३ अवस्थाएँ ही मानी गई हैं, जिनका कवि ने उल्लेख किया है।

सुखपति = (सं० सुषुप्ति) पतंजलि के अनुसार चित्त की एक वृत्ति या अनुभूति। इस अवस्था में जीव नित्यब्रह्म की प्राप्ति करता है, परन्तु उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि उसने ब्रह्म की प्राप्ति की है।

सुहिणा (डिं०) = (सं० स्वप्न) प्रा० सुमिण, डिं० सुहिण, हिं० सपना। प्राय: पूरी नींद न आने की दशा में मन में अनेक प्रकार के विचार उठते रहते हैं जिनके कारण कुछ घटनाएँ मन के सामने उपस्थित होती हैं। इसे स्वप्नावस्था कहते हैं। वास्तव में, उस समय नेत्र बंद होते हैं, पर मन को अनुभव होता है।

जोवण (डिं०) = (सं० यौवन) प्रा० जोव्वण, हिं० यौवन।

वेससन्धि (डिं०) = (सं० वयस् + सन्धि) आयु की दृष्टि से मनुष्य की चार अवस्थाएँ होती हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और वार्द्धक्य। इन चारों के बीच की सन्धि की तीन अवस्थाएँ

वय:सन्धि कहलाती हैं। यों तो वय:सन्धि तीन प्रकार की होती हैं, परन्तु कौमार से यौवनावस्था के परिवर्त्तन में जो वय:सन्धि होती है वही साहित्य में वय:सन्धि के नाम से रूढ़ि हो गई है।

वरि (डिं०) = 'परि' की तरह यह भी उपमा का वाचक शब्द है।

हिव (डिं०) = अब। इसी अर्थ में 'इब,' 'इव' का प्रयोग भी होता है।

चढ़तौ = उन्नति करता हुआ।

होइसै (डिं०) = (सं० भविष्यति) प्रा० होइस्सइ, होइस्सदि। डिं० होइसै।

एहवौ (डिं०) = इस प्रकार का, ऐसा।

अलंकार—उपमा, वाचक लुप्तोपमा (द्वितीय पंक्ति में)।

दो० १६—

राग = (सं०) लाली, अरुणिमा। उदा० "रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलंचकार" (कुमार०)

थ्यौ (डिं०) = (सं० स्थित) प्रा० थिअ, थिय = हुआ। गुजराती में, भी इसी अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग होता है—'थियो,' 'थिया'।

प्राची = (सं०) पूर्व दिशा। उदा० 'प्राची बीच पतंग'—(तुलसी)

अरुण = (सं०) गहरा लाल रंग, सूर्य का सारथी, प्रात:कालीन उषा-लालिमा।

अरुणोद = (सं० अरुणोदय) अन्तिम 'य' का लोप हुआ है, यथा दो० १४ में 'अम्बर' में अन्तिम 'र' का लोप हुआ।

पयोहर (डिं०) = (सं० पयोधर) डिंगल में प्राकृत की तरह 'ध' का 'ह' होता है।

"पेखे........रिखेसर" = इस प्रकार का भाव कालिदास के कुमारसंभव में भी मिलता है, जहाँ सन्ध्या की भ्रान्ति हुई है—"अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्"। (कुमार०)

अलंकार = उत्प्रेक्षा। 'कि' और 'किरि' उत्प्रेक्षा के चिह्न हैं। "पयोहर जागिया" में उत्कृष्ट कोटि की अर्थध्वनि है।

दो० १७—

जम्प (डिं०) = (सं० जल्प) प्रा० जम्प = चैन, कल, शान्ति।
जक, थ्यावस (डिं०)

जाणे, जण (डिं०) = (सं० ज्ञा) जान कर।

बिलखी (डिं०) = (सं० विकल) प्राकृत के नियमानुसार अक्षरों का स्थान-परिवर्तन होने पर 'विकल' का 'विलक' और 'विलख' हुआ है। व्याकुल होना, बेचैन होना। उदा० (१) सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेहु मुनिनाथ। (तुलसी)
(२) विकसित कंज कुमुद बिलखाने। (तुलसी)

बीछड़ती (डिं०) = (सं० विच्छेद) वियोग होते हुए, अलग होती हुई।

बाला (सं०) = साहित्य में १३ से १६ वर्ष तक की स्त्री को 'बाला' कहा है,

सँघाती (डिं०) = (सं० संघ, संघात + ई) = साथी, सहचर

अलंकार—अनुप्रास का विशेष चमत्कार है (चारों पंक्ति में)
हेतु—(समस्त में)।

दो० १८—आगलि (डिं०) = (सं० अग्रम्) = आगे। उदा०
(१) आगलि सोच निवारिकै, पाछिल करो गोहारि। (कबीर)
(२) आगलि बात समुझ डर मोहीं।
दैव दैव फिरि सो फल ओही॥ (तुलसी)

काम-विराम (सं०) = कामदेव के आश्रयस्थान। कामशास्त्र के अनुसार युवा स्त्री के कुच, कपोल, नेत्र, नितम्ब, जंघा, ओष्ठ

इत्यादि कामदेव के निवासस्थान माने गये हैं। यौवन के पदार्पण होने पर इन स्थलों के रूप-रंग-आकार में विशेष विकास दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कुचों से आशय है।

छिपाड़न (डिं०) = डिंगल में क्रिया से प्रेरणार्थक रूप बनाने में "ड़" का आगम होता है। यथा, छिपणो, छिपाड़नो।

काज = (सं० कार्य) के लिए, वास्ते। देखो, हिन्दी में इसी प्रकार का प्रयोग:—"परस्वारथ के काज शीश आगे धर दीजै" (गिरधर)

एहविधि = इस प्रकार, इस कारण से। उदा० "एह विधि राम सबहिं समुझावा"—(तुलसी)

अलंकार—(१) स्वभावोक्ति—लज्जा का सहज स्वभाववर्णन है।
(२) छेकानुप्रास और लाटानुपास—लाजवती, लाज, लाज, लाज।
(३) विभावना—विरुद्ध हेतु से कार्य की उत्पत्ति—"लाज करती हुई को लाज आती है"।
(४) अत्युक्ति—लज्जा-भाव की अत्युक्ति।

दो० १६—

सहु (डिं०)—(सं० सर्व)। हि० सभी, डिं० सही, सहु। उदा० नीचे 'परिग्रह' के नोट में देखिये।

गिणि = गिनकर, जानकर। हिन्दी-कविता में इसका बहुतायत से प्रयोग होता है।

थयो, तणौ, तिणि = इन पर पूर्व दोहलों में नोट देखिए।

परिग्रह (सं०) = कुटुम्ब, आश्रितजन, परिवार। उदा० "राजपाट दर परिगह तुमही सहु उजियारे॥"

तरुणापौ (डिं०)=(सं० तरुणत्वं)=तरुणावस्था का भाव। हिं०—
'बुढ़ापा'।

गुण गति मति=ऋतुराज और यौवन का रूपक सिद्ध करने के
लिए कवि ने अपनी काव्यमयी कल्पना के बल पर ऋतुराज
और यौवन के साथ साथ उनके तीन तीन सहायकों—गुण,
गति, मति—का पदार्पण कल्पित किया है।

(१) 'गुण' की सहायता से जिस प्रकार वसन्त ऋतु में
प्राकृतिक सौन्दर्य्य का विकास होता है, उसी प्रकार
यौवन में रुक्मिणी के अङ्गों में सौन्दर्य्य बढ़ने लगा।

(२) "गति" की सहायता से जिस प्रकार वसन्त प्रकृति में
चंचलता का भाव उत्पन्न करता है उसी प्रकार यौवन ने
अङ्गों में चंचलता एवं स्फूर्त्ति का भाव उत्पन्न कर
दिया है।

(३) 'मति' की सहायता से जिस प्रकार ऋतुराज प्रकृति में
आनन्द की लहरें उठाता है, उसी प्रकार यौवन ने
उसकी सहायता से रुक्मिणी के हृदय को नवीन
भावनाओं और उमंगों से भर दिया है।

कवि की यह कल्पना अनूठी है। काव्य-रचना में उसकी प्रखर
प्रतिभा का परिचय देती है।

अलंकार—रूपक।

दो० २०—

दल (डिं०)=(सं० दल)=शरीर के अवयव। संस्कृत में 'दल' शब्द
का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ यह भी है—
भाग, अंश, अवयव (Apte) ढूँढारी टीका में 'दल' का
यह अर्थ लिया गया है। देखो दो० २३१ "लागी दलि
कलि मलयानिल लागै"—टीकाकार "दलि" की व्याख्या

करता है:—"दल कहताँ शरीर थी"। इसी प्रकार के अर्थ में 'दल' का प्रयोग दो० १८६ में देखो।

दल = (सं०) कमल-दल = कमल की पंखुड़ी।

सर (डिं०) = (सं० स्वर) प्रा० सर; हिं० स्वर = शब्द।

पाँपणि (डिं०) = पलक, भाँपणी। मिलाओ—हिं० क्रिया—भाँपना (पलक उठा कर देखना)।

भृँहारे (डिं०) = हिन्दी में 'भँवारे' = भ्रकुटि, भौंह। उदा:—"विवरन आनन अरिगनी, निरखि भँवारे मोर, दरकि गई आँगी नई फरकि उठे कुचकोर" (शृं० सतसई)।

भ्रमिया (डिं०) = (सं० भ्रमण) = फिरना, घूमना। उदा० "केशवदास आसपास भँवत भँवर जल-केलि में जलजमुखी जलजसी सोहियै"॥ (केशव)

परि (डिं०) = रीति से, ढंग से, प्रकार। देखो पूर्व दोहलों में—"परि", "वरि"

अलंकार = रूपक—समस्त वस्तु-विषयक रूपक।

इस दो० के भाषा-लालित्य और मनोरम कान्तपदावली को पढ़कर जयदेव का स्मरण होना स्वाभाविक है।

दो० २१—

मलै = (सं० मलय) साहित्य में मलयाचल पर्वत प्रसिद्ध है। यह भारत के दक्षिण में है और वसंत-ऋतु में इसकी ओर से शीतल मंद सुगन्ध पवन चलकर उत्तर भारत में प्रवाहित होती है।

मौरे = (सं० मुकुल) प्रा० मउल-मउर-मौर = मंजरी—आम्रमंजरी।

मन मलै मौरे = मन में यौवनागमन के समय नवीन उत्साह, नवीन स्फूर्ति, नवीन तरङ्गों का प्रादुर्भाव होना अत्यन्त स्वाभाविक

है। मनरूपी मलयतरु में नवीन इच्छाओंरूपी मंजरी की कल्पना अत्यन्त मनोज्ञ है। ध्वनि के आधार पर यह उपमा उत्तम काव्य, व्यंग्य-काव्य का लक्षण है।

कि = क्या है, क्या है मानो। यह डिंगल में रूपक और उत्प्रेक्षा के चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है।

काम-अङ्कुर = देखो दो० १८ "काम-विराम छिपाड़ण काज"—अङ्कुरित यौवना स्त्री उसे कहते हैं जिसके यौवनावस्था के काम-चिह्न कुच नितम्बादि अङ्कुरित होकर दृष्टि-गोचर होने लगे हों।

त्रिगुणमै = (सं०) त्रिगुणात्मक दाक्षिणात्य पवन—शीतल, मंद, सुगंध।

ऊरध सास = ऊपर को चढ़ती हुई साँस। यौवनागम के साथ स्त्रियों की साँस की गति भी तीव्र हो जाती है।

उच = (सं० वच्) कहना चाहिए, कहिए।

अलंकार = रूपक—समस्त-वस्तु-विषयक।

दो० २२—

उदै (डिं०) = (सं० उदय) प्रा० उदअ—उदै = उदय होना।

उहास (डिं०) = हिं० उजास = उज्ज्वलता का भाव, प्रकाश, उजेला उदा० नित प्रति पूनौ ही रहै, आनन ओप उजास" (बिहारी)

रद = (सं०) दाँत—उदा० "हद रद छद छबि देखियत, सद रदछद की रेख" (बिहारी)

रिखपंति (डिं०) = (सं० ऋक्षपंक्ति) (१) नक्षत्रों की पंक्ति। नक्षत्र २७ माने गये हैं। अश्विनी, भरिणी, कृत्तिका इत्यादि।

(२) ऋषिपंक्ति = आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वों की ज्ञाता, वेद मंत्रों की प्रकाशक, दिव्य आत्माएँ। ये सात माने गये हैं। प्रत्येक मन्वंतर के लिए पृथक् होते हैं। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वंतर के लिए ये हैं :—

कश्यप, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

रुख (डिं०) = (सं रुक्) शोभा, कान्ति से। लाक्षणिक अर्थ में—...की भाँति शोभायमान, की तरह कान्तिमान् इत्यादि।

मेन (डिं०) = अंधकार। हि० मैन, मदन = कामदेव मन में मोहान्धकार पैदा करता है। इसी से यह शब्द "अन्धकार" द्योतक बन गया।

अलंकार = रूपक—समस्तवस्तुविषयक—उपमा पुष्टिकृत।
"राजति रद रिखपंति रुख"—पूर्णोपमा।

दो० २३—

सरवरि (डिं०) = (सं० शर्वरी) रात्रि। उदा० "विगत शर्वरी शशाङ्क" (तुलसी)

बधन्ती-बधिया (डिं०) = (सं० वर्द्धनं) प्रा० बढ्ढण० डिं० बधणो देखो, पूर्व० दो० "बधै मास ताइ पहर बधन्ति" (वेलि)

तणा-तणौ (डिं०) = देखो पूर्व दोहलों में व्याख्या—दो० ३, ७

जल् जोर = (फा० ज़ोर) = जल का वेग, प्रवाह। इसी 'ज़ोर' से 'ज्वार'। हिं० उदा० अति उच्छलि छिछ त्रिकूट छयो, पुर रावण के जलजोर छयो (केशव)

करग (डिं०) = (सं० कराग्र) = 'कर' शब्द के साथ अन्य शब्द का योग होने से हथेली, पंजा, अगुली इत्यादि अर्थ होता है। यथा: 'करपल्लव'।

बाण काम रा = (सं० कामबाण) = साहित्य में कामदेव को पंचबाण, पुष्पबाण, पुष्पधन्वा, पंचशायक कहा है:—

कामदेव के बाण दो प्रकार के हैं:—

(१) संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा ।
स्तंभनश्चेति कामस्य पंचबाणा: प्रकीर्तिता: ॥

इन बाणों के विस्तृत वर्णन के लिए देखो, दो० १०६ (वेलि)

(२) अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका ।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य शायका: ॥

वरुण (सं०) = एक वैदिक, प्रधान देवता । इनको अदिति के आठ पुत्रों में से और द्वादश आदित्यों में से एक बतलाया है । ऋग्वेद में अनेक मंत्र इनकी स्तुति में हैं । पुराणों में इनको जल का देवता और इनका अस्त्र वरुण-पाश, जलपाश माना है ।

दोर = (सं० दोस्) हाथ, भुजाएँ ।

उदा:—"अविरलपरिरंभैर्व्यापृतैकैकदोष्णो:" (उत्तरचरित)

डोर = (सं० दोर) डोरी, वरुणपाश की डोरी । उदा० डीठि डोर, नैना दही, छिरकि रूप रस तोय । मथि मो घट प्रीतम लियौ, मन नवनीत बिलोय । (बिहारी)

अलंकार—रूपक—समस्त में ।
सहोक्ति—प्रथम पंक्ति में ।

दो० २४—

किरि—जाणि (डिं०) = उत्प्रेक्षा के वाचक चिह्न = मानो, जानो ।

कामिणि (डिं०) = (सं० कामिनी) युवा सुन्दर स्त्री ।

दाण (डिं०) = (सं० दान) = हाथी का मदजल । उदा० (१) दान देत यों शोभियत दीन नरनि के साथ । दान सहित ज्यों राजहीं मत्त गजन के माथ । (केशव)

(२) रणित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर ।। (बिहारी)

दिखालिया (डिं) = हिं० देखना—प्रेरणार्थक—दिखलाना।
डिं०–दिखलाना,—देखालना।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० २५—

धरधर (डिं०) = (सं० धराधर) = पर्वत।

सधर (डिं०) = कठोर, कठिन। धरा अर्थात् पृथ्वी के गुण, काठिन्य के सहित। संस्कृत टीकाकार इसका अर्थ यों करता है—सधरौ माहात्म्यवन्तौ" = महत्त्वपूर्ण।

सुपीन (सं०) = मोटे, ताज़े, सुडौल।

घणी (डिं०) = (सं० घनत्वं) राजस्थानी भाषाओं में अब तक इस शब्द का क्रियाविशेषण अव्यय की तरह बहुतायत से प्रयोग होता है। = अधिक, विशेष, अत्यन्त, बहुत। हिं० घनी।

खीण (डिं०) = (सं० क्षीण) = कृश, पतली। कटि का क्षीण होना साहित्य में सौन्दर्य्य का लक्षण माना गया है।

सुघट = (सं०) = सुंदर, सुडौल, सुघटित। उदा०–"सुघट ग्रीव रस सींव, कंठ मुगता विघटत तम"। (हनुमन्नाटक)

पदमणि (सं०) = कामशास्त्र के अनुसार स्त्रियों के तीन लक्षण हैं:—पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी। इन तीनों में सौन्दर्य्य, स्वभाव, आचार-व्यवहार इत्यादि में श्रेष्ठ पद्मिनी को माना है।

त्रिबलि (सं०) = स्त्री के शरीर में, पेट पर पड़नेवाली तीन रेखाओं को साहित्य में सौन्दर्य्य का लक्षण माना है।

त्रिवेणी (सं०) = गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम को "त्रिवेणी" कहते हैं।

स्रोणि (सं०) = नितम्ब

अलंकार—रूपक—उपमागर्भित।

दो० २६—

नितम्बणी = (सं०) सुन्दर नितम्बोंवाली स्त्री।

करभ = हथेली के पीछे का भाग—करपृष्ठ।

रंभ (सं०) = कदली, केले का वृक्ष अथवा खंभ।

रुख = तरफ़, ओर, दिशा में। उदा० मनहु महाजल उमगि उदधि रुख चले नदी नद नारे (तुलसी)
मिलाओ 'रुख' का अन्यत्र प्रयोग० दो० २२ (वेलि)

जुअलि (डिं०) = (सं० युगल) प्रा० जुअल = दो।

नालि = (सं० नलिका) नल के आकार की भीतर से थोथी हड्डी जिसमें मज्जा बहती है; घुटने के नीचे, पैर की पिँडली का स्थान। संस्कृत टीकाकार उपमा के भाव का स्पष्टीकरण करता हुआ लिखता है:—"तस्या: कदल्या: गर्भसदृशं विशेषसौकुमार्येण निरोमत्वमपिप्रकाशितम्"—अर्थात् इससे पिंडली की निरोमता का भाव प्रकट होता है।

तसु = (सं० तस्य) उसके,—अर्थात् कदली-खंभ के।

जेहवी = (स० यादृशी) प्रा० जाइसी (डिं) जेहड़ी, जेहवी = जैसी।

गरभ = (सं० गर्भ) मध्यभाग।

विदुख = (सं० विद्विष्) = विद्वान्, कवि। उदा० "विदुष जनन विराट प्रभु दीखे, अति मन में सुख पायौ" (सूर)।

वयण = (सं० वचन) प्रा० वयण = वचन

वाखाणै (डिं०) = हि० बखानना = वर्णन करना।

अलंकार—(१) प्रतीप—चौथा । "सरवरि में उपमेय की जब न तुलै उपमान"

(२) उपमा ।

दो० २७—

पदपलव (सं० पदपल्लव) 'कर' या 'पद' के साथ दूसरे शब्द का योग होने से हाथ अथवा पैर का अग्रभाग—पंजा—यह अर्थ होता है । यथा—करपल्लव, पदपल्लव ।

पुनर्भव (सं०) = नख ।

ओपति = (सं० ओप = चमक) क्रिया प्रयोग । हिं० उदा—(१) "आनन ओप उजास" (बिहारी) ।

(२) सूरदास प्रभु प्रेम हेम ज्यों अधिक ओप ओपी (सूर)

न्रिमल (डिं०) = (सं० निर्मल) अन्यान्य आधारभूत भाषाओं—संस्कृत इत्यादि के शब्दों में वर्णों का स्थान-परिवर्त्तन करके डिंगल शब्दों के बनाने का नियम है । यहाँ पर 'म' पर के रेफ का स्थान-परिवर्त्तन होकर 'नि' में सम्मिलित हो जाना इसी नियम का उदाहरण है । इसी प्रकार 'कर्म' का 'क्रम' हो जाता है । यथा: "भूँडा क्रम भागीरथी" (पृथ्वीराज) ।

कि तार कि तारा = अथवा तारों का प्रकाश है ।

(सं० तार) = प्रकाश, दीप्ति, चमक । सं० उदा० तारहार: = प्रकाशमान हार । 'उरसि निहितस्तारोहार:' ।

हरिहँस = (सं० हरि + हंस) हरि = कपिल, ताम्रवर्ण अर्थात् लालिमा लिया हुआ रंग । हंस = सूर्य । अतएव बालसूर्य ।

सावक ससिहर (डिं०) = (सं० शावक + शशधर) = बालचन्द्र ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—पूर्वार्ध में ।

रूपक—'पद-पल्लव' में ।

सन्देह—उत्तरार्ध में ।

उल्लेख—समस्त में। "एकहिं वरणि बहुरीति"।

दो० २८—

व्याकरण = वेद के छः अङ्गों में से एक अंग व्याकरण है। पाणिनि, यास्क, पतञ्जलि इत्यादि आठ वैयाकरणों के पीछे आठ व्याकरण के भेद माने गये हैं।

पुराण = प्राचीन आख्यान और परम्परा के अनुसार १८ पुराण माने गये हैं। यथा:—विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त्त, लिङ्ग, वाराह, स्कंद, वामन, मत्स्य, कूर्म, गरुड़, ब्रह्माण्ड और भविष्य।

समृति (डिं०) = (सं० स्मृति) भारतीय आर्यों—हिन्दुओं—के धार्मिक ग्रंथ दो विभागों में विभक्त हैं। (१) वेद, ब्राह्मण और उपनिषद्, जिन्हें 'श्रुति' कहते हैं (२) 'स्मृति'—जिनमें वेदांग, धर्मशास्त्र, दर्शन, आचार-व्यवहार, नीति-शास्त्र इत्यादि का विवेचन किया गया है। स्मृतिकारों के पीछे ये स्मृतियाँ १८ हैं। यथा:— मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस्, अंगिरा, यम, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम, वशिष्ठ, नारद, भृगु और आपस्तंब। साधारण और अधिक व्यापक अर्थ में, ६ वेदाङ्ग, गृह्यादि ८ सूत्र, मन्वादि १८ स्मृतियाँ, रामायण, महाभारतादि इतिहास, १८ पुराण तथा नीतिशास्त्र के ऋषिप्रणीत सब ग्रंथ स्मृतियाँ कहलाते हैं।

सासत्र-विधि = (सं०—शास्त्र-विधि) = शास्त्राज्ञा के ग्रंथ। वास्तव में शास्त्र ४ माने गये हैं। यथा:—"आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं च"॥ परन्तु व्यापक अर्थ में कहीं कहीं १४ विद्या और ये ४ शास्त्र सम्मिलित करके सभी १८ को 'शास्त्र' की संज्ञा दी गई है।

वेद च्यारि = ऋक्, यजुः, साम, अथर्व—चार वेद ।

खट अङ्ग = (सं० षट् + अङ्ग) शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष ये छः वेदांग हैं ।

विचार = दर्शन-शास्त्र—षड् दर्शन—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और वेदान्त ।

चतुरदस = चौदह विद्यायें शास्त्र-सम्मत हैं—इनकी गणना इस प्रकार है :—

अंगानि, वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
६ ४ १ १
धर्म-शास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येता चतुर्दश ॥
१ १

चौसठि = चौंसठ कलाएँ । कामशास्त्र के अनुसार कलाएँ ६४ गिनाई गई हैं । वे इस प्रकार हैं:—गीत, वाद्य, नृत्य, नाट्य, आलेख्य (चित्रकला), विशेषकच्छेद्य, तंडुलकुसुमावलिविकार, पुष्पास्तरण, दशनवसनांगराग, मणिभूमिकाकर्म (ऋतु अनुकूल घर सजाना), शयनरचना, उदकवाद्य (जलतरङ्ग बजाना), उदकघात (पानी के खेल), चित्रयोग, माल्यग्रंथन, केशशेखरापीड़न, नेपथ्ययोग (वस्त्र-भूषा धारण करना), कर्णपत्रभङ्ग, गंधयुक्ति, भूषणयोजन, इन्द्रजाल, कौचुमारयोग (कुरूप को सुन्दर बनाने की विधियाँ), हस्तलाघव (हाथ की सफ़ाई के खेल), चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रिया (पाक-कौशल), पानकरसरागासवभोजन, सूचीकर्म (सीना), सूत्रकर्म (कसीदा काढ़ना), प्रहेलिका, प्रतिमाला (अंत्याक्षरी श्लोक कहना), दुर्वाचक योग (कठिन पदों का अर्थ कहना), पुस्तकवाचन, नाटकाख्यायिका दर्शन, काव्यसमस्यापूर्ति, पट्टिका वेत्र वाण विकल्प (नेवाड़, मुंज, बेंत इत्यादि से बुनना), तर्क कर्म, तक्षण,

वास्तुविद्या (इंजीनियरी), रूप्यरत्नपरीक्षा, धातुवाद मणिरा-गाकरज्ञान (रत्न के रंग की परीक्षा), वृक्षा-युर्वेदयोग (वनस्पति-शास्त्र), मेषकुक्कुटलावक-युद्धविधि, शुकसारिकाप्रलापन, उत्सादन (उबटन लगाना, सर दबाना आदि), केशमार्जनकौशल, अक्षरमुष्टिकाकथन, म्लेच्छितकलाविकल्प (विदेशी भाषाज्ञान), देशभाषाज्ञान, पुष्प-शकटिका, निमित्त = ज्ञान (शकुनशास्त्र और घटनाओं के आधार पर भविष्य कथन), यंत्रमंत्रिका (यंत्र बनाना), धारणमातृका (स्मृति बढ़ाना), संपाठ्य (स्मृति से पाठ० क०), मानसीकाव्यक्रिया, क्रियाविकल्प, छलित-कयोग, अभिधानकोष, छंदोज्ञान, वस्त्रगोपन, द्यूतविशेष, आकर्षण-क्रीड़ा, बालक्रीड़ाकर्म, वैनायिकी-विद्या-ज्ञान (विनय शिष्टाचार का ज्ञान), वैजयिकी विद्याज्ञान, वैतालिकी विद्या-ज्ञान ।

अनँत अनँत = भगवान् अनंतस्थायी विष्णु का अनंत, अपरिमित अधिकार अर्थात् व्याप्ति पाई ।

मधि (डिं०) = सं० मध्य । में, अन्दर, बीच में । हिन्दी काव्य में इसी अर्थ में बहुतायत से प्रयोग मिलता है ।

अलंकार—पर्याय 'एक वस्तु क्रम सों जहाँ आश्रय लेय अनेक' । 'अनन्त' का व्याकरण पुराण आदि अनेक वस्तुओं में । अधिकार है ।

[तसु मधि अनँत अनँत अधिकार] = इस पंक्ति का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी लिया जा सकता है:— उस पर अर्थात् लक्ष्मी-रूपा रुक्मिणी पर विष्णु भगवान् (श्रीकृष्ण) का अनंत अधिकार है ।।

दो० २६—

साँभलि (डिं०)=(सं० संभार) हिं० सँभालना=स्मरण करके, मन में एकत्रित करके।

उदा०

(१) गंगा अरु गीताह, श्रवण सुणी अरु सांभली।
जुग नर वह जीताह, वेद कहै भागीरथी॥

(पृथीराज)

(२) बंदि पितर सब सुकृत संभारे, जो कछु पुण्य प्रभाव हमारे।

(तुलसी)

श्यामा=(सं०) श्यामा के लक्षण :—

(१) शीते सुखोष्णसर्वांगी, ग्रीष्मे च सुखशीतला।
तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते॥

(भट्टिकाव्य)

(२) 'यौवनमध्यस्था' स्त्री को भी श्यामा कहते हैं।

(३) कोई सुंदरी स्त्री जिसके अभी तक संतान हुआ न हो।

(४) देखो दो० ८०, संस्कृत टीकाकार ने श्यामा के लक्षणों के विषय में ये श्लोक उद्धृत किये हैं :—

श्यामा च श्यामवर्णा स्यात् श्यामा मधुरभाषिणी।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता॥

ऊपनी (डिं०)=(सं० उत्पन्न) उत्पन्न हुई। हिं० उदा० बन बन वृच्छन चन्दन होई। तन तन विरह न उपनै सोई॥ (जायसी)

जिका (डिं०) = (सं० या + का) = जो कोई, जैसी कैसी, जैसी ।

हर (डिं०) = डिंगल में "हर" शब्द, उत्कट इच्छा, वासना, स्मृति के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

भणि (डिं०) = (सं०) डिंगल में 'भणनो' पढ़ना, परिशीलन करना के अर्थ में प्रयुक्त होता है । हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग काव्य में मिलता है ।

अलंकार—वर, वर, हरि, हर, हरि, हरि में—यमक और पदार्था-वृत्तिदीपक ।

दो० ३०—

ईखे (डिं०) = (सं० ईक्षण) = देखकर ।

एरिसा (डिं०) = (सं० ईदृश् (स्त्री)) प्रा० ईरिस-एरिस = इस प्रकार के।

अवयव = (सं०) शरीर-सम्बन्धी चिह्न ।

सरि = (सं० सदृश प्रा० सरिस) हिं० सरि = समान । उदा०

दाड़िम सरि जो न कै सका, फाटेउ हिया दरकि ।

(जायसी)

नाह (डिं०) = (सं० नाथ) = वर, पति, दूलह । हिन्दीकाव्य में इसी अर्थ में बहुतायत से प्रयुक्त होता है ।

नाह = नहीं ।

अलंकार = उपमा—अन्तिम पंक्ति ।

दो० ३१—

अम्हाँ (डिं०) = (सं० अस्माकं) प्रा० अम्हाअं—अम्हाँ (डिं०) = हमारे, मेरे ।

वासना वसी = इच्छा हुई है, धारणा हुई है ।

इसी (डिं०) = (सं० ईदृशी) प्रा० ईरिसी—ईइसी = ऐसी ।

ग्याति (डिं०) = (संज्ञा) जान पहचान, सम्बन्ध, जातिसम्बन्ध ।

किसी (डिं०) = (सं० कीदृशी) प्रा० कीरिसी—कोइसी = कैसी (हिं०)

राजवियाँ (डिं०) = राजवी, राजवंशी, राजपूत, क्षत्रिय, उदा:—

"नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी ।"
(पृथीराज)

ग्वालाँ = हिं० ग्वाल = अहीर, गोरक्षक जाति ।

कुलपाँति (डिं०) = (सं० कुल-पंक्ति) कुल की श्रेणी, कुलमर्यादा ।

दो० ३२—

सरिस = (सं० सदृश) प्रा० सरिस = सरीखों से, के समान ।

सगाई = (सं० सह + ज्ञाति) विवाह के लिए, पूर्व-सम्बन्ध की प्रथा ।

औलाँडे = हिं० उलारना, उलेड़ना, ओलारना = क्रमभङ्ग कर देना, ऊपर से नीचे फेंक देना, प्रतिष्ठाच्युत कर देना ।

उदा० रुकि गये बाटन नारे पैंड़े, नवकेसर के माट उलेड़े ॥
(सूर)

इता = (सं० एता) = इतने ।

त्रिधपणै (डिं०) = हिं० वृद्धपना । डिं० 'त्रिमल', 'क्रम' की तरह यहाँ भी रेफ का स्थान-परिवर्तन हुआ है ।

वेसासौ (डिं०) = (सं० विश्वास) = विश्वास करो ।

पाँतरिया (डिं०) = डिंगल में 'बुद्धि का पाँतर जाना'—यह एक मुहाविरा है—बुद्धि का भ्रष्ट हो जाना—बुद्धि बिगड़ जाना ।

दो० ३३—

प्रभणै = (सं० प्रभणन्ति) कहते हैं ।

जसु = (सं० यस्य) प्रा० जस्स = जिसकी ।

समो (डिं०) = (सं० सम + ई, स्त्री प्रत्ययान्त) = समान ।

डिंगल में अव्ययों को भी लिङ्गभेद का चिह्न दे देते हैं, यथा—समी-समौ ।

लाड़ी (डिं०) = (सं० लालन्-लाड़न्) डिंगल में 'लाडी' नवविवाहिता प्रियतमा को कहते हैं। दुलहिन अथवा नववधू का भी अर्थ है ।

वासुदेव = विष्णु के अवतारस्वरूप श्रीकृष्ण ।

अलंकार = उपमा ।

दो० ३४—

मावीत्र (डिं०) = (सं० मातृ + पितृ) प्रा० माइ + वित्री-विइ । डिं० मावित्री—मावीत्र = माता-पिता ।

म्रजाद (डिं०) (सं० मर्यादा) डिं० रेफ का स्थान-परिवर्त्तन = लज्जा, कान, सम्मान । उदा० भो मर्याद बहुत सुख लागा, यहि लेखे सब संशय भागा । (कबीर)

मेटि = हिं० मिटाना—(सं० मृष्ट-प्रा० मिट्ट)

सुवर = सुन्दर वर ।

ऊफणियौ (डिं०) = (सं० उत् + फेन) = क्रोध से उबल पड़ा । इस शब्द की व्यञ्जना-शक्ति से यह अर्थ-चमत्कार उत्पन्न होता है । उदा० भौंर भरी उफनात खरी, सु उपाय की नाव तरेरनि तोरत । (घनानंद)

बरसालू (डिं०) = हिं० बरसाती = बरसने को उद्यत । जिस प्रकार—कृपा-कृपालु; दया-दयालु, उसी तरह वर्षा-वर्षालु बना है ।

बाहला (डिं०) = हिं० (१) बादला, बादल (२) सं० टीका—वाहला = क्षुद्र नदी। राजस्थानी में 'बाहला'-बरसात के नाले को कहते हैं।

वरि (डिं०) = की तरह। उपमा का वाचक चिह्न।

अलंकार = लुप्तोपमा—उपमा।

वरसालू वहला वरि = दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि कुँवर रुक्मि कुपित होकर इस प्रकार उफन पड़ा जिस प्रकार बरसात का क्षुद्र नाला अथवा नदी। परन्तु जिस प्रकार बरसाती नाले वा नदी का जल थोड़े समय तक रहता है वैसे ही रुक्मि के क्रोध को समझना चाहिए। यह अर्थ ज्यादा रोचक है।

दो० ३५—

गुरु = सं० गुरु शब्द का तीन पृथक् अर्थों में प्रयोग हुआ है:—

(१) गुरु = शिक्षक, अध्यापक।

(२) गुरु = माता पिता। उदा० गौरी गुरोः गह्वरमाविवेश (रघु०)

(३) गुरु = भारी, असह्य, कठिन। उदा० "गुर्वपि विरहदुःख ...."

(शकुन्तला)

नर (डिं०) = (सं० नर = पौरुषयुक्त पुरुष—वीर पुरुष) = वीर पुत्र। डिं० उदा० "नराँ नाहराँ डिगमराँ पाकाँ ही रस होय।" (लोकोक्ति)

हेक (डिं०) = एक

वरै = वरण करै—विवाह करै।

सुसा (डिं०) = (सं० स्वसा)—बहिन।

दमघोष = (१) शिशुपाल के पिता का नाम। (२) दूसरे अर्थ में शिशुपाल का विशेषण—अर्थ—जिसके दमन की घोषणा सर्वत्र है, ऐसा वीर।

अलंकार 'गुरु' में—यमक।

दो० ३६—

आइस = (सं० आयषु) हिं० आयसु = आज्ञा, हुक्म। उदा० "आयसु दीन्ह मोहिं रघुनाथा" (तुलसी)।

इ = (सं० हिं० निश्चयार्थक) = ही।

पुहतौ (डिं०) = (सं० प्रभूत) प्रा० पहूच, डिं० पहूत। डिंगल में 'च' 'त' का विपर्य्यय होता है।

चंदेवरी = एक पौराणिक इतिहास-प्रसिद्ध प्राचीन नगरी जो चेदि देश की राजधानी थी। ग्वालियर —राज्य के नरवार ज़िले में इसकी पूर्व समृद्धि के सूचक ध्वंस मिलते हैं। अलबरूनी ने चंदेरी का उल्लेख किया है।

अलंकार—अत्यन्तातिशयोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० ३७—

हुइ (डिं०) = हिं० होइ = होकर।

हालियौ (डिं०) = (सं० हल्लान) हलचल की, गतिवान हुए। उदा० "हालति न चंप लता, डोलत समीरन के बानी कल कोकिल कलित कंठ परिगो।"

कुण (डिं०) = हिं० कवन, कौन।

केतला (डिं०)—मराठी प्रयोग = कितने।

चा (डिं०) मराठी प्रयोग = का।

गति = ढङ्ग, तरह से । उदा० "भइ गति साँप छुछुंदर केरी" (तुलसी)।

अलंकार—वक्रोक्ति—शब्दालंकार—उत्तरार्द्ध में ।

दो० ३८—

मण्डिजै (डिं०) = माँड़े जाते हैं, मनाये जाते हैं ।

नीसाणे (डिं०)=हिं० निशान (देशीय) = नगाड़ा, धौंसा । देखो दो० ४० । उदा० "बीस सहस घुम्मरहिं निसाना" (जायसी) ।

निहस (डिं०) = चोट, प्रहार, डंके की चोट ।

कुंदणपुरि = एक प्राचीन पौराणिक नगर जो विदर्भ देश में था । विदर्भ का आधुनिक नाम बिदर है जो हैदराबाद-राज्य में है । बिदर से कुछ दूर कुंडिलवती नाम की पुरानी नगरी आज तक है । यही स्थान प्राचीन कुंडिनपुरी हो सकता है ।

कुंदणमै = सुवर्णमय । कुंदन = सोना ।

बाझै (डिं०) = (सं० बध्यन्ते) प्रा० बज्झइँ, हिं० बाजैं = बजते हैं ।

अलंकार—यमक, कुन्दणमै, 'कुंदणपुरि' में ।

दो० ३६—

हींगलू (डिं०) = (सं० हिङ्गुल) हिं० ईंगुर । एक खनिज पदार्थ जो चीन आदि देशों में पाया जाता है । इसकी ललाई बड़ी चटकीली होती है और स्त्रियाँ इसको बेंदी लगाने और माँग भरने के काम में भी लाती हैं । ईंगुर से पारा निकाला जाता है । आजकल सूखा और गीला दो प्रकार का नकली ईंगुर भी बहुत बनने लगा है ।

चुणी (डिं०) = (सं० चयन) = हिं० चुनना, जोड़ाई करना। उदा०
कंकड़ चुण चुण महल उठाया, लोग कहै घर मेरा ॥ (कबीर)।

पाट (डिं०) = (सं० पट्ट) = हिं० पाट, पटडे, लकड़ी के लम्बे तख्ते जो मकान की छत ढकने के काम आते हैं।

ई (डिं०) = (सं० हि)—निश्चयार्थ में प्रयोग होता है।

खुम्भी (डिं०) = हिं० कुम्भी—खंभे के नीचे का भाग, जो ऊपर के हिस्से से कुछ बाहर निकला हो और उस पर कुछ शिल्पकारी भी चित्रित हो।

पनाँ (डिं०) = हिं० पन्ना, एक प्रकार का क़ीमती हरे रंग का जवाहिर-पत्थर।

प्रवाली = (सं०) = मूँगिया।

फिटकमै (डिं) = (सं०) = स्फटिकमय।

अलंकार—उदात्त।

पुनरुक्तिप्रकाश। "ग्रिह ग्रिह"—

दो० ४०—

जोइ (डिं०) = (१) जो, जो भी।

(२) दूसरे अर्थ में ढूँढारी टीका इस शब्द का अर्थ "तम्बू"—शामियाना करती है, यथा: "रंग रंग रा सामियाना ऊभा किया छः"।

(३) एक और तीसरे अर्थ में, संस्कृतटीका इस शब्द का अर्थ करती है। यथा—जोइ इति स्त्रीपर्यायः।

हमारी समझ में प्रथम अर्थ सरल एवं प्रसंगोपयुक्त होने से सर्वश्रेष्ठ है। 'जोइ' का द्वितीय पंक्ति के "सोइ" से सम्बन्ध होना इस आशय को प्रतिपादित करता है।

(४) पश्चिमी मारवाड़ी टीका ने भी 'जोइ' का अर्थ 'स्त्री' लिया है।

पटल = (सं०) = (१) कपड़े, परदा, विस्तीर्ण वस्त्र (२) समूह। यहाँ पहले अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है। उदा० निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल विलगाय ॥ (तुलसी)

साँवल (डिं०) = (सं० श्यामल) = श्याम रंग के।

घुरै (डिं०) = (सं० घुर) शब्द करना; घहराना। उदा०

(१) "घुरत निसान मृदंग शंखध्वनि भेरि झाँझ सहनाई।" (सूर)

(२) डंकन के शोर चहुँ ओर महाघोर घुरैं। मानो घनघोर घोरि उठे भुव ओर तैं ॥ (सूदन)

नीसाण (डिं०) = नगाड़ा। देखो, दो० ३८

प्रोलि (डिं०) = (सं० प्रतोली) प्रा० पओली, हिं० पोल = प्रवेशद्वार, फाटक।

तोरण = (सं०) = एक प्रकार का काम किया हुआ, सुसज्जित महराब। मालाओं, बन्दनवारों और पताकाओं से सजाया हुआ घर अथवा नगर का बहिर्द्वार।

राजस्थान में 'तोरण' सजावट की एक वस्तु-विशेष का नाम है जो विवाह के घरों के बहिर्द्वार पर लटकाया जाता है और काष्ठ का बना हुआ होता है। इसमें मयूर इत्यादि पक्षी बने होते हैं और रंगों की चित्रकारी भी रहती है।

परठीजै (डिं०) = (सं० प्रस्थीयते)—प्रा० परठीजइ = स्थापित किये जाते हैं।

मण्डै (डिं०) = (सं० मंडन) हिं० मँडे हुए, लिखे हुए, चित्रित।

तण्डव (डिं०)=(सं० ताण्डव)=आन्तरिक आनन्द का द्योतक उत्साहपूर्ण नाच नाचना 'ताण्डव' कहलाता है। शिवजी का ताण्डव-नृत्य करना प्रसिद्ध है।

नोट :—प्रथम पंक्ति, "जोइ जलद……ऊजल" का दूसरे प्रकार से यह अर्थ भी किया जा सकता है :—

(१) स्त्रियों ने श्यामल उज्ज्वल इत्यादि रंग-बिरंगे जो वस्त्र पहने हैं वही मानों रंग-बिरंगे बादलों के समूह हैं। यह अर्थ संस्कृत और मारवाड़ी, दोनों टीकाएँ लेती हैं।

(२) ढूँढाड़ी टीका ने एक तीसरा अर्थ लिया है :—
रंग रंग के शामियाने खड़े किये हैं, वही मानों बादल के समूह हैं।

अलंकार = रूपक—उत्प्रेक्षागर्भित।

दो० ४१—

राजान (डिं०)=(सं० राजानः (बहु० व))=राजा लोग।

जान (डिं०)=(सं० यान)=बरात। राजस्थानी भाषाओं में 'बरात' के लिए यह शब्द अब तक प्रयुक्त होता है।

हुंता (डिं०)=डिंगल में भूतकाल क्रिया का चिह्न=थे।
इसी से मिलते-जुलते 'हुँता,' 'हूँता,' 'हूँत' राजस्थानी में अपादान विभक्ति के चिह्न की तरह प्रयुक्त होते हैं जो प्राकृत और अपभ्रंश की 'हिन्तो' 'सिन्तो' विभक्तियों से बने हुए हैं। उदा० (१) "पातल जो पतशाह, बोले मुख हूँता बयण" (पृथ्वीराज) (२) ख़ुशी हूँत पीथल कमध, पटकौ मूछाँ पाण।" (पृथ्वीराज)।

दीध (डिं) = (सं० दत्त) प्रा० दिण्ण, अवधी० हिं० दीन्ह। (डिं०) दीध—यह रूप प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण के अयथार्थ सामंजस्य (false analogy) के नियम के आधार पर बना प्रतीत होता है। इसी प्रकार सं० कृत = प्रा० किध—डिं० कीध—हिं० कीन्ह।

नयर (डिं०) = (१) (सं० नगर) प्रा० नयर—हिं० नगर।
(२) (सं० निकट) प्रा० निअड-नयड़-नयर-नैड। डिंगल में इसका दूसरा रूप "नैड़ा" भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। = नजदीक, पास, निकट।

नोट—'निकट' का अर्थ लेने से "दूरा······दीसै" पंक्ति का अर्थ होगा—"दूर अथवा नजदीक बादलों की कोरण दिखाई दे रही है अथवा······"

कोरण (डिं) = हिं० कोर—छोर = प्रान्त भाग। रूढ़ि अर्थ में डिंगल भाषा में यही शब्द वर्षाकालीन श्याम मेघ के प्रान्त भाग पर बँधी हुई उस श्वेत बादल की कोर को कहते हैं जो श्याम चद्दर पर चमकीली चाँदी की गोटन की तरह मनोरम प्रतीत होती है। राजस्थान की वर्षा के दृश्य को देखनेवाले पाठकों को इस शब्द का अर्थ भली भाँति विदित हो जायगा। इसी शब्द के अन्यत्र प्रयोग के लिए देखो दो० १९५—"काली करि काँठलि, ऊजल कोरण"—जहाँ "कोरण" का आशय व्यक्त करके वर्णन किया गया है।

दीसै (डिं०) = (सं० दृश्यते) प्र० दीसइ—दीसै = दिखाई देता है।

धवलागिरि = हिमालय के एक उत्तुंग शृंग का नामविशेष; बर्फ़ से ढका हुआ श्वेत चमकीला पर्वत।

धवलहर = (सं० धवल + गृह) प्रा० धवलहर, धौलहर, धवरहर = ऊँचे ऊँचे श्वेत प्रासाद। काशी में माधोराव का 'धरहरा' अपनी ऊँचाई में शहर के सब प्रासादों से बड़ा है। हिन्दी शब्द-सागर में इसकी व्युत्पत्ति यों की गई है। (सं० धुर = ऊपर के, गृह—हर = घर)।

उदा० चढ़ि धवरहर विलोकि दखिन दिसि बूझ धौं पथिक कहाँ ते आये वे हैं।" (तुलसी)।

किन (डिं०) = (सं० किं + न)—संशयात्मक सर्वनाम = क्या यह तो नहीं है। हिं० उदा० 'कोटि उपाय करौ किन कोऊ' (सूर)

यहाँ—'किन'—हिन्दी में 'किधौं' के प्रयोग की तरह है।

अलंकार = पूर्वार्ध में—स्वभावोक्ति।
उत्तरार्ध में—सन्देह।

दो०—४२

मङ्गल़ (डिं०) = (सं०) = राजस्थान में शुभ और मंगल यथा वैवाहिक आदि अवसरों पर 'धवल़-मंगल़' नामक एक प्रथा बरती जाती है जिसके साथ साथ मंगल गीत भी स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। "मंगल़ करि" से यह आशय स्पष्ट होता है कि 'मंगल़' कोई प्रथाविशेष है जो (करि) की जाती है।

'धवल'—(देखो० हि० श० सा०)—[भरत के मत से यह एक राग है जो हिंडोल राग का आठवाँ पुत्र माना गया है। सम्भव है, प्राचीन काल में इस राग में वैवाहिक गीत विशेष गाये जाने के कारण ही उपरोक्त प्रथा का नाम धवल-मंगल पड़ा है।]

ढूँढारी टीका और संस्कृत टीका से यह अर्थ पुष्ट होता है :—

(१) ढूँढारी—"मङ्गल गावै छ:"।

(२) सं० टीका—"मङ्गलानि कृत्वा गीतानि गायन्ति" ॥

गौखे (डिं०) = (सं० गवाक्ष) = झरोखा, गौखा, अटारी।

मनै (डिं०) = हिन्दी में, मानहु, मनु, मनो इसके पर्याय हैं।

पदमिणि, अनि, परि, रुख = इन शब्दों के अर्थ पूर्व दो० के नोटों में देखो।

अलंकार = पूर्वार्ध में—उत्प्रेक्षा।
उत्तरार्ध में—उपमा।
समस्त में—व्याघात।

दो० ४३—

जाली (हिं) = (सं० जाल) = लकड़ी, पत्थर अथवा चूने का छिद्रदार फलक।

पन्थी = (सं० पंथ) = पथिक, राहगीर।

जोवै (डिं०) = हिं० जोहना, देखना, ध्यानपूर्वक दृष्टि लगाना।

भुवणि (डिं०) = (सं० भुवन, भवन) = भवन में, घर में। सप्तम्यांत।

भिलित (डिं०) = (सं भिद्) हिं० भेटना, भिड़ना, भिलना = सामने से आकर मिलना। संस्कृत और भाषाओं में 'ड़' 'ल' और 'र' का अभेद होता है।

कागऴ (डिं०) = (अरबी० काग़ज़) हिं० काग़ज़, कागद, कागर, गुजराती में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

हिं० उदा० "तुम्हरे देश कागर मसि खूटी।
प्यास अरु नींद गई......" (सूर)

भारतीय भाषाओं में 'र' और 'ल' का अभेद माना है।

काजऴ (डिं०) = (सं० कज्जल) = आँखों में लगाने का अंजन।

अलंकार—रूपक।

दो० ४४—

तितरै (डिं०) = (सं० 'तति'—अपेक्षित रूप—'कति') = उतने में।
हिं० तितना, तितने में।

हेक (डिं०) = हिं० एक। देखो० पूर्व० दो० में।

दीठ (डिं०) = [सं० दृष्ट (भू० क्रिया)] प्रा० दिठ्ठ। हिन्दी में 'दीठ' का प्रयोग काव्य में इसी अर्थ में होता है। उदा०,
नहि लावहिँ परतिय मन दीठी—(तुलसी)
दूनी ह्वै लागन लगी दिये दिठौना दीठ। (बिहारी)

गलि त्रागौ (डिं०) = गले में जो पवित्र धागा—सूत्र अर्थात् जनेऊ पहिनता है = ब्राह्मण।

प्रणपति (डिं०) = (सं० प्रणिपत् = वंदना करना) = प्रणाम।
उदा० "वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे" (कुमार)।

वीर (डिं०) = भाई। हिन्दी में भी इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।
उदा० "को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर" (बिहारी)।

वटाऊ (डिं०) = हिन्दी में भी बहुतायत से प्रयुक्त होता है।
उदा० "राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज वटाऊ की नाँई। (तुलसी)।

वीर वटाऊ ब्राह्मण = ये तीन सम्बोधन एक साथ कहने से कवि ने रुक्मिणी के मन की आतुरता एवं व्यग्रता की दशा का स्वाभाविक चित्र खींचा है। पश्चिमी राजस्थानी टीका में इसकी व्याख्या यों की गई है :—"अहो भाई, अहो पथिक, अहो ब्राह्मण अत्यन्त ऊतावली थकी बार बार वचन कहइ"।

लगी (डिं०) = (सं० लग्नः) = तक, पर्यंत । हिन्दी में इस प्रकार मुहाविरे में इस शब्द का प्रयोग होता है ।

उदा० (१) "कहँ लगि कहौं कुचाल ढीठ की नाम लेत मेरा जिया डरपत है ।"

(२) "एक मुहूरत लगि कर जोरू, नयन मूँदि श्रीपतिहिं निहोरू" (तुलसी)

अलंकार = स्वभावोक्ति—उत्तरार्ध में ।

दो० ४५—

म म (डिं०) = (सं० मा मा) मत, मत ।

करिसि (डिं०) = (सं० करिष्यसि, क्रि० भविष्य रूप) करना ।

ढील (डिं०) = (सं० शिथिल) प्रा० सिढिल—प्राथमिक 'सि' का लोप—ढिल = विलम्ब, शिथिलता, देर ।

हुए हेक (डिं०) = देखो० पूर्व० दो० में नोट ।

जाइ (डिं०) = (सं० याहि (क्रिया) = जाओ, जा ।

मुखहुँता (डिं०) = मुख से । 'हुँता' के लिए देखो नोट पूर्व दो० ४१ में ।

माहरे (डि०) = (सं० अहम्) डिं० सर्व० म्हा + एर = मेरे ।
ताहरे (डिं०) = (सं० तव०) डिं० सर्व० था + एर = तेरे ।

देइ (डिं०) = (सं० देहि) = देना, दो ।

जादवाँ इन्द्र (डिं०) = (सं० यादवेन्द्र) जादवाँ (बहु०वचन) + इन्द्र । बहुवचन शब्दों में, डिंगल में, इस प्रकार प्राय: सन्धि नहीं होती ।

जत्र (डिं०) = (सं० यत्र) सीधा संस्कृत प्रयोग ।

दो० ४६—

गहमह (डिं०) = अनुकरण शब्द—जिस प्रकार हिन्दी में 'जग-मगाहट'; लक्षणाशक्ति से 'दीपकों की जगमगाहट'—अर्थ है।

थई (डिं०) = गुजराती प्रयोग देखो पूर्व दो० में।

रह रह = रह जाओ २ कहते हुए। उदा० हि० "रहु रहु रे तुम नीच अमरगति रोकन हारे"—(प्रताप)।

वह (डिं०) = (सं० वह) बहना, प्रवाहित होना, चलना। राजस्थानी भाषाओं में चलने (क्रिया) के अर्थ में साधारणतः प्रयुक्त होता है।

रहे (डिं०) = हिं० 'रह गये' रुक गये, ठहर गये।
उदा० "रहु रे मधुकर मधु मतवारे"। (सूर)।

रह (डिं०) - हिं० "राह" से लघुत्व को प्राप्त होकर बना है।

दुज (डिं०) = (सं० द्विज) ब्राह्मण।

नीसरै (डिं०) = (सं० निस्रवण = निकलना) प्रा० निस्सरण, नीसरण। उदा० "नव दसन निसरत बदन माँह, जो दसन कली समान तें"। (सीताराम)

सूतौ (डिं०) = (सं० स्वपिति) प्रा० सुवति = सो गया—सोता रहा। उदा० "मोर तोर में सबै विभूता, जननी उदर गर्भ महँ सूता"। (कबीर)।

नह (डिं०) = हिं० नहीं।

अलंकार—स्वभावोक्ति—पूर्वार्ध में।

नोट—डा० टैसीटरी को "रह रह कोइ वह रहे रह"—इस पंक्ति के अर्थ के सम्बन्ध में अस्पष्टता है। हमें इसके अर्थ में किसी

प्रकार की अस्पष्टता प्रतीत नहीं होती। अर्थ स्वभावोक्तियुक्त एवं सरल है। ढूँढारी, मारवाड़ी एवं संस्कृतटीकाओं से हमारा किया हुआ अर्थ व्यक्त होता है।

दो० ४७—

लगन (डिं०) = (सं० लग्न) विवाह का मुहूर्त्त।

नैडौ (डिं०) = (सं० निकट) प्रा० निअड–नयड़–नैड़ = नजदीक। देखो नोट दो० ४१ 'नयर' पर। इसी प्रकार हिं० में "नियर"—उदा: "ऋष्यमूक पर्वत नियराई"। (तुलसी)।

भौ (डिं०) = (सं० भय) प्रा० भअ—भौ = भय, डर।

भति (डिं०) = हिं० भाँति। प्रकार, तरह।

जगति (डिं०) = द्वारिका—(लक्षणा लक्षितार्थ)—देखो ढूँढाड़ी टीका। ग्रन्थों में भगवान् को "जगन्निवास" कहा है। यथा, उदा० "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास"। गीता ११। २५।

भगवान संसार भर में व्याप्त हैं अतएव उनका निवास-स्थान "जगत्" कहा गया। अब, भगवान् कृष्ण ने द्वारिका में भी निवास किया था। अतएव "जगत्" और "द्वारिका" पर्य्यायवाची स्थान हुए। कवि ने अपनी कल्पना से ही "जगति" का यह अर्थ लिया है। अन्यत्र यह प्रयोग नहीं देखा।

नोट—यदि 'जगति' का अर्थ 'द्वारिका' न लेकर संसार लिया जाय, तो चतुर्थ पंक्ति का अर्थ यों होगा:—जब प्रात:काल वह ब्राह्मण निद्रा से इस जगत् में जागा, तो अगले दो० ४८ में वर्णित वेदादि की ध्वनि उसे सुनाई दी।

अलंकार = विभावना (पंचम)—विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति—उत्तरार्ध में।

दो० ४८—

सुणति (डिं०) हिन्दी में 'सुनती है, सुनता है'—क्रियाएँ "सुनाई देती है—देता है" के अर्थ में बोलचाल में अब तक प्रयुक्त होती हैं। उदा०—"तुमको कम सुनता है"।

नद (डिं०) = (सं० नाद) शब्द, शोर, झंकार।

नीसाण (डिं०) = नगाड़ा, देखो० दो० ३८। ४०

झल्लरि (डिं०) = (सं० झल्लरी) हिं० झालर, टकोरा, झाँझ; पूजा के समय बजाने का एक वाद्य।

हेका (डिं०) = एक ओर। देखो पूर्व दोहलों में 'हेक'।

कह (डिं०) = कहकहा, कोलाहल।

हीलोहल (डिं०) = (सं० हिल्लोल) = समुद्र की लहर + हल (अनु० शब्द) = हल्ला, शोर, घोर शब्द। समुद्र की लहरों का शोर।

सायर (डिं०) (सं० सागर) प्रा: सायर }
नयर (डिं०) (सं० नगर) प्रा० नयर } प्राकृत के सीधे प्रयोग।

सरीख (डिं०) = (सं० सदृश) प्रा० सरिस, हिं० सरीखा। देखो दो० ८ "सारिखा"।

सद = (डिं०) = (सं० शब्द) = शब्द, आवाज़, ध्वनि।

अलंकार = (१) देहरी दीपक—"कहुँ" में—(प्रथम पंक्ति)
(२) सार अलंकार–वेदधुनि–संखधुनि—झल्लरी नद—

नीसाणनद—सायर—नयर सद इत्यादि में उत्तरोत्तर ध्वनि की वृद्धि प्रदर्शित की है।

(३) तुल्ययोगिता—अन्तिम पंक्ति में।

दो० ४६—

पणिहारि = (सं० पानीय + आहरणं) हिं० पनिहारी = पानी लानेवाली। उदा० "गोकुल पनिहारी पनिया भरन गई, बड़े बड़े नैना तामें खोभि रह्यो कजरा।"

पटल = (सं०) = (१) समूह। (२) वस्त्र। यहाँ 'समूह' अर्थ में प्रयुक्त है। दूसरे (२) अर्थ में प्रयोग के लिए देखो दो० ४०।

दल = (सं०) = दोनों अर्थ में प्रयोग हुआ है (१) समूह। (२) पुष्पदल, पंखुड़ी।

तीरथ = (१) पवित्र पुण्यस्थान (२) घाट, जलाशय। शास्त्रोक्त तीन प्रकार के तीर्थ हैं :—

(१) जंगम-तीर्थ चलते फिरते तीर्थ, यथा ब्राह्मण, साधु इत्यादि।

(२) मानस-तीर्थ = सत्य, क्षमा, दया, ब्रह्मचर्य, मधुरभाषणादि गुण।

(३) स्थावर-तीर्थ = यथा, काशी, प्रयाग, गया इत्यादि स्थल।

नोट—"पटल"-का 'सुन्दर वस्त्र' अर्थ करने पर प्रथम पंक्ति का अर्थ यों होगा:—"सुन्दर वस्त्र पहने हुए पनिहारियों के वृन्द चंपकपुष्प के दल के समान शोभित हैं।

अलंकार = उपमा—पूर्वार्ध में।

रूपक—उत्तरार्ध में।

लाटानुप्रास—तृतीय पंक्ति।

स्वभावोक्ति—पूर्वार्ध में।

दो० ५०—

जोवै (डिं०) = (सं० जुषण) प्रा० जुहण—जोहण, हिन्दी—जोहना = ध्यानपूर्वक देखना। देखो पूर्व दो० ४३ में प्रयोग।

जाँ (डिं०) = हिं० जहाँ।

जगन (डिं०) = (सं० यज्ञाग्नि)—यज्ञ की अग्नि।

जागवै (डिं०) = जगती है, प्रज्वलित होती है।

आलाप = (सं०) = बोलना, शब्द करना।

मौरिया = (सं० मुकुलिता) प्रा० मउलिआ, मउरिया—मौरिया। मंजरीयुक्त हुए हैं। देखो पूर्व दो० २१ में "मौरे"।

अलंकार = एकावलि।

दो० ५१—

सम्प्रति = (सं०) = प्रत्यक्ष। राजस्थानी में 'साँपरतै', "साँपरतक" शब्द प्रत्यक्ष के अर्थ में बोलचाल में अब तक प्रयुक्त होते हैं।

ए (डिं०) = (सं० एष) = यह। हिं० उदा० 'दुरै न निघट घटौ दिये ए रावरी कुचाल'—(बिहारी)।

किना (डिं०) = (सं० किं + न) संदिग्ध प्रश्नसूचक सर्वनाम = "क्या यह तो नहीं है?", क्या। पूर्व दो० ४१ में देखो।

हूँ (डिं०) = (सं० अहम्) प्रथम पुरुष एकवचन पुरुषबोधक सर्वनाम = मैं। राजस्थानी भाषाओं में विशेषत: मारवाड़ी भाषा में इसका सर्वत्र प्रयोग होता है।

जाइ (डिं०) = (सं० यत्) = जिसको। हिन्दी में 'जाहिँ, 'जेहिँ' का प्रयोग होता है। मिलाओ दो० ४५ के 'जाइ' से। वहाँ 'जाना' क्रिया से आज्ञा अथवा पूर्वकालिक रूप यही बनता है।

इम (डिं०) = ऐसा। गुजराती प्रयोग 'एम' के समान रूप।

सुहिणौ-जम्पियौ (डिं०) = इन पर नोट क्रमशः दो० १५,३०४ में देखो।

आ (डिं०) = यह संकेतबोधक सर्वनाम, स्त्रीलिङ्ग का चिह्न है।

दुआरामती (डिं०) = द्वारावती, द्वारिका।

अमरावती = इन्द्रपुरी।

सु (डिं०) = तो, यह तो। किसी शब्दविशेष पर ज़ोर (emphasis) देने के लिए मारवाड़ी में "सु" या 'स' लगा देते हैं। उदा० आ सु द्वारामती = यह तो द्वारिका है।

अलंकार = सन्देहालंकार।

दो० ५२—

क्रमियौ (डिं०) = (सं० क्रमण = चलना) = चला।

थियौ—तणौ (डिं०) देखो पूर्व दो० में इन पर नोट।

दो० ५३—

वीखियै (डिं०) = (सं० वीक्ष्य) = देखकर।

आलोचै = (सं० आलोचति) प्रा० आलोजइ-आलोजै = विचार करता है।

हुइस्यै (डिं०) = (सं० भविष्यति) प्रा० हुइस्सइ—हुइस्यै = होवेगी।

हूँ, हिव (डिं०) = देखो पूर्व दो० ५१, १५ में इन शब्दों पर नोट।

आपौ आप = हिन्दी में—'आपसे आप' मुहाविरा राजस्थानी में 'आपौ आप" रूप में साधारणतः व्यक्त होता है।

अलंकार = हेतु अलंकार।

दो० ५४—

ऊठिया (डिं०) = (सं० उत्थिताः) प्रा० उट्ठिआ—ऊठिया = उठे।

दूरन्तरी (डिं०) = (सं० दूरान्तरे) दूर के अन्तर से अर्थात् दूर से।

करिबन्दण........विशेष=वेदशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म से भी विशेष अतिथि-सत्कार किया। वेदशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म से यहाँ धर्मशास्त्रोक्त आतिथ्य धर्म के लक्षणों से आशय है।

जगतपति अन्तरजामी=ये साभिप्राय शब्द हैं। इनके अर्थ से दो० में चमत्कार उत्पन्न होता है। संसार के स्वामी होने पर भी और घट घट की आन्तरिक दशा को बिना बताये स्वयं जान लेने की योग्यता होने पर भी उठकर ब्राह्मण का सत्कार, अभिवादन किया और उससे संवाद पूछा। यह आश्चर्य्य है।

तेणि (डिं०)=(सं० तेन) प्रा० तेण=उससे भी।

अलंकार—परिकर।

दो० ५५—

कार्य—, पत्र— } इन दोनों शब्दों का प्रयोग संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। दोनों शब्द नपुंसक लिङ्ग जाति के शब्द होने से "कार्यम्" और "पत्रम्" होना उचित है। कवि ने संस्कृत-व्याकरण की ऐसी साधारण ग़लती किस प्रकार की? क्या उनको संस्कृत-व्याकरण का प्राथमिक ज्ञान भी न था? हमारी समझ में कवि ने छंद में मात्रा-भङ्ग दोष से बचने के लिए और 'कुत्र', 'पत्र' की तुक मिलाने के लिए जानबूझ कर यह ग़लती की है।

नोट—कृष्ण के मुख से देवगिरा संस्कृत में प्रश्न करवाना कवि ने प्राचीन साहित्यिक परिपाटी के अनुसार निश्चित किया है। इससे उनका प्रभुत्व एवं देवत्व प्रदर्शित किया है। संस्कृत-नाटकों में कवियों ने केवल श्रेष्ठकुल के उच्चश्रेणी के

पात्रों-द्वारा ही संस्कृत में भाषण करवाया है। स्त्री, शूद्र और निम्न वर्ण के पात्रों का भाषण प्राकृत में होता था।

अलंकार—दो०—५५ और ५६ में प्रश्नोत्तर का क्रम यथासंख्य अलंकार का चमत्कार उत्पन्न करता है।

दो० ५६—

राज (डिं०)=(सं० राजन्) सम्मानसूचक सर्वनाम—आप। राजस्थानी में लेखबद्ध भाषा में बहुतायत से "आप" के लिए प्रयुक्त होता है।

लगैं (डिं०)=(सं०लग्न)—के लिए, के वास्ते। जिस प्रकार संस्कृत में 'कृते' का प्रयोग होता है। हिन्दी में भी इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है, यथा: उदा०—"भृगुपति जीति परशु तुम पायौ, तालग हौं लंकेश पठायौ"।

मेल्हियौ (डिं०)=(सं० मिलन)=हिं० भेजा है; स्थापित किया है, धारण किया है। उदा० "सिय जयमाल राम उर मेली" (तुलसी)

इणि (डिं०)= हिं० इन, डिं० इण (सप्तम्यान्त) इसमें, इनमें। राजस्थानी भाषा में अब भी साधारणत: प्रयुक्त होता है।

माहि=(सं० मध्ये) में, भीतर, अन्दर, अधिकरण विभक्तिचिह्न। हिन्दी-कविता में बहुतायत से प्रयुक्त होता है।

सहि (डिं०)=(सं० सर्व+अपि) हिं० सभी, डिं० सही, सहू, सह, सहि।

डिं० उदा० "सह गावड़िये साथ, एकण बाड़े बाड़िया" (पृथ्वीराज)

हिं० उदा० "राजपाट दर परिग्रह, तुमही सऊँ उजियारे। (जायसी)

हुँता—कागल–दीधा–एम (डिं०)=इन पर नोट देखिए पूर्व दो० में।

अलंकार=दो० ५५ की अपेक्षा में इस दो० का उत्तर क्रमबद्ध है। अतएव यथासंख्य अलंकार है।

दो० ५७—

आणंद लखण=आनन्द के लक्षण कहने से आशय आनन्द के अनुभवों से हो सकता है। भावों की आन्तरिक अनुभूति का बाह्य जगत् में शारीरिक अवयव-विकृति के रूप में प्रकट होने को "लक्षण' कहा गया है। इसी दृष्टि से देखने पर आनन्द-लक्षण, वर्त्तमान प्रसंग के अनुसार सात्विकभाव के पर्याय हुए। इस दोहले में शास्त्र-सम्मत ८ सात्विकभावों में से चार तो व्यक्त कर ही दिये गये हैं—स्तम्भ, रोमांच, स्वरभंग (गदगद) और अश्रु। आठ सात्विक भाव ये हैं :—

स्तंभस्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः॥

(सा० दर्पण)

बाचत.........वणै=गदगद (स्वरभंग अथवा भावावेश के कारण कंठ अवरुद्ध हो जाने) से पत्र बाँचते नहीं बनता।

पश्चिमी, मारवाड़ी टीका का अर्थ—"बचायइ नहीं"।

संस्कृत-टीका—"वाचयितुं न वणइ इति न शक्यत्वं संभवति॥"

हिं० कविता में इस प्रकार के मुहाविरे का प्रयोग होता है :—

उदा०:—"बनै न बरनत बनी बराता"—(तुलसी)

'तिणि' और तणै=देखो नोट पूर्व दो० में।

ज (डिं०)=दो० ५१ में के 'सु' की तरह यह भी शब्द विशेष और असाधारण ज़ोर (emphasis) देने के लिए प्रयुक्त होता है=ही, भी, तो।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

दो०—५८

चै (डिं०)=चौ, चा, ची, चै, इस प्रकार के मराठी प्रयोग "वेलि" में बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं। षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध चिह्न। देखो प्रयोग पूर्व दो० १२, ३७ में।

लाधै (डिं०)=(सं० लब्ध) प्रा० लद्ध। मिथ्या अनुकरण के सिद्धान्त से सं० 'दा' धातु के 'दत्त' का डिंगल में 'दीध' बनता है। प्राकृत और अपभ्रंश में इस प्रकार मिथ्यानुकरण से शब्दों का रूपान्तर बहुधा हो जाया करता है।

हिं० उदा०—"इन सम काहु न शिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे।" (तुलसी)

दूवै (डिं०)=(अरबी० दुआ=प्रार्थना) दुआ माँगना, दुआ देना। राजस्थानी में इसका अर्थ आज्ञा लेना—देना, प्रचलित है, देखो दो० ८०।

वाचण (डिं०)=(सं० वाचन)=बाँचना, पढ़ना।

वीनवियौ (डिं०)=(सं० विनय) विनय की, निवेदन की।

तूझ (डिं०)=(सं० तुभ्यम्) प्रा० तुज्झं =तेरी। देखो पूर्व० दो० ६ में प्रयोग।

असरणसरण=(सं०) जिसकी कोई शरण नहीं है, उसे शरण देने-वाले। इस अर्थ का समर्थन ढूँढाड़ी और संस्कृतटीका करती हैं। पश्चिमी मा० टीका—"बीजउ सरण कोई न थी" यह अर्थ करती है।

अलंकार = परिकर—'असरणसरण' अभिप्राय गर्भित है।

दो ५९—

बलि-बन्धण = सम्बोधन, हे बलि को बाँधनेवाले, भगवान् !

कथाप्रसङ्ग यह है :—राजा बलि, विरोचन का पुत्र और प्रह्लाद का पौत्र दैत्य जाति का एक बड़ा पराक्रमी राजा था। पौराणिक इतिहास के अनुसार यह त्रिलोक का स्वामी था। इसके बढ़ते हुए आतंक और अभिमान को रोकने के लिए भगवान् विष्णु ने वामन का अवतार लेकर इसे छलकर बाँध लिया और त्रिलोकी का राज्य दान में लेकर इसे पाताल में भेज दिया। देखो पूर्व दो० "तिणि ही पार न पायौ त्रीकम" दो० ५

सिङ्घ बलि स्याल प्रासै = सिंह के भक्ष्य को शृगाल खाने की चेष्टा करै। उदा० (१) हम सेवक वा त्रिभुवनपति के, सिंघ को बलि कौवा को खाई। (सूर)

(२) बैनतेय बलि जिम चह कागू, जिमि सस चहै नाग अरि भागू। (तुलसी)

मूझ (डिं०) = (सं० मह्यम्) प्रा० मुज्झं, डिं० मूझ, मुझि, हिं० मुझे, मुझको।

बलि = (सं०) = भक्ष्य, देवता के लिए उत्सर्ग किया हुआ पशु अथवा पदार्थ।

प्रासै (डिं०) = (सं० प्राशन = खाना) = खावै।

बीजौ (डिं०) = (सं० द्वितीय) प्रा० बिईज; डिं० बिओ, बीजो, दूजौ = दूसरा। हिं० दूजा यथा—उदा० "ए मन के गुण गुंथत जे, पहिचानत जानकी और न बीजो।" (हनुमान)

परणै (डिं०)=(सं० परिणयन=ब्याहना)=ब्याहे (डिं० परणनौ क्रिया)।

कपिल धेनु दिन पात्र कसाई=कपिला गाय कसाई जैसे कुपात्र को दी जाय। हिं० उदा० "जिमि कपिलहिं घालै हरहाई"—तुलसी

कपिल धेनु=सफ़ेद रंग की गाय; सीधी गाय; भूरे अथवा लाल मिश्रित भूरे रंग की गाय। यह पवित्र समझी जाती है।

पात्र=(सं०) भाजन, अधिकारी। 'कसाई' के सामीप्य सम्बन्ध से, लक्षणा से इसका अर्थ "कुपात्र" हुआ।

दिन (डिं०)=(सं० दत्त)। प्रा० और अपभ्रंश रूप—दिण्ण। उदा० "जे मइँ दिण्णा दियहड़ा दइएँ, पवसन्तेण" (हेमचंद्र)।

तुलसी=तुलसी के पौधे को वैष्णव अत्यंत पवित्र मानते हैं और ठाकुर पर चढ़ाकर प्रसादरूप में भक्तों में बाँटते हैं। शालिग्राम ठाकुर की पूजा बिना तुलसीदल के नहीं होती। यह चरणामृत आदि में भी डाली जाती है। गरम देशों में यह अधिक पाई जाती है। वैद्यक में यह कई ज्वरों पर अत्यन्त लाभदायक औषधि समझी जाती है। भारत में कई प्रकार की तुलसी मिलती है। गंधतुलसी, श्वेततुलसी या रामा, कृष्णतुलसी या कृष्णा, बर्बरी तुलसी या ममरी।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में तुलसी के माहात्म्य के विषय में कथा है :— तुलसी नाम की एक गोपिका गोलोक में राधा की सखी थी। एक दिन राधा ने उसे कृष्ण के साथ विहार करते देखा और शाप दिया कि मनुष्य शरीर धारण करके संसार-

यातना भोगे। शाप के अनुसार वह धर्मध्वज राजा की कन्या हुई। उसके रूप की तुलना किसी से नहीं की जा सकती थी। अतएव 'तुलसी' नाम पड़ा। तुलसी ने वन में जाकर घोर तप किया और ब्रह्मा से यह वर माँगा, कि मुझे पतिरूप में कृष्ण की रति प्राप्त हो, क्योंकि मैं उनके प्रेम से तृप्त नहीं हुई। ब्रह्मा के निर्देशानुसार इसने शंखचूड़ राक्षस से विवाह किया। शंखचूड़ को वर मिला था कि बिना उसकी स्त्री का सतीत्व भ्रष्ट हुए उसकी मृत्यु न होगी जब शंखचूड़ ने सब देवताओं को परास्त कर दिया, तो वे विष्णु के पास गये। विष्णु ने शंखचूड़ का रूप धारण कर तुलसी का सतीत्व भ्रष्ट किया। तुलसी ने शाप दिया कि तुम पत्थर के हो जाओ। परन्तु पीछे विष्णु को पहचान कर पछताई और पैरों पड़ कर क्षमा-याचना की। विष्णु ने प्रसन्न होकर वरदान दिया, "तुम यह शरीर छोड़कर लक्ष्मी के समान मेरी प्रिया होवोगी। तुम्हारे शरीर से गंडकी नदी और केशों से तुलसी वृक्ष होगा।" तब से शालिग्राम (विष्णु) की पूजा होने लगी और तुलसीदल उसके मस्तक पर चढ़ने लगा। कार्त्तिक मास में वैष्णव लोग तुलसी और शालिग्राम का विवाह बड़े समारोह से विधिपूर्वक करते हैं। राजस्थान में इस अवसर पर कुमारी कन्याएँ ३ दिन का अनशन व्रत रखती हैं और अक्षयदीप जलाती हैं। कार्त्तिकी अमावस्या तुलसी की जन्मतिथि मानी गई है। तुलसी की लकड़ी की कंठी और माला वैष्णव भक्त पहनते हैं।

अलंकार=(१) परिकर—"बलिबंधन" साभिप्राय शब्द है।
(२) निदर्शना।

दो० ६०—

अम्ह (डिं०)=(सं० अहम्) प्राकृत में मिलित व्यंजनों का स्थान-विपर्य्यय होने का नियम है। इसी प्रकार, डिंगल में, अहम् के 'हम्' का 'म्ह' हो गया है।

कजि (डिं०)=(सं० कार्य) के लिए। हिं० उदा०="पर स्वारथ के काज........" (गिरधर)

तुम्ह (डिं०)=(सं० त्वम्)—तुमको।

छण्डि (डिं०)=(सं० छर्दन) प्रा० छड्डण=छोड़ना, त्यागना। हि० उदा०"सप्तदीप भुजबल बस कीन्है, लेइ लेइ दंड छाँड़ सब दीन्है। (तुलसी)

अवर (डिं०)=(सं० अपर) प्रा० अवर। शुद्ध प्राकृत प्रयोग। हिं० उदा० "गम दुर्गम गढ़ देहु छुड़ाई, अवरो बात सुनो कछु आई"। (कबीर)

आणै (डिं०)=(सं० आनय) प्रा० आणअ=लावै। हिं० उदा० "कपि मुद्रिका मेलि मुख आनी" (तुलसी)।

ऐंठित (डिं०)=(सं० उच्छिष्ठ) डिंगल में "ऐंठा" उच्छिष्ठ पदार्थ झूठे अन्न इत्यादि के लिए प्रचलित है।

सालिगराम=विष्णु की एक प्रकार की श्याम मूर्त्ति जो पत्थर की होती है और गंडकी नदी में पाई जाती है। इस पर चक्राकार जनेऊ का चिह्न होता है। अनेक पुराणों में इस मूर्त्ति की पूजा का माहात्म्य है। शालिग्राम-कथा के लिए "तुलसी" पर नोट देखो दो० ५९ में।

सूद्र=वर्णाश्रमधर्मविहीन, हिन्दू=इतर अस्पृश्य जाति के लोग। पुराणों में म्लेच्छों का वर्णन कई जगह मिलता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा है कि ये राजा वेणु के

शरीर-मन्थन से उत्पन्न हुए। द्रविड़, शक, यवन, शबर, किरात, पौड्र, बर्बर, खस, पह्लव,—ये म्लेच्छों की कुछ जातियाँ पुराणों में वर्णित हैं। साधारणत: किसी भी गो-मांसभक्षी, अनार्य-भाषा-भाषी, सर्वाचार-विहीन जाति को म्लेच्छ संज्ञा दी जाती थी।

संग्रहि=(सं०) संस्थापन, संग्रहण—स्थापित करना।
संस्कृतटीका—"संग्राहयन्ति ददते इव"।

अलंकार—निदर्शना।

दो० ६१—

हए (डिं०)=(सं० हत:) हनन किया, मारा, वध किया। हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० (१) छन में सकल निशाचर हये। (२) देवन हये निसाण (तुलसी)

ऊधरी (डिं०)=(सं० उद्धरण)=उद्धार किया, बचाया।
हिं० उदा० "भरत विवेक बराह विशाला, अनायास उधरी तेहि काला"। (तुलसी)

हूँ (डिं०)=(सं० अहम्) मैं।

हूँ (डिं०)=डिं० हूँत, हुँताँ—इत्यादि का अल्परूप है। 'त' का लोप। राजस्थानी भाषाओं में इस अर्थ में हूँ, हूँत, हुँता, अब तक प्रचलित हैं।

तई (डिं०)=(सं० तदा) तब, उस समय (सप्तम्यन्त इकारान्त)।

सीख=शिक्षा, राय। हिं०। उदा० "याकी सीख सुनै ब्रज फोरे" (सूर)

किण (डिं०)=किसने। हिन्दी में 'किन', 'किन्ह' इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं॥

हरि.........पताल हूँ=दैत्यराज हरिण्यकशिपु का भाई हरिण्याक्ष एक प्रसिद्ध दैत्य था। कश्यप और अदिति से इसकी उत्पत्ति

हुई थी। इसने अपने पराक्रम से पृथ्वी को लेकर पाताल में रख छोड़ा था। ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना पर विष्णु ने वराहावतार धारण करके इसे मारा और पृथ्वी का उद्धार किया था। उदा०—

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना शशिनिकलंक कलेव निमग्ना। केशव धृत शूकररूप। जय जगदीश हरे।

(गीतगोविन्द)

अलंकार=काकुवक्रोक्ति--उत्तरार्ध में।

दो० ६२—

आणे (डिं०)=देखो नोट दो० ६०, हिं० उदा० "आनेहु रामहिं वेगि बुलाई"। (तुलसी)

जई–तई (डिं०)=(सं० यदा–तदा) जब, तब। देखो दो० ६१ नोट "तई" पर।

नेत्रै=(सं०)=मथानी की रस्सी।

नहि (डिं०)=नाथकर। हिं० नाथना, नाँधना,=काम में लगाना, जोतना, संयुक्त करना। हिं० उदा० "पसु लौं पसुपाल ईस बाँत छोरत नहत"। (तुलसी)

रई (डिं०)=मंथनदंड—दधि मथने की लकड़ी। हिं० उदा० "वासुकी नेति अरु मंदराचल रई, कमठ में आपनी पीठ धार्यो"। (सूर)

मँदर=मंदराचल। एक प्रसिद्ध पौराणिक पर्वत। देवासुर-संग्राम में यह समुद्र-मंथन के लिए मंथन-दंड की तरह उपयुक्त हुआ था।

महण (डिं०)=(सं० महार्णव) महासमुद्र।

महमहण (डिं०)=(सं० महार्णव+मंथन) हे महासमुद्र का मंथन करनेवाले ।

मूँ (डिं०)=मुझको । दूसरा रूप 'मूझ' भी बनता है। उसी का अल्परूप है ।

सीखव्या (डिं०)=शिक्षा दी, सिखाया । 'सीखाव्या' भी बनता है ।

अलंकार=उत्तरार्ध में—काकुवक्रोक्ति ।

नाग-नेत्रे, मंदर-रई=रूपक ।

नोट—प्रथम पंक्ति में वयण-सगाई के असाधारण नियम का प्रयोग है । जिसे आन्तरिक वयण सगाई कह सकते हैं । 'आणे' का 'असुर' के साथ और 'नाग' का 'नहि' के साथ वयण-सगाई-सम्बन्ध है । इसी प्रकार के अन्य असाधारण प्रयोगों के लिए देखो भूमिका ।

दो० ६३—

रामा अवंतारि=त्रेतायुग में विष्णु का रामचन्द्र रूप में अवतार । मिलाओ—दो० १२ में "रामाअवतार" जहाँ अर्थ विभिन्न है ।

वहे (डिं०)=(सं० वध) प्रा० वह=मारा, संहार किया, मारकर ।

रणि (डिं०)=(सं) रण में, युद्ध में ।

किसी (डिं०)=देखो नोट दो० ३१ में "किसी जात कुलपांत किसी" ।

हूँ-ऊधरी-हूँ ती (डिं०)=देखो नोट पूर्व दो० ६१ में ।

वेलाहरण (डिं०)=(सं० वेला=समुद्रकूल+हरण=हरण करने-वाला)=प्रचल तरङ्गों से आकुल समुद्र । 'वेला' के इस अर्थ के लिए देखो "सवेला वप्रवलयां"...... (रघुवंश)

त्रिकुटगढ़= लङ्का, जो त्रिकूट पर्वत पर बसी हुई है।

त्रिकूट एक कल्पित पौराणिक पर्वत है, जो सुमेरु का पुत्र माना गया है। वामन-पुराण के अनुसार क्षीरोद समुद्र में स्थित है। वहाँ देवर्षि, विद्याधर, किन्नर तथा गन्धर्व क्रीड़ा करते हैं। इसकी एक चोटी सोने की है जिस पर सूर्य आश्रित है, दूसरी चोटी चाँदी की है जिस पर चन्द्र आश्रित है। तीसरी बर्फ़ से ढकी है। नास्तिकों को यह पर्वत दिखाई नहीं देता।

अलंकार=वक्रोक्ति।

दो० ९४—

चौथी आ वार=चौथी यह बारी है, जब मेरा उद्धार करने का अवसर आया है। चौथो बार कहने से कवि का आशय उपरोक्त ९१, ९२, ९३ दोहलों में वर्णित क्रम के उपरान्त यह कवि-कल्पित चौथी बारी है। यों तो विष्णु के शास्त्रोक्त दश अवतार पृथ्वी के उद्धार करने के लिए हुए हैं। उनके क्रम से यह चौथा अवतार नहीं है। दश प्रधान अवतार ये हैं:—

मत्स्यकूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ॥
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धकल्की च ते दशः ॥

वाहर (डिं०)=बचाव, शरणागत की रक्षा और उद्धार करना। अब भी राजस्थान में आपद्ग्रस्त प्रजा को आततायियों से बचाने के लिए राजा की ओर से "बाहर चढ़ने" की प्रथा है।

चत्रभुज=(सं० चतुर्भुज)=चार भुजायुक्त विष्णु का अवतार। आगे की पंक्ति में "शंख चक्रधर गदा सरोज" कह कर चारों भुजाओं के आयुध गिनाये हैं।

मुख करि=मुख से। हिन्दी में भी इस प्रकार करण और अपादान
विभक्ति में 'करि' का प्रयोग होता है।

किसूँ (डि०)=(सं० कीदृश, प्रा० कईस)=कैसे।

आलोज (डि०)=(सं० आलोच्य) प्रा० आलोज्ज=विवेचन, विचार
देखो दो० ५३, १३२।

अलंकार=वक्रोक्ति (शाब्दी)।

परिकर—"अन्तर्यामी" साभिप्राय विशेषण शब्द है। जो भगवान्
अन्तर्यामी हैं, उनको मुख से हृदय के भाव कहना वृथा है
और कहे भी कैसे जा सकते हैं।

दो० ६५—

तथापि=(सं०) संस्कृतप्रयोग।

तिणि (डिं०)=(सं० तेन) इसलिए।

त्रिया (डिं०)=(सं० स्त्री)=स्त्री। हिन्दी में भी प्रयोग होता है।
"तिरिया तेल हमीर हठ, चढ़े न दूजोबार।"

अनै (डिं०)=गुजराती में भी प्रयुक्त होता है। देखो पूर्व
दो० ११

आतुरी (सं०)=आतुरता।

राज (डिं०)=आप। देखो प्रयोग पूर्व दोहा ५६ में।

दुरी दिन=(सं० दुः+दिन) यह ऐसा दृष्टान्त है जिसमें
वयण-सगाई घटाने के लिए 'दिन' शब्द को उपसर्ग
"दुः" से पृथक् कर दिया है, जिससे 'दुर्दिन' एक शब्द होते
हुए भी भिन्न मालूम होते हैं।

नेडउ (डिं०)=(सं० निकटकः)—देखो प्रयोग पूर्व दोहा ४७ में।

नोट—इस दोहले में कवि ने स्त्री के नैसर्गिक स्वभाव का बड़ा
अच्छा चित्र खींचा है। भाव बड़े स्वाभाविक हैं।

अलंकार=समुच्चय। द्वितीय पंक्ति में हिन्दी में इस अलंकार का प्रसिद्ध उदा० "ग्रहग्रहीत पुनि वातवश... .." (तुलसी)।

दो०६६—

तै (डिं०)=(सं० सर्व० तै, सर्व० स का तृतीया बहु०)= उससे।

दीह (डिं)=(सं० दिवस) प्रा० और अपभ्रंश—दिअह, दीह, दिहाड़ा, दिअहड़ा।

त्रिणि (डिं)=(सं० त्रीणि)=तीन।

आड़ा (डिं०)=बीच में, अन्तर में। हिन्दी में अड़, आड़, आड़ा प्रयुक्त होते हैं। आड़े हाथों लेना, आड़े आना।

उदा० (१) सात समुद आड़ा पड़े मिलै अगाऊ आय।
(कबीर)

(२) मर्यादा आड़ी भई, आगे दियौ न राव।
(लक्ष्मण)

आ (डिं)=यह (स्त्री०) देखो दो० ५१ में।

घात (डिं०)=(सं० घात)—षड्यंत्र, चोट, प्रहार। हिं० उदा०

(१) चुकै न घात मार मुठभेरी। (तुलसी)।

(२) हित की कहौं न कहौं अंत समय घात की। (प्रताप)

नोट—आघात को आ+घात पृथक् पृथक् न पढ़कर एक साथ पढ़ने से भी यही अर्थ निकलता है।

आविसि (डिं०)=(सं० आगमिष्यति)=आवेंगे (भविष्यत् क्रिया)

आरात् (सं०)=शुद्ध संस्कृत प्रयोग=निकट। "आरात् दूर-समीपयो:"

दो० ९७—

सारङ्ग (सं०)=विष्णु का धनुष। शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

शिलीमुख (सं०)=बाण। हिं० उदा० "न डगै न भगै जिय जानि
शिलीमुख पंच धरे रतिनायक हैं।" (तुलसी)

चौ, कागलि, साँभलि—देखो नोट पूर्व दो० में।

दो० ९८—

सुग्रीवसेन—मेघपुहप—समवेग-बलाहक=श्रीकृष्ण के रथ के चार
घोड़ों के नाम। भागवत में—"समवेग"—की जगह चौथे
अश्व का नाम 'शैव्य' दिया है। 'समवेग' नाम कवि का
स्वयं कल्पित है।

हिं० उदा० "शैव्य बलाहक मेघपुष्प सुग्रीव बाजी रथ।"
(गोपाल)

इसै (डिं०)=(सं० ईदृश) इस प्रकार से, इस वेग से। इस
क्रिया-विशेषण का अपेक्षित सम्बन्धी वाक्य यह है:—(कि)
घर गिरि पुर साम्हा धावन्ति।" जिसके विषय में डॉ०
टैसीटरी ने अकारण सन्देह प्रकट किया है।

वहन्ति (डिं०)=(सं० वह) चलते हैं, गतिशील होते हैं।
हिन्दी में भी प्रयोग होता है, यथा:—उदा० (१) अस कहि
चढ्यौ ब्रह्मरथ माँही, श्वेत तुरग वहे रथ काँहीं। (रघुराज)
(२) बहइ न हाथ दहइ रिस छाती। (तुलसी)

खँति (डिं०)=डिङ्गल में 'ख्याँत', 'खाँत' शब्द, सावधानी, लगन,
चतुरता के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

खेड़ै (डिं०) = (सं० खेटनं) प्रा० खेटणउ=चलाना, खड़ना
(मारवाड़ी), गाड़ी चलाना।

साम्हा (डिं०) = (सं० सन्मुख) प्रा० सम्मुह, हिं० सांमुहा। हिन्दी-प्रयोग का उदा० "जनु घुघची वह तिल कर मूहाँ, विरहवान साँधो सामूहा"। (जायसी)

नोट—संस्कृतटीका पूर्वार्ध की दो पंक्तियों का अर्थ विचित्र ढङ्ग से करती है। सुग्रीवसेन = वानरसैन्यं। नै मेघपुहुप सम = इति नदीजलपूरसमये यादृग् वहति। बलाहकानां = वर्षाभ्राणां यादृशं तादृशं वेगवत्वमिति॥

हमारी समझ में यह कष्ट कल्पना है।

धरगिरि पुर साम्हा धावन्ति = वेगपूर्वक यात्रा का कितना स्वाभाविक वर्णन है। इसी प्रकार का वर्णन कालिदास के शाकुन्तल में है, जब मातलि दुष्यंत का रथ वेगपूर्वक आकाश-मार्ग में हाँकता है।

अलंकार = स्वभावोक्ति।

दो० ६९—

थम्भि (डिं०) = (सं० स्तंभनम्) प्रा० थम्भणं, डिं० थांभणउ = रोकना क्रि० के आज्ञा का रूप है।

औ (डिं०) = सर्वनाम संकेतबोधक। स्त्रीलिंग में "आ"। देखो पूर्व दो० "आ सु दुआरामती" (५१)।

इम—जिम (डिं०) = इस प्रकार—जिस प्रकार। एम, जेम रूप भी बनते हैं। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

अम्हीणो (डिं०) सम्बन्धकारक—मूँ, हूँ, मुझ, अम्ह का षष्ठीरूप = हमारा। उदा० "भूंडौ जिकौ अम्हीणौ भाग"। (पृथ्वीराज) 'हमीणौ' भी रूप बनता है।

नै (डिं०) = डिंगल में सर्वत्र उपयुक्त कर्मकारक का चिह्न = को। बोलचाल की मारवाड़ी में इसी प्रयोग में आता है।

दो० ७०—

रहिया (डिं०) = रह गये, रुक गये, विराम कर लिया। इसी प्रकार के प्रयोग के लिए देखो नोट दो० ४६ "रह रह कोइ वह रहो रह"।

सही (हिं०) = हिन्दी में साधारणत: ठीक, सत्य, सचमुच, वास्तव में, के अर्थ में प्रयोग होता है।

हिं० उदा० "प्रणतपाल पाए सही, जे फल अभिलाखे।" (तुलसी)

कीध, ढील (डिं०) = देखो नोट पूर्व दो० में।

इ = वड़ी (डिं०) = इतनी।

कई (डिं०) = (सं० कदापि) = कभी भी। डिं० में जई, तई, कई, का यदा, तदा, कदा के अर्थ में प्रयोग होता है।

थई (डिं०) हुई। व्रज भाषा में 'भई'। दूसरी 'थई' के प्रयोग से मालूम होता है कि 'धीर' को कवि ने स्त्रीलिंग माना है।

थई छींक......थई = यहाँ कवि ने हिन्दू जाति में और विशेषत: राजस्थान में प्रचलित एक विश्वास का स्वाभाविक उल्लेख किया है। किसी काम के आरम्भ में छींक होना अशुभ माना जाता है। छींक के साथ 'शतंजीव', 'चिरंजीव' उसके अशुभ प्रभाव का निराकरण करने के लिए कहते हैं। पाश्चात्य-जाति के कई लोग God bless thee (ईश्वर कल्याण करे) कहते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि छींक को अशुभ मानने का विश्वास विश्व-व्याप्त है।

चिन्तातुर होने पर छींक का होना शुभ लक्षण होता है, क्योंकि उससे चिन्ता मिट जाने का लक्षण अभिप्रेत होता है।

अलंकार = अनुमानप्रमाण—पूर्वार्ध में ।
हेतु—उत्तरार्ध में ।

दो० ७१—

चलपत्र = (सं०) पीपल का वृक्ष । इसे 'चलदल', अश्वत्थ' भी कहते हैं । पीपल के पत्ते थोड़ी सी हवा से चलायमान होने लगते हैं । अतएव यह नाम पड़ा ।

जिम, तिम = हिं० ज्यों, त्यों ।

आसन्न (सं०) = निकट, नज़दीक ।

धारणा (सं०) = आकृति, मुद्रा, ढंग, मन का विचार ।

तकन्ति (हिं०) = ध्यानपूर्वक देखती, तकती है । हिं० उदा० देखि लागि मधु कुटिल किराती, जिमि गँव तकइ लेउँ केहि भाँती । (तुलसी)

सकै न रहति—सकन्ति = मिलाओ—देखे बनै न देखते बिन देखे अकुलाय । (बिहारी)

दो० ७२—

सन्ति, मनसि } शुद्ध संस्कृत प्रयोग ।

श्यामा = देखो नोट दो० २९, ८० में ।

महन्ति = (सं० महती = महिमा, बड़ाई) अतएव गंभीर बात, संवाद । गुजराती में "माहिती" शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होता है । हिन्दी में भी प्रयोग मिलता है ।

हिं० उदा० "मातु पितु गुरु जननि जान्यौ भली खोई महति" (सूर)

कुससथली (डिं०) (सं० कुशस्थली) द्वारिका का नाम।
कहन्ति (डिं०) = (सं० कथयन्ति—प्रा० कहन्दि) कहते हैं।

दो० ७३—

वम्भण (डिं०) = (सं० ब्राह्मण) प्रा० वम्भण।
बीजौ (डिं०) = देखो नोट पूर्व दो० ५९ में।
कथ (डिं०) = (सं० कथन) = बात, कथा।
नमे (डिं०) = 'नम' का पूर्वकालिक रूप, 'कहे', 'वहे' की तरह। देखो पूर्व दो० में।
कही—कथ = मिलाओ—"स्रवण सुणी अरु साँभली" (भागीरथी के दोहे)

लिखमी आप······लागी = यहाँ "लिखमी आप" का विशिष्ट आशय यह है कि यद्यपि लक्ष्मीरूपा रुक्मिणी ने प्रत्यक्ष में उस संदेशवाहक ब्राह्मण को कुछ भी पारितोषिक नहीं दिया परन्तु जिस लक्ष्मी के कृपाकटाक्ष मात्र से लोगों का दरिद्र दूर हो जाता है वह यदि स्वयं विनीत होकर किसी के पाँव पड़े तो उस पुरुष के भविष्य में भाग्योदय का अनुमान किया जा सकता है।
अलंकार—उत्तरार्ध में काव्यार्थापत्ति।

दो० ७४—

चढ़िया (डिं०) = युद्ध के लिए चढ़ाई की, प्रस्थान किया। इस अर्थ में हिन्दी में भी प्रयोग होता है। उदा० "सूर नंद सों कहत यशोदा दिन आये अब करहु चढ़ाई।" (सूर)
सङ्करखण (सं०) = बलभद्र का नाम—'संकर्षण'। इन्होंने यमुना को हल से खींच लिया था।

कटकबंध (सं०)=कटक बाँधना, युद्धरचना, व्यूहरचना।

किध (डिं०)=(सं० कृत, प्रा० किध) किया।

घणा (डिं०)=(सं० घन) ज्यादा। हिन्दी काव्य में 'घना, घनी, घन, का प्रयोग होता है।

उजाथर (डिं०) हिं० उजागर का रूपान्तर=प्रसिद्ध, विख्यात, प्रकाशमान्, यशस्वी। हिं० उदा० (१) जाँबवान जो बली उजागर सिंहमार मणि लीन्हीं (सूर)

(२) सोइ विजई विनई गुण सागर, जासु सुजस त्रयलोक उजागर। (तुलसी)

संस्कृत और प० मारवाड़ी टीकाओं ने 'ओज+स्थिर', ओज में स्थिर, युद्धधीर, रणधीर यह अर्थ लिया है॥

कलहि (डिं०)=(सं० कलह=युद्ध) सप्तम्यन्त=युद्ध में।

एहवा (डिं०)=ऐसे (बहुवचन, सम्मान-सूचक) एकवचन...एहवो, एहड़ो (डिं०)

सहु (डिं०)=सभी। देखो प्रयोग दो० ११० में।

आखाढ़ सिध (डिं)=(सं०अक्षवाट०, प्रा० अक्खआड, अख्खाड़+सिद्ध) अखाड़े, मल्लयुद्धस्थान अथवा रणक्षेत्र में सिद्धहस्त वीर। संस्कृतटीका "उजाथर कलहि एहवा" का यों अर्थ करती है:—"ये ओजाथरइ इति संग्रामे धीरा: पुन: अेहावा इति अग्रेसरणयोग्या" यह कष्टकल्पना-मात्र है। पश्चिमी मारवाड़ी टीका के आधार पर यह मिथ्या कल्पना की गई है। प० मारवाड़ी टीका=जिके उजाथर संग्रामधीर, जे कलहे अेवाहा अग्रेसरी आगइ चालइ स्वामिभक्त ते साथे लीधा।"

अलंकार—उत्तरार्ध में—समुच्चय।

दो० ७५—

पिण (डिं०) = (सं० पुनः प्रा० पुण) यद्यपि, परन्तु, तो भी ।

जूजुआ (डिं०) = (फारसी० जुदा + जुदा) पृथक् पृथक्, अलग अलग ।

भेला (डिं०) = हिं० भेंट, भेड़ना, भिड़ना, भिलना-भेला = एकत्रित, इकट्ठा । हिं० उदा० "कृष्ण संग खेलब बहु खेला । बहुत दिवस मँह पड़िगो भेला ।" (रघुराज)

जण (डिं०) = (सं० जन) प्रा० जण । प्रसंग से यहाँ 'जण' का लाक्षणिक अर्थ 'सज्जन' लिया है । जिस प्रकार पूर्व दो० ५९ में "पात्र" का अर्थ कुपात्र लिया गया है ।

जोवण (डिं०) = (सं० जुषण) = देख-भाल करना, ध्यानपूर्वक देखना । देखो नोट पूर्व दो० ४३, ५० में "जोवै" पर ।

अलंकार—उत्तरार्ध में—देहरी दीपक "जोवण" क्रिया में ।

दो० ७६—

केवी (डिं०) = (सं० के + अपि) = कोई दूसरे । यहाँ पर प्रसंग से इन दूसरों का अर्थ 'दुर्जन' लिया है । शब्द का लक्षणार्थक प्रयोग है । संस्कृत टीकाकार "केवी दुर्जनाः इति" यही अर्थ लेता है । देखो इसी प्रकार का प्रयोग "जण" दो० ७५ ।

अवर (डिं०) = (सं० अपर) प्रा० अवर, हिं० और, अउर = दूसरे ।

वेदारथ = वेदवित् का 'वेदार्थ' कहने से आशय यह होता है कि जिस प्रकार वेदों में आध्यात्मिक गंभीर भाव भरे हुए हैं और जिस प्रकार वेदों का आशय ऐश्वर्य्य एवं विभूतिसम्पन्न है उसी प्रकार भगवान् का दर्शन भक्तों के लिए गंभीर आशय-पूर्ण है ।

जोग तत्त=योग के शास्त्रोक्त, आठ अंग माने गये हैं :—

यमो नियमश्चासनं च प्राणायामस्ततः परं ।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सार्धं समाधिना ।
अष्टाङ्गान्याहुरेतानि योगिनां योगसिद्धये ॥

उपरोक्त योग के अष्टांग, भगवान् से सायुज्य प्राप्ति करने के हेतु, साधन हैं। सबका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। अतएव योगेश्वरों का भगवान् को योगसाधनों का लक्ष्य रूप अर्थात् 'योगतत्त्व' रूप में देखना उपयुक्त ही है।

कामिणि कह······जोगेसवर=इसी प्रकार के भाव कविवर तुलसी-दास ने सीय-स्वयंवर के समय भगवान् के प्रभुत्व से विस्मित राजाओं के हृदय से प्रकट किये हैं :—

देखो :—"जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी"— उन भावों में और इनमें बहुत कुछ सामंजस्य है।

भगवद्गीता में भगवान् के विराट् स्वरूप को देखकर इसी प्रकार अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार देवता, असुर इत्यादि भगवान के स्वरूप को देखते हैं।

अलंकार—उल्लेख।

दो० ७७—

वीखे (डिं०)=(सं० वीक्ष्य)=देखकर।

आप पर (डिं०)=(सं० आत्मन्+पर)=हिं० परस्पर, अपने और दूसरे के बीच में। 'आपस्पर' राजस्थानी में 'परस्पर' के पर्याय के रूप में अब तक प्रयुक्त होता है।

हर (डिं०)=(सं० स्मर) प्रा० म्हर, हर=आकांक्षा, उत्कट इच्छा, स्मरण इत्यादि।

देखो इसी प्रकार का प्रयोग० पूर्व० दो० २९ में।

म (डिं०) = (सं० मा) मत। देखो० पूर्व० दो० ४५ में—'म म'।

अनि (डिं०) = (सं० अन्य) = दूसरे, अन्य।

रायहर (डिं०) = (सं० राज्यगृह) प्रा० राइहर, रायहर = राज्यकुल।

पुणै (डिं०) = कहते हैं। डिंगल में अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है—
उदा० "पाँचमौ वेद भाखियौ पीथल, पुणियौ उगणीसमौ पुराण"।

दो० ७८—

आवासि (डिं०) = (सं० आ + वास) = निवासस्थान में, डेरों में।

ऊभा (डिं०) = (सं० उत + भू) = खड़ा होना, खड़े हुए। हिं० में प्रयोग होता है। हिं० उदा०—"ऊभा मारूँ बैठा मारूँ, मारूँ जागत सूता।"(दादू)

राजा रै = राजा के यहाँ, राजा के घर पर—स्थान पर। इस प्रकार का मुहाविरा हिन्दी और अन्यान्य देश भाषाओं में प्रचलित है—जिसमें 'घर में,' 'स्थान में', इत्यादि पूरक शब्द अन्तर्हित रहते हैं। यथा, अँग्रेज़ी में 'I called at yours'।

रै (डिं०) = (सं० कृत्) विभक्ति चिह्न केर, एर = के, के यहाँ।

मनुहार (डिं०) = (सं० मन + हरण) = वह विनती जो किसी को प्रसन्न करने के लिए की जाती है, मनौआ, ख़ुशामद। हिन्दी में बहुतायत से प्रयोग होता है।

हि० उदा० (१) "मारौ मनुहारन भरी गारिउ भरी मिठाहि।" (बिहारी)

(२) कहत रुद्र मन माँहि विचारि, अब हरि की कीजै मनुहारि। (लल्लूलाल)

(३) सबै करति मनुहारि ऊधो कहियो हो जैसे गोकुल आवें। (सूर)

(४) सौहें कियेहू न सौहैं करे, मनुहार करेहु न सूध निहारे। (केशव)

अलंकार:—उत्तरार्ध में काव्यार्थापत्ति।

दो० ७९—

सीखावि (डिं०) गुजराती में क्रिया का प्रेरणार्थक रूप इस प्रकार "आवी" लगा कर बनता है। राजस्थानी में और गुजराती में बहुत से समान प्रयोग देखे जाते हैं।

आखै (डिं०)=(सं० आख्यायते) प्रा: आक्खाअइ, आखै=कहती है।

सुजि (डिं०)=(सं० सा+एव) वही। देखो 'सु' और 'जि' का पृथक् पृथक् प्रयोग प्राय: एक ही अर्थ में, पूर्व दो० १५ में।

जात्र (डिं०)=(सं० यात्रा)=देवदर्शनार्थ देवमन्दिर को जाना। देव-यात्रा। राजस्थान में 'देव=यात्रा' अथवा 'जात' को जाना अब तक मांगलिक प्रथा के रूप में सर्वत्र प्रचलित है। विवाह, पुत्रोत्पत्ति अथवा अन्य शुभ अवसरों पर देवताओं की 'जात' फिरी जाती है।

दो० ८०—

तदि=(सं० तदा) स्त्रीलिंग एवं सप्तमी विभक्तिद्योतक इकारान्त चिह्न सहित। अन्यत्र इसी अर्थ में 'तई' 'तइ' का प्रयोग हुआ है। देखो पूर्व दो० ६१, ६२, में।

दूवौ (डिं०)=(अरबी० दुआ = प्रार्थना)=आज्ञा। देखो पूर्व दो० ५८ में।

परसण (डिं०)=(सं० स्पर्शनम्)=मिलना, स्पर्श करना, आलिङ्गन करना, हिन्दी में बहुतायत से प्रयोग होता है।

प्री (डिं०) = (सं० प्रिय) = प्रिय, प्रियतम, प्यारा।

आरँभिया (डिं०) = (सं० आरम्भ-क्रिया प्रयोग) = आरंभ किया।
हिं० उदा० "अनरथ अवध अरंभ्यौ जब ते, अशकुन होत भरत कहँ तब ते। (तुलसी)

स्यामा = देखो नोट पूर्व दोहलों में।

दो० ८१—

कुमकुमै = (सं० कुंकुम) = (१) केशर, रोली, गुलाबजल।
(२) (तुरकी० कुमकुमा) = लाख का बना हुआ एक चपटा लट्टू जो अबीर-गुलाल से भरा हो।
उदा० चंदन कालकूट सम जानहु। कुमकुम पवि पहार इव मानहु। (मधुसूदन)
यहाँ (१) अर्थ में यह शब्द 'गुलाबजल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। हिं० उदा० "जहाँ स्यामघन रास उपायौ, कुमकुम जल सुखवृष्टि रमायौ।" (सूर)

मँजण (डिं०) = (सं० मज्जन) = नहाना। हिं० उदा० "मंजन फल पेखिय तत्काला" (तुलसी)।

वसत (डिं०) = (सं० वस्त्र) वस्त्र।

धौत (सं०) = शुद्ध संस्कृत प्रयोग—धुले हुए।

चिहुरे (डिं०) = (सं० चिकुर) = सिर के केश।
हिं० उदा० "छूटे चिहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर का मारी" (सूर)।

चुवण (डिं०) = (सं० च्यवन) प्रा० चवण, डिं० चुवणो, हिं० चूना, चूवना = टपकना, गिरना। हिं० उदा० "कोइ मुख शीतल नीर चुवत, कोई अंचल सों पवन डुलावै।" (जायसी)

छीणे (डिं०) = (सं० छिन्न) प्रा० छिण्ण, छीण = टूट जाने पर ।

छछोहा (डिं०) = अनुकरण शब्द । फुहार, फव्वारा ।

मखतूल (हिं०) = (सं० महर्घ + तूल) काला रेशम, जो क़ीमती होता है ।

गुण = (सं०) डोरा, सूत, तागा । हिन्दी में श्लिष्ट अर्थों में यह शब्द इस अर्थ में बहुधा प्रयुक्त होता है ।

गुणमोती (डिं०) = एक प्रकार का बहुमूल्य मोती-विशेष । जिस प्रकार 'गजमुक्ता', 'सीपमोती', 'सर्पमणि' होते हैं, उसी प्रकार यह भी है । राजस्थानी में "गुणमोती" विशेष सौन्दर्य्य और आभाद्योतक मोती की एक जाति गिनी गई है ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में ।

दो० ८२—

बिहुँ (डिं०) = (सं० द्वि) दोनों । डिङ्गल में और हिन्दी में बहुधा प्रयोग होता है । देखो० पूर्व, दो० १२ में ।

धूपणै (डिं०) = (सं० धूप) क्रिया—धूपना, डिं० धूपड़ो = धूप देकर सुवासित करना । राजस्थान में स्त्रियों के शरीर-शृङ्गार का यह एक अंग है । स्त्रियाँ गंध द्रव्य जला कर उनके सुगंधित धुएँ से धोये हुए स्वच्छ केशों को सुवासित करती हैं । हिं० उदा० "वास धूपि अगारन धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है ।" (मतिराम)

कारणै, लीधै (डिं०) = यहाँ सम्प्रदान विभक्ति के चिह्न की तरह मुहाविरे में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है = के लिए । जिस प्रकार हिन्दी में "लगि", "काज" का प्रयोग होता है—'तुम लगि', 'मारन काज' ।

मुगता (डिं०) = (सं० मुक्त) फैलाना, खुला करना, खोलना ।
चै, ची (डिं०) = मराठी प्रयोग, देखो नोट पूर्व दो० में ।
वागुरि (डिं०) = (सं०) वागुरा = मृग को फँसाने का जाल ।
जाणे = (डिं०) = उत्प्रेक्षा का चिह्न, मानो, जानो ।
अलंकार = उत्प्रेक्षा-उत्तरार्ध में ।

दो० ८३—

वाजोटा (डिं०) = (सं० वाद्य + पट्ट) मंच की तरह ऊँचा, बैठने की एक चौकी अथवा पटड़ा जो स्नान के लिए काम आता है। राजस्थानी भाषाओं में प्रचलित शब्द है।

रस (सं०) = रुचि, इच्छा, अनुरक्ति से। हिं० उदा० "जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि।" (तुलसी)

इतरै (डिं०) = इतने में ।

आली = (सं० आलि) = सखी सं० उदा० "अलमलमालि मृणालै ।"
आगलि (डिं०) = हिं० क्रि० विशेषण—अगला = सामने—आगे का। उदा० "आगल से पाछल भयो, हरि सों कियौ न हेत।"

आनन, आदरस = शुद्ध संस्कृत प्रयोग = मुख, शीशा ।

दो० ८४—

कंठपोत (डिं०) = गले में पहनने की पवित्री। स्त्रियों के गले में बाँधने का एक रेशमी अथवा ऊन का काले रङ्ग का डोरा। गले की कंठी जो काले काँच के मनकों, चीढ़ों अथवा गुरियों से पिरोई हुई होती है। उदा० "पतिव्रता मैली भली, गले काँच की पोत।" (कबीर)

कालिन्द्री = (सं० कालिन्दी) यमुना नदी का नाम ।

वलै़ा (डिं०) = (सं० वलयित) परिवेष्टित, घिरी हुई।

बड़गिरि (डिं०) हिमालय, पर्वतश्रेष्ठ।

सङ्खधर = विष्णु भगवान्, जिनके चार आयुधों में से एक शंख है।

एकणि (डिं०) = एक से।

समै भागि = बराबर भागों में; अर्थात् बराबर हिस्सों के बीच में से; बीच से।

अलंकार = संदेह—पूर्वार्ध में।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में।

दो० ८५—

कवरी = (सं०) = चोटी, स्त्रियों की वेणी के ऊपर शिखा का स्थान।
सं०—प्रयोग, उदा०—"दधती विलोलकबरीकमाननम्" (उत्तरचरित)

करम्बित = (सं०) = बीच बीच में सजा कर गुथी हुई।
सं० प्रयोग, उदा० "स्फुटतरफेनकदम्बकरंबितमिव यमुना-जलपूरं।" (जयदेव)

उतमंग (डिं०) = (सं० उत्तमाङ्ग) शीर्ष, सिर, मस्तक।

आधो अधि (डिं०) = डिंगल में मुहाविरा है "आधो आध"—पूरा पूरा आधा, बीचोबीच में।

कुँआरमग (डिं०) = हिन्दी में इसे आकाशगंगा; अँगरेजी में Milky way कहते हैं। देहाती लोग इसे किसी २ प्रदेश में 'आकाश का जनेऊ' और 'हाथी की डहर' कहते हैं। राजस्थान में देहाती लोगों का यह विश्वास है कि आकाश के बीचोंबीच जो यह घना तारकपुंज दिखाई देता है, उस मार्ग से कुँआरे (अविवाहित युवा पुरुष) रात्रि के समय में नमक ढोहते हैं। इसी लिए इसे 'कुमारमग' कुँवारे पुरुषों का मार्ग कहा गया।

संस्कृत-टीकाकार लिखता है "स्वर्गदण्डक इवाश्विने कार्त्तिके मासि नीरजस्के गगने श्वेतदण्डको दृश्यते।"

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० ८६—

अणियाला (डिं०) = हिं० अनियारे = अणीवाले, अणीदार, नोंकदार, नुकीले, तीखे। हिं० उदा० "अनियारे दीरघ नयनि किती न तरुणि समान" (बिहारी)।

खुरसाण (डिं०) = (सं० क्षुर + शाण) अस्त्र तेज़ करने का शाण अथवा सिल्ली। सं० उदा० "मणि: शाणोल्लीढ़:" (भर्तृहरि)

सिरि (डिं०) = हिं० 'सिर' (सप्तमी विभक्तिद्योतक इकारान्त) = ऊपर।

सजि (डिं०) = (सं०) = सज्जित किये गये हैं, तैयार किये गये हैं, तेज़ किये गये हैं।

वळे (डिं०) = (सं० वलय) फिर, और। 'वळी', 'वळे' डिंगल में इस अर्थ में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं।

वाढ़ दे = (सं० वाट = धार) धार तीक्ष्ण करके। हिन्दी में भी यह मुहाविरा इस अर्थ में प्रयुक्त होता है।

सिळो (डिं०) = (सं०) बाण या भाले की तीक्ष्ण अणी या नोक—यथा शिलीमुख = बाण। यहाँ पर, अंजन डालने की शलाका से आशय है।

सिली (डिं०) = (सं० शिला) डिंगल में स्त्रीलिंग की तरह प्रयुक्त होता है। एक प्रकार के पत्थर का टुकड़ा जिस पर अस्त्र तेज़ किये जाते हैं। शाण, शिल्ली।

वरि (डिं०) = के ऊपर। अन्यत्र यही शब्द "परि" के पर्याय रूप में उपयुक्त हुआ है। यहाँ पर यह सं० 'उपरि' का अपभ्रंश रूपान्तर की तरह प्रयुक्त हुआ है।

वालियौ (डिं०) = डाला, गिराया, उत्सर्ग करके छोड़ा। डिंगल में 'बाड़नो' 'बारनो' 'बालना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पश्चिमी राजस्थानी (मा०) टीका:—"जल वालियौ पाणी दीधउ"। संस्कृतटीका—"जलं दत्तं"।

अलंकार = पूर्वार्ध—रूपक।

उत्तरार्ध—उत्प्रेक्षा।

दो० ८७—

कुंकुं = (सं०) 'यहाँ कुंकुं' का अर्थ 'रोली' से है। मिलाओ प्रयोग पूर्व दो० ८१। हिं० उदा० "कुंकुं रङ्ग सुअंग जितो, मुख-चंद सों चंदन होड़ पड़ी है।" (तुलसी)

नेत्र-तिलक = (सं०) = शिवजी के ललाटस्थ तीसरे नेत्र के समान आकारवाला तिलक। अर्थात् गोल शून्य के आकार का तिलक या बिन्दो।

हर-निलाट-तिलक = शिवजी के ललाट पर विराजमान द्वितीया के चन्द्र के समान आकारवाला तिलक। अर्थात् अर्द्ध-चन्द्राकार तिलक।

बे (डिं०) = (सं० द्वि०), दोनों। अन्यत्र बिहुँ, बिबि, बिऊँ का प्रयोग इसी शब्द के रूपान्तर की तरह हुआ है।

काट काढे = काट निकाले, निकाल बाहर किये, निकाल दिये।

काढे (डिं०) = (सं० कर्षण, प्रा० कडढ़ण) हिन्दी में प्रयोग होता है। हिं० उदा० (१) "मीन दीन जल ते जनु काढ़े"।

(२) "खनि पताल पानी तहँ काढ़ा, छीर समुद्र निकसा हुत बाढ़ा"। (जायसी)

संस्कृत-टीकाकार—"काटशब्देन दोषं"—अनुमान से यह अर्थ लेते हैं। हमारा उपरोक्त अर्थ ज्यादा स्पष्ट है।

कलँक धूम काढ़ बे काट = कलंक तो "हर-निलाट-तिलक" में से निकाला क्योंकि वह चन्द्राकार है और चन्द्रमा कलंकयुक्त है। धूम, 'नेत्र-तिलक' में से निकाला क्योंकि शिवजी का तीसरा नेत्र क्रोधाग्नि से ज्वलन्त है और उससे उन्होंने कामदेव को भस्म किया था। अग्नि धूम्रयुक्त होती है अतएव उसका यह दोष भी निकाला।

अलंकार = व्यतिरेक-पूर्वार्ध में (उपमान का अपकर्ष)।

दो० ८८—

मुख सिख सँधि = मुखमण्डल और सिर की सन्धि का स्थान अर्थात् दोनों के बीच का अंग = लिलाट।

तिलक = भाल पर पहनने का स्त्रियों का एक गहनाविशेष।

रतनमै = (सं० रत्नमय) "मै" का इस प्रकार लघु-प्रयोग हिन्दी में भी कहीं कहीं मिलता है। यथा उदा०—

"श्रम शीकर साँवरी देह लसै, मनो रासि महातम तारक मै ॥" (तुलसी)

गलि पूठि = (सं० गलपृष्ठ) = गले के पृष्ठ-भाग में अर्थात् गले के पीछे।

सं० पृष्ठ—प्रा० पुट्ठ, हिं० पीठ।

हूँतौ (डिं०) = था। देखो नोट० पूर्व० दो० में। हिं० उदा० "छीर समुद निकसा हुँत बाढ़ा"। (जायसी)

भालियलि (डिं०) = (सं० भाग्य + फलक) = ललाटपट्ट, ललाट।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० ८९—

जूँ (डिं०) = (सं० युज्, प्रा० जुअ) हिं० जुआ = बैलों के गले पर की छकड़ा जोड़ने की लकड़ीविशेष।

सहरी (डिं०) = (सं० सदृशी—प्रा० सरिसी) = के समान।

भ्रूह (डिं०) = (सं० भ्रू) हिं० भौंह, भ्रू, भँवारे।

विसहर (डिं०) = (सं० विषधर—प्रा० विसहर) = साँप।
हिं० उदा० "विसहर सी लट सौं लपटि मो मन हठि लपटाति" (मुबारक)

रासि (डिं०) = (अरबी शब्द) घोड़े की लगाम, बागडोर। (सं० रश्मि—प्रा० रस्सि) हिं० रास।

वाळी (डिं) = (सं० वलय) डिंगल में स्त्रीलिंग प्रयोग होता है = सोने के पतले तार का बना हुआ चक्राकार, कान में पहनने का एक गहना।

बाँकिया (डिं०) = (१) रथ के चक्र के आगे वह धनुषाकार टेढ़ा लकड़ी जिस पर धुरी टिकती है।
(२) बाँकिया—नरसिंघा के आकार का बजाने का एक वाद्य भी होता है।

ताटंक = (सं० ताटक) = तरकी, तर्यौना, कर्णफूल; कान में पहनने का गहनाविशेष। पहले यह ताड़ के पत्तों से बनता था। अतएव इसका नाम ऐसा पड़ा।
"अज्यौं तरयौना ही रह्यौ"। (बिहारी)

चक्र = (सं०) रथचक्र, पहिया।

अलंकार = उपमा—"जूँ सहरी भ्रूह"।
रूपक—"नयण मृग"।
सन्देह—द्वितीय पंक्ति।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्ध में।

दो० ६०—

इभकुँभ = (सं०) हाथी का कुंभस्थल ।

अन्धारी (डिं०) = हिं० अन्धेरी; घोड़े, हाथी अथवा बैलों की आँखों पर डालने का परदा ।

कंचुकी = (सं०) स्त्रियों के वक्ष:स्थल पर पहनने का एक वस्त्र । हिं० उदा० "कंचुकि पट सूखत नहीं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे" । (सूर)

आगमि = (सं०) सप्तम्यन्त इकारान्त = आगमन में, स्वागतार्थ ।

वारगह (डिं०) = (सं० वारि + ग्रह) (१) पानी को ग्रहण कर, उससे जो बचाते हैं—अर्थात् तम्बू ।

(२) (सं० वारण + गृह) = हाथियों को बाँधने का स्थान—पायगाह ।

पहले अर्थ का समर्थन संस्कृत टीका यों करती है :—

"पटकुटीयुगल रचितमिव" ।

दूसरे अर्थ का प्रयोग करने से अन्तिम पंक्ति का यह आशय होगा :—मानो कुचरूपी हाथियों को उनके स्थान में गजबंधिनी डोरों अथवा साँकलों से बाँध दिया है ।

वंधण (डिं) = (सं० बंधन) = बाँधने की डोरें; बंधन ।

कलह, दीध = युद्ध, दिया । 'कलह' के प्रयोग के लिए देखो नोट ७४ पूर्व दो० में ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा, उल्लेख, रूपक ।

इभकुंभ......कलह (पूर्वार्ध) का मिलान करो :—

"जाली की आँगी कसी यों उरोजनि, मानो सिपाही सिलाह किये द्वै ।" (मन्नालाल)

दो० ९१--

कंठसरी (डिं०) = (सं० कंठ + सरि) = कंठ का माला, कंठी ।

अन्तरिख (डिं०) = (सं० अन्तरिक्ष) = अन्तर्धान, गुप्त, अप्रकट ।
हिं० उदा० "भखे ते अन्तरिक्ष रिक्ष लक्ष लक्ष जातहीं ।"
(केशव)

हूँती (डिं०) = से—अपादान विभक्ति चिह्न—देखो प्रयोग, नोट पूर्व दो० ७२ में ।

कल = (सं०) = मनोहर ।

सरि = (सं०) = मोती की माला, लड़ी ।

नोट—गले में सरस्वती का वास और सुन्दर "कंठसिरी" कंठी का वास होना, उत्प्रेक्षा की साङ्गोपाङ्ग उपयुक्तता को प्रदर्शित करते हैं । श्रीरुक्मिणी इस समय प्राणप्रिय हरि से मिलने के लिए ही शृङ्गार सजा रही थीं । उनके हृदय में मनमोहन की मोहिनी भावना बस रही थी । अतएव उनकी मनोगत वाणी प्राणप्यारे हरि के गुणों का ही निरन्तर गान करे, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है । मानो, अपने मनोगत भावों को कंठी के मोतियों के रूप में लिये हुए रुक्मिणी की कंठस्थ गिरा (सरस्वती) ही 'कंठसिरी' (कंठी) के रूप में प्रतिबिम्बित होती हुई दृष्टिगोचर हो रही है । उत्प्रेक्षा अत्यन्त मनोज्ञ है ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० ९२—

बाजूबँध (डिं०) = (फारसी० बाजू) = भुजबंध, एक प्रकार का भुजा पर पहनने का गहना ।

सिरी (डिं०)=(सं० श्री)=(१) शोभा, कान्ति।

(२) हिं० 'सिरा'=किनारा, छोर, अन्त, प्रान्तभाग।

पाट=(सं० पट्ट-पाट)=रेशम। यथा—'पाटम्बर' शब्द में।

हीँडि (डिं०)=(सं० हिंडनम्)=झूलना, घूमना, भ्रमण करना।

हीँडलै (डिं०)=(सं० हिन्दोल-हिंडोल)=झूलों में।

श्रीखंड=(सं०)=चन्दन।

किरि (डिं०)=उत्प्रेक्षा का चिह्न—मानो।

अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो० ९३—

गजरा (डिं०)=कलाई पर पहनने का स्त्रियों का एक गहना। हिं० उदा० छाप छला मुँदरी झमकै, दमकै पहुँची गजरा मिलि मानो। (गुमान)

नवग्रही=(सं०) नवग्रहों के सूचक, नव प्रकार के रत्नों से जटित, नवरत्नी नाम का गहना, जो कलाई पर पहना जाता है। पुराणों में दिये हुए ज्योतिष के प्रमाणों के अनुसार नवरत्न पृथक् पृथक् एक एक ग्रह के दोषों की शान्ति करने के लिए उपकारी होते हैं; यथा:—

सूर्य की शान्ति के लिए लहसुनिया।

बुध..................पुखराज	राहु की शान्ति के लिए गोमेद
शनि ....नीलम	मंगल...............माणिक्य
चंद्र..................मोती	शुक्र ....हीरा
बृहस्पति ....मूँगा	केतु ....पन्ना

प्रोंचिया (डिं०)=हिं० पहुँची=कलाई पर पहनने का कँगूरेदार अथवा दानेदार एक गहना। हिं० उदा० "पग नूपुर औ पहुँची कर कंजन, मंजु बनी वनमाल हिये। (तुलसी)

प्रौंचे (डिं०)=(सं० प्रकोष्ठ)=अग्रबाहु और हथेली के बीच का भाग, कलाई, मणिबन्ध। हिं० उदा० "छिल छिगुनी पहुँचो गिलत" (बिहारी)।

वल़े (डिं०)=(सं० वलयित) पहनी, धारण की।

वल़ै (डिं०)=(सं० वलय) वलयन सूत्र; वह काला रेशमी डोरा जिससे पहुँचियाँ गूँथी जाती हैं।

वलि़त (डिं०)=गुँथी गई थी। परिवेष्टित थी।
हिं० उदा० "कंटक वलित तृन वलित बिंधजल।"
(केशव)

हसत नखित्र (डिं०)=हस्तनक्षत्र। ज्योतिष के अनुसार नक्षत्र-मंडल का एक नक्षत्र जिसमें पाँच तारे सम्मिलित होते हैं और जिसका आकार आकाश में खुले हुए हाथ के पंजे की तरह माना गया है। अतएव रुक्मिणी के हाथ के पंजे को हस्त नक्षत्र की उपमा देना अत्यन्त युक्तिसंगत है।

नक्षत्र=चन्द्रमा के पथ में पड़नेवाले तारों के गुच्छ या समूह को, जिसकी पहचान के लिए उसके आकार से मिलता-जुलता कोई नाम निर्दिष्ट किया जाता है, नक्षत्र कहते हैं। इन नक्षत्रों को ग्रहों से भिन्न समझना चाहिए, जो सूर्य की परिक्रमा करते हुए उसके पथ में पड़ते हैं। नक्षत्र चन्द्रमा से सम्बन्ध रखते हैं और २७ हैं। ग्रह सूर्य से सम्बन्ध रखते हैं और १२ हैं। चन्द्रमा २७-२८ दिन में पृथ्वी के चारों ओर घूम जाता है। खगोल में यह भ्रमण-पथ इन्हीं तारों के बीच से होकर पड़ता है। सारा पथ इन २७ नक्षत्रों में विभक्त होकर नक्षत्र-चक्र कहलाता है।

नोट—हस्तनक्षत्र-समूह में जब चन्द्रमा का प्रवेश होता है तो वह शुभ-सूचक माना गया है। इस प्रसंग में रुक्मिणी के लिए विवाह-सूचक है।

वेधियौ (डिं०)=(सं० वेधन) वेध लिया है, पार कर लिया है।

हिमकरि=चन्द्रमा में।

आवरित=(सं० आवृत्त)=घिरा हुआ।

हसत......हिमकरि=रुक्मिणी का हाथ-रूपी हस्तनक्षत्र गजरा-नवग्रही-प्रोंचिया रूपी गोलाकार चन्द्र को पार कर गया है। उत्प्रेक्षा युक्ति-संगत है।

अलंकार=उत्प्रेक्षा।

दो० ९४—

आरोपित=(सं०) धारण किये हुए। सं० उदा० "हारो नारोपितो मया विश्लेषभीरुणा"।

लहै (डिं०) (सं० लभते) प्रा० लहइ-लहै=प्राप्त करता है। हिन्दी में इसका बहुतायत से कविता में प्रयोग होता है।

तिणि (डिं०)=(सं० तेन)=इसलिए।

नाँखै (डिं०)=डालता है। हिन्दी में भी इस अर्थ में प्रयोग होता है। उदा० "जो उर झारन ही झरसी, मृदु मालती माल वहै मग नाखै।"

रज तिणि सिर नाखे गजराज—मिलाओ—"पद्मिनि गवन हंस गये दूरी। हस्ति लाज मेलहि सिर धूरी॥" (जायसी)

अलंकार=हेतूत्प्रेक्षा।

नोट—डा० टैसीटरी ने "उरुस्थल" पाठान्तर लिया है, जो असंभव है। 'उरु' का अर्थ 'जंघा' होता है। और यहाँ 'जंघा' से

आशय न होकर 'वक्ष:स्थल' से है। 'उरस्थल' सब तरह से ग्राह्य पाठान्तर है।

दो० ९५—

धरिया (डिं०)=(सं० धारिता) धारण किये हुए।

वाखाणण (डिं०)=(सं० व्याख्यान)=व्याख्या करने में, वर्णन करने में।

किमत्र (सं०)=शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

भति (डिं०)=हिं० भाँति=तरह, सदृश।

वसत्र (डिं०)=(सं० वस्त्र) दो० ८१ में "वसत" प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार=उपमा—उत्तरार्ध में।

दो० ९६—

क्रिसा अंग=(सं० कृशाङ्ग)=पतली, कृश अंगवाली।

मापित (डिं०)=(सं० मी=नापना) हिं० मापी हुई।

करग्र (डिं०)=(सं० करग्र)=हाथ का अग्र-भाग, हथेली। 'कर' के साथ दूसरा शब्द जोड़ा जाने पर जो यौगिक शब्द बनता है, उसका आशय—"अँगुली-सहित हथेली" होता है। यथा 'करपल्लव'। देखो प्रयोग पूर्व दो० २३ में—'करग'।

कटिमेखला=(सं०) कटि में पहनने का एक गहना, करधनी।

समरपित=(सं०)=धारण की हुई है, पहनी हुई है।

भावी-सूचक=(सं०) भवितव्यता को बतानेवाले। भविष्य में अवश्य होनेवाली बात को "भावी" कहते हैं। भविष्यवादियों का विश्वास है कि कुछ घटनायें या बातें ऐसी होती हैं जिनका

भविष्य में होना पहले से ही किसी अदृश्य शक्ति द्वारा निश्चित होता है। हिं० उदा०—"भावी काहू सों न टरै। कहँ वह राहु कहाँ वह रवि शशि आनि सँजोग पड़ै।" (सूर)

ग्रह-गण = नवग्रहों का समूह। ग्रह ये हैं :—रवि, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु।

सिंघराशि = आकाश में पृथ्वी जिस मार्ग से होकर सूर्य की परिक्रमा करती है वह "क्रान्तिवृत्त" कहलाता है। इस क्रान्तिवृत्त में पड़नेवाले विशिष्ट तारा-समूह जिनकी संख्या ज्योतिष के अनुसार १२ हैं, "राशि" कहलाते हैं। इनके नाम नक्षत्रों के नामों की तरह, तारा-समूह की आकृति के अनुसार ही रखे गये हैं। १२ राशियाँ ये हैं। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ, मीन। इनमें 'सिंह' राशि का पाँचवाँ स्थान है।

भेळा (डिं०) = एकत्रित। देखो पूर्व दो० में "भिळति" का प्रयोग।

थिया (डिं०) = हुए।

भावी......ग्रहगण सकल = श्री रुक्मिणी का नाम रकार से आरम्भ होता है। अतएव उनकी राशि तुला हुई। सिंहराशि (अर्थात् सिंह की कटि के समान रुक्मिणी की कटि) पर ग्रहों (नवरत्नों से जटित कटि-मेखला का धारण करना) का आ जाना, रुक्मिणी के लिए ज्योतिष के प्रमाण से शीघ्र ही किसी बड़े लाभ होने की शुभ सूचना देता है। कटि-मेखला में जटित नवरत्नों के मिस से मानो सिंहराशि-रूपी कटि पर आये हुए शुभ ग्रह सूचना दे रहे हैं कि अब शीघ्र ही उनकी मनोकामना सिद्ध होगी और पतिरूप में आनन्दकन्द भगवान् प्राप्त होंगे।

नोट—दो० ६३ तथा ६६ में कवि ने अपने ज्योतिष के गंभीर ज्ञान एवं रुचि का परिचय दिया है। "वेलि" के अन्त में दो० २६६ में "जोतिखी वैद पौराणिक जोगी" का आशय समझने के लिए पाठकों को इन दोहलों पर ध्यान देना चाहिए।

अलंकार=अत्युक्ति—द्वितीय पंक्ति में।
उत्प्रेक्षा—समस्त में।

दो० ६७—

चामीकर=(सं०) सोना, धतूरा।

नूपुर=(सं०)=पैरों में पहनने का एक गहना। उदा०—"कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि"। (तुलसी)

घूघरा (डिं०)=(अनुकरण शब्द) घुँघरू—नाचने के समय पहनने का एक गहना; मंजीर।

सजि=(सं० सज्ज) धारण किये, पहने, सजे। हिं० उदा०—"तीज परब सौतिन सजे, भूषन वसन शरीर"। (बिहारी)

पहराइत (डिं०)=(सं० प्रहरी) हिं० पहरुआ, पहरेदार। मिलाओ: हिं० उदा "काम पठाये पहरुआ निस दिन पहरा देत।" (रतिरानी)

कजि (डिं०)=(सं० कार्यम्)=के लिए, के निमित्त। हिं० उदा०—"भक्तन काजि लाज धरि हिय में पाँव पयादे धाऊँ॥ (सूर)

भमर (डिं०) = (सं०) भ्रमर, भौंरा।

तणा (डिं०) = सम्बंधकारक का चिह्न। देखो नोट पूर्व दो० २३ में। मिलाओ, बिहारी के इस दोहे के भाव से—'दृग पग पोंछन को किये भूषण पायंदाज'। (बिहारी)

अलंकार = उत्तरार्द्ध में—गम्योत्प्रेक्षा।

दो० ९८—

दधि (डिं०) = (सं० उदधि) प्रथम 'उ' का विकल्प करके लोप। =समुद्र। इस अर्थ में 'दधि' का प्रयोग सूरदास ने बहुतायत से किया है। हिं० उदा०—

(१) दधिसुत जामें नंद दुवार। (सूर)

(२) राधा दधिसुत क्यों न दुरावति। (सूर)

वीणि लियौ = (सं० विनयन) हिं० बीन लेना = चुन लेना।
हिन्दी० उदा०—सुंदर नवीन निज करन सों बीन बीन,
येला की कली ये आजु कौन छीन लीन्ही है। (प्रताप)

जाइ (डिं०) = (सं० यत्) जिसको। 'जाइ-ताइ' का पारस्परिक आपेक्षिक सम्बन्ध में प्रयोग होता है।

वणतौ (डिं०) = (सं० वर्णन, प्रा० वण्णण) शोभित होता हुआ। इस अर्थ में हिन्दी "बनना" का प्रयोग होता है:—
उदा० "व्रज नव युवति कदम्ब मुकुटमणि श्यामा आजु बनी।" (हितहरि)

दीठौ (डिं०) = (सं० दृष्ट) प्रा० दिट्ठ = देखा।
साखियात (डिं०) = (सं० साक्षात्) = साक्षात्, प्रत्यक्ष, ठीक-ठीक।
ससत (डिं०) = (सं० ससत्य) = सचमुच, निस्सन्देह।
गुणमय (डिं०) = एक प्रकार का मोती जिसे डिंगल में गुणमोती कहते हैं। देखो प्रयोग पूर्व दो० ८१ में।

मुताहल (डिं०)=(सं० मुक्ताफल) प्रा० मुत्ताहल=मोती का दाना।

निहसति (डिं०)=(सं० नि+हसति)=बड़ा हँसता सा है—लाक्षणिक अर्थ में,—शोभा देता है।

शुक=शुकदेव मुनि। देखो पूर्व दो० ८ का नोट।

भागवत=अठारह पुराणों में से एक पुराण, जिसमें १२ स्कंध, ३१२ अध्याय और १८००० श्लोक हैं। अधिकांश कृष्ण के प्रेम और भक्ति की कथायें हैं। यह वेदान्त-दर्शन का तिलक (टीका) स्वरूप भी माना जाता है। सनातनधर्मी हिन्दुओं में अन्यान्य पुराणों की अपेक्षा इसका ज़्यादा आदर है। विशेषत: वैष्णवों के लिए यह धर्म-ग्रन्थ है। इसे महा-पुराण भी कहते हैं। वेलि का आधार इसी के दशम स्कंध के कुछ अध्यायों से लिया गया है। पश्चिमी राजस्थानी (मा०) टीका ने 'ससत' और 'निहसत' का भिन्न अर्थ किया है। 'ससत आघर पाछउ हालतउ'। 'निहसत लटकतउ सोभइ'।

नोट—समुद्र में से शोध कर सौन्दर्य आदि गुणों में अत्यन्त मनोहर मोती को रुक्मिणी की नासिका में धारण करने योग्य समझ कर प्राप्त किया था। वह सुन्दर तो पहले से ही था, पर रुक्मिणी के धारण करने से सौन्दर्य और गुण में और ज़्यादा बढ़ गया। अतएव अपने नाम 'गुणमोती' को सार्थक करने लगा। यों तो, मोती किसी स्त्री के सौन्दर्य्य को बढ़ाता है, परन्तु यहाँ मोती के सौन्दर्य्य को बढ़ा कर रुक्मिणी ने उसे 'गुणमय' कर दिया।

उत्तरार्ध का एक दूसरा अर्थः—इस प्रकार सौन्दर्य्य को बढ़ाता हुआ वह गुणमोती रुक्मिणी की नासिका में क्या भूल रहा है मानो रुक्मिणी की नासिका के समान सुन्दर कोई तोतो अपने मुख से मोती के समान उज्ज्वल भगवान् के गुणों का बारंबार गान कर रही है। बार बार उसके मुख से "हरे कृष्ण, हरे कृष्ण !!" की ध्वनि हो रही है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० ६६—

कोकनद = (सं०) लाल कमल।

तँबोल (डिं०) = (सं० ताम्बूल) = पान, बीड़ा।

मझि (डिं०) = (सं० मध्ये) प्रा० मज्झे। सप्तमी इकारान्त।

किंजल्क = (सं०) = पद्मकेशर, केशर। हिं० उदा०—

"किंजल्क वसन किशोर मूरति, भूरि गुण करुणाकरम्।" (तुलसी)

तसु (डिं०) = (सं० तस्या) उसके, अपने।

बीड़ौ (डिं०) = (सं० वीटकः) प्रा० बीडउ = पान का बीड़ा। हिं० उदाः—"बीरा खाय चले खेलन को मिलि कै चारों बीर। (सुर)

कीर—क्रीड़न्ति = "जाती" का दूसरा अर्थ "जाति" से 'सजातीय' लेकर एक अर्थ यह भी होता है :—रुक्मिणी का चमेली की डाल के समान कोमल हाथ है, जिस पर उँगलियों के नखरूपी श्वेत पुष्प लगे हैं। इनके सन्निकट बैठा हुआ

बीड़ारूपी एक तोता, पास ही बैठी हुई नासिका रूपी तोती (शुकि) के साथ प्रेम-क्रीड़ा कर रहा है।

इस अर्थ का समर्थन संस्कृत-टीका करती है।

अलंकार = उपमा—पूर्वार्ध में।

उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १००—

सिणगार (डिं०) = (सं०) शृङ्गार।

देहरा दिसि = (सं० देवगृह) प्रा० देवहर। हिं० देहरा = देवालय की ओर। हिं० उदा० "नेव बिहूणा देहरा, देव बिहूणा देव। (कबीर)

होड़ (डिं०) = हिं० होड़ = स्पर्धाभाव, ईर्षा।

मनकीधौ (डिं०) = मन किया, इच्छा की। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है। उदा० "मन न मनावन को करै देत रुठाय रुठाय।" (बिहारी)

मोती लगि = (सं० मुक्ता + लग्ना) मोती जटित, मोती लगी हुई।

पाणही (डिं०) = (सं० उपानह) = जूती।

उदा० बिनु पानहि पयादेहि पाये, संकर साखि रहेउ यहि धाये। (तुलसी)

अलंकार = कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १०१—

नीलम्बर = नीलवस्त्र, नाले वर्ण का चीर।

अबल (डिं०) = (सं० अवलि) = पंक्ति, कतार, समूह।

नग (डिं०) = हिं० नग—रत्न, नगीना, जवाहिरात।

सञोई (डिं०) = (सं० संयोजित) प्रा० संजोइअ = सुसज्जित की है। यहाँ प्रसंग से "जलाई है" यह अर्थ लगता है। राजस्थानी

में दीपक जलाने को "दीवो संजोवणु" लिखते, बोलते हैं। हिन्दी में भी यह मुहाविरा प्रयुक्त होता है—उदा० "सूर संजोइल साजि सुबाजि, सुसेल धरे बगमेल चले हैं"

(तुलसी)

उदित = (सं०) प्रकाशमान, उज्ज्वल, कान्तिमान्।

मदन दीपमाला मुदित = कामदेव ने मुदित होकर आभूषणरूपी दीपमाला क्यों प्रज्वलित की? रुक्मिणी के शरीर का आश्रय पाकर अब उसे आत्मगौरव का भाव होने लगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

उत्तरार्द्ध में "कोमकान्तपदयोजना" का सौष्ठव और शब्द-माधुर्य्य देखते ही बनता है।

दो० १०२—

किहि (डिं०) = (सं० कस्मिन्) प्रा० कहिं = किसी के। हिन्दी में भी इसका प्रयोग होता है।

करगि, करि (डिं०) = दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। 'करगि' का अर्थ हाथ का अग्र-भाग, हथेली है।

कुमकुमौ (डिं०) = गंगाजल का पात्र। इसी अर्थ में "कुमकमै मंजण करि"......दो० ८१ में प्रयोग देखो।

"कुमकुमौ" और "कुङ्कुम" दोनों का एक साथ प्रयोग करके कवि ने इनका अर्थ-वैभिन्य स्पष्ट कर दिया है। "कूँकूँ" पूर्व दो० ८७ में 'रोली' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अरगजौ = एक प्रकार के पीले रङ्ग का मिश्रित सुगन्धित द्रव्य जिसका शरीर में लेपन किया जाता है। यह केशर, चन्दन, कपूर आदि के मिलाने से बनता है।

हिं० उदा० (१) लाल तिहारो अरगजा, उर ह्वै लग्यो अबीर। (बिहारी)

(२) खर को कहा अरगजा लेपन मर्कट भूषण अंग॥ (सूर)

पान = हिं० पान = पान का बीड़ा, ताम्बूल।

धूप = (सं०) जलाने का एक सुगन्धित द्रव्य।

डा० टैसीटरी 'धूप' की जगह "धोति" पाठान्तर देते हैं जो प्रसंग में यथास्थान नहीं जँचता।

अलंकार = उल्लेख।

दो० १०३—

चकडोल़ (डिं०) = (सं० चक्र + दोला) एक प्रकार की जनानी पालकी। इसका राजस्थान में बड़े घरानों में प्रयोग होता है। हिन्दी में इसका पर्याय 'महाडोल' है। पालकी, शिबिका। उदा० "महाडोल दुलहिन के चारी, देहु बताय होउ उपकारी" (रघुराज)

लगै (डिं०) = डिङ्गल में यह अव्यय दिशासूचक अर्थ में प्रयुक्त होता है = की ओर; की तरफ़।

तै (डिं०) = उसकी, जिसकी। देखो प्रयोग पूर्व दो० ६६ में। 'तइ' का रूपान्तर है।

मूँ (डिं०) = मैं। पूर्व दो० ६२ में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

सील़ आवरित लाज सूँ = शील की मूर्त्ति रुक्मिणी अपनी सखियों रूपी मूर्त्तिमान् लज्जागुण से घिरी हुई है। रुक्मिणी के चारित्रिक शील का कैसा दिव्य आदर्श कवि ने स्थापित किया है। "शीलं परं भूषणं" नारी के चरित्र का आदर्श

शील ही में व्यवस्थित रहता है और शील का एक बाह्य लक्षण लज्जा है। उत्प्रेक्षा की मनोज्ञता पर मनन करना चाहिए।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १०४—

आइस्यै (डिं०) = (सं० आयसु) = आज्ञा। हिन्दी में प्रयोग :—
"आयसु दीन्ह मोहिं रघुनाथा" (तुलसी)

जाइ (डिं०) = (सं० यः + हि) हिं० जाहिं = जिसको।

तुरी (डिं०) = (सं० तुरग)—(अरबी० तुरय) = घोड़ा (स्त्री०)

लागि (डिं०) = हिं० लगती = योग्य। अपने अपने लगती अर्थात् अपने अपने योग्य। हिन्दी में मुहाविरा भी है:—"तुम्हारे लगै, वैसा करो।"

ताकि = हिं० ताकना = ताककर, देख-भाल कर।

सिलह = (अरबी० सिलाह) = जिरहबख्तर, कवच। हिं० उदा० "आपु गुसल करि सिलह करि, हुवै नगारे दोइ। (सूदन)

गरकाब = (फ़ारसी० ग़रक़ाब) = डूबा हुआ, निमग्न, ढका हुआ।

सँपेखी (डिं०) = (सं० सं० + प्रेक्ष्य) देखे जाते हैं, दीखते हैं।

जोध (डिं०) = (सं० योद्धा) = योद्धा।

मुकुर = (सं०) = दर्पण, आईना।

नोट—इस दोहले की दूसरी पंक्ति में 'लाग' शब्द को संस्कृत धातु "लग" ('वेग' के अर्थ में) का पर्याय समझा जाय और 'ताकि' को डिंगल 'तारखि' (जिसका अर्थ 'गरुड़' होता है)

समझा जाय तो इस पंक्ति का अर्थ होगा—"गरुड़ के समान वेगवाले घोड़ों को लेकर"।

अलंकार = उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो १०५—

रखपाल (डिं०) = हिं० रखवाला, रक्षक, अंगरक्षक।

पाइदल (डिं०) = (सं० पाद + तल) प्रा० पायदल। हिं० पैदल = पैदल सैनिक।

पाइक (डिं०) = (सं० पादातिक) = पैदल सिपाही। हिन्दी में रूढ़ अर्थ में 'पायक' का अर्थ नौकर होता है। उसी अर्थ में यहाँ भी प्रयोग हुआ है।

उदा०—"है दसशीश मनुज रघुनायक, जाके हनूमान से पायक" (तुलसी)।

हिलवलिया (डिं०) = हिं० हड़बड़ाये (अनु० शब्द) = उत्तेजित होकर चले, उतावले हुए।

हलिया (डिं०) = (सं० हल्लन) = चलायमान हुए, चले। (हिं० हिलना, हिले)

गमे गमे (डिं०) = (अनुकरण-शब्द) = घमघम करते हुए।

मदगलित = (सं०) = मद झरता है जिनके, मदमत्त।

गुड़न्ता (डिं०) = (अनु० शब्द) लुढ़कते हुए, झूमते हुए, मस्त होकर झूमते हुए।

गिरोवर (डिं०) = (सं०) गिरिवर।

नोट:—उपरोक्त दो दोहलों में कवि ने राजघराने की किसी राजकुमारी की सवारी का अच्छा सजीव चित्र खींचा है।

राजपूताने के राज्यों में अब तक ये गौरव-पूर्ण दृश्य देखने में आते हैं।

अलंकार = उपमा।

अनुप्रास की छटा प्रत्येक पंक्ति में अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण है।

दो १०६—

अस (डिं०) = (सं० अश्व) घोड़े।

वहै (डिं०) = (सं० वह) बहता है, चलता है। राजस्थानी में चलने के अर्थ में 'बहणो' आता है।

चाहि (डिं०) = हिं० (१) चाह से, चाव से, चावपूर्वक (पूर्वकालिक प्रयोग) (२) अव्यय की तरह प्रयोग भी किया जा सकता है। यथा 'मग चाहि'—मार्ग की ओर—की तरफ़। जिस प्रकार "लगै" का दो० १०३ में प्रयोग हुआ है।

किरि वैकुण्ठ.........मांहि = उत्प्रेक्षा का स्पष्टीकरण यों करना चाहिए—आकाश-मार्ग से चलते हुए भगवान् के रथ की और उसके नीचे पृथ्वीतल पर मार्ग में चलती हुई रुक्मिणी की सवारी की कैसी मनोहर छटा दिखाई देती है, मानो मार्ग-रूपी सरयू नदी में, वैकुण्ठ जाने के निमित्त, रुक्मिणी की सवारी के साथ चलनेवाले अङ्गरक्षक-रूपी अयोध्यावासी, स्नान कर रहे हैं (जिस प्रकार त्रेता में, राम-राज्य में अयोध्यावासी सरयू नदी में अन्तिम स्नान कर, सदेह स्वर्ग को गये थे)। उनके ऊपर आकाश-मार्ग से अदृश्य रूप में चलता हुआ भगवान् कृष्ण का रथ क्या है, मानो भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पुष्पक विमान में बैठे हुए,

अयोध्यावासियों को सदेह वैकुण्ठ पहुँचाने के लिए, विमान रोक कर उनके आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। दोहले में भगवान् के रथ का अदृश्य अन्तरिक्ष में चलना वर्णित है। सवारी के साथवाले लोगों के लिए वह भले ही अदृश्य हो, कवि की क्रान्त दृष्टि के लिए नहीं।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में, पौराणिक गाथा के आधार पर। तृतीय पंक्ति में असाधारण नियमों के अनुसार वयणसगाई का प्रयोग किया है। स्पष्टीकरण के लिए भूमिका देखिए।

दो० १०७—

पारस (डिं०) = (सं० पार्श्व) = नज़दीक, समीप, निकट।

सम्पेखे (डिं०) = (सं० सम्प्रेक्ष्य) = भली भाँति देखकर या देखने से।

जळहरी (डिं०) = (सं० जलधरी) = जिस प्रकार शिवलिङ्ग के चारों ओर अर्घ्यपात्र के आकार का पत्थर अथवा धातु का बना पात्र रहता है, जो पानी से भरा रहता है, उसी प्रकार चन्द्रमा के चारों ओर एक मालाकर चक्र भी रहता है। चन्द्र के चारों ओर चक्राकार मण्डल।

पाखती (डिं०) = (सं० पक्षत: या पार्श्वत:) पास की, इर्द-गिर्द की, चारों ओर की।

ध्रू (डिं०) = (सं० धुर = मस्तक) प्रधान अंग; सिर, मुण्ड। ध्रूमाला = मुण्डमाला।

नोट—'जळहरी' शब्द का प्रयोग यहाँ आशयगर्भित है। चन्द्र के चारों ओर जब चक्र दिखाई देता है तब निमित्त-ज्ञानी लोग भावी वर्षा अथवा तूफ़ान की आशंका करते हैं। इस

प्रसंग में भी बहुत निकट भविष्य में घनघोर युद्ध का तूफ़ान मचेगा और मेह की तरह रक्तवर्षा होगी।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १०८—

पैसि (डिं०) = (सं० प्रविश्य) प्रविष्ट होकर, घुसकर।

भाव = (सं०) प्रीति, श्रद्धा। उदा०–रामहिं चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहि बरणीया। (तुलसी)

कियौ हाथा लगि = हाथ में किया, हथियाया। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है।

दो० १०९—

आकरसण.........सर पंच = कामदेव के प्रसिद्ध पाँच बाण इस प्रकार हैं:—

(१) संमोहनोन्मादनौ च शोषणस्तापनस्तथा।
स्तंभनश्चेति कामस्य पंच बाणा: प्रकीर्तिता: ॥

दूसरे प्रकार से:—

(२) अरविंदमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।
नीलोत्पलं च पंचैते पंचबाणस्य शायका: ॥

कवि के गिनाये हुए बाणों की नामावली में और शास्त्रोक्त नामावली में नामों का भेद है, परन्तु आशय की एकता है। 'सम्मोहन' शर का नाम कवि ने 'वसीकरण'; 'तापन' का 'द्रविण' और 'स्तंभन' का 'आकरसण'—कहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

चितवणि......सँकुचणि = क्रमानुसार पूर्वोक्त पाँचों शरों की काम-शक्तियाँ इन पाँच पृथक् पृथक् व्यापारों एवं मनो-वृत्तियों द्वारा प्रदर्शित की हैं। रुक्मिणी के चितवन में हृदय को आकर्षण करने की; हँसने में हृदय को वश में करने की; लास्यपूर्वक अङ्गभंगी में उन्माद पैदा करने की; गति अर्थात् उनकी चाल में हृदय पिघला देने की तथा उनके संकोच-पूर्ण लज्जा और शील में हृदय की चेतनता हर लेने की शक्ति है। इन प्रबल शक्तियों के होते हुए यह अनुमान होता है कि रुक्मिणीजी अवश्य ही भगवान् के हृदय पर विजय पा लेंगी।

परठि (डिं०) = (सं० प्र + स्था) स्थापन करके, धारण करके, ग्रहण करके।

संच (डिं) = (सं० सं + चर) (१) संचार किया, प्रवेश किया।
(२) देखा। यह भी अर्थ लगाया जा सकता है।
ढूँढाड़ी टीका—"उद्यम कियउ।"
संस्कृतटीका—"प्रपञ्चकृत:।"

अलंकार = यथासंख्य। प्रथम, द्वितीय और तृतीय पंक्ति के क्रम में।

दो० ११०—

सहु (डिं०) = सभी। देखो नोट पूर्व दो० ७४ में।

तह (डिं०) = (फ़ारसी, अरबी शब्द) = यथार्थ बात या यथार्थ ज्ञान, किसी बात की तह (यथार्थता) तक पहुँचना। यथा:—तहकीक, तहकीकात इत्यादि। मारवाड़ी मुहाविरे की भाषा में बोला जाता है, यथा:—"बात करण रउ तहन कोइ नहिं"—अर्थात् बात करने का भी ज्ञान नहीं है।

मठ = (सं०) देवालय, मंदिर।

नीपायौ (डिं०) = (सं० निष्पद्यते) प्रा० निपज्जइ—(हिं०) निपजै। प्रेरणार्थक हिं० निपजायो। डिंगल में इसी प्रेरणार्थक का रूपान्तर "नीपायौ" है। 'ज' का लोप होगया है।

हिं० उदा० राम नाम कर सुमिरन, हँसि कर भावै खीझ।
उलटा सुलटा नीपजै, ज्यों खेतन में बीज॥ (कबीर)

निकुटी (डिं०) = (सं० नि + कृत) प्रा० निकुट = निकाली हुई, बहिष्कृत, खोद के निकाली हुई अथवा खोदकर बनाई हुई (मूर्त्ति); गढ़ी हुई।

पूतली (डिं०) = (सं० पुत्तलिका) = प्रतिमा, मूर्त्ति। देखो नोट पूर्व दो० २ में।

तदि (डिं०) = (सं० तदा) सप्तमी विभक्ति चिह्न इकारान्त सहित = तब।

नोट—रुक्मिणी के हरण करने का यही उपयुक्त समय था। दैवी इच्छा से रुक्मिणी की मोहिनी मूर्ति का दूरदेश में प्रकट होकर दर्शकों को चैतन्य-शून्य करना—ये सब बातें उनकी मनोरथ-सिद्धि में सहायक हो रही हैं। इस वर्णन में काव्य-चातुरी का बहुत कुछ प्रमाण है।

मन पंगु थियो = मन निश्चल होगया—संज्ञाहीन होगया। यहाँ पंगु का लाक्षणिक अर्थ लिया गया है, 'निश्चलता' के अर्थ में।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १११—

अस (डिं०) = सं० अश्व।

खेड़ि (डिं०) = (सं० खेटनम् = रथ चलाना) = चलाकर, हाँक कर। देखो प्रयोग पूर्व दो० ६८ में "खँति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै।"

अंतरै (डिं०) = (सं० अन्तर = बीच में) मध्य। उदा० "तृण अंतर दै दृष्टि तिरौंछी, दई नैन जलधार।" (सूर)

प्रथिमी (डिं०) = सं० पृथ्वी ।

नोट—उत्तरार्द्ध में रथ की तीव्र गति का वर्णन किया गया है। अंतिम पंक्ति का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि त्रिभुवननाथ के रथ की इतनी तीव्र गति थी कि लोगों के मन में यह भ्रम सा पैदा होगया कि उन्होंने भगवान् के रथ का शब्द ही सुना अथवा उसे देखा भी। रथ का शब्द सुन ही रहे थे कि दिखाई भी दिया, अतएव स्मृति और दृष्टि के अनुभवों में पारस्परिक भ्रम पैदा होगया।

अलंकार = चपलातिशयोक्ति या भ्रान्तिमत्।

दो० ११२—

बलि-बंध-समरथि = बलि जैसे पराक्रमी राजा को बाँधने में समर्थ; अतएव इस छोटे से साहस के कार्य में तो अनायास ही समर्थ; भगवान्। भगवान् का यह अभिप्रायगर्भित विशेषण है।

वैसारी (डिं०) = (सं० वेश) प्रेरणार्थक रूप = बिठाई। हिं० उदा० (१) "देखा कपिन जाइ सो बैसा, आहुति देत रुधिर अरु भैंसा।" (तुलसी)
(२) "ऐसी को ठाली बैसी है, तो सों मूँड खवावै" (सूर)।

सु करि = स्वकर में, अपने हाथ में।

साहे (डिं०) = (सं० साधनं) = साध कर, सहारा देकर, थाम कर।

वाहर (डिं०) = आर्त्त की रक्षा या सहायता करना।

नोट—उत्तरार्द्ध की पंक्तियों की शब्द-योजना अभिनयात्मक गुण लिये हुए है। उनमें चित्ताकर्षक स्फूर्त्ति है। इसी प्रकार का चमत्कार कुमारसंभव के "क्रोधं प्रभो संहर संहरेति" वाले मदनदहन के वर्णन को पढ़ने से होता है।

अलंकार--परिकर--साभिप्राय विशेषण में ।

दो० ११३--

धवल् सर (डिं०) = (सं० धवल (मंगल) + स्वर) = 'धवल' नामक मङ्गलगीत सुनते हुए; मांगलिक गीतों को सुनते हुए । देखो नोट पूर्व दो० ४२ में ।

सम्भलि, सम्भलत (डिं०) = हिं० सम्भालते = सुनते हुए; मनन करते हुए । देखो प्रयोग पूर्व दो० ७३, १११ में ।

साहुलि (डिं०) = (सं० स + हुल्ल) = शोर, हल्ला, पुकार ।
ढूँढारी टीका--'साहुलि कहताँ पुकार' ।
पश्चिमी मारवाड़ी टीका--'साहुलि कूकणउ' ।
सं० टीका--'कूकरवम्' ।

आलुदा (डिं०) = अल्हड़, अलबेला । इस अर्थ में अब तक मारवाड़ी भाषा में प्रयुक्त होता है ।
सं० टीका--आलूदा सज्जीभूता: इति ।
पश्चिमी मा० टीका--आलूदा सनद्ध बद्ध थया ।

ठाकुर (डिं०) = (सं० ठक्कुर) हिं० ठाकुर = सरदारगण । क्षत्रियों की एक उपाधि । हिं० उदा० सब कुँवरन फिर खेंचा हाथू । ठाकुर जेंव तो जैंबे साथू । (जायसी)

अलल् (डिं०) = (अरबी० आला = अव्वल दरजे का, श्रेष्ठ, यथा:--आली शाह, जनाब आली-आला, आलीजाह) = आला आला, एक से एक बढ़कर, बेठिकाने के (हास्य अर्थ में) ।
हिन्दी में प्रचलित भाषा में, "अललटप्पू" = बेठिकाने, 'बिना सिर पैर के' अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

पिँड (डिं०) = (सं०) = शरीर । डिङ्गल में यह शब्द हास्य के साथ इस अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

बहुरूप भेख पालटे = बहुरूपियों ने मानो भेष बदला है, इस प्रकार राजाओं ने अपनी अपनी सैनिक पोशाकें पहनीं।

पालटे (डिं०) = (सं० पर्यस्त—प्रा० पलट्ट) = बदले ।

केसरिया (हिं०) = केशर के रङ्ग के वस्त्र। राजपूत लोग युद्ध के समय केशरिया वस्त्र पहनते हैं, यह प्रथा बहुत प्राचीन है।

ठाहे (डिं०) = (सं० स्थाने) प्रा० ठाणे = स्थान में।

क्रिगल (डिं०) = कवच, जिरहबख़्तर ।

नोट—इस दोहले की शब्द-योजना विचित्र है। कवि ने आलदा, अलल, पिँड, बहुरूप, भेष पालटे—शब्दों में हास्य-रस कूट कूट कर भर दिया है। यह दो० कवि की हास्यवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है। हास्य भी बड़ी उत्कृष्ट श्रेणी का है; क्योंकि ध्वनित होता है। उत्तरार्द्ध में अपने हास्य आशय को 'बहुरूपिया', शब्द द्वारा प्रकट कर दिया है। मानो, तुरन्त ही वेष बदलने में दक्ष बहुरूपियों ने एक प्रकार के वेष बदलकर दूसरे प्रकार के वेष धारण कर लिये हैं। इसमें विरुद्ध पक्ष के नक़ली योद्धाओं की कृत्रिम वीरता की हँसी उड़ाई है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

उत्तरार्द्ध में व्याजनिन्दा व्यंग्य है।

दो० ११४—

नरवरै = (सं०) नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के ।

लारोवरि (डिं०) = डिंगल में "लारोलार" पीछे पीछे अनुसरण करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। लार (डिं०) = पीछे + उपरि

उवरि = ऊपर = पीछे पीछे चढ़ाई किये हुए। 'लार' = पीछे—हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है।

उदा०—(१) कूप पड़े हम देखतां अंधे अंधा लार। (दादू)
(२) जन्म जन्म के दूत तिरोवन, को नहिं लार लगाए। (सूर)

चित्राम कि लिखिया (डिं०) = (सं० चित्रलिखित इव) चित्र में लिखे हुए की भाँति। हिं० में भी यह उपमागर्भित मुहाविरा प्रयुक्त होता है। हिं० उदा०—राम वदन विलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा। (तुलसी)
यहाँ पर घोड़ों के वेगपूर्वक दौड़ने की अत्युक्ति है।

निहषरता (डिं०) = (१) {[सं० निः + स्रवण (अक० क्रिया)] प्रा० निस्सरण
[सं० निः + त्वरताः]
= निकलना, बाहर निकलते हुए।
(२) (सं० निः + खेटनं) = खूब तेज़ी से (खड़ते) हाँकते, दौड़ाते हुए।

महर, महियारी (डिं०) = हिं० महरा, महरी = ग्वाल-ग्वालिन, अहीर—अहीरिन। यहाँ 'महरी' की जगह डिं० में 'महियारी' प्रयुक्त हुआ है।

हुवै (डिं०) = (सं० भवति) प्रा० हुवइ, हुवै = होती है; है।

माँखण (डिं०) = हिं० मक्खन।

नोट—इस दोहले में भी पूर्व दो० की तरह हास्यवक्रोक्ति और व्यंग्य भरा है। उत्तरार्द्ध में व्यंग्य स्पष्ट है। अर्थ यह है, "हे अहीर, तूने अब तक अहीरिनों को ही चुराया है और तेरा काम गूजरों-अहीरों से ही पड़ा है। हमारे जैसे

वीरों से तो झगड़ने का काम इसी बार पड़ा है। अब देखो, कैसा मज़ा चखाते हैं।"

ध्यान रहे कि ये शब्द उन्हीं "आलूदा ठाकुर अलल" के मुँह से निकल रहे हैं, जिन्होंने "पिंड बहुरूप कि भेष पालटे" थे। हास्य-रस का पूरा आस्वादन होता है।

अलंकार = अत्युक्ति, पूर्वार्द्ध में, (घोड़ों के वेग की)

वक्रोक्ति (आर्थी)—उत्तरार्द्ध में।

दो० ११५—

ऊपडी (डिं०) = (सं० उत्पटन) प्रा० उप्पड़न, हिं० उपड़ना = उखड़ना, रेत का उखड़ कर उड़ना।

रजी (डिं०) = (सं० रज) = धूल।

अरक (डिं०) = (सं० अर्क) = सूर्य।

वातचक्र = (सं०) हवा का बगूला, चक्रवात, बवन्डर।

सिरि = हिं० सिर, सप्तम्यन्त इकारान्त = सिर पर।

सद (डिं०) = (सं०) = शब्द।

नीसाण, नीहस = नगाड़ों का निर्घोष। दोनों शब्दों पर नोट देखो पूर्व दो० ३८, ४०, ४८ में।

वरहासाँ (डिं०) = (देशीय शब्द) = घोड़ों की।

संभवत:—(सं० वरं + हास्य = सुन्दर है हास्य जिसका)।

नासाँ (डिं०) = (सं० नासिका) = नाक, नथुने।

वाजन्ति (डिं०) = (सं० वाद्यन्ते) प्रा० वाज्जइ-बाजै = बजते हैं, शब्द करते हैं।

नोट—पूर्वार्द्ध में कवि ने अपनी प्रतिभा की अन्तर्दृष्टि से राजस्थान की प्रकृति के एक ऐसे स्वाभाविक चित्र को चित्रित किया

है, जो अनुभव करते ही बनता है। राजस्थान के मरुस्थल की आँधियों और बवंडरों का जिन्हें अनुभव है, वे इस दृश्य की स्वाभाविकता की ताईद करेंगे। ऐसा वर्णन करना उत्कृष्ट रहस्यवादी कवियों का कार्य है।

उत्तरार्द्ध में युद्ध के पूर्व होनेवाले आक्रमण के वेग, भयानकता और ओज का सजीव चित्र है। वर्णन में इतनी स्वाभाविकता होनी स्वाभाविक ही है। कवि ने ऐसे हज़ारों अनुभव स्वयं युद्धस्थल में किये होंगे। यदि उनको कोई सर्वप्रिय व्यापार था, तो युद्ध करना, जैसा कि आगे प्रकट होगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा = पूर्वार्द्ध में।
स्वभावोक्ति = उत्तरार्द्ध में।

दो० ११६—

अलगी (डिं०) = (सं० अलग्ना) प्रा० अलग्गा, हिं० अलग = दूर पर।

ही (डिं०) = हिं० "है" का स्त्रीलिंग में इकारान्त रूपान्तर करने पर डिंगल "ही" बनेगा। डिंगल में क्रिया के काल-सूचक चिह्नों को भी लिङ्गों के अनुरूप रूप दिया जाता है।

नैड़ी (डिं०) = (सं० निकट) प्रा० निअड, नयड़, नैड़ = निकट। देखो प्रयोग पूर्व दो० ४७ में।

ऊखवते = (सं० उत्खिदन) प्रा० उक्खिडण = उखड़ना, किसी जमी हुई चीज़ का उठ खड़ा होना।
(सं० उत्खेटनं) प्रा० उक्खेड़ण, डिं० उखेड़णउ। घोड़ों को उखेड़ना अर्थात् उनका साधारण चाल एकदम बदल कर तीव्र-गति कर देना। यह मुहाविरा भी है।

देठालौ (डिं०) = हिं० दिखलावा, दिखावा = साक्षात्कार, सामना ।

दलाँ (डिं०) = (सं०) दलों में, फ़ौजों में ।

वागाँ = हिं० वाग = घोड़ों की लगामें ।

ठेरवियाँ (डिं०) = (सं० स्थिरीकृता) ठहरा ली, स्थिर कर ली, रोक लीं ।

वाहरुए (डिं०) = 'वाहर' करनेवाले = रक्षक दलवाले ।

'वाहर' (डिं०) = रक्षा करने के लिए आक्रमण करनेवाले ।

'वाहर' का पूर्व ११२ दोहे में नोट देखिए ।

मारकुए (डिं०) = प्रहार सहनेवाले, आक्रमण को झेलनेवाले ।

अँगरेज़ी में इन डिंगल शब्दों--वाहरुए, और 'मारकुए' के लिए offensive, defensive शब्द हैं ।

नोट—इस दोहले में दो विपक्षी सेनाओं की मुठभेड़ का दृश्य अंकित किया गया है ।

दो० ११७—

वे (डिं०) = (सं० द्वि) दोनों ।

कालाहणि (डिं०) = (सं०काल + अहन) = प्रलयकालीन ।

या—(सं० काल + अयन) प्रलयकारिणी ।

डिं० में "कलायण" वर्षाकालीन घनी घटा को भी कहते हैं । इस प्रकार श्लिष्टार्थ में इस शब्द के (१) घनी घटा और (२) प्रलयकालीन घटा = ये दो अर्थ होते हैं ।

घटा = (१) सैन्यदल (२) घनघटा । श्लिष्टार्थ है ।

आमुहो सामुहै (डिं०) = राजस्थानी में 'आमने सामने' प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ होता है–सामने सामने ।

समुहै (डिं०) = (सं० सन्मुखे) प्रा० सम्मुहे = सामने।

हिं० उदा० जनु घुँघची वह तिल कर मूँहा।

विरहवान साधे सामूहा ॥

(जायसी)

कढ़ी (डिं०) = हिं० कढ़ी = निकली, बाहर आई।

हिं० उदा० "मो चित चाहत ए री भटू, मनमोहन लै के कहूँ कढ़ि जइयै" ॥ (पद्माकर)

जोगिणि (डिं०) = (सं० योगिनी) (१) एक प्रकार की रणदेवी जो मरे हुए योद्धाओं के रुण्ड-मुण्डों को देखकर आनंदित होती है और रणक्षेत्र में उनसे खेलती है। उदा० भूमि अति जगमगी जोगिनी सुनि जगी, सहस फन शेष सो शीश काँधे। (सूर)

(२) वर्षा के योग-विशेष = किसी तिथि-विशेष में, किसी दिशा-विशेष में अवस्थित योगिनी वर्षा-सूचक होती है। इसी प्रकार भिन्न भिन्न निमित्त-सूचक ज्योतिष की योगिनियाँ होती हैं।

आषाढ़ कृष्णा एकादशी को जब वर्षायोग का प्रारम्भ माना जाता है, तब योगिनियों का चक्र हुआ करता है जिसे ज्योतिष में योगिनी-चक्र कहते हैं।

आड़ँग (डिं०) = वर्षा के आसार; वर्षा-चिह्नों को राजस्थान की वर्षा-सम्बन्धी विशेष-भाषा में 'आड़ँग' कहते हैं; वर्षा-सूचक आकाश-चिह्न।

बेपुड़ी बहै (डिं०) = (डिं० बे = दो । पुड़ी (डिं०) = परतवाली ।) दो परत अथवा तहवाली; दोहरी चलती हुई; दोनों ओर से चलती हुई ।

रत (डिं०) = (सं० रक्त) लोहू ।

नोट = कवि ने इस दोहले से भावी युद्ध का वर्षा के साथ रूपक स्थापित किया है । 'घटा' और "कालाहणि" शिलष्टार्थ में युद्ध और वर्षा, दोनों ओर लगते हैं । दो० का विशेष चमत्कार इस बात में है कि कवि ने 'जोगिणि' 'आडँग' 'बेपुड़ी' और 'कालाहणि' शब्दों का प्रयोग करके राजस्थानी वर्षा का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है । ये शब्द राजस्थान की स्थानीय वर्षा-सम्बन्धी विशेषताओं को प्रकट करने के लिए अब तक प्रचलित हैं ।

अलंकार = शिलष्टरूपक, उत्प्रेक्षा ।

"बेपुड़ी बहै" की व्याख्या ढूँढाड़ी टीका यों करती हैः—
"बेपुड़ी कहताँ बादल की बेपुड़ी कहै जो दो बड़ा बादल आम्हों साम्हा होइ तब कहैं जु मेह बरससी तैसे फोज पिण बेपुड़ी बहै, सु जाणै रगत बरससी ।"

दो० ११८—

हथनालि (डिं०) = (हि० हाथी + नाल) = एक प्रकार की प्राचीन तोप जो हाथियों पर चलती थी ।

हवाई (डिं०) = (अरबी) हवा + ई (प्रत्यय) = हवा में कुछ दूर झोंके से जाकर बुझ जानेवाली एक प्रकार की आतशबाजी। इस प्रकार का दूर तक प्रहार करनेवाला, बन्दूक की तरह कोई अग्निशस्त्र-विशेष रहा होगा ।

कुहक बाण = एक प्रकार का बाण, जो बाँस की कई पट्टियाँ जोड़ कर बनाया जाता है, जिसके चलते समय कुछ शब्द निकलता है। अतएव 'कुहक' शब्द करनेवाला बाण-विशेष। हिं० उदा० चले चंदबान घनबान और कुहुकबान, चलत कमान धूम आसमान छ्वै गयौ। (भूषण)

वीरहक (डिं०) = हिं० वीरों का हाँका अथवा शोर-गुल।

गैगहण (डिं०) = अनुकरण शब्द-गहगहाना = आकाश को गुँजाने-वाला शब्द। उदा० "अति गहगहे बाजने बाजे" (तुलसी) ढूँढाड़ी टीका—"गय हस्ती त्याँ की गहणि कहताँ भीड़ हुई" अर्थात् हाथियों की भीड़।

सिलहाँ (डिं०) = (अरबी० सिलाह) = ज़िरह-बख़्तर, कवच। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०४ में।

महण (डिं०) = (सं० महार्णव) समुद्र में, देखो प्रयोग पूर्व दो० ६२ में।

माहे (डिं०) = (सं० मध्ये) = में, अन्दर।

संस्कृत टीका पूर्वार्द्ध की यों व्याख्या करती है:—

"हथनाल् हवाई कुहकबाणाः सर्वाण्यप्यातसबाजीलक्षणानि तेषां हुविरित्युच्छलनं जातं।" टीकाकार की व्याख्या से यह व्यक्त होता है मानो कोई आतशबाज़ी का खेल हो रहा था। ऐसा नहीं था। वास्तव में, एक वास्तविक युद्ध में अनेक नाम के प्राचीन अग्निशस्त्रों का प्रयोग होना बताया है। राजस्थान में अब भी प्राचीन काल की नामी तोपों

के नामों में 'बान' लगा रहता है—यथा 'सूरजबान' चंदबान ।

अलंकार = श्लिष्टरूपक ।

दो० ११६—

कलकलिया (डिं०) = (अनुकरण शब्द) कलकल शब्द करने लगे; चमचमाने लगे ।

कुन्त = (सं०) भाले, शेल ।

कलि (डिं०) = (सं० कलहे) युद्ध में ।

ऊकलि (डिं०) = (सं० उत्कलन) प्रा० उक्कलण = उकलना, तह से अलग होना, गरम होकर खौलना । सं० उत्कलिका = लहर । सं० उदा० क्षुभितमुत्कलिका तरलं मनः । (भवभूति)

वाउ (डिं०) = (सं० वायु) = हवा ।

धड़िधड़ि = हिं० धड़ = शरीर = शरीर शरीर पर, प्रत्येक शरीर पर ।

धबकि (डिं०) = (अनु० शब्द), धवक धवक करके चमकना ।

धारूजल (डिं०) = तलवार, उज्ज्वल है धारा जिसकी ।

सिहरि सिहरि (डिं०) = (सं० शिखर) = शिखर शिखर पर ।

सिलाउ (डिं०) = (सं० शलाका)—विद्युत्शलाका = बिजली ।

समरवै (डिं) = (सं० स्मृ से व्यंग्यार्थ) चमकती है ।

नोट—उत्तरार्द्ध की शब्दयोजना पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि उसमें विद्युत् की चमक का सजीव चित्र खड़ा किया गया है । कवि की शब्द-योजना अत्यन्त आशयपूर्ण है और वर्णन की स्वाभाविकता को हृदय पर अंकित करने में शब्दों का चमत्कृत संयोजन अत्यन्त सहायक है । दूसरी पंक्ति की स्वभावोक्ति तो अत्यन्त मनोरम है ।

"सिहरि" डा० टेसीटरी ने दो०—१० के नोट 'में सिरहर' को 'सिहर' अथवा 'शिखर' का डिंगलरूपान्तर बताया है और 'र' की विकल्प करके वृद्धि होने की कल्पना की है। हमारी समझ में यह कष्ट-कल्पना है। शिखर का डिंगल में रूपान्तर 'सिरहर' नहीं होता। हाँ, 'शिखर' का 'सिहर' होना युक्त है।

अलंकार = स्वभावोक्ति—समस्त में।
रूपक—द्वितीय पंक्ति में।
अनुप्रास—प्रत्येक पंक्ति में।

दो० १२०—

कायराँ (डिं०) = (सं० कातर) प्रा० कायर = डरपोक, भीरु।
हिं० उदा० कपटी कायर कुमति कुजाती।
लोक वेद निंदित बहु भाँती॥
(तुलसी)

असुभकारियौ = (सं०) अशुभ करनेवाले, अनिष्टकर्त्ता अनिष्ट-चिन्तक।

गड़ड़ै (डिं०) = (अनु० शब्द) गड़गड़ाहट।

गाजन्ति (डिं०) = (सं० गर्जन्ति) (१) मेघ गर्जन करते हुए। (२) शब्द करते हुए।

ऊजलियाँ धाराँ = (सं०) उज्ज्वल धाराओं से। शस्त्रों की उज्ज्वल धाराओं से।

ऊवड़ियौ (डिं०) = हिं० उमड़ा हुआ, उमड़ता हुआ। उदा० "उमड़ि घुमड़ि घन बरसन लागे।"

परनालै (डिं०) = (सं० प्रणाली) = हिं० पनाला = बड़े नालों से।

रुहिर (डिं०) = (सं० रुधिर) ।

अलंकार = रूपक ।

दो० १२१—

चोटियाळी चौसठि = ६४ युद्ध की योगिनियाँ अथवा रणपिशाचिनियाँ; लम्बी लम्बी चोटी और खुले हुए केशपाश के कारण भयङ्कर वेश धारण किये हुए रणचण्डिकाएँ। इनकी साधारणतः चौसठ संख्या मानी गई है परन्तु उन चौसठों का क्या नाम, कैसा स्वरूप है, इसका प्रमाण हमें नहीं मिला। ढूँढाड़ी टीका दूसरा ही अर्थ करती है:—"रुधिर एकठो हुऔ छ: अर ऊपरा सु रुधिर की बूँदाँ पड़े छै त्यांकी जु ऊँची बूँदाँ उछलै छ: सु चोटियाळी कहावै।" ऐसा अर्थ करने पर "चौसठि" का क्या अर्थ लिया जाय इसमें संशय है। संस्कृत और मारवाड़ी टीका हमारे अर्थ का समर्थन करती हैं।

चाचरि (डिं०) = युद्धस्थल में; 'चर्चरी' योग की एक मुद्रा का नाम भी है; 'चर्चरी' एक राग भी है।

ध्रू (डिं०) = (सं० धुर) सिर, मुण्ड। देखो पूर्व प्रयोग "ध्रू माळा संकर धरी।"

ढळियै (डिं०) = (हिं० ढलना, ढरना) = नीचे गिरने पर, ढल जाने पर।

ऊकसै (डिं०) = (सं० उत्कर्षण) प्रा० उक्कसण, हिं० उकसना = ऊपर उठना, उभरना। हिन्दी में प्रयोग होता है। उदा० "पुनि पुनि मुनि उकसहिं अकुलाई।"

(तुलसी)

धड़ (डिं०) = (हिं० धड़) = शरीर। देखो पूर्वप्रयोग दो० ११६ "धड़िधड़ि"।

अनँत = (सं०) = बलराम। अन्यत्र श्रीकृष्ण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। देखो पूर्व दो० "अनँत अनँत तसु मधि अधिकार"। 'अनंत' का वास्तविक अर्थ बलराम, लक्ष्मण और शेषनाग हुआ करता है।

औझड़ै (डिं०) = (क्रि० विशेषण, हिं० औझड़) = निरन्तर, लगातार। यहाँ पर 'झड़ी' के विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है।

हिं० उदा० "हिरना बिरझेउ सिंह से औझर खुरी चलाय।"
(गिरधर)

झड़ (डिं०) = (हिं० झड़ी) = वर्षा की बौछाड़; बौछाड़, झड़ी।

मातै (डिं०) = (सं० मत्त) = मोटा, बड़ा, गहरा।

माँडियौ (डिं०) = (सं० मंडनम्) = हिन्दी में भी युद्ध माँड़ना, रण माँड़ना, मुहाविरा प्रयुक्त होता है।

अलंकार = रूपक।

यमक—'झड-झड'।

दो० १२२—

रलतलिया (डिं०) = (हिं० रलना + तरना) = मिलकर बह निकला; बह चला, प्रवाहित हो चला।

हूँ (डिं०) = डिंगल "हूँत" का अल्परूप है = से (अपादान विभक्ति-चिह्न)।

पड़ै (डिं०) = (हिं० पड़ै) = गिरते, हताहत होते हैं।

ऊँधा (डिं०) = (सं० अध:) हिं० औंधा = उलटा, निम्नमुख।
हिं० उदा० "औंधा घड़ा नहीं जल डूबै, सूधै सों घट भरिया" (कबीर)

पत्र (डिं०) = सं० पात्र का ह्रस्व रूपान्तर = बर्त्तन, भाजन, पात्र। "जोगिणी तणा पत्र = योगिनियों के पात्र अर्थात् मुंडों के बने खप्पर।

जोगिणी (डिं०) = युद्ध चण्डिकाएँ। देखो प्रयोग दो० ११७ में।
कई टीकाकार 'घणा' को 'घड़ा' का रूपान्तर समझ कर वैसा अर्थ लेते हैं, जो इतना संगत नहीं प्रतीत होता।

अलंकार = स्वभावोक्ति।

दो० १२३—

वेलो (डिं०) = साथी, सहायक। मारवाड़ी में इस अर्थ में बोलचाल में प्रचलित है।

बापूकारे (डिं०) = "बाबू", "बापू", कहकर उत्तेजित किया है। राजस्थान में घुड़सवार अब तक घोड़ों को "बापू ओ बापू" कह कर उत्तेजित करते हैं। यथा, उदा०—"बापू मत कह बखतसी, काँपत है केकाण (घोड़ा)। एक र बापू और कहाँ तुरग तजै लौ प्राण।"

सत्र (डिं०) = (सं० शत्रु) डिङ्गल में कभी कभी शुद्ध संस्कृत शब्दों की मात्राएँ लुप्त करके अथवा मात्राओं का विपर्य्यय या परिवर्त्तन करके नये शब्द बना लिये जाते हैं। यथा पत्र = पात्र; सत्र = शत्रु।

सावतौ (डिं०) = (अरबी० साबित, सबूत) = पूरा, पूर्णाङ्ग, सुरक्षित, सही सलामत, सम्पूर्ण । मारवाड़ी में अब तक प्रचलित है । हिं० उदा० "द्वै लोचन साबित नहिं तेऊ ।" (सूर)

अजे लगि = हिन्दी में "अजौंलगि" मुहाविरा प्रयुक्त होता है । = अब तक ।

साथ (डिं०) = 'समूह' के अर्थ में । साथी, संगी, सहायकदल ।

वूठै (डिं०) = (देशीय शब्द) = मेंह बरसने पर, वर्षा होने पर । एक राजस्थानी लोकोक्ति प्रसिद्ध है :—"शेखे मारी पालखी, में बूठाँ ही चालसी" अर्थात् शशक ने प्रतिज्ञा करके आसन जमा लिया है, अब मेह बरसने पर ही चलेगा ।

वाहवियै (डिं०) = (सं० वह) हिं० हल बाहना = हल चलाना, हल जोतना ।

वाहिस्यइ हाथ = (सं० वह) हिं० हाथ वाहना, हाथ चलाना, प्रहार करना । हिं० में इस अर्थ में 'वाहना' प्रयुक्त होता है । उदा० (१) वाहत अस्त्र नृपति पहँ आये । (पद्माकर)
(२) वहइ न हाथ दहइ रिस छाती ।। (तुलसी)
वाहने के साधारणतः तीन अर्थ होते हैं :—
(१) चलाना, फेंकना, प्रवाहित करना ।
(२) गाड़ी, घोड़ा हाँकना ।
(३) हल चलाना, खेत जोतना ।

जीपिस्यै (डिं०) = जीतेंगे । हिं० 'जीत' का डिंगलरूपान्तर 'जीप' है ।

नोट—वर्षाकालीन व्यापारों और युद्ध के व्यापारों का यह रूपक अत्यन्त सराहनीय है । प्रधान रस—शृङ्गार—को विस्मृत

होने से बचाने के लिए कवि ने जान बूझ कर वर्षा के रूपक को व्यवधान की तरह खड़ा किया है। परन्तु स्वभाव-वीर और राजपूत होने के कारण वे युद्ध के वर्णन को बिना किये ही सन्तुष्ट नहीं रह सकते थे। इस रूपक के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य विषयों के लिए भूमिका देखिए।

दो० १२४—

विसरियाँ विसर (डिं०)=बीती हुई वेला को विसार कर। (सं० वि+स्मरण) प्रा० विम्हरण, विस्सरण, हि० बिसरना। हिं० उदा० सुरति श्यामधन की सुरति बिसरेहू बिसरैन।

(बिहारी)

बीजिजै=(सं० बीज) हिं० बीजिये=बोइये, बीजारोपण करिये।

खलाँह (डिं०)=(सं०) खलों को, दुष्टों को, अर्थात् हमारे वैरियों को।

हालाहलाँ (डिं०)=हलाहल की तरह, विष की तरह।

खारी (डिं०)=(हिं०)=कड़वी। ध्यान में रखना चाहिए कि यह शब्द स्त्री प्रत्ययान्त इसलिए है, क्योंकि इसका सम्बन्ध दो० १२३ के 'आ वेला' (स्त्री०) से है।

त्रूटै (डिं०)=(सं० त्रुटन्ति) हिं० टूटै=टूटते हैं।

कंधमूल (सं० स्कंध+मूल)=(१) कंधा (२) वृक्ष की पैंडी।

उदा० (१) "वृषभ कंध केहरि ठवनि, उर भुज बाहु विशाल"

(तुलसी)

(२) अव्यक्त मूल मनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने।
षट कंध शाखा पंचबीस, अनेक पर्ण सुमन घने। (तुलसी)
(३) "तीव्राघातप्रतिहततरुस्कंधलग्नैकदंत ॥ (शाकुन्तल)
मूल = जड़। कंध-मूल = कंधे की जड़।

हलधर = (सं०) बलराम।

वाहताँ = (हिं०) चलाते हुए, हल चलाते हुए। देखो नोट दो० १२३ में।

अलंकार = श्लिष्टरूपक।

नोटः—कवि ने इस दो० में प्रायः सभी खेती-सम्बन्धी विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग किया हैः—बीज, बीजिजै, खारी, हलाँह, खलाँह, कन्ध, मूल, जड़, हलधर, वाहताँ। अतएव मुद्रालंकार गर्भित है। इनमें से कई एक शब्द श्लिष्ट भी हैं।

विसरियाँ विसर = मिलाओ "बीती ताहिं बिसार दै, आगे की सुध लेहु।" डाक्टर टैसीटरी को इन शब्दों और "खारी" के प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ा संशय है। हमने जो अर्थ किया है उसमें किसी प्रकार के संशय को स्थान नहीं है।

दो० १२५—

घटि घटि = (सं०) शरीर शरीर में। हिं० उदा० "अन्तर्यामी घटघटवासी।"

घण = (सं० घन) बहुत, ज़्यादा। हिं० उदा० "उतै रुखाई है घनी व्योरे सुख पै नेह।" (बिहारी)।

घाउ = हिं० घाव।

छिंछ (डिं०) = (अनु० शब्द) = छींटा, फव्वारा, धार। हिं० उदा०
(१) शोणित छिंछ उछरि आकाशहिं गजबाजिन सिर लागी।
(सूर)

(२) अति उच्छलि छिंछ त्रिकूट छयो, पुर रावन के जलजोर भयो। (केशव)

पिड़ि (डिं०) = (सं० पिंड) = (१) वृक्ष की पेंड़ी, तना।
(२) मनुष्य के शरीर का ऊपरा भाग—धड़।

नीपनौ (डिं०) = (सं० निष्पद्यते। प्रा० णिपज्जइ) हिं० निपजना। उत्पन्न हुए। हिं० उदा० उलटा सुलटा नीपजै, ज्यों खेतन में बीज। (कबीर)

प्रवाली = (सं०) (१) मूँगा, विद्रुम।
(२) किशलय, कोंपल, नवीन उगे हुए कोमल पत्ते।

सिरा (डिं०) = (हिं० सिरा = (१) ऊपर का भाग, शीर्ष भाग।
(सं० शिरा) = (२) रक्तनाड़ी—मनुष्य-शरीर में जाल के समान गुँथी हुई शिराएँ होती हैं। मानवशरीर की आठ प्रधान शिराएँ हैं और आठों दिशाओं के स्वामियों के पीछे उनका नाम है यथा:—आग्नेयी, ऐन्द्री, महाशिरा इत्यादि।
(डिं० सिरा) = (३) धान्य के भुट्टे, सिट्टे, बाल, बाली। श्लिष्ट अर्थ में (१) और (३) अर्थ लग सकता है।

हंस (डिं०) = जीव, जीवात्मा। हिं० उदा० "सिर धुनि हंसा चले हो रमैया राम।" (कबीर)

नीसरै (डिं०) = (सं० निः + सरण) = निकलना।

नोट—इस दोहले में प्रधान रस शृङ्गार का लोप होकर, बीभत्स का आरोप होता है। मम्मट के अनुसार "अंगिन: अननुसंधानम्" दोष यहाँ लागू होता है।

अलंकर = उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, श्लेष (शब्द)।

दो० १२६—

पहरन्तै (डिं०) (प्र० + हरति) = नष्ट करते ।

बिजड़ा (डिं०) = (१) तलवार ।
(२) हँसुआ । धान्य काटने का औज़ार (Sickle) } श्लिष्ट

सिराँ (डिं०) = (१) सिरों का, मुंडों का ।
(२) बालों का, भुट्टों का । } श्लिष्टार्थ में

वेड़ते (डिं०) हिं० बिड़ारना = भयभीत करते हुए, नष्ट-भ्रष्ट करते हुए, छिन्न-भिन्न करते हुए ।
—हिं० बिडवना = तोड़ना, नष्ट करना ।
हिं० उदा० (१) कुंभकरन कपि फौज बिड़ारी ।" (तुलसी)
(२) घूँघट पट वागुर ज्यों बिड़वत जतन करत शशि हारे । (सूर)

परि (डिं०) = प्रकार से, रीति से । देखो पूर्व दो० २५, ४२ में ।

अलंकार = यमक —'बल' में —बलदेव, महाबल, भुजा बलि ।
रूपकातिशयोक्ति ।
श्लिष्टरूपक ।

दो० १२७—

गाहटतै (डिं०) = (सं० गाह्) = विलोड़ना, गोता लगाकर मथना । नष्ट-भ्रष्ट करना । उदा० "समगाहिष्ट चाम्बरं ।" (भट्टिकाव्य)

खलाँ (डिं०) = खलिहान में, धान्य-पूर्ण खेत में ।

राम (सं०) = बलराम ।

मेढ़ि (डिं०) = (हिं० मेंढ़) मिट्टी डाल कर बनाई हुई खेत की सीमा या पानी का बाँध ।

चड़ियै (डिं०) चढ़कर ।

फिरि संवार फेरताँ = फिरा फिरा कर संहार (नाश) के कार्य में फेरते हुए ।

केकाणाँ (डिं०)=घोड़े। उदा० "बापू मत कह बखतसी, काँपत है केकाण ॥"

सुगह (डिं०)=भली प्रकार से गाहटन।

इस दोहले में भी कृषि-कार्य में उपयुक्त विशिष्ट शब्दावली का कवि ने श्लिष्ट अर्थ में समावेश किया है।

गाहटतै, खलाँ, मेढ़, फेरताँ, केकाण, सुगह—ये शब्द कृषि-प्रयोज्य हैं।

अलंकार=श्लिष्टरूपक।

दो० १२८—

कण एक लिया=कई एक कण (धान्य) रूपी योद्धाओं को पकड़ लिया।

एक कण कण किया=कई एक (योद्धाओं) को कण कण—टुकड़े टुकड़े—करके नष्ट कर दिया।

भिड़=(हिं० भिड़ना)=भिड़ करके (युद्ध में भिड़ करके)।

भंजिया (डिं०)=भगा दिया।

भर खञ्चे=भार खिंचा; धान्य का भार गाड़ियों में लादा जाकर खींचा गया।

खलै (डिं०)=खलिहान में।

खलाँ (डिं०)=शत्रुओं के।

ग्रीधणी (डिं०)=हिं० गिद्धनी, एक प्रकार का स्मशान-पक्षी—विशेष।

चिड़ (डिं०)=चिड़ियाँ। खेत में धान्य-कण चुगने को आनेवाली साधारण चिड़ियाँ।

पल=(सं०) मांस; मरे हुए शवों का मांस।

चारौ (हिं०) = चिड़ियों के चुगने का चारा।

अलंकार = रूपक।

दो० १२९—

लोह साहिये (डिं० मुहाविरा) = लोहा साधते हैं, लोहा लेते हैं = युद्ध करते हैं। हिन्दी में 'लोहा लेना' 'लोहा बजाना' मुहाविरे इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

उदा० (१) सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। (तुलसी)

(२) "जासों कीजै मोह तासों लोह कैसे गहिये"।

(हनुमन्नाटक)

विरुधि (डिं०) = (सं०) विरोध में, विरोध करने के लिए, शस्त्रों-द्वारा बचाव करने में।

संस्कृतटीका—"विरुद्धो यमो" यह अर्थ करती है।

वडफरि (डिं०) = ढाल को।

ऊछजतै (डिं०) = (सं० उत् + सज्जत:) = ऊपर उठा कर, बचाव के लिए तैयार करते हुए।

भलाभली सति = "भलाभली इत्यादि" वाली कहावत सत्य है। राजस्थानी में प्रचलित कहावत है, "भलाभली प्रिथमी छै" जिसका आशय यह है कि पृथ्वी पर एक से बढ़ कर एक महापुरुष हैं। यहाँ पर यह कहावत सत्य यों हुई कि दुर्योधन और जरासंध वीरता और पराक्रम में अब तक अद्वितीय समझे जाते थे, परन्तु बलराम इनसे भी बढ़कर योद्धा निकले, जिन्होंने इन दोनों को परास्त किया। अतएव "भलाभली पृथ्वी" वाली कहावत को बलभद्र ने चरितार्थ कर दिखाया।

भंजिया (डिं०)=(सं० भग्न)=भाँग दिया, तोड़ दिया, पूर्णतया परास्त कर दिया। दो० १२८ में "भंजियौ" भगा दिया, के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत में यह धातु 'भगाना' और 'तोड़ देना' दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है।

तोई ज (डिं०)=(सं० तदा + एव) तभी तो।

दो० १३०—

वीर (डिं०)=भाई। हि० उदा० "वे हलधर के वीर।" (बिहारी)

आडोअड़ि (डिं०)=बीच में अड़ कर, आड़ा आकर, रुकावट करके। हिन्दी में अड़, आड़, आड़ा, प्रयुक्त होते हैं। हिं० उदा०

(१) सात समुद आड़ा पड़ै, मिले अगाऊ आय। (कबीर)

(२) बिरहा सेती मत अड़ै, रे मन मोर सुजान। (कबीर)

एकाएक (डिं०)=हिं० एकाएक, यकायक, अकस्मात्, अचानक।

वाग्यो (डिं०)=(सं० वाक्) बोला।

अबला=(सं०) सार्थक विशेष्य है; निस्सहाय, निर्बल स्त्री।

पग माँडि (डिं० मुहाविरा)=पैर रोक, खड़ा रह, पैरों को स्थिर कर, भागना बन्द कर।

मा० पृथ्वीराज ने डिङ्गल के मुहाविरों का बहुतायत से प्रयोग कर भाषा का प्रसादगुण और बढ़ा दिया है।

भुँइ=(सं० भूमि)।

दो० १३१—

बिलकुलियौ (डिं०)=रक्तवर्ण होगया; क्रोध से तमतमा गया।

वाकार्यो (डिं०)=राजस्थानी में 'बकारना' हिं० ललकारना, प्रचारना, चुनौती देना, के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

पुणच (डिं०) = (सं० पनच) प्रत्यंचा, धनुष की डोरी ।

आउध (डिं०) = (सं० आयुध) शस्त्रास्त्र, हथियार ।

वेलखि (डिं०) = बाण का फर, पुङ्खस्थान ।

प० मारवाड़ी टीका—"जिहाँ शर थापी नइ खांचीयइ ते वेलख ।"

अणी = शर का आगे का तीव्र भाग ।

मूठि = (सं० मुष्टि) = मुट्ठी । उदा० "मूठि कुबुद्धि धार निठुराई । धरी कूबरी शान बनाई ॥" (तुलसी)

द्रिठि (डिं०) = (सं० दृष्टि) दृष्टि में ।

नोट—डा० टैसीटरी ने अन्तिम पंक्ति में "द्रिढ" पाठान्तर लिया है । हमारी समझ में 'द्रिठि' पाठ ज़्यादा उपयुक्त और चमत्कार-पूर्ण है । "द्रिढ" लेने से 'यथासंख्य' और 'दीपक' अलंकार की हानि होती है ।

अलंकार = यथासंख्य-'वेलखि' को 'मूठि' में और अणी को 'द्रिठि' में बाँधा ।

दीपक = 'बंधि'—दोनों तरफ़ लगता है ।

दो० १३२—

आरणि (डिं०) = हिं० ऐरण = लोहार का घन जिस पर रख कर तपे हुए लोहे को पीटा जाता है । (सं० अयस् + घन) = लोहे का घन ।

तपत = (१) संतप्त, क्रोध के मारे तपा हुआ ।

(२) तपाया हुआ (लोहा) ।

प्रसन (डिं०) = (सं० प्रस्रवण) गिरना, अश्रुमोचन ।

(२) द्रवीभूत होते हुए ।

नियं (डिं०) = (सं० निज) = अपने।

तणु (डिं०) = (सं० तन) = (१) शरीर।

(२) सम्बन्धकारक का विभक्ति-चिह्न—का (देखो पूर्व दो० ३ में प्रयोग)।

साँडसी (डिं०) = हिं० सँडसी। एक प्रकार का औज़ार जिससे लोहार तपे हुए लोहे को पकड़ कर घन पर रखता है।

किउ (डिं०) = हिं० कियहु = किया।

नोट—कवि ने लोहार के व्यापारों से रूपक बाँध कर स्पष्ट कर दिया है कि जीवन के निम्न से निम्न व्यापार को कविता में प्रयुक्त करके कवि उसे कितना चमत्कृत रूप दे सकता है। कवि के अनुभव और मौलिक प्रतिभा की प्रशंसा करते ही बनती है।

अलंकार = रूपक।

दीपक—'किउ' का सम्बन्ध 'मन' और 'शरीर' दोनों तरफ़ है।

दो० १३३—

सगपण (डिं०) = सम्बन्ध की आत्मीयता; सम्बन्ध।

सनस (डिं०) = (सं० संशय) हिं० संस = संशय, आशंका, संकोच, लज्जा। हिं० उदा० "करुणा करी छाँड़ि पगु दीनो, जान सुरन मन संस।" (सूर)

सन्निधि = (सं०) = शुद्ध संस्कृत प्रयोग; निकट, समीप।

अणमारिवा (डिं०) न मारने का। 'अन' उपसर्ग 'नहीं' के अर्थ में। यथा संस्कृत—हिन्दी में—'अनर्थ,' 'अनशन'।

आलोजि (डिं०) = (सं० आलोच्य) = विचार से। देखो० पूर्व प्रयोग दो० ६४ में, "अन्तरजामी सूँ आलोज"।

आखियात (डिं०) = (सं० आख्यात = स्तुति की हुई) आश्चर्यजनक बात। प० मारवाड़ी टीका :—आखियात आश्चर्य्यकारी बात। सं० टीका :—ख्यातिराश्चर्य्यस्तुतियोग्या वार्त्ता।

आउधि (डिं०) = (सं० आ + युधि) युद्ध में।

सो जि (डिं०) = (हिं० सो + जु) वह भी, वही।

सजै = (हिं०) सजता है, प्रयोग करता है।

नोट:—इस दो० में "भावसबलत्व" का चमत्कार देखने योग्य है।

दो० १३४—

सोनानामी = (सं० सुवर्णनाम्न:) सोने का पर्यायवाची है नाम जिसका। अर्थात्—'रुक्मि'। सं० रुक्म = सुवर्ण।

विरूप (सं०) = विकृत रूपवाला, कुरूप।

छिणियै जीवि = (सं० क्षण + जीवि) क्षण भर ही का जीवन है जिसका।

जीव = (सं०) - प्राण, जीव, जीवित।

छण्डियौ = हिं० छाँड़ियौ = छोड़ दिया।

नोट—केश उतार कर रुक्मि को कुरूप करना, कवि का कल्पित वृत्त है। भागवत में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

दो० १३५—

अग्रज = (सं०) = ज्येष्ठ, बड़ा, जिसका जन्म पहले हुआ है। 'अनुज' का आपेक्षिक शब्द है।

आखै (डिं०)=(सं० आख्याति) प्रा० आक्खाइ = कहता है। पंजाबी में 'आखना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। हिं० उदा० (१) बार बार का आखियै मेरे मन की सोय। (कबीर)

(२) "सत्यसंध साँचे सदा, जे आखर आखे" (तुलसी)।

दुसट सासना (सं० दुष्ट + शासन) = दुष्टोचित दंड।

पासै (डिं०) = (सं० पार्श्वे) = पास में, नज़दीक।

बैसारी (डिं०) = (सं० वेशनम्) = बैठाना (प्रेरणार्थक)। हिं० उदा० "ऐसी को ठाली वैसी है, जो तोसों मूँड़ खवावै" (सूर)

भलौ.........भई = यह प्रचलित वक्रोक्ति है। हिन्दी में भी प्रयोग होता है, यथा: भला भई, भला काम किया।

अलंकार = वक्रोक्ति (आर्थी)।

दो० १३६—

आदेस (सं०) = आज्ञा।

पालिबा (डिं०) = पालने के लिए। हिं० उदा० "किंकरी करि पालिबी करुणामई।" (तुलसी)। अवधी प्रयोग।

मिरिगाखी = (सं० मृगाक्षी) = मृग के समान सुंदर नेत्रवाली।

मन राखिबा = मन रखने के लिए। यह मुहाविरा हिन्दी में भी प्रयुक्त होता है = मन की बात करना।

पुंडरीकाख = (सं० पुण्डरीकाक्ष) = कमलनयन, भगवान् श्रीकृष्ण।

सुसमित (डिं०) = (सं० सुस्मित) मुसकराते हुए।

सुनमित (डिं०) = (सं० सु + नम) मुख को नीचा किये हुए (संकोच और लज्जा से)।

सुव्रोड़ित (डिं०)=(सं० सु+व्रीड़ित) भलीभाँति लज्जित होकर।

थिया (डिं०)=हुए।

अलंकार=स्वभावोक्ति।

समुच्चय= उत्तरार्द्ध में।

दो० १३७—

अकरण करण (सं०)=अकारण को करनेवाले; असम्भाव्य को संभव करनेवाले। न्याय में 'करण,' कार्य को करनेवाले 'कारण' को कहते हैं।

क्रित अन्नथा करणं=किये हुए कार्य को अन्यथा करनेवाले, सम्भाव्य को असम्भव करनेवाले।

सगलै (डिं०)=(सं० सकल)=तमाम, समस्त।

थोके (डिं०)=(सं० स्तोमक=समूह)=तमाम बातों में, कुल बातों में।

ससमत्थ (डिं०)=(सं० ससामर्थ्य)=सामर्थ्ययुक्त, समर्थ, योग्य।

हा लिया (डिं०)=डिं० लिया हा=लिये थे, उतार लिये थे। 'हा'=डिंगल में यह क्रियाचिह्न "है" वर्त्तमानकालिक एकवचन क्रिया के बहुवचन और भूतकालिक रूप में प्रयुक्त होता है। इसे हिन्दी, 'था' 'थे' क्रिया का रूपान्तर समझना चाहिए। बोलचाल की राजस्थानी भाषा में अब तक यह क्रिया इस अर्थ में प्रयुक्त होती है।

डाक्टर टैसीटरी को इस शब्द के अर्थ के विषय में संशय है। वे इसे डिं० 'हालणो'=चलना क्रिया से बना हुआ समझ कर संदेह में पड़ गये हैं। वास्तव में यह क्रिया दो पदों से बनी है 'लिया+हा,' जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर

चुके हैं। संस्कृत टीकाकार भी उसी प्रकार भ्रम में पड़ कर "हा इति खेदमाकलय" यह अर्थ करते हैं।

डा० टैसीटरी ने इस पंक्ति का पाठ ही ऐसा लिया है जो भ्रमपूर्ण है;—"हालिया जा इलगाया हूँता"।

थापे (डिं०)=स्थापित किये; रक्खे।

हत्थ (डिं०)=(सं० हस्त) हाथ।

अलंकार=विरोधाभास—पूर्वार्द्ध में।

व्याघात—उत्तरार्द्ध में।

दो० १३८—

परदल=(सं०) शत्रुदल। शत्रु के अर्थ में 'पर' यथा, परंतप।

पिण (डिं०)=भी। वाक्य में किसी शब्दविशेष अथवा अर्थ पर ज़ोर देने अथवा विशेषता प्रकट करने के लिए डिंगल में यह अव्यय प्रयुक्त होता है। पण, पिण=भी।

जीपि=हिं० जीत कर। देखो पूर्व० दो० ३ में "जाणे वाद माँडियो जीपण।"

परणे (डिं०)=(सं० परिणयन)=ब्याह किया।

उभै (डिं०)=(सं० उभय)=दोनों।

एकार (डिं०)=हिं० एक बार=एक ही साथ। 'हेकार' रूपान्तर भी मिलता है। उदा० "गंगाजल हेकार, श्रवण सुणै जु साँभलै"। (पृथीराज)

वादो वदि=हिं० बदाबद, बदाबदी=हठपूर्वक, उत्साह और स्पर्धापूर्वक। हिं० उदा० "बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह"। (बिहारी)

बाधण (डिं०)=(सं० वर्द्धन)=बढ़ना। देखो—पूर्व प्रयोग दो० १३ में "अनि बरस बधै ताइ मास बधै ए"।

बधाइहार = (हिं० बधाईदार) = बधाई देनेवाले, मंगलसंवाद सुनाने-वाले। उदा० "जब ते राम ब्याह घर आये, नित नव मंगल मोद बधाये"। (तुलसी)

नोट—द्वितीय पंक्ति के कई एक पाठान्तर मिलते हैं। हमने ढूँढाड़ी प्रति का पाठान्तर सर्वोपयुक्त समझ कर लिया है।

डा० टैसीटरी ने "सत्रु सिरि अधिक वावरे सार" यह पाठान्तर लिया है। जो "परदल पिग जीपि" प्रथम पंक्ति के आशय की पुनरावृत्ति करता है, अतएव अनावश्यक है।

दो० १३६—

भूलिग्या (डिं०) = भूल गये। अब तक प्रचलित राजस्थानी में 'गया' क्रिया संयुक्त रूप में बोली जाती है; बैठग्या, उठग्या, चलग्या इत्यादि।

ग्रिहगति(सं०) = ज्योतिष के अनुसार ग्रहों की निमित्तसूचक स्थिति।

पूछीजै = (सं० पृच्छ्यते) प्रा० पुच्छिज्जइ-पूछीजै। पूछे जाते हैं। कर्मवाच्य में प्राय: सभी डिङ्गल अक० क्रियाओं के अन्त में "जै" लगता है। यथा: करीजै, खावीजै, बैठीजै, उठीजै इत्यादि।

मन......मारग = भगवान् के मार्ग की ओर उत्सुकतापूर्वक मन लगाये हुए। प्रेमपूर्वक प्रतीक्षा का कैसा स्वाभाविक और मनोरम चित्र है।

प्रज (डिं०) = (सं० प्रजा)।

ओटे चड़ी = (हिं० ओट-ओटा) = 'ओटा'-उस परदे की दीवाल को कहते हैं जो परदे के निमित्त बनाई जाती है; कोई ऊँचा स्थान, कोठा, छत पर चढ़ी हुई।

चाहे (डिं०) = (हिं० चाहना = इच्छा करना, चाहपूर्वक देखना) = देखती है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १०६ "चालिया चंद्राणणि मग चाहि।"

"वेलियो गीत" की मात्रा-गणना के अनुसार इस दो० की २ और ४ पंक्ति में १४ मात्रा होनी चाहिए। परन्तु हैं १३ ही। स्पष्टीकरण के लिए देखो भूमिका।

दो० १४०—

ऊतामळा (डिं०) = (सं० उत् + त्वर) = जल्दी जल्दी चलना। हिन्दी में प्रयोग होता है, यथाः—

कोउ गावत कोउ वेणु बजावत, कोउ उतावल धावत। (सूर)

झँखाणा (डिं०) = (हिं० झंखना) = खीजना, बहुत अधिक दुखी होकर पछताना। हिं० उदा० (१) बरस दिवस धण रोयकर, हार पड़ी चित झंख। (जायसी)

(२) उड़ि मुनिया डारी पर बैठे, झंखन लागै सारी दुनिया। (कबीर)

झळ (डिं०) = हिं० झल, झार = (१) ताप, दाह, आँच, जलन (२) उग्रकामना, उत्कट इच्छा।

हिं० उदा० साहब मिलै न झल बुझै, रही बुझाय बुझाय। (कबीर)

नीळ (डिं०) - (हिं० नीला = आसमानी रंग)। राजस्थानी में 'नीला' 'लीला' सघन हरे, वानस्पत्य रंग के लिए सर्वदा प्रयुक्त होते हैं।

करि (डिं०) = सं०-'कर,' सप्तमी विभक्त्यन्त = हाथ में।

नीलाणा (डिं०) = (सं० नीलायित) = हरे होगये। व्यंग्य अर्थ में, हृदय में प्रसन्न होगये। हिन्दी में यह मुहाविरा इस व्यंग्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। "श्याम हरित दुति होय" (बिहारी)।

कुशसथली वासी = कुशस्थलीनिवासी, द्वारिकावासी।

नोट—राजस्थान में यह प्रथा वर्त्ती जाती है कि शुभ-संवाद अथवा बधाई लेजानेवाले अपने हाथ में वृक्ष की हरी डाली ले जाते हैं। जिसका आशय यह होता है कि जिस प्रकार वृक्ष हरा भरा रहता है वैसा ही अमुक कुटुम्ब समृद्ध-सुखी रहे। यह प्रथा—पुत्रजन्म, विवाह, शत्रुविजय इत्यादि शुभ अवसरों पर मानी जाती है। कवि ने 'डर उठी झल' और "नीलाणा" में देशीय मुहाविरेदार भाषा का प्रयोग किया है। दोनों में उत्तम व्यंग्यार्थ है।

अलंकार = रूपक, 'कुससथली वासी कमल' में।

दो० १४१—

सहू (डिं०) = सभी। देखो पूर्व प्रयोग पूर्व दो० ७२ में।

साऊजम (डिं०) = (सं० स + उद्यम) प्रा० साउज्जम-साऊजम = उद्यम-शील, कार्य-तत्पर।

वधावणा (डिं०) = 'बधाई' देकर स्वागत करना। स्वागतपूर्वक अगवानी करना।

रेस (डिं०) = के लिए। अपभ्रंश भाषा में इसी अर्थ में इसी प्रकार इस शब्द का प्रयोग हुआ है। उदा० "हउँ झिज्झउँ तउ केरि पिय तुअ पुण अन्नह रेसि"। अन्नह रेसि = दूसरे के लिए।

लहरीरव = (सं०) लहरियों का रव जिसमें होता है अर्थात् समुद्र ।

लहरिउँ लियै (डिं०मुहा०) = लहरें लेता है (१) तरंगित होता है ।
(२) आह्लादित होता है ।

हिन्दी में भी 'लहरें लेना" आनन्द की उमंग का अनुभव करने के अर्थ में मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होता है ।

लहरिउँ......राकेस = विज्ञान और समुद्र-शास्त्र की दृष्टि से देखने पर यह एक प्राकृतिक तथ्य है। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के प्रभाव से समुद्र में लहरें बढ़ती हैं। उन्हें ज्वार "जलज़ोर" (देखो पूर्व दो० २३ में) कहते हैं ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० १४२—

अखित (डिं०) = (१) (सं० अक्षत) = चावल, मांगलिक चावल ।
(२) " " = निरन्तर, अनवरत ।

द्रोब (डिं०) = (सं० दूर्वा) = दूब, दूर्वा ।

हलि्द्र (डिं०) = (सं० हरिद्रा) = हलदी, एक प्रकार का पीला मसाला ।

ऊछव (डिं०) = (सं० उत्सव) प्रा० उच्छव, ऊछव ।

उत्तरार्द्ध का दूसरा अर्थ यों भी किया जा सकता है :—"उत्सव हुए; मांगलिक चावल, हरी दूब, केशर और हलदी उछाले गये ॥"

राजस्थान में शुभ अवसरों पर अक्षत, हलदी, दूब, केशर, कुंकुम इत्यादि मांगलिक पदार्थों को उछालने की प्रथा अब तक बरती जाती है ।

दे० १४३—

क्रमिया (डिं०)=(सं० क्रमण) चले, चलते थे।

ऊछाह (डिं०)=(सं० उत्साह) प्रा० उछ्छाह, ऊछाह=उत्साह-सहित; उमंग-सहित।

अङ्कमाल्=(सं०) अङ्क में माला की तरह धारण करना। आलिङ्गन करना।

नयर (डिं०)=(सं० नगर) प्रा० नयर=नगर।

आपिवा (डिं०)= लगाने के लिए; प्राप्त करने के लिए। गुजराती में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

तिकरि (डिं०)=के लिए। (सं० त्वत्कृते=तुम्हारे लिए) हमारा अनुमान है कि यह शब्द 'त्वत्कृते' का डिंगल में रूपान्तर है। संस्कृत और प० मारवाड़ी टीकाकारों ने इसका क्रमशः 'त्वत्करे' और 'करि हाथइ' अर्थात् हाथ में—ऐसा अर्थ किया है, जो अनुपयुक्त है। डा० टैसीटरी का अनुमान, कि यह शब्द सम्भवतः 'अतिकरि' का रूपान्तर हो सकता है, ऊहात्मक है। देखो प्रयोग दे० २३४, २७६ में।

पसारी (डिं०)=(सं० प्रसारित) फैलाई।

बेउ (डिं०)=(सं० द्वि+अपि)=दोनों।

नोट—कवि ने अपनी कल्पना में द्वारिका के आदर्श नागरिक सौन्दर्य का नक्शा चित्रित किया है। वर्त्तमान समय के बड़े बड़े शहर इस आदर्श तक पहुँचने की कितनी चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु यह कष्ट-साध्य अवश्य है। फिर उत्तरार्द्ध में जो उत्प्रेक्षा की गई है वह तो अत्यन्त मौलिक एवं मनोरम है।

म० पृथ्वीराज की प्रतिभा की मौलिकता के विषय में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता, जब इस प्रकार के प्रमाण देखे जायँ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १४४—

दंड = (सं०) खंभे, धातु के बने लम्बे-मोटे छड़।

झालरिये (डिं०) = (सं० झल्लरी) झालर से। किसी छोटे शामियाने के किनारे पर शोभा के लिए लगाया हुआ लटकता हुआ हाशिया 'झालर' कहलाता है। कभी कभी इसके किनारे पर मोती भी लगाये जाते हैं।

झड़ण = गिरना, झड़ना, बौछाड़ में गिरना।

छत्रे = (सं०) तम्बू या शामियाने की छतों से।

ओछायौ (डिं०) = (सं० आच्छादित) छाया हुआ, ढका हुआ।

घण वरण घण आयो = घने (बहुत से) वर्णों के (रंग-बिरंगे) बादल आये हैं।

अलंकार = रूपक—पूर्वार्द्ध में।
उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १४५—

प्रोलिमै (डिं०) = (सं० प्रतोली + मय) प्रा० पओली–पोलि (हिं०) = फाटक, प्रवेशद्वारयुक्त।

मुकरमै = मुकुरयुक्त, दर्पणयुक्त, काँच जड़े हुए, दर्पण से सुसज्जित।

मारग (डिं०) = (सं० मार्ग) इसको डिंगल में स्त्रीलिंग माना है। इसी लिए इसके लिए 'अबीरमई' स्त्रीलिंग विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

पैसार्‌यो (डिं०) = (सं० प्रसारित, प्रविष्ट:) प्रेरणार्थक अर्थ में = प्रविष्ट करवाया।

नीरोवरि (डिं०) = समुद्र। जिस प्रकार 'सर' से 'सरोवर' उसी प्रकार मिथ्या = सादृश्य (false analogy) के नियम से, 'नीर' से नीरोवर, बना हुआ प्रतीत होता है।

नई (डिं०) = (सं० नदी) प्रा० णई = नदी, सरिता।

अलंकार = एकावलि—पूर्वार्द्ध में।

उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १४६—

जस धवलित = (सं०) यश से उज्ज्वलीकृत। 'यश' का वर्ण उज्ज्वल मानकर संस्कृत कवियों ने बहुतायत से प्रयोग किया है :— "महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते।" भोजप्रबन्ध।

(२) "स्वामिकाजि करिहौं रन रारी, जस धवलिहौं भुवन दशचारी"। (तुलसी)

सधण (डिं०) = (सं० स + धनी (युवती स्त्री)) = स्त्रीसहित, वधूसहित।

हिं० उदा० (१) नूपुर पाँय उठे झननाय, सुजाय लगी धण धाय झरोखे। (देव)

(२) पुनि धन भरि अंजुलि जल लीना। (जायसी)

धवलहरे (डिं०) = ऊँचे श्वेत प्रासाद, भवन। देखो प्रयोग पूर्व दो० ४१ में।

नागर धण = सं० नगर की अथवा नागरिकों की स्त्रियाँ।

धवल दियै = धवल मंगलाचार करके, 'धवलमंगल' के मांगलिक गीत गाने लगी। देखो प्रयोग पूर्व० दो० ११३ में।

सबल = (सं० स + बलदेव) बलदेवसहित। अल्परूप में 'बलदेव' के लिए 'बल' प्रयुक्त हुआ है।

सिरि सामल = श्री श्यामल, अर्थात् श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण के शरीर का वर्ण श्यामल है।

पुहप (डिं०) = (सं० पुष्प) प्रा० पुम्फ, हिं० पुहुप।

अलंकार = अनुप्रास की छटा सब दो० में देखने योग्य है।

रूपक—'पुहप-बूँद' में।

यमक—'धवल' के अनेक प्रयोगों में। प्रथम पंक्ति में।

दो० १४७—

पै वारि = पानी वार कर, पानी न्योछावर करने की प्रथा करके। राजस्थान में शुभ अवसरों पर 'लूण-पाणी' नमक और पानी वार कर फेंकने की प्रथा अब तक प्रचलित है। कोई महत्त्व-पूर्ण काम करके आने के बाद पुरुष या स्त्री पर पानी वारा जाता है। डा० टैसीटरी को उपरोक्त अर्थ में संशय है। वे "पै" को "परि" का रूपान्तर लेते हैं और पानी के अर्थ में लेने के लिए यह आशङ्का प्रकट करते हैं कि उस दशा में—"वारि" की वृथा पुनरुक्ति हो जायगी। हमारे अन्वयार्थ को देखने पर उनको आशङ्काएँ निर्मूल प्रमाणित होंगी।

वारि = उत्सर्ग करके, वार कर।

वारै = (हिं०) = वारना लेती है; बलैयाँ लेती है, न्यौछावर करती है; उत्सर्ग करती है। हिं० उदा० (१) तो पर वारौं उरवसी सुन राधिका सुजान। (बिहारी)

(२) कोशल्या की कोषि पर तोषि तन वारियै री।
राम दशरत्थ की बलाय लीजै आलि री। (तुलसी)

आरती उतारि = शुभ मांगलिक अवसरों पर आरती उतारने की प्राचीन हिन्दू प्रथा है। राजस्थान में वैवाहिक अवसरों पर वर-वधू की आरती अब तक उतारी जाती है।

अलंकार = लाटानुप्रास, यमक।

दो० १४८—

वधावे (डिं०) = स्वागत कृत्य (हो रहे हैं)। देखो प्रयोग पूर्व दो० १४१ "वधावणा"।

वाजित्र (डिं०) = (सं० वाद्य+यंत्र) = बाजे।

वावे (डिं०) = हिं० बाजै = बजते हैं।

अभिन वाणि = एक ही वाणी अर्थात् भगवान् के यशगान का अभिन्न वाणी।

राजान (डिं०) = (सं० राजान:) राजा लोग। देखो पूर्व प्रयोग० दो० ४१ में "राजान जान सँग हुता"—

राज रमणि = राजा की रानियाँ। श्रीकृष्ण की अन्य रानियाँ।

गृह = (सं०) = अन्त:पुर में।

नोट—इस दोहले की चमत्कारपूर्ण संगीतमय शब्दयोजना ध्यान देने योग्य है। शब्दालंकार का चमत्कार भरा पड़ा है।

दो० १४९—

दैवज्ञ = (सं०) ज्योतिषी, निमित्तज्ञाता, शुभाशुभ दैवफलज्ञाता।

तेड़ि० (डिं०) = बुलाकर। यह राजस्थानी देशीय शब्द है। अब तक इसी अर्थ में प्रचलित भाषा में प्रयुक्त होता है।

ई (डिं०) = यही, ही।

लगन (डिं०)=(सं० लग्न)=मुहूर्त्त, साइत, विवाह का शुभ मुहूर्त्त ।

कइ (डिं०)=(सं० कदा) कब, किस समय। राजस्थान की प्रचलित भाषाओं में 'कब' के आशय में 'कद', कदि क्रि० विशेषण प्रयुक्त होते हैं।

दियौ (डिं०)=दो; बतलाओ (आज्ञा का रूप)। मारवाड़ी भाषा की शाखा, चूरू-शेखावाटी प्रान्त की भाषा में इस क्रिया का आज्ञा में यही रूप बनता है।

दो० १५०—

•वेदोगत (डिं०)=(सं० वेदोक्त)।

कम्पित चित=(सं०) आशंकित चित्त, भयभीत चित्त होकर।

भयभीत इसलिए होते.थे क्योंकि पुन: पाणिग्रहण न करने की व्यवस्था दे रहे थे। वेदविद् ब्राह्मण, भगवान् का रुक्मिणी के साथ विष्णु-लक्ष्मी का पूर्व=सम्बन्ध जानकर संकुचित होते थे।

हेकणि (डिं०)='एकणि'=एक के साथ (सप्तम्यन्त)।

सुत्री (डिं०)=सं० 'स्त्री' का डिंगलरूपान्तर है।

सरिस (डिं०)=(सं० सदृश) के साथ।

नोट—पाणिग्रहण का शाब्दिक अर्थ होता है 'हाथ पकड़ना'। वह तो हरण के समय हो ही चुका था। भगवान् ने 'पाणि-ग्रहण' करके रुक्मिणी को रथ में बिठलाया था। इस शाब्द अर्थ को देखते हुए पुन: पाणिग्रहण कराना, अनुचित ही था। क्योंकि यह पुनर्विवाह होता।

दो० १५१—

सगल् दोख (डिं०) = (सं० सकल दोष) = सब दोषों से।

साहौ (डिं०) = विवाह आदि शुभ कार्यों के लिए निश्चित लग्नवेला या मुहूर्त्त।

जई (डिं०) = (सं० यदा) = जब। देखो पूर्व दो० ६२ में प्रयोग 'जई-तई'।

हूँतौ (डिं०) = था।

दो० १५२—

हथलेवौ (डिं०) = (सं० हस्त + लेपन) हिं० हाथ + लेना = पाणि-ग्रहण हिन्दूविवाह के समय की एक प्रथा है जब वरवधू एक दूसरे का हाथ पकड़ कर संस्कार करते हैं।

उदा० "हियो दियो सँग हाथ के, हथलेवा ही हाथ"। (बिहारी)

सेस संसकार = पाणिग्रहण को छोड़ कर विवाह = वेदी में होनेवाले वैदिक धर्मोक्त सभी संस्कार।

हूवइ (डिं०) = (सं० भवति) प्रा० भोदि, होइ = होंगे।

सहि (डिं०) = सभी। देखो पूर्व प्रयोग "सहू, सहु,"।

नोट—ब्राह्मणों ने पहले तो 'पाणिग्रहण' को पुनः करवाना शास्त्र-विरुद्ध समझ कर दो० १५० वाली व्यवस्था दी थी। परन्तु बाद में आपस में परामर्श करके "सेस-संसकार" करने की आज्ञा दे दी। देश-काल का विचार करके और भगवान् की नरलीला का ध्यान करके उन्होंने ऐसी व्यवस्था दी होगी।

दो० १५३—

आद्र=(सं० आर्द्र)=गीले, हरे, ओदे।

अर्जुनमै=(सं० अर्जुन+मय)=(१) उज्ज्वल, स्वच्छ, शुभ्र, चाँदीयुक्त। (२) एक वृक्ष-विशेष जो दक्षिण से अवध तक नदियों के किनारे होता है।

वेह (डिं०)=विवाह-वेदी के चारों ओर जो मंडप होता है उसमें हरे बाँसों के बीच में चित्रित तथा सुसज्जित, सोने चाँदी के अथवा मिट्टी के मंगल-कलश रखे जाते हैं। उन्हें "वेह" कहते हैं।

अरणी अगनि (डिं०)=(सं० अरण्याग्नि)=यज्ञाग्नि।

अरणी=एक काठ का बना हुआ पात्र जो यज्ञों में आग निकालने के लिए काम आता है। इसके दो भाग होते हैं। "अरणि" या अधरारणि तथा उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थ से बनाया जाता है। अधरारणि के छेद के ऊपर उत्तरारणि रख कर कपास मथा जाता है जिससे उसमें आग लग जाती है। ऋत्विक् लोग मथते समय वेद-मंत्रों का उच्चारण करते हैं। यज्ञों में प्राय: यही अग्नि काम में आती है।

अगरमै=(सं० अगरु+मय) एक प्रकार की सुगन्धित लकड़ीयुक्त।

अछेह (डिं०)=(हिं०)निरन्तर, लगातार।

हिं० उदा० "आठों जाम अछेह, दृग जु बरत बरखत रहत"।
(बिहारी)

नोट—इस दोहले में राजस्थान में बर्त्ते जानेवाले विवाह-सम्बन्धी प्रथा और संस्कारों का हूबहू चित्र खड़ा किया गया है। यों तो प्राय: सभी वैदिक धर्मावलम्बी किसी न किसी

रूप में इनमें से बहुत से संस्कारों को करते हैं परन्तु "वंस-आद्र", — "वेह" — "अरणीअगनि" — ये शब्द राजस्थानी "चमरी" अर्थात् विवाह-मंडप के साथ ही विशेषत: सम्बन्ध रखते हैं।

दो० १५४—

पूठ (डिं०) = (सं० पृष्ठ) प्रा० पुट्ठ–पिट्ठ, हिं० पीठ।

परठित (डिं०) = (सं० प्र + स्थित, प्र + स्थापित) = स्थापित किया हुआ है; सुसज्जित किया हुआ है, सुशोभित है। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०६ में "परठि द्रविण सोखण सर पंच"।

आतपत्र = (सं०) = छत्र, चंदोआ।

मधुपर्कादि सँसकार = यज्ञ में दही, घी, जल, शहद और चीनी का मिश्रण देवताओं को चढ़ाया जाता है। पूजा के षोडश उपचारों में से देवताओं को प्रसन्न करने का यह भी एक उपचार है। इस उपचार के करने से करनेवाले के लिए सुखसमृद्धि, सौभाग्य और मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

धार्मिक दृष्टि से पवित्र करनेवाला कोई भी वर्णाश्रम-धर्मानुसार विधान संस्कार कहला सकता है।

त्री० (डिं०) = (सं० स्त्री) वधू।

वैसाणि (डिं०) = (सं० वेशन) = बिठलाई। देखो प्रयोग पूर्व दो० १३५ में "बैसारी"।

दो० १५५—

आरोपित = (सं०) स्थापित, लगी हुई।

मछे (डिं०) = (सं० मत्स्य)=मछलियों से।

गृहीत = (सं०) = पकड़ा हुआ, घिरा हुआ।
अंगणि = (सं० अङ्गना) = स्त्रियाँ, औरतें।

ओटे चढ़ि चाहै = छत पर चढ़ कर बड़े चाव (बड़ी चाह) से देखती हैं (निरखती हैं) देखो नोट पूर्व दो० १३९ में "चाहै प्रज ओटै चड़ी"।

मङ्गल् करि (डिं०) मंगलाचरण की रीति करके। देखो नोट पूर्व दो० ४२ में "धवल् मंगल्"।

गरभ.........गृहीत—द्वितीय पंक्ति में कवि ने जो उत्प्रेक्षा कल्पित की है वह साहित्य में अनूठी है। मौलिक एवं तत्त्वदर्शिनी प्रतिभा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। अत्यन्त मनोज्ञ एवं मनोहर है। सच्चे रहस्यवाद का लक्षण है।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १५६—

फेरा (डिं०) = (हि० फिराना, फिरना, फेरा (संज्ञा) = प्रदक्षिणा, परिक्रमा, भाँवर फिरना। राजस्थानी में "भाँवर" को "फेरा" कहते हैं। यहाँ पर कवि ने देशीय प्रथा का निर्देश किया है। राजस्थान में विवाह-वेदी के चारों ओर वर वधू चार भाँवरें देती हैं जिनमें पहली तीन में तो वधू वर के आगे होती है। और चौथी में वर वधू के आगे हो जाता है। तदुपरान्त आजीवन जीवन-यात्रा में पति-पत्नी का स्थान-क्रम यही रहता है।
प्री (डिं०) = (सं० प्रिय) = प्रियपति, पति।
आगलै (डिं०) = आगे। देखो प्रयोग दो० १८ में "आगलि पितमात" इत्यादि।

सांगुष्ट कर सूँ = सांगुष्ठ कर से, अँगूठे सहित पूरे हाथ के पंजे से।

चम्पियौ (डिं०) = (सं० चप) हिं० चँपना—दबना, दबाना = दबाया।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १५७—

पधरावि (डिं०) = (सं० प्र + धृ) हिं० पग धारण; प्रेरणार्थक अर्थ में = स्थापित करके, बिठला कर।

प्रभणावै (डिं०) = (सं० प्र + भण्) (प्रेरणार्थक) = कहलाते हैं; उच्चारण करवाते हैं।

लाधी वेला (डिं०) = (सं० लब्धवेला) = उपलब्ध सुकाल, पाया हुआ अच्छा अवसर।

पाठके, नवे = यह 'पाठक' और 'नव' शब्द के एकारान्त बहुवचन प्रयोग हैं। एकारान्त बहुवचन डिंगल में साधारणतया प्रयुक्त होता है।

अर्थ:—पाठकों ने नवों निधि......

माँगी = (हिं०) = मुँहमाँगी, इच्छानुकूल।

लाधी (डिं०) = (सं० लब्ध) प्रा० लब्ध = प्राप्त की।

हिं० उदा०—इन सम काहु न शिव अवराधे,
काहु न इन समान फल लाधे।

(तुलसी)

वाच परसपर यथा विधि = ऊपर के कई दो० में कवि विवाह-सम्बन्धी देशीय अनुष्ठानों, प्रथाओं तथा विधानों का उल्लेख करते आये हैं। यहाँ विवाह-वेदी के सामने वर-वधू के प्रतिज्ञा-बद्ध प्रश्नोत्तर का उल्लेख किया गया है जो भारत में

सार्वदेशिक हिन्दू-विवाह-वेदियों में प्रचलित है। इसे शास्त्र में सप्तपदी वचन कहते हैं, जो क्रमशः ये हैं—

पत्नी से पति को :—

तीर्थव्रतोद्यापनदानयज्ञान्, मया सहार्थं यदि कान्त कुर्याः ।
वामाङ्गमायामि तदा त्वदीयं, जगाद वाक्यं प्रथमं कुमारी ॥

पति से पत्नी को :—

मदीयचित्तानुगतं स्वचित्तम्, सदा मदाज्ञा परिपालनं च ।
पतिव्रताधर्मपरायणं चेत्, कुर्याः तदा सर्वमिदं प्रदत्तम् ॥

दो० १५८—

सूणहर दिसि (डिं०) = (सं० स्वप्न + गृह), प्रा० सुवण + हर, सूणहर (डिं०) = सोने के महलों की ओर, शयनागार की ओर।

क्रम दीन्हा (डिं०) = (सं० क्रमण = चलना) = चल दिये, धीरे धीरे चल पड़े।

चौरी (डिं०) = राजस्थान में विवाह-मंडप के लिए साधारण बोल-चाल में "चौरी"—"चँवरी;" 'चमरी' शब्द प्रचलित हैं। हिन्दी में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। उदा० "रची चौरी आप ब्रह्मा चरित खंभ लगाइ कै।" (सूर)

अञ्चला = (सं० अंचल) साड़ी का छोर, पल्ला, वस्त्र का छोर।

मनबन्धे अञ्चला मिसि = विवाह-वेदी से उठने पर वर के दुपट्टे का छोर वधू के अंचल के छोर से बाँध दिया जाता है। तब वे देवयात्रा, देवदर्शन इत्यादि धार्मिक कृत्य करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अंचल के मिस दम्पति के मन बँध गये हैं।

अलंकार = कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १५६—

केलिगृह (सं०) = केलिभवन, दम्पति के एकान्त में निवास करने का महल।

करेण (सं०) = शुद्ध संस्कृत विभक्तियुक्त पद का प्रयोग।
तृतीयाविभक्ति = हाथ से।

अंगण (डिं०) = (सं०) आँगन।

मारजण (डिं०) = (सं० मार्जन) साफ़ करना, स्वच्छ करना, धोना।

वियाज (डिं०) = (सं० व्याज) मिस से। अपह्नुति का चिह्न।

तसु (डिं०) = (सं० तस्य) = उसके।

नोट—यह दो० संस्कृतप्रयोगों से भरा है। कवि ने अपनी भाषा को ओजस्वी, अधिक परिमार्जित एवं साहित्यिक बनाने के लिए जगह जगह संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया है। किसी भी भारतीय देश-भाषा का काव्य संस्कृत के इस दैन से नहीं बचा है। यह संस्कृतभाषा के काव्य के उच्च आदर्शों के कारण है; जिनका सभी देश-भाषाओं ने अनुकरण किया है।

इस दो० में कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण के शेषशायी विष्णुरूप की ओर निर्देश किया है।

अलंकार = कैतवापह्नुति। उत्तरार्द्ध में।

दो० १६०—

सूध मणि (डिं०) (सं० सौधमणि) = प्रासाद श्रेष्ठ, सर्वश्रेष्ठ महल।

अनि अनि रँगि रचित = अन्यान्य रंगों में या रङ्गों से रचित; भिन्न भिन्न रङ्गों से चित्रित।

मणि दीपक करि = मणिमय दीपकों करके, अर्थात् मणि-दीपकों से।

आभा = (सं०) शोभा, कान्ति, प्रतिबिम्बित शोभा।

माँडि रहे = मँडे हुए, चित्रित, खिँचे हुए, लिखे हुए। डिङ्गल में 'माँडणो', लिखना, अङ्कित करना, के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत में चित्रित करने के लिए "लेखनम्" पर्यायवाची क्रिया का प्रयोग होता ही है।

चन्द्रवा = हिं० चँदवा, चँदोवा।

(१) एक छोटा सा सुसज्जित मंडप जो राजसिंहासन या राजगद्दी पर चाँदी या सोने के चार चोबों पर खड़ा किया जाता है। चंदोवा, वितान।

(२) मोर पंख की चन्द्रिका। उदा० "मोरन के चंदवा माथे बने राजत रुचिर सुदेश री। (सूर)

(३) (डिं०) मोरपंख की चंद्रिकाओं की आकारवाली, छत की दीवाल पर चित्रित, चन्द्रिकाएँ। राजस्थान में राजाओं के अन्तःपुर के महलों में प्रायः इस प्रकार की चन्द्रिकाएँ छत के अन्दर की ओर चित्रित देखी जाती हैं। कवि को अपने महलों की चन्द्रिकाओं का स्मरण हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। उन्हीं की उपमा शेष के सहस्रफणों से दी गई है, जो अत्यन्त उपयुक्त है। "चन्द्रवा" के पहले दो अर्थ हिन्दी में अकसर प्रयुक्त होते हैं परन्तु यहाँ उनसे आशय नहीं है।

अलंकार = कैतवापह्नुति, उत्तरार्ध में।

नोट—संस्कृत टीका "सूधमणि" का "शुद्ध मानसा" अर्थ करके उसका सम्बन्ध शेषनाग से संयोजित करती है, जो अनुपयुक्त है।

दो० १६१—

संसकृत (डिं०) = (सं० संस्कृति) = संस्कार ।

खिणान्तरि (डिं०) = (सं० क्षणान्तरे) = क्षणेक के बाद, थोड़े समय के बाद ।

रति सु तणु संसकृत = रति है जो, उसके संस्कार करने—अर्थात् रति-संस्कार करने ।

मिलिवा (डिं०) = मिलने के लिए । डिंगल में वा' प्रत्यय क्रिया के अन्त में जोड़ कर, 'के लिए,' 'के निमित्त'—यह अर्थ लिया जाता है । देखो पूर्व प्रयोग दो० १३६ 'पालिवा, करिवा' इत्यादि ।

विचित्रे सखिये = विचित्र सखियाँ । सखियों के लिए 'विचित्र' विशेषण अत्यन्त आशय-गर्भित है । यहाँ उन विचित्र स्वभाव-वाली सखियों से मतलब है जिन्हें साहित्य में नायिका-भेद के अन्तर्गत "दूती" भी कहते हैं ।

एकारान्त बहुवचन द्योतक है ।

मन्दिरन्तरि (डिं०) = अन्तर पर स्थित, पृथक् पृथक् मन्दिरों में अर्थात् जुदे जुदे महलों में ।

'अन्तर' शब्द संस्कृत में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है यथा—अवकास, भेद, दूसरा, पीछे इत्यादि ।

यहाँ 'दूसरे' का अर्थ लेना चाहिए, यथा—गृहान्तर, स्थानान्तर ।

नोट—इस दोहले में सुहाग-रात्रि का वर्णन है । यूरोपीय देशों में इसे Honeymoon night कहते हैं । कवि ने अपने अनुभव से विचित्र सखियों—दूतियों—के कर्म की बड़ी सूक्ष्म विवेचना

की है। उन्होंने दम्पति को "मन्दिरन्तरि किया" पृथक् पृथक् मन्दिरों में रखा; उनका चिर-वियोग करने के मतलब से नहीं, बल्कि, "खिणन्तरि रति संसक्रित करण मिलिवा," च्णेक के बाद पुनः मिलाने के लिए। रसज्ञ जानते हैं कि संयोग शृङ्गार का पूर्ण आनन्द तभी प्राप्त होता है जब उसके पहले, थोड़े समय के लिए वियोगजनित प्रेम-प्रतीक्षा हो चुकी हो। काव्य में इसी गुण को लाने के लिए कवि ने 'विचित्रे सखिये' द्वारा यह व्यापार करवाया है।

दो० १६२—

संकुड़ित (डिं०) = (सं० संकुचित) हिं० सिकुड़ा हुआ = संकुचित, संकोचमय। यह शब्द वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सन्ध्या के संकोच के सम्बन्ध में तो सिकुड़ने, कम होने का अर्थ है और रुक्मिणी के सम्बन्ध में, लज्जा, संकोच, शील का आशय है।

पंखियाँ (डिं०) = (सं० पक्षी बहु० व०) पंखधारियों, पक्षियों।

उदा० "पंखिन देखि सबै डर खावा।" (जायसी)

किरणि (डिं०) = सूर्य की किरण।

इकारान्त का प्रयोग 'रमणि' से तुक मिलाने को किया गया है। शब्द का लिंगभेद द्योतक नहीं है।

वञ्छिति (डिं०) = (सं० वाञ्छति) डिंगल में मध्यस्थित मिलित वर्णों के पूर्व आनेवाले दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है। = चाहती है।

यदि ढूँढाड़ी प्रति का पाठान्तर "वञ्छित" ग्रहण किया जाय तो इस द्वितीय पंक्ति का यह अर्थ भी हो सकता है :—

रुक्मिणी-रमण अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण के हृदय में भी रति-काल को सन्निकट आया जान, रति की इच्छा हो रही है।

नोट—मानव प्रकृति और बाह्य प्रकृति के अन्योन्याश्रित संकोच के भावों का कवि ने किस सूक्ष्मता के साथ विवेचन किया है, यह सहृदय रसज्ञों के मनन करने योग्य है। हम १६२ तथा १६३ दो० वाले वर्णनों को एक उच्च रहस्यवादी प्राकृतिक कवि की प्रतिभा की उत्कृष्ट सूझ समझते हैं।

अलंकार = दीपक।

दो० १६३—

पेखण (डिं०) = (सं० प्रेक्षण) प्रा० पेक्खण = देखने के लिए। हिं० उदा० "श्रमकण सहित स्याम तनु देखे, कहँ दुख समउ प्राणपति पेखे।" (तुलसी)

निसा तणौ मुख = (१) रात्रि का मुख। (२) निसा-मुख, सन्ध्या की वेला, गोधूलिवेला।

निसाचर = (सं० निशाचर) = रात्रि को चलने फिरनेवाले यथा, राक्षस, शृगाल, गीदड़, उल्लू, सर्प, चक्रवाक, भूत-प्रेत, कुलटा स्त्री, अभिसारिका, पिशाच इत्यादि।

दीठ (डिं०) = (सं० दृष्टः) प्रा० दिट्ठ = दिखाई दिया। हिन्दी में भी इसका प्रयोग होता है। बहुधा संज्ञा की तरह दृष्टि के अर्थ में आता है। कभी कभी क्रियार्थक भी उपयुक्त होता है। उदा० "तहँ शाख बैठो नीठि, तब पर्‌यो बानर दीठि।" (केशव)

निठ, नीठ (डिं०) = (सं० अनिष्टि) प्रा० अनिट्ठि—प्रथम 'अ' का लोप। = मुश्किल से, कठिनता से, अत्यन्त श्रम के बाद। हिन्दी-काव्य में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है।

उदा० (१) चकी जकी सी ह्वै रही, बूझे बोलति नीठि।
(बिहारी)

२) सदा समीपिन सखिनहूँ, नीठि पिछानी जाय।
(बिहारी)

द्रवड़ित (डिं०) = हिं० दौड़ना। डिङ्गल में शब्दों में रेफ लगा कर उनको विकृत करने का साधारण नियम है। जैसे, 'कर्म' से 'क्रम,' "तूटै" से "त्रूटै"। इसी प्रकार हिं० दौड़ना से द्रवड़णउ, द्रौड़णौ।

अभिसारिका = (सं०) अवस्थानुसार नायिकाओं के दश भेद होते हैं। उनमें से एक यह भी है। वह स्त्री जो प्रेमी से मिलने के लिए स्वयं संकेतस्थल पर जाय या स्वयं उसे बुलावे उसे 'अभिसारिका' कहते हैं। 'शुक्ला' और 'कृष्णा' ये दो अभिसारिकाओं के भेद हैं। कई एक तीसरा भेद 'दिवाभिसारिका' भी मानते हैं। शुक्लपक्ष की रात्रि में प्रिय से मिलनेवाली को शुक्ला और कृष्णपक्ष की अँधेरी भयावनी रात्रि में प्रेमी से संकेतस्थल में मिलनेवाली को कृष्णाभिसारिका कहते हैं। दिवाभिसारिका का लक्षण केशवदास ने यों लिखा है:—

(१) चकित चित्त साहस सहित, नीलवसनयुत गात।
कुलटा सन्ध्या अभिसरै, उत्सव तम अधरात॥

अभिसारिकालक्षण :—

अभिसारिका बुलवै पियहिं कै आपुहि चलि जाय।
करि सिंगार भूषण पहिरि तिया चली हरषाय॥ (भानु)

कुलटा=(सं०) बहुत से पुरुषों से प्रेम रखनेवाली। पुँश्चली, व्यभिचारिणी, स्वैरिणी। परकीया नायिका का एक भेद।

लक्षण :—

कुलटा कुल बोरनि करै, बहु लोगन सों प्रेम।
फरै सरस जन द्रुमन सों, हे विधि कर अस नेम॥ (भानु)

साहित्य में नायिका-भेद इस प्रकार माना गया है :—

(१) प्रकृत्यनुसार—(१) उत्तमा (२) मध्यमा (३) अधमा नायिकाएँ।

(२) धर्मानुसार—(१) स्वकीया (२) परकीया या अन्या (३) सामान्या या गणिका।

(३) वयक्रमानुसार—(१) स्वकीया—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना उपभेदों-सहित। (२) परकीया—ऊढ़ा और अनूढ़ा (अविवाहिता) भेदों-सहित।

(४) व्यापारभेदानुसार—नायिकाओं के अगणित भेद और नाम हैं जिनमें दस मुख्य हैं, यथा—कलहान्तरिता, मानिनी, खण्डिता, प्रोषितपतिका, अभिसारिका, वासकसज्जा, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, प्रवत्स्यत्पतिका।

नोट—इस दोहले में प्रकृति में विस्तार के भाव का दिग्दर्शन किया है। यह चित्र दो० १६२ वाले चित्रफलक की दूसरी ओर के दृश्य का प्रतिबिम्ब है। दोनों दो० को मिला कर प्राकृतिक विस्तार और संकोच के भावों का अध्ययन करना चाहिए और साथ ही मानवप्रकृति में इन्हीं भावों का प्रतिबिम्ब

पृथक् पृथक् श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के हृदय में देखना चाहिए और उन दोनों के हृदय के भावों के सम्मिश्रण से क्या सुखद दृश्य उपस्थित होता है, उसको भी कल्पना करनी चाहिए।

अलंकार = दीपक।

दो० १६४—

चक्रवाक (सं०) = चकवा चकवी का जोड़ा। कवियों ने रात्रि में इनका वियोग माना है।

अनि (डिं०) = (सं० अन्य) = दूसरे।

असन्धे (डिं०) = (सं० अ + सन्धि) पृथक् होगये, जुदा होगये।

लाया दीपकाँ = जलाये हुए दीपकों, लगाये हुए दीपकों। 'लाया,' 'लाये', क्रिया का 'जलाये' 'प्रज्वलित किये' के अर्थ में हिन्दी में प्रयोग होता है—हिं० 'लाय' 'लाइ' = अग्नि।

हिं० उदा० (१) तब लंक हनुमत लाइ दई। (केशव)

(२) लगा लगी इन लोचननि, उर में लाई लाय। (बिहारी)

(३) कबीर चित चंचल किया, चहुँ दिशि लागी लाय।

(कबीर)

नोट—रात्रि के आरंभ का वर्णन है। कवि ने कल्पना की है कि यह दिवसरूपी कामी पुरुष और रात्रि रूपिणी कामिनी स्त्री के सम्मिलन का समय है।

अलंकार = पर्याय—पूर्वार्द्ध में।

कैतवापह्नुति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६५—

ऊभी (डिं०) = (सं० उत्+भव) प्रा० उब्भउ, डिं० ऊभौ, ऊभी (स्त्रीलिङ्ग) = खड़ी हुई। हिन्दी में भी कभी कभी प्रयोग होता है :—

उदा० (१) विरहिन ऊभी पंथ सिर, पंथी पूछै धाय। (कबीर)

(२) चौदह सहस सुंदरी ऊभी, उठै न कंत महा अभिमानी। (तुलसी)

क्रितारथी = (सं० कृते + अर्थे) = लिए, निमित्त। दोनों अव्ययों का एक ही अर्थ होने से, एक यहाँ अनावश्यक है। 'कृते' या 'अर्थे' दोनों में से एक भी अर्थ व्यक्त करने को पर्याप्त था।

(ऊभी) कृत = (सं०) की गई—खड़ी की गई।

अटत = (सं०) घूमते हैं; फिरते हैं।

उदा० जाग जोग जप विराग, तप सुतीर्थ अटत। (तुलसी)

स्रुति = (सं०) कान।

आहुटि (डिं०) = (हिं० आहट, संज्ञा, स्त्री०) चलने का शब्द, पद-चाँप, पदध्वनि। उदा० "आहट पाय गोपाल की ग्वालि गली मँह जाय के धाय लियौ है ॥"

सप्तमी इकारान्त होने के कारण = आहट में, आहट पर।

समाश्रित = (सं०) भली प्रकार आश्रित, स्थित। शुद्ध संस्कृत प्रयोग।

अलंकार = स्वभावोक्ति।

दो० १६६—

वाधाऊआ (डिं०) = बधाईदारों। बधाई से डिं० बधाऊ, बधाऊ + आ (बहुवचने)

जेही (डिं०) = (सं० यादृशी) जैसी, की भाँति, की तरह। 'जेहड़ी' 'जेहवी' का यह रूपान्तर-मात्र है। देखो प्रयोग दो० १६८ में।

सूँधा वास (डिं०) = सौंधे की सुगन्धि, सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्धि। "सौंधे" का प्रयोग हिन्दी में भी होता है।

उदा० (१) सौंधे की सुवास आस पास भरि भवन रह्यो।
भरत उसास वास बासन बसत है। (देव)

(२) सौंधे सनी सुथरी बिथुरी अलकैं हरि के उर आली।
(बेनी)

नेउर = (सं० नूपुर) हिं० नेवर, नूपुर = पेंजनी, घुँघरू। उदा० "चींटी के पग नेवर बाजै।" (कबीर)

सद (डिं०) = (सं० शब्द प्रा० सद्द) = शब्द।

क्रमि (डिं०) = (सं० क्रम् धातु = चलना) चलकर। देखो पूर्व प्रयोग "क्रमिया" १४३ दो० में।

अनै, थ्या (डिं०) = गुजराती प्रयोग, पूर्व दो० में भी हुए हैं।

हँसा गति = (सं०) हंसगमनि, हंस के समान मनोहर चालवाली। साहित्य में नायिका की मनोहर गति की उपमा हंस की गति से दी जाती है। यह काव्य-प्रसिद्ध रूढ़ि है।

कहे (डिं०) – कहा। अन्यत्र एकारान्त क्रिया का ऐसा रूप पूर्वकालिक में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कहीं कहीं निश्चयवाचक भूतकाल की सम्पूर्ण क्रिया के लिए भी यह रूप प्रयुक्त होता है।

अलंकार—उपमा—दूसरी, तीसरी पंक्तियों में।
पर्याय—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६७—

मदवहती = (सं०) मद को धारण करनेवाली। नायिका के पक्ष में यौवनमद से युक्त। गजपक्ष में मदजलयुक्त।

गयगमणि = (सं० गजगामिनि) हाथी के समान (झूमती झामती) चालवाली। साहित्य में यह बहुप्रयुक्त उपमा है।

लोह लंगरे = लोहे की बेड़ियाँ या साँकल जो हाथी के पैरों में उसे एक जगह स्थिर करने के लिए डाली जाती है।

लाज लोह लंगरे लगाये = लाजरूपी लोहे के लंगर पैरों में डाले हुए।

हिन्दी-काव्य में यह उपमा कई कवियों-द्वारा प्रयुक्त हुई है। बिहारी के एक दोहे में हूबहू इन्हीं शब्दों में यह भाव प्रकट किया गया है। और भी उदाहरण है :—

"लाज की निगड़ गड़दार अड़दार चहूँ चौंकि चितवनि चरखीन चमकोरे है।" (देव)

गय (डिं०) = (सं० गज) प्रा० गय। हाथी।

आणी (डिं०) = (सं० आ + नी) = लाई। उदा० "कपि मुद्रिका मेलि मुख आनी।" (तुलसी)

नोट—उत्तरार्द्ध में कवि ने श्रीरुक्मिणी के संकोचभाव की उपमा, "लाज लोह लंगरे लगायें गय जिमि" से दी है। यह अत्यन्त मनोहर और समयोपयुक्त है। इस उपमा को ध्यान में रखते हुए कवि ने रुक्मिणी का 'पग पग' पर 'ऊभी' रहना और 'अवलम्बि सखी कर' चलना बड़ी युक्ति और कौशल

के साथ, उनकी लज्जा के भाव को साङ्गोपाङ्ग चित्रित करने के लिए वर्णित किया है तथा साथ ही उनकी हलचलों को मदमस्त हाथी की हलचलों से पूर्णरूपेण मिला दिया है।

अलंकार = रूपकगर्भित उपमा।

दो० १६८—

देहली = (सं०) हिं० देहरी = द्वार के चौखट के नीचे की लकड़ी अथवा पत्थर जिसे लाँघ कर बाहर से भीतर और भीतर से बाहर आते जाते हैं।

उदा० "एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे, एक कर कंज एक कर है किँवार पर।" (पद्माकर)

धसति (डिं०) = (हिं० धँसना) = घुसते, प्रवेश करते हुए।
हिं० उदा० मकराकृत गोपाल के कुंडल सोहत......... धसत ड्यौढ़ी लसत निसान। (बिहारी)

जेहड़ि (डिं०) = जैसी ही, ज्योंही। सं० टीकाकार ने "चरणाभरण-विशेष इति" कह कर अनुमान लगाया है।

अमाप (डिं०) = (हिं० अ + माप) नहीं है तौल जिसका; अतुलित, बेहद, अपरिमित।

ऊपनौ (डिं०) = (सं० उत्पन्न) प्रा० उप्पण्ण, ऊपण = उत्पन्न हुआ।
उदा० (१) वन वन वृच्छ न चन्दन होइ, तन तन विरह न उपनै सोइ। (जायसी)

(२) तस सुख में दुख ऊपनै, रैन माँझ दिन होय। (जायसी)

ऊभा (डिं०) = खड़ा। देखो नोट पूर्व दो० १६५ में 'ऊभी' पर।

नोट—प्रेम में हृदय के उत्साह की सीमा नहीं रहती। भगवान् ने पैरों खड़े होकर ही नहीं, बल्कि उनके शरीर के प्रत्येक रोम ने खड़े होकर प्रेयसी रुक्मिणी का स्वागत किया है। धन्य।

अलंकार = अतिशयोक्ति—पूर्वार्द्ध में।
पर्यायोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० १६६—

दीहां (डिं०) (सं० दिन, दिवस) दीहड़ा, दिहाड़ा, दियअड़ा, दिवहड़ा इन रूपान्तरों का प्रयोग भी डिङ्गल में इसी अर्थ में देखा जाता है।

अन्तरै (डिं०) = (सं० अन्तर) बाद, पीछे।

आपे (डिं०) = लेकर, स्थापित करके। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

पधरावी (डिं०) = (सं० प्र+धृ) = स्थापित की, रखी।

अलंकार = प्रहर्षण।

दो० १७०—

माहव......त्रिपतमन = यद्यपि माधव, (विष्णुरूप भगवान्) श्रीकृष्ण तृप्तमन हैं अर्थात् वे सर्वदा निष्काम अथवा पूर्ण-काम रहते हैं। भगवान् का विगत-काम होना ऐश्वरीय गुण है।

अतिरूप प्रेरित = अत्यन्त रूपवाली रुक्मिणी की ओर चल कर लगी हुई। इससे यह स्पष्ट होता है कि रुक्मिणी की रूप-छटा ऐसी आकर्षक थी कि स्वभावत: निष्काम प्रकृतिवाले भगवान् की आँखों को भी उसने आकर्षित कर लिया।

धण (डिं०) = स्त्री। देखो नोट पूर्व दो० १४६ में।
अलंकार = विरोधाभास—पूर्वार्द्ध में।
उपमा—उत्तरार्ध में।

दो० १७१—

आजाति जाति (डिं०) = (सं० आयाति + याति) = आते जाते हैं।
घूँघट पट (डिं०) = (सं० अवगुंठन पट) = स्त्रियों के मुँह पर लज्जा-निवारणार्थ अञ्चल का छोर परदे की तरह ढका रहता है, उसे घूँघटपट कहते हैं। उदा० "घूँघट के पट खोल री, बोल री तोहिं राम मिलेंगे।"
अन्तरि = (सं०) अन्दर। देखो दो० १६१, जहाँ पर यह अव्यय दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।
उदा० "बसत सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिम्बित जग होइ।
(बिहारी)

अमिली (डिं०) = (सं० अ + मिलित) हिन्दी में "अमिल" का प्रयोग होता है। उदा० (१) "हरखि न बोली लखि ललन, निरखि अमिल सँग साथ। (बिहारी)
(२) निपट अमिल वह तुम्हैं मिलिबे की जक, कैसे कै मिलाऊँ गति मोपै न विहँग की। (केशव)
मेलण (डिं०) = (सं० मिल) प्रेरणार्थक मिलाना, संयुक्त करना इकट्ठा करना। उदा० "सिय जयमाल राम उर मेली।"
कटाछि = (सं० कटाक्ष) हिं० कटाछ, कटाछि। तिरछी आँखों से देखना। उदा० "कटाछनि घालि कटा करती है।" (बिहारी)
नली = (सं० नलिका) हिं० नरी, नली। जुलाहों का नली के आकार का एक यंत्र जिसमें सूत लपेट कर इधर से उधर

फेंकते हैं और कपड़ा बुना जाता है। अँगरेज़ी में Shuttle-fly कहते हैं।

सूत्र नियमन = धागे अथवा कपड़े के तन्तुओं को क्रमबद्ध अथवा नियमबद्ध करनेवाली।

सं० नियम - कोई व्यवस्थित परिपाटी अथवा क्रम।

इससे क्रिया बनी 'नियमन' = नियमबद्ध करनेवाली।

दूति (सं०) प्रेमी-प्रेमिकाओं को मिलानेवाली साहित्य-प्रसिद्ध स्त्री को दूती कहते हैं। स्वभाव के अनुसार ये तीन प्रकार की होती हैं (१) उत्तमा, (२) मध्यमा, (३) अधमा। यहाँ रुक्मिणी के घूँघट-पट में इधर से उधर जानेवाले नेत्रों का कटाक्ष ही दूती का कार्य कर रहा है।

मन = (१) नायक और नायिका के मन ("दूति मै" सम्बन्ध में) (२) सूत्र के ताने और बाने के दो धागे ("नली" सम्बन्ध में)

नोट—दो० १३२ में तो कवि ने अपनी मौलिक कल्पना के बल पर लोहार के कार्य को उपमान के रूप में संयोजित करके चमत्कारपूर्ण किया था। इस दो० में जुलाहे के कार्य को अमर किया है। सच्चा कवि वही है जो जीवन के साधारण से साधारण व्यवसायों को काव्य में उपयुक्त करके अपनी प्रतिभा के प्रकाश से उन्हें सौन्दर्य्य और प्रकाशपूर्ण कर दे। कबीर ने भी इसी व्यवसाय को लेकर अध्यात्मविषय पर कविता बनाई—"झिनि २ बीनी चदरिया" (कबीर)

अलंकार = रूपक।

दो० १७२—

विलासा = (सं०) अंग की मनोहर चेष्टायें, भाव-भंगियाँ, हाव-भाव, विकार इत्यादि। संयोग के समय अनेक प्रकार के हाव-

भाव अथवा प्रेम-सूचक इतर क्रियायें शरीर के अंगों में होने लगती हैं, जो एक दूसरे प्रेमी की अनुरक्ति का कारण होती हैं। इन्हें "विलास" कहते हैं। हिं० उदा० "भ्रुकुटि-विलास जासु जग होई"। (तुलसी)

जई (डिं०) = (सं० यदा) जब, जिस समय। देखो पूर्व प्रयोग दो० ६२, १५१, में।

हेक हेक हुइ = एक एक होकर, एक एक करके, क्रमशः।

अलंकार = स्वभावोक्ति।

सूक्ष्म।

दो० १७३—

एकन्त उचित क्रीड़ा = एकान्तोचित क्रीड़ा। रहस्य में करने योग्य क्रीड़ा अर्थात् रति-क्रीड़ा।

कहणौ आवै (डिं० मुहा०) = कहने में आवे, कहते बने। हिन्दी में भी यह मुहाविरा प्रयुक्त होता है।

सुजि (डिं०) = वही ही अर्थात् दम्पति श्रीकृष्ण-रुक्मिणी, देखो प्रयोग पूर्व दो० ७६ में। सुजु, सोज इत्यादि इसके रूपान्तर हैं।

दो० १७४—

प्रारथित = (सं०) प्रार्थिता (कर्मवाच्य प्रयोग) = प्रार्थना की जाती हुई।

केहवी (डिं०) = (सं० कीदृशी) कैसी। केही, केहड़ी रूपान्तर भी मिलते हैं। जिस प्रकार—जेही, जेहड़ी, जेहवी।

श्री = (सं०) = शोभा, कान्ति।

विगलित = (सं०) = शिथिल, म्लान, बिगड़ी हुई।

उदा० "ऋतुपति तरु विगलित सुदल, तहँ कुरूपता वास।"

गति = (सं०) = दशा, हालत। उदा० "भइ गति साँप छछुंदर केरी।" (तुलसी)

सुरत - (सं०) रति-क्रीड़ा, संभोग। उदा० "सुरत ही सब रैन बीती, कोक पूरण रंग।" (सूर)

कलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० १७५—

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण, मश्रण = कामदेव।
उदा० जाहि दीन पर नेह, करहु कृपा मर्दन मयन ॥
(तुलसी)

कुंदण = हिं० कुंदन = बहुत अच्छे और साफ़ सोने का पतला पत्तर जिसे लगा कर जड़िये उस पर नगीना जड़ते हैं। स्वच्छ, ख़ालिस, बढ़िया स्वर्ण।

मिलिया (डिं०) = (सं० मिलिता) हिं० मिलाया = एकत्रित किया।

अलंकार = उत्प्रेक्षा—रूपकगर्भित।

दो० १७६—

ध्रगध्रगी (डिं०) = (अनुकरण शब्द) हिं० धगधगी। डिंगल में रेफ का आगम करने का नियम है। हृदय का धग् धग् करके धड़कना।

उदा० (१) आवत देख्यौ विप्र, जोरि कर रुक्मिणि धाई।
कहा कहैगो आनि, हिये धगधगी लगाई ॥ (सूर)
(२) दशकंधर उर धकधकी अब जनि धावै धनुधारि।
(तुलसी)

हुह (डिं०) = हिं० हुआ। 'हुव', 'हुअ' रूपान्तर का भी प्रयोग होता है।

चख (डिं०) = (सं० चक्षु) आँखों में।

कंठ–कुह = पक्षियों के मधुर और ललित स्वर से बोलने को 'कुहुकना' कहते हैं। मधुरभाषिणी स्त्रियों की वाणी की उपमा कोयल के कुहुकने से देते हैं। अतएव यहाँ पर रुक्मिणी के मधुर कोकिलकंठ के स्वर को "कुह" कहा गया है।

निवारण = (सं०), रोकना, हटाना, स्थगित करना।

उदा० (१) पौंछि रुमालन सों श्रमसीकर, भौंर का भीर निवारत ही रहै। (हरिश्चन्द्र)

(२) "सैनहिं लखनहिं राम निवारे"। (तुलसी)

नोट—इस दो० में कवि ने सुरतान्त में रुक्मिणी का वर्णन करते हुए कुछेक स्वाभाविक सात्त्विक-भावों का निदर्शन किया है। दो० ५७ में भगवान श्रीकृष्ण के शरीर में सात्त्विक भावों का निदर्शन किया था।

सात्त्विकभावा:—

स्तंभस्वेदोऽथ रोमाञ्च: स्वरभंगोऽथ वेपथु:।
वैवर्ण्यमश्रु-प्रलय इत्यष्टौ सात्विका: स्मृता:।

यहाँ पर पीतता (वैवर्ण्य), चित्तव्याकुलता, हिये धगधगी (वेपथु) और खेद—सात्त्विकभावों के लक्षण हैं।

अलंकार = समुच्चय।

देहरीदीपक—उत्तरार्द्ध में (निवारण करे)।

दो० १७७—

तालि (डिं०) = (सं० ताल) संगीत में समयसूचक विराम को 'ताल' कहते हैं। यहाँ पर सिर्फ 'समय में' का अर्थ लिया है।

घणा घाति वल् = बहुत से बल डाल कर, बहुत टेढ़ी होकर, हिन्दी में 'बल खाना' मुहाविरा है जिसका अर्थ घुमाव के साथ टेढ़ा होना होता है। 'बल'—लचक, खम को भी कहते हैं। उदा० बल खात दिग्गज कोल कूरम शेष सिर हालत मही। (विश्राम)

केलि = (सं० कदली प्रा० कयली) हिं० केली (स्त्री)।

तेही (डिं०) = उस प्रकार, वैसी। 'तेहवो' का भी प्रयोग होता है। एहवी, जेहवी, केहवी और एही, जेही, केही की तरह।

अवलंब = (सं०) = सहारा, आश्रय, आधार।
हिं० उदा० नहिं कलि कर मन भगति विवेकू, रामनाम अवलंबन एकू।

अलंकार = उपमा।

दो० १७८—

पधरावी (डिं०) = हिं० 'पधारना' का प्रेरणार्थक = स्थापित की, पहुँचाई।

कन्है (डिं०) = पास, निकट, समीप। प्रचलित मारवाड़ी में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में भी कहीं कहीं प्रयोग देखा जाता है।
उदा० (१) मीत तुम्हारा तुम कन्हैं, तुमही लेहु पिछान।
(२) खरी जरी तिनके कनें, खोटी कहत गँवार। (विश्राम)

त्रूटी (डिं०) = (सं० त्रुट्) हिं० टूटी = टूट गई। अन्यत्र "त्रूटै" भी मिलता है। यथा—देखो पूर्वप्रयोग "त्रूटै कंध मूल जड़ त्रूटै"।

कस (डिं०) = (फ़ारसी० कश) = खिंचाव, यथा 'कशिश' = आकर्षण। राजस्थानी में शरीर के वस्त्र को बाँधने के लिए कपड़े का बना हुआ रस्सी के आकार का जो लम्बा बंधन होता है उसे 'कस' कहते हैं। उसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुआ है। सं० टीका "कस इति कञ्चुकबंधनानि"।

छुद्रघंटिका = (सं० क्षुद्रघंटिका) घूंघरूदार मधुर शब्द करनेवाली करधनी।

सहित लाज भय प्रीति = लज्जा, भय और प्रीति सहित। भाव-सन्धि का अच्छा उदाहरण है। मिलाओ :—

उदा० (१) "नत मुख हो विहँसी पिया, नयनन में भय प्रीति।" (रतिरानी)

(२) दुहुँ समाज हिय हर्ष-विषादू। (तुलसी)

दो० १७९—

मनरखिए (डिं०) = मन रखनेवाली, इच्छानुवर्त्तिनी। ढूँढाड़ी टीका—मन की राखणहार। सं० टीका—छन्दोवर्त्तिनीभिः।

सँघट = (सं० संघट्ट) = समूह, पुंज, झुंड।

चित्रसाली (डिं०) = (सं० चित्रशाला) वह महल जिसमें दीवारों पर चित्र बने हों अथवा टँगे हों।

लंका-कांड में तुलसी ने मंदोदरी की चित्रसारी का वर्णन किया है।

चौकि (हिं०) = (सं० चतुष्क) प्रा० चउक्क। आँगन; घर के बीच कोठरियों या बरामदों से घिरा हुआ वह चौरस स्थान जिस पर छत न हो; सहन।

उदा० "कदली खंभ चौक मोतिन के, बाँधे बंदनवार"। (सूर)

कहकहाहट (डिं०) = (अनुकरण शब्द) अट्टहास, ठट्ठा, ज़ोर की हँसी। कहकहा मार कर हँसना।

दो० १८०—

राता (डिं०) = (सं० रक्त)—अनुरक्त, रँगे हुए, तन्मय, तल्लीन हुए। उदा० (१) जिन कर मन इन सन नहिं राता, तिन जग वंचित किये विधाता। (तुलसी)

(२) रँग रातीं राते हिये, प्रीतम लखी बनाय। (बिहारी)

तत (डिं०) = (सं० तत्त्व) = तत्त्व, ब्रह्म। उदा० "यह तत वह तत एक है"। (कबीर)

बिन्हे.गण (डिं०) = दोनों प्रकार के समूह अर्थात् पुरुषवर्ग।

जामिए (डिं०) = (सं० यमी) = संयमी पुरुष। डिंगल में एकारान्त, संज्ञा शब्दों को बहुवचन बनाने के प्रयोग में आता है। यथा दो० १७९ में "सखिए, मनरखिए"।

कामिए (डिं०) = (सं० कामी) = कामी पुरुष।

जागरण = (सं०) = किसी धार्मिक उपलक्ष में जागना। देवताओं के स्तुति-संकीर्तन के लिए मंदिरों में भक्त जागरण करते हैं। उदा० "बासर ध्यान करत सब बीत्यौ, निशि जागरण करत मन भीत्यौ"। (सूर)

महानिशि = (सं०) (१) रात्रि का मध्यभाग, अर्धरात्रि, निशीथ-काल। (२) कल्प के अन्त में होनेवाली प्रलय-रात्रि। इस दोहले में कवि ने अपने दार्शनिक रहस्यवाद से परिपूर्ण गंभीर आशय का परिचय दिया है। 'कामिए' और 'जामिए' 'बिन्हे गण' के विभिन्न सांसारिक लक्ष्यों की ओर निर्देश करके कवि ने प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के आदर्शों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कवि के विचार से दोनों मार्ग

एक ही लक्ष्य के साधक हैं परन्तु उनके साधनों में बहुत भेद है। हम नहीं कह सकते कि कवि कौन से मार्ग के विशेष पक्षपाती रहे होंगे। उनके जीवनचरित से तो ज्ञात होता है कि वे दोनों मार्गों पर पर्याप्त यात्रा कर चुके थे।

अलंकार=यमक=पूर्वार्द्ध में।
यथासंख्य।

दो० १८१—

लिखमीवर (डिं०)=(सं० लक्ष्मीवर)=भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु के अवतार में)।

हरख निगरभर (डिं०)=[सं० हर्ष+निकर+भर (भरित)]=हर्ष के समूह से भरे हुए; हर्षोल्लास-पूर्ण।

रयणि (डिं०)=(सं० रजनी) प्रा० रयणी=रात्रि।

त्रूटन्ति (डिं० मुहा०) टूटती हुई, समाप्त होती हुई। राजस्थानी में 'टूटती रात', "टूटतौ दिन"—रात और दिन के पिछले भागों के वास्ते मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होते हैं।

किरीटी=(सं० किरीटिन्) कोई मुकुटधारी जीव। यह इन्द्र, अर्जुन या राजा के लिए विशेषण की तरह प्रयुक्त होता है। कुक्कुट को भी 'किरीटी' कहते हैं।

जीवितप्रिय=(सं०) जिसको जीवन प्रिय है।

पोकार (डिं०)=हिं० पुकार=बोली।

घड़ियाल़=(सं० घटिकावलि) प्रा० घड़िआलि=समय-सूचना के लिए बजाये जानेवाला टकोरा या घंटा।

एक दूसरे प्रकार से भी इस दो० का अन्वयार्थ किया जा सकता है। यथा—[हरख निगरभर लिखमीवर त्रूटन्ति रयणि (त्रूटन्ति) आयु इम लागी, जिम क्रीड़ाप्रिय किरीटी पोकार, जीवितप्रिय घड़ियाल] हर्षोल्लास से पूर्ण लक्ष्मीवर श्रीकृष्ण को टूटती (पिछली) रात्रि में बीतता हुआ समय इस प्रकार लगा जिस प्रकार विलासी पुरुष को मुरगे की पुकार और जीवनप्रिय पुरुष को घड़ियाल का शब्द लगता है। (अर्थात् बड़ा अप्रिय लगा)।

अलंकार = उपमा।

ढूँढाड़ी टीका उत्तरार्द्ध का यों अर्थ करती है:—जिस्यो ज्याँहने घणा दिन जीवबो प्यारो होय त्याँहने घड़ियाल को साद लागै छ: तिस्यौ बुरो किरीटी कहताँ मुरगा को साद लागै छइ। परन्तु यह अर्थ इतना स्वाभाविक अथवा अनुभव-सिद्ध नहीं है जितना हमारा अन्वयार्थ।

दो० १८२—

गलन्ती (डि०) = (सं० गरण) = जीर्ण होते हुए, नष्ट होते हुए, धीरे धीरे नष्ट होते हुए—जिस प्रकार बर्फ़ पिघल कर धीरे धीरे नष्ट होता है। 'रयणि गलन्ती' उसी कोटि का मुहाविरा है जिस कोटि का "रयणि त्रूटन्ति"—ऊपर के दोहे में।

मन्दा (डिं०) = (सं० मंद) = धीमा, सुस्त, उदास, फीका अतएव अस्वस्थ। (फ़ारसी० माँद) = थका हुआ, बीमार, अस्वस्थ। हिं० में 'थका-माँदा,' 'भला-माँदा' शब्द-युग्म प्रयुक्त होते हैं।

सइ (डिं०) = हिं० सती = सती, साध्वी।

वरि (डिं०) = (डिं० वर = पति—स्त्री० 'वरि' = पत्नि) = स्त्री, पत्नि।

दीपै=(सं० दीप्) प्रकाशित करता है। उदा० द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में देख्यो दीप दीपन में दीपत दिगंत है। (पद्माकर)

नासफरिम (डिं०)=नाश होगया है 'फरिम'—शासन—जिसका। =(फ़ारसी० फ़रम) आज्ञा, शासन, हुकूमत। इस शब्द से बने हुए शब्द हैं:—फ़रमाबरदार, फ़रमाइश, फ़रमान फ़रमाना।

ढूँढाड़ी टीका:—सफरिम पाखै जिसौ सूरतन मरद को डील देखीजै छइ।

सं० टीका:—सफरिम अदातृत्वेन (कंजूसी)।

हिं० उदा० आमिलहू छिन पौन प्रवीन लै, नाफरमाँ फरमानु पठायौ। (गुमान)

सू रतनि नरि=(सं० सु+नररत्न)=नरश्रेष्ठ।

रत्न का अर्थ 'अपनी जाति में श्रेष्ठ' का होता है। यथा ग्रंथरत्न, कविरत्न इत्यादि।

परजलतौ इ (डिं०)=(सं० प्रज्वलत: अपि)=प्रज्वलित भी, जलता हुआ भी।

अलंकार=उपमा—पूर्वार्द्ध में।

विरोधाभास—तृतीय पंक्ति में।

उपमा—उत्तरार्द्ध में।

दो० १८३—

मेली (डिं०)=(सं० मिलित) मिली, पूर्ण हुई।

साध, साध्र (डिं०)=(हिं० साध) डिंगल की प्रथानुसार 'ध' में रेफ़ का आगम किया गया है। साध=इच्छा, कामना, ख़्वाहिश। उदा० "जेहि अस साध होइ जिव खोवा।" (जायसी)

"साध पूरना" अथवा "साध पुराना",—मुहाविरे एक और विशिष्ट अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। गर्भाधान से सातवें महीने में गर्भिणी स्त्री के लिए गृहस्थ में एक उत्सव मनाया जाता है जिसमें उसकी 'दोहद' सम्बन्धिनी इच्छाओं की पूर्त्ति का आयोजन किया जाता है।

कोक=(सं०)—(१) चकवा-चकवी। उदा० "कोक शोकप्रद पंकज द्रोही"। (तुलसी)

(२) कोक देव नाम के पंडित जो रतिशास्त्र के आचार्य माने गये हैं।

(३) संगीतशास्त्र का छठा भेद जिसमें नायिका-नायक, रस, रसाभास, अलंकार, उद्दीपन, आलंबन, समय, समाजादि का शास्त्र-विवेचन किया गया है।

प्रथम पंक्ति के 'कोक' का अर्थ (१) लिया गया है। द्वितीय पंक्ति के 'कोक' का अर्थ (२) और (३) लिया गया है।

रही=हिं० रह जाना=निवृत्त हो जाना, रुक जाना। देखो पूर्व दो० में प्रयोग—"रहिया हरि" (७०) "रह रह.........वह रहे रह"। (४६)

ग्रहणे=हिं० गहना। डिंगल रेफ के आगम से रूपान्तर।

प्रफूले फूले=प्रफुल्लित पुष्पों ने। डिंगल में एकारान्त बहुवचन का चिह्न होता है।

अलंकार=व्याघात।

दो० १८४—

अनाहत धुनि=(सं०)=योग का एक साधन। वह नाद या शब्द जो दोनों हाथों के अँगूठों से कानों को बन्द करके

ध्यान करने से अंत:करण में सुनाई देता है। कबीर के दोहों में तथा पदों में 'अनहद नाद' का प्रसंग बहुतायत से आया है। "अनहद की धुनि प्यारी, साधो"। यह हठयोग के अनुसार शरीर के छः चक्रों में से एक है। इसका स्थान हृदय, रंग पीला, लाल और दलों की संख्या १२ हैं।

जोग अभ्यास (डिं०)=योगाभ्यास की शास्त्रोक्त आठ विधियाँ हैं, जिन्हें अष्टांग=योग कहते हैं। योगी लोग उन्हीं साधनों से योगाभ्यास-द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं :—

"यमो नियमश्चासनं च प्राणायामस्ततः परम्।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सार्धं समाधिना॥
अष्टांगान्याहुरेतानि योगिनां योगसिद्धये"॥

निसामै=(सं० निशामय) रात्रिरूपी।

मायापटल=(सं०) अविद्या, अज्ञान अथवा भ्रम का परदा जो बुद्धि के वास्तविक ज्ञान को ढक लेता है।

उदा० सुर मायावश केकई, कुसमय कीन्ह कुचाल।
(तुलसी)

नोट—वेदान्त-दर्शन ने प्रकृति तथा असंख्य पुरुषों का एक ही परमतत्त्व ब्रह्म में अविभक्त रूप में समावेश करके, जड़-चेतन के द्वैतभाव के स्थान पर अद्वैत ब्रह्म की स्थापना की है। इस दर्शन में सांख्यों के अनेक पुरुषों का खंडन किया गया है और चेतन-तत्त्व का एक और अविच्छिन्न रूप सिद्ध करते हुए यह बताया गया है कि प्रकृति अथवा माया की अहंकारगुणरूपी उपाधि से ही एक के स्थान पर अनेक पुरुषों या आत्माओं की मिथ्या=प्रतीति होती

है। इसी मिथ्या-प्रतीति को इस दो० में 'माया-पटल' कहा है। यह अनेकता माया-जन्य है—असत्य है—भ्रमात्मक है। योग-द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करके अष्टांग साधनों से योगी इस भ्रम, मिथ्याप्रतीति का नाश करता है—अर्थात् "मायापटल" को हटाता है। गीता का भी यही उपदेश है।

मंजै = (सं० मार्जन) = मार्जन कर देता है, साफ़ कर देता है, हटा देता है।

प्राणायामे = (सं०) प्राणायाम में। अष्टांग योग का चौथा अंग प्राणायाम है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध किया जाता है। इसकी तीन वृत्तियाँ—बाह्य, आभ्यंतर और स्तंभ हैं, जिनका नाम रेचक पूरक और कुंभक भी है। इसके अतिरिक्त एक और शक्ति है जिसे बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी कहते हैं। इसमें श्वास-प्रश्वास की बाह्याभ्यंतर-वृत्तियों का निरोध करके रोक देते हैं। पातंजलि ने इसका मूल यह माना है कि इससे ब्रह्म-प्रकाश का व्यवरोध अथवा आवरण ("मायापटल") क्षीण होकर "धारणा" में स्थिति होती है और "ज्योति:-प्रकाश" की ओर प्रवृत्ति होती है। प्राणायाम त्रिकालसन्ध्या का प्रधान अंग है। शास्त्रों में इसे सर्वश्रेष्ठ तप कहा है।

ज्योति प्रकाश = (सं०) परब्रह्म की अखण्ड ज्योति का प्रकाश।

नोट—दो० २९९ में कवि ने "ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी" इत्यादि के ज्ञान से वेलि पढ़नेवालों की जाँच रक्खो है। वह मिथ्या-भिमान नहीं है। "योगी" के सम्बन्ध में यह दो० प्रमाण

है। अन्यान्य शास्त्रों के लिए अन्यान्य वेलि के दो० यथा-स्थान नोटों में निर्दिष्ट किये गये हैं।

अलंकार=रूपक।

दो० १८५—

दिणयर=(डिं०)=(सं० दिनकर) प्रा० दिणअर, दिणयर=सूर्य्य के।

रई (डिं०)=मंथन-दंड। देखो प्रयोग पूर्व दो० ६२ में।

कैरव श्री=(सं०) कुमुदिनी की शोभा।

एतला (डिं०)=इतनों को।

मोखियाँ (डिं०)=(सं० मोक्ष) मोक्षप्राप्त वस्तुओं को, मुक्त चीज़ों को।

वंध (डिं०)=(सं० वंधन)।

हट=(सं० हट्ट)=हिं० हाट=दूकान, बाज़ार। उदा०—
"पंडित होइ सो हाट न चढ़ा" (जायसी)।

गो-घोख=(सं०)=गोशाला। उदा० देखत रह्यौ घोष के बाहर, कोउ आयौ सिसुरूप रच्यौ री। (सूर)

ताल (डिं०)=हिं० ताले।

ऊगि (डिं०)=(सं० उद्गमन) प्रा० उग्गवण, हिं० उगना।=उदय होकर। उदा० "उगेहु तात देखहु रवि ताता"। (तुलसी)

मोख (डिं०)=(सं० मोक्ष) मुक्ति।

अलंकार—व्याघात।
यथासंख्य।

दो० १८६—

वाणिजाँ वधू (डिं०)=वणिकों की स्त्री (बहुवचन)। कहीं कहीं समस्त पदों को इस प्रकार पृथक् पृथक् डिंगल में लिखते हैं। देखो पूर्व प्रयोग "जादवाँ इन्द्र" दो० ४५ में।

वाछ (डिं०) = (सं० वत्स)—बछड़े ।

असइ (डिं०) = (सं० असती) प्रा० असई–असै = कुलटा स्त्री ।

विट = (सं०) नाटक-साहित्य में एक प्रकार का नायक, जो विषय-भोग में सम्पत्ति नष्ट कर देता है। वेष-भूषा में चतुर और रसिक होता है।

वेल (डिं०) = (सं० वेला) समुद्र की लहर, तरङ्गें ।

समपिया (डिं०) = (सं० समर्पित) = समर्पण किया, दिया ।

अलंकार = व्याघात ।

यथासंख्य ।

दो० १८७—

राह किय = ' राह करना'' ''राह बनाना''—हिन्दी मुहाविरे में भी प्रयुक्त होते हैं, यथा:—रास्ता बनाया, मार्ग बनाया । (फ़ारसी० राह = रास्ता) ।

दीह (डिं०) = (सं० दीर्घ) प्रा० दीह = ख़ूब, बड़ा । उदा०—"बहु तामँह दीह पताक लसै" । मिलाओ प्रयोग 'दीह' का दो० ६६ में, जहाँ दीह = दिन, दिवस ।

गाढ = (सं०) गाढ़ापन, घनत्व, ठोसपना । उदा० 'चेत्र अगम गढ़ गाढ़ सुहावा' । (तुलसी)

द्रव = (सं०) द्रवण का भाव, द्रवत्व, बहाव, तरलत्व, पिघलने की योग्यता ।

सूर = सूर्य । उदा०—"सूर सूर तुलसी शशी" ।

हेमगिरि (डिं०) = (सं० हिमगिरि) = हिमालय पर्वत, जो बर्फ़ से ढका रहता है। 'हेम'—सोने को भी कहते हैं। अतएव सुमेरुगिरि का भी अर्थ हो सकता है। 'हेमसुता' पार्वती के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इससे यही आशय निकलता है

कि कवियों ने हिमालय और सुमेरुगिरि में विशेष भेद नहीं माना है। कइयों ने तो एक ही दिशा—उत्तर—में दोनों को स्थित किया है। देखो पूर्व दो० १२ में 'सुमेरु' पर नोट। डिं० में "हिम" और "हेम" के उच्चारण में बहुत कम अन्तर किया जाता है। अतएव यह सादृश्य।

अलंकार = व्याघात।

दो० १८८—

विहित = (सं०) = ठीक, यथावत्। सं० विहितमेव = ठीक ही है।

केहवो (डिं०) = कैसा, कौन सा। केहो, केहड़ो, केहवो का भी प्रयोग होता है।

हेम दिसि (डिं०) = (सं० हिम + दिशा) यहाँ भी 'हेम' हिम, बर्फ़ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिमदिशा = उत्तर।

हेम दिसि सरण लीधौ = अर्थात् सूर्य उत्तरायण में है। ग्रीष्म के आरम्भ में सूर्य उत्तरायण में होते हैं।

व्रिख (डिं०) = (सं० वृष, वृक्ष)—(१) वृषराशि, ज्योतिष के अनुसार मेषादि बारह राशियों में से दूसरी राशि। ग्रीष्म में सूर्य वृषराशि पर आते हैं और आतप बढ़ जाता है। (२) वृक्ष।

सूरिज ही व्रिख आसरित = 'व्रिख' पर श्लेष होने से श्लेष की ध्वनि से यहाँ यह अर्थ भी निकलता है कि 'आकुल थ्या लोक' को ही 'छाया बंछित' नहीं है; अर्थात् केवल मनुष्य ही वृक्षों का आसरा (छाया के लिए) नहीं देखते हैं, बल्कि सूर्य भी वृष (वृक्ष) राशि का आश्रय ले रहे हैं। उनका वृष पर आना मानो गरमी से तप कर वृक्ष की छाया का आश्रय लेना है। 'सूरिज ही' पर ज़ोर इसी अर्थ की ध्वनि को

स्पष्ट करने के लिए दिया है। 'सूरिज' पद का दुहराना भी यही आशय रखता है।

अलंकार = परिकर—'हेमदिशि'—आशयगर्भित है।
श्लेष—'त्रिख' में।

दो० १८६—

श्रीखंड = (सं०) = चन्दन।

कुमकुमौ (डिं०) = गुलाबजल, देखो इसी अर्थ में प्रयोग पूर्व दो० १०२ में।

सरि = (सं०) सर में। सप्तमी इकारान्त डिंगल में, में, पर का अर्थ देता है।

दलि = (सं० दल = अवयव, भाग) शरीर पर। देखो प्रयोग दो० २३१ में।

आहरण (डिं०) = (सं० आभरण) = आभूषण।

जुगति (डिं०) = (सं० युक्ति) = प्रकार, ढङ्ग, उपाय से।

एही = (हिं०) = इसी। उदा० "एहि विधि राम सबहिं समुझावा।" (तुलसी)

दलि मुगता आहरण दुति = इस पंक्ति का टीकाकार भिन्न भिन्न अर्थ करते हैं, यथा:—(१) ढूँ० टीका—ग्रहणा सब मोतियाँ का ई धारण किया छइ।

(२) सं० टीका—द्युतेः कान्त्या आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्ये मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिण्डीकृतानि।

(३) पश्चिमी मा० टीका :—शरीर दुतइ शरीर कान्तइ करिबा पीठी उतारिबा भणी मुगता मोती दलि करी दुति कान्ति आहरण आणवा ।

इनमें अर्थवैभिन्य विचारणीय है ।

अलंकार = उदात्त ।

दो० १६०—

माह (डिं०) = (सं० माघ) माघ मास । राजस्थानी बोल-चाल भाषा में अब भी 'माघ' को 'माह' कहते हैं ।

माहुटि (डिं०) = (सं० माघ + घटा) माघ मास के बादलों की घटा को डिंगल में 'माहुटि' कहते हैं । राजस्थानी बोलचाल में "माहुट-पोहट" अर्थात् माघघटा + पोषघटा प्रचलित है ।

मसि व्रन (डिं०) = (हिं० मसि + वर्ण) = कृष्णवर्ण, काली रंग की । 'वर्ण' को 'व्रन' बनाने में डिंगल के साधारण परिवर्त्तन से रेफ का स्थान-परिवर्त्तन किया गया है ।

उदा० "जनु मुँह लाई गेरु मसि, भये खरनि असवार ।" (तुलसी)

प्रति = संस्कृत अव्यय का प्रयोग = अपेक्षा ।

न्रीजनपणि = (हिं० निर्जनपना) रेफ का परिवर्त्तन, यथा—ऊपर 'व्रन' ।

तपन (सं०) = सूर्य ।

अलंकार = व्यतिरेक ।

दो १६१—

नैरन्ति (डिं०) = (सं० नैऋत्य) = दक्षिण-पश्चिम के बीच की दिशा या कोण—वहाँ से चलनेवाले वायु को नैऋत्य-वायु कहेंगे ।

प्रसरि=(सं० प्र+सृ) चल कर।

झोल (डिं०)=अत्यन्त शीतल अथवा अत्यन्त उष्ण वायु—पाला अथवा लू—के चलने से वृक्ष एकवारगी सूख जाते हैं। अतएव झोले की हवा वृक्षों के लिए एक रोग गिनी जाती है। "झोला मार जाना" हिन्दी का मुहाविरा यही आशय रखता है।

हिं० उदा० (१) याकी खेती देखि कै, गरवै कहा किसान।
अजहूँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान। (कबीर)
(२) तिन अति बोलि झोलि तनु डार्यौ, अनल भँवर की नाँई॥ (सूर)

झंखर (डिं०)=(हिं० झंखाड़) अनुकरण शब्द प्रतीत होता है। पत्र पुष्प से रहित झड़ा हुआ विशीर्ण वृक्ष।

वाइ (डिं०)=(सं० वायु)—हवा।

लू लहर=लू (अत्यन्त गरम हवा) की लहर या झोंका।

उदा० सुनि के राजा गा मुरझाई, जानो लहर सुरज कै आई। (जायसी)

लवली=(सं०) एक लताविशेष। यहाँ साधारणत: सभी लताओं के अर्थ में प्रयुक्त है।

देखो उत्तरचरित में—"मया लब्ध: पाणिर्ललितलवली कंदलनिभ:।"

निरधण (डिं०)=नि:+धण=स्त्री रहित। (निर्धन नहीं!)

धण (डिं०)=(सं० धनि) पत्नी, स्त्री। उदा० "धनि वे धनि साँवन की रतियाँ" इत्यादि।

धणी (डिं०) = 'धण' का पुल्लिंग। पति, स्वामी।

उदा० "सो राम रमा-निवास संतत दास वस त्रिभुवन धनी।" (तुलसी)

भजै = (सं० भजति) प्रा० भजइ = सेवन करते हैं।

उदा० (१) विधि वश हठि अविवेकहिं भजहीं। (तुलसी)

(२) "तजौ हठ आनि भजौ किन मोहिं।" (केशव)

नोट—"नैरन्ति..........नीझर"—का सं० टीका ने दूसरा अर्थ लिया है। यथा—"तत्र मासि निर्धना गिरिनिर्झर-प्रसरे वहति पानीये नैरन्तीति सुखमनुभवन्ति"। 'नैरन्ति' शब्द का अर्थ ऊहा से "सुखमनुभवन्ति" लिया है। कष्ट-कल्पना है।

दो० १९२—

कसतूरी = एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य जो हिमालय में पाये जाने-वाले एक प्रकार के मृग की नाभि से निकलता है।

गारि = (हिं० गारा, गारना) जिससे मकान में ईंटों की जोड़ाई होती है उसे 'गारा' कहते हैं।

विहाणै (डिं०) = (सं० विधानै) = विधि, भाँति, ढङ्ग, तरकीब से।

परि (डिं०) = विधि, भाँति। 'वरि' का भी इसी के रूपान्तर में प्रयोग होता है।

धवलहरि (डिं०) = महल में। देखो नोट पूर्व दो० ४१ में।

नोट—प्रथम पंक्ति के भाव—सादृश्य को मिलाओ दो० ३९ की प्रथम पंक्ति के भाव से।

अलंकार = उदात्त।

दो० १६३—

ऊपड़ी (डिं०)=(सं० उत्पटन) प्रा० उप्पड़ण, हिं० उपड़ना= उखड़ना, रेत का उड़ना। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५ में।

धुड़ी (डिं०)=(सं० धूलि) रेत, (हिं० धूरि)। उदा० पद्मिनि गवन हंस गए दूरी, हस्ति लाज मेलहिं सिर धूरी। (जायसी)

अम्बरि=(सं०)=आकाश में। उदा० 'अम्बर के तारे डिगैं' जूआ लाड़ै बैल।"

खेतिए (डिं०)=(सं० क्षेत्रकाः)=खेतिहर, किसान।

ऊजम (डिं०)=(सं० उद्यम) प्रा० उज्जम, ऊजम=उद्यम में लगे।

खाद्र (डिं०)=(सं० खात् या खड्ड) खड्डे, गड्ढे।

वाजि (डिं०)=(हिं० बजना)=बज कर। राजस्थानी में 'हवा का बाजना' मुहाविरे की भाषा में प्रयुक्त होता है=हवा चल कर।

किंकर (डिं०)=(सं० किंकर्त्तव्यविमूढ) का अल्प रूपान्तर= हक्का-बक्का, घबराये हुए।

आर्द्र (डिं०)=गीली, तर, भीगी हुई।

मृगशिर=मृगशिरा नक्षत्र २७ नक्षत्रों में पाँचवाँ नक्षत्र है। इसके पूर्वार्द्ध में वृष राशि और अपरार्ध में मिथुन होती है। इस नक्षत्र के योग में चलनेवाली अत्यन्त उष्ण और तेज़ हवा को इस नक्षत्र ही के नाम से मरुस्थल में 'मिरग' कहते हैं। जब यह चलने लगती है तब सब कोई घबरा कर कहने लगते हैं "मिरग वाजै छइ"। मिरगों के बाजने की अवधि

सात दिन समझी जाती है और उस बीच में वे जितने ही प्रचण्ड रूप में चलेंगे उतने ही भावी वर्षा के शकुन प्रबल समझे जायँगे। यह लोकविश्वास है।

आद्रा = आर्द्रा—२७ नक्षत्रों में छठा है। प्राय: आषाढ़ के प्रारम्भ में लगता है। इस नक्षत्र से वर्षायोग प्रारम्भ होता है। किसान इसी नक्षत्र में धान्य बोते हैं। उनका विश्वास होता है कि इस नक्षत्र का बोया हुआ धान्य श्रेष्ठ होता है।

उदा० "अर्द्रा धान पुनरवसु पैया, गा किसान जब बोवा चिरैया"।

नोट—'भरिया खाद्र'—का एक और अर्थ हो सकता है—"किसानों ने खेती के लिए उद्यमशील होकर खेतों में खाद भरी"।

अलंकार = यमक = मृगशिर—मृग, आद्रा-आर्द्र।

दो० १९४—

बग······बैठा = बगुले ग्रीष्म में पिपासित इधर-उधर पानी की खोज में डोलते थे। अब पावस आई जानकर तालाबों पर स्थिर हो गये। ऋषि-मुनियों ने चातुर्मास्य के कारण भ्रमण स्थगित कर दिया। राजा लोग युद्धादि कार्यों से निवृत्त हो गये क्योंकि वर्षा-काल आने पर पानी से राज-मार्ग रुक जाने से सेना का संचालन होना कठिन हो जाता है।

सूता (डिं०) = सो गये। हिन्दी में भी 'सूतना' क्रिया इस अर्थ में प्रयुक्त होती है। उदा० (१) "सूते सपने ही सहै, संसृत संताप रे"। (तुलसी)

(२) मोर तोर मह सबै बिगृता, जननी गर्भ उदर महँ सृता।
(कबीर)

थिउ (डिं०) = हुआ। थियउ, थियौ रूपान्तर भी प्रयुक्त हुए हैं।

सर (डिं०) = (सं० स्वर) = शब्द।

हरि = (सं०) = इन्द्र, आकाश का अधिष्ठातृ देवता, बादलों का राजा।

बलाहकि = (सं०) बादल। उदा० "गुणगाहक यार बलाहक जू, लगे नाहक पवन की बातन में।"

अम्बहर = अम्बर। 'ह' का आगम बिना प्रयोजन किया गया है। मिलाओ दो० १४ के प्रयोग से "उडियण वीरज अम्बहरि" जहाँ डा० टैसीटरी इसी प्रकार 'अम्बरि' शब्द में निष्प्रयोजन 'ह' का आगम बताते हैं। परन्तु वहाँ हमने अम्ब + हरि पृथक् पृथक् शब्दार्थ किया है।

सिणगारै (डिं०) = (सं० शृङ्गारयति) प्रा० सिंगारइ। = सजाते हैं, सुसज्जित करते हैं।

सूर सुता...... = ज्योतिष के अनुसार विष्णु भगवान चातुर्मास्य में शयन करते हैं। कार्त्तिक शुक्ल एकादशी, जिस दिन भगवान जागते हैं, देवोत्थान एकादशी कहलाती है।

दो० १९५—

काँठलि (डिं०) = (सं० कंठ + अवलि = कंठमाला) = गले का एक वर्त्तुलाकार गहना; पक्षियों के गले का रेखाकार गंडा। राजस्थानी में वर्षा-सम्बन्धी यह विशिष्ट शब्द है जिससे आशय होता है, "वर्त्तुलाकार वर्षा-कालीन मेघों का समूह"।

ऊजल् (डिं०) = (सं० उज्ज्वल) ।

कोरण (डिं०) = (हिं० कोर, कोरण) = किनारा, हाशिया, सिरा। यह शब्द भी राजस्थानी का वर्षा-सम्बन्धी विशिष्ट शब्द है। कोर अथवा कोरण (गोटन) के आकार के सफ़ेद बादलों के समूह को कहते हैं। यह शब्द अब भी प्रचलित है।

धरहरिया (डिं०) = (अनुकरण शब्द) = 'धरहर' शब्द किया। धर धर करके गाजने लगे।

धारे = (सं० धार) एकारान्त डिं० बहुवचन का चिह्न है। = वृष्टिधार।

गलि् चालिया (डिं० मुहा०) = गल चले, गलकर गिरने लगे।

जल्ग्रभ = (सं० जलगर्भ) वह बादल जिसके गर्भ में जल है।

थंभि न = (सं०) रुकते नहीं, ठहरते नहीं।

नोट—काँठलि्, कोरण, जल्ग्रभ,—ये राजस्थान के देशीय, वर्षा-सम्बन्धी आशय-गर्भित शब्द हैं।

अलंकार = रूपक—उत्तरार्द्ध में—"विरहिण-नयण थिया"।

दो० १९६—

दड़ड़ (डिं०) = (अनुकरण शब्द) दड़ड़ शब्द करते हुए, बड़े ज़ोर शोर से।

नड़ (डिं०) = (सं० नर्ड = नरसल—नडिनी = नदी) = नाले, स्रोत।

अनड़ (डिं०) = पर्वत।

वाजिया (डिं०) = बाजे = शब्दायमान हो गये। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५ में 'वाजन्ति'।

गुहिर (डिं०) = (सं० गंभीर)। उदा० "मन कुंजर मयमंत था, फिरता गहर गँभीर"। (कबीर)

(हिं० गुहराना, गुहार) = पुकारना, पुकार। उदा० "नीकी दई अनाकनी फीकी परी गुहारि।" (बिहारी)

सामाइ (डिं०) = (हिं० समाना = आजाना) हिं० उदा० "हरख न हिये समाय"।

जलवाला = (सं० जलबालिका) = बिजली, विद्युत्।

सदि (डिं०) = (सं० शब्द) प्रा० सद्द = शब्द।

अलंकार = अधिक।

दो० १६७—

निहसे (डिं०) = (सं० निर्घोष) निर्घोष, शब्द करके। देखो पूर्व प्रयोग दो० ३८ "नीसाणै पड़ती निहस"।

वूठौ (डिं०) = बरसा, वर्षा की। देखो पूर्व प्रयोग "वूठै वाहविये आ वेला" दो० १२३ में।

घण (डिं०) = (सं० घन) = बादल—"घण" अधिक के अर्थ में क्रिया-विशेषण प्रयोग में भी आता है।

बिणु नीलाणी = (सं० विना + नीलायमान) बिना हरियाली। हरियाली रहित। डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में 'नीला' हरे रङ्ग के लिए प्रयुक्त होता है। इससे हिन्दी में 'आसमानी' रङ्ग का आशय लिया जाता है। वास्तव में दोनों रंगों में बहुत थोड़ा अन्तर है। घना हरा वानस्पत्य रङ्ग 'श्याम' होकर आसमानी से मिलने लगता है।

वसइ (डिं०) = (सं० वसति) प्रा० वसइ = है, स्थित है, पड़ा है।

प्रथम समागम = (सं०) = प्रथम-मिलन, संयोग, भेंट ।

वसत्र (डिं०) } = (सं० वस्त्र) } डिंगल में रेफ का स्थानविपर्य्यय
ग्रहणा (डिं०) } (हिं० गहना) } होता है ।

पदमणी = (सं० पद्मिनी) सौंदर्य्य और गुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट श्रेणी की स्त्री 'पद्मिनी' कहलाती है। स्त्रियाँ चार जाति की होती हैं, पद्मिनी, चित्रिनी, शङ्खिनी, और हस्तिनी ।
"अल्प रोष रति सुन्दरी, पद्मिनि तन सुकुमार" । (भानु)

लसइ = (सं० लस्) शोभा देती है। उदा० "लसत चारु कपोल दुहुँ बिच सजल लोचन चारु" । (सूर)

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० १६८—

तृणे (डिं०) = (सं० तृण) घास के तिनके । एकारान्त बहुवचन द्योतक है। दो० १ में "त्रिण्हैं" संख्यासूचक 'त्रि' से बना है अतएव सादृश्य होते हुए भी वह भिन्न शब्द है ।

नीलम्बर न्याइ = नील वस्त्र के न्याय से अर्थात् नीली (हरी) साड़ी की भाँति । जिस प्रकार हिन्दी-संस्कृत में घुणाक्षरन्याय, अरण्यरोदनन्याय, काकतालीयन्याय आदि दृष्टान्त— पदों का रूढ़ अर्थ में प्रयोग होता है उसी प्रकार यहाँ जानो ।

अलंकार = रूपक । पृथ्वी नायिका को कवि ने कैसे सुन्दर सुन्दर प्राकृतिक आभूषणों से सजाया है। शोभा देखते ही बनती है ।

दो० १६६—

काजल़ गिरि=(सं० कज्जलगिरि) एक काल्पनिक काला पर्वत।

काजल़ करि रेख=(सं० कज्जल+कृत+रेखा) स्त्रियाँ नेत्रों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए काजल का अंजन आँखों में लगाती हैं।

कवियों ने नायिकाओं की काजल-रेख का बड़े चाव से साहित्य में वर्णन किया है।

डिं० उदा० "काल़ी काल़ी काजल़िये री रेख, भूरांड़ै बुरजाँ में चमकी बीजल़ी"। (ग्रामगीत)

सं० उदा० "अद्यापि तां विभ्रतकज्जललोलनेत्राम्"।

(चौरपंचाशिका)

हिं० उदा० भृकुटि कामकोदण्ड नैन सर, कज्जलरेख अनी।

(हितहरि)

करि=यह डिंगल में षष्ठी के विभक्तिचिह्न की तरह कभी कभी प्रयुक्त होता है। सं० 'कृत्'—प्रत्यय से बना है—जिसका अर्थ होता है 'की—का—के'। हिन्दी में भी 'करि' का प्रयोग इस प्रकार मिलता है। यथा— "राम ते अधिक राम कर दासा"।

(तुलसी)

कटि=(सं०) (१) कमर, लंक।

(२) कटिप्रदेश अथवा पार्श्वस्थ देश, सीमाप्रान्त।

मामोल़ौ (डिं०)=(देशीय शब्द) हिन्दी में बीरबधूटी, इन्द्रवधू कहते हैं। यह एक छोटा रेंगनेवाला लाल चमकीला

मखमली रङ्ग का कीड़ा होता है जो वर्षा होने पर ज़मीन पर इधर-उधर रेंगता दीख पड़ता है। बिन्दुली को 'मामोला' की उपमा देना अनूठी और निराली है। कवि की सूझ की प्रशंसा करनी चाहिए।

बिन्दुलौ = (सं० बिन्दु) स्त्रियों के माथे में लगाने का गोल कुंकुम अथवा हिङ्गुल की बिन्दी के आकार का टीका। उदा० "बदन बिंदुली भाल की भुज आप बनाए"। (सूर)

निलाट पटि = (सं० ललाट पट्ट) ललाट का चौड़ा स्थान। उदा० "तिलक ललाट पटल दुति कारी"। (तुलसी)

अलंकार = रूपक।

दो० २००—

ऊपटि = (सं० उत्पटन) उमड़ कर, उपड़ कर। देखो पूर्व प्रयोग दो० ११५, १९३ में।

बिथुरी = (सं० वितरण) हिं० बिथुरना, बिथुराना = छितराना बिखरना। उदा० "हार तोरि बिथराय दयो, मैया पै तुम कहत चली कत दधि माखन सब छीनि लयौ"। (सूर)

धण, धणी = पति-पत्नी। देखो नोट दो० १९१।

धाराधर = (सं० धराधर) = पर्वत।

जमण (डिं०) = (सं० यमुना) हिं० जमुना।

करंवित = (सं०) मिश्रित; गुथी हुई।

उदा० "स्फुटतरफेनकदम्बकरम्बितमिव यमुनाजलपूरं"। (गीतगोविन्द)

वेणी = (सं०) (१) त्रिवेणी, गंगा-यमुना-सरस्वती के सङ्गम को 'त्रिवेणी' कहते हैं।

(२) स्त्रियों की चोटी।

उदा० "मूँदि न राखत प्राति अली यह गूँदि गोपाल के हाथ की बेनी" (मतिराम)

वणि (हिं०)=शोभित है (सं० वर्णन, प्रा० वण्णन, हिं० बनना), सजना, चित्रित होना।

उदा० (१) आजु नीकी बनी राधिका नागरी।

(२) ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुटमनि, श्यामा आजु बनी। (हितहरि)

अलंकार = रूपक (उत्प्रेक्षा गर्भित)

दो० २०१—

स्याम तर = श्याम की भाँति। 'तर' अरबी 'तरह' शब्द से बना प्रतीत होता है।

वेधूंचे (डिं०)=(देशीय शब्द) मिल गये, आलिङ्गित हो गये। सं० टीकाकार "वेघुञ्चितौ एकीभूतौ", अर्थ करता है।

गलिबाहाँ = (सं० गल + बाहु) हिं० गलबाँहो = गले में हाथ डालकर आलिंगन करना।

उदा: "सुमनकुंज विहरत सदा दै गलबाँही माल।"

घाति (डिं०) = डालकर। राजस्थानी में इस अर्थ में अब भी प्रचलित है। मिलाओ मराठी—'घेत-घेतलें'।

भ्रमि = भ्रम में, भ्रम से।

रिखिय = (सं० ऋषय:) ऋषिलोग।

अलंकार = पूर्वार्द्ध—उपमा।

उत्तरार्द्ध—भ्रान्तिमान।

नोट—ऋषियों का इस प्रकार भ्रान्ति में पड़कर भूल जाना कविवर कालिदास ने अपने काव्यों में वर्णन किया है; "अकाल-सन्ध्यामिव धातुमत्तां।"

दो० २०२—

रूठा = (सं० रुष्ट) अप्रसन्न होना। उदा० (१) अजहुँ सो देव मोहिं पर रूठा। (तुलसी)

(२) हरि के रूठे ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर। (कबीर)

पै (डिं०) = (सं० पद) प्रा० पय, पग्र।

मनावि करै = हिं० मनाना, मनौग्रा करना, मनावा करना।

उदा० कै तो मनावै पाँव परि, कै तौ मनावै रोइ।
हिन्दू पूजै देवता, तुरुक न काहुक होइ॥ (कबीर)

रस करै = (सं० रस = प्रेम) प्रेम करते हैं। उदा० "और को जानै रस की रीति"। (सूर)

रस—प्रेमक्रीड़ा, विहार, कामकेलि, को भी कहते हैं।

आभ (डिं०) = (सं० अभ्र) = आकाश।

अलंकार—हेतु।

दो० २०३—

काजल़ = (सं०) = कज्जल की तरह काले, श्याम। उदा० "यह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे"। (सूर)

जल़ जाल़ (डिं०) = बादल, जल का समूह है जिनमें।

श्रवति = (सं०) गिरता है। उदा० "रात दिवस रस स्रवत सुधामय कामधेनु दरसाई"। (सूर)

राता (डिं०) = (सं० रक्त) लाल। उदा० "भ्रकुटि कुटिल नैन रिस राते"। देखो पूर्व प्रयोग "राता तत चिन्ता रत" दे।० १८० ।

पहल (डिं०) = (सं० पटल या फ़ारसी० पहलू) = पार्श्व, तरफ़, एक तरफ़, एक बाजू में। आपेक्षिक अर्थ में यहाँ "दूसरी तरफ़" अर्थ लक्ष्य है।

आधोफरै (डिं०) = (देशीय शब्द) छज्जों पर।

ऊधसता (डिं०) = (सं० उत् + धृषतः, उद्धर्षण) रगड़ खाकर ऊपर चलते हुए।

राजै = (सं० राजते, प्रा० राजइ) शोभा देते हैं। हिन्दी में प्रयोग होता है। उदा० (१) "मन्दिर मँह सब राजहिं रानी" (तुलसी) (२) प्रकट ब्रह्म राजत द्वारावति वेद पुरान उचारेउ। (सूर)

नोट—"पहल" शब्द का अर्थ हमें स्पष्ट नहीं है। अनुमान से उसका लाक्षणिक अर्थ किया गया है। टीकाकारों से इस शब्द के समझने में विशेष सहायता नहीं मिलती।

दे।० २०४—

पाँचि = (सं० पंचरत्न) = धार्मिक अनुष्ठानों में पूजार्थ माने हुए पाँच रत्न यथा—सोना, हीरा, नीलम, लाल और मोती।

पट = (सं० पट्ट) हिं० पाट, पटड़े, पाटिये। छत में लगाने के लकड़ी के तख़्ते, जो पंचरत्नों से जटित हैं।

गौख = (सं० गवाक्ष) हिं० गौख, गोख, अटारी पर की खिड़की।

पदमराग = (सं० पद्मराग) = माणिक्य, अथवा लाल। माणिक्य कई रंग के होते हैं। तीन जाति के माणिक्य प्रसिद्ध होते हैं:—(१) पद्मराग—जो लाल कमल के रङ्ग का होता है।

(२) सौगंधिक = गहरा लाल, नीलापन लिये रंग का।

(३) कुरुबिन्द—जो टेसू के फूल के समान रंग का होता है।

नील्मणि = (सं०) = नीलम ।

कादो (डिं०) = (सं० कर्दम) प्रा० कद्दम, कद्दव-कादउ-कादौ = कीच, कीचड़, गारा ।

कुन्दण = निखालिस सुवर्ण, सोना ।

सिखि = (सं० शिखिन्) मोर । उदा० "सिखी सिखिर तनु धातु विराजति ।" (सूर)

रमै (डिं०) = (सं० रम्) क्रीड़ा करते हैं, रमते हैं।

उदा० फल फूल सों संयुक्त, अलि यों रमैं जनु मुक्त । (केशव)

शिखरि = शिखर पर । मन्दिर के ऊपर गुंबज के सिर पर जो कलश होता है उसे भी 'शिखर' कहते हैं ।

लाल = (फारसी० लाल) एक प्रकार की लाल वर्ण की मणि, जो माणिक्य का एक भेद मानी जाती है ।

"यह ललित लाल कैंधों लसत दिग्भामिनि के भाल को ।" (केशव)

नोट—ढूँढाड़ी टीका अन्तिम पंक्ति का यों अर्थ करती हैं :—

"धराँ ऊपर मोर नृत्य करै छइ" । हमने अंतिम पंक्ति का पाठान्तर इसी टीका के अधार पर लिया है । डा० टैसीटरी को इस अर्थ में आपत्ति है । न जाने क्यों ? हमारी समझ में अर्थ इतना स्पष्ट है कि संशय को कोई अवकाश नहीं है ।

अलंकार = उदात्त ।

दो० २०५—

धरिया (डिं०) = (सं० धृ) धारण किये हुए। देखो पूर्व प्रयोग दो० ६५ में "धरिया सु उतारे नवतनु धारे ।"

सौंधा = (हिं०) = सुगन्धित द्रव्य, इतर, फुलेल आदि। देखो पूर्व प्रयोग दो० १६६ में।

प्रखोलित (डिं०) = (सं० प्रक्षालित)—छिड़के हुए, बसाये हुए। सुवासित।

भर श्रावणि भाद्रवि = श्रावण भाद्रपद भर। भर = पर्यन्त, समस्त में। हिं० में 'भर' का ऐसा प्रयोग मुहाविरे में होता है। उदा० अति करुणा रघुनाथ गुसाँई, युग भर जात घड़ी। (सूर)

भोगविजै (डिं०) = (सं० भुज्यते) 'भोगणो' क्रिया का कर्मवाच्य प्रयोग में यह रूप बनता है। 'भोगा जाता है' यह अर्थ होगा।

रुख = (फारसी) = प्रकार से, इस दृष्टि से, इस ढङ्ग से।

दो० २०६—

वयणा वयणि (डिं०) = (सं० वचन, प्रा० वयण) = वचनों वचनों द्वारा अर्थात् अनेक प्रकार के वचनों द्वारा। डिंगल में यह मुहाविरे की तरह प्रयुक्त होता है। जिस प्रकार "दण्डादण्डि" संस्कृत में।

वळती (डिं०) = (सं० वलयन) आते ही, लौटते ही, लौट कर आते ही।

वाखाणि (डिं०) = (सं० व्याख्यान) प्रा० वाक्खाण, डिं० बखाण = बखान किया गया है। उदा० "ताते मैं अति अल्प बखाने।" (तुलसी)

नीखर (डिं०) = (सं० नि + क्षरण) मैल छँट कर साफ़, स्वच्छ, निर्मल हो जाना। यथा—"निखरी हुई चाँदनी।"

निवाणेँ (डिं०) = (सं० निम्न) = नीची ज़मीन, जहाँ पानी ढल कर एकत्रित हो जाता है। राजस्थानी में प्रचलित शब्द है। ज़मीन के ढालूपने को "निवाण" कहते हैं।

निधुवनि=(सं०)=रति में, संभोगकाल में।

अलंकार=दीपक। 'रहिउ' का दोनों उत्तरार्द्ध पंक्तियों में प्रयोग है।

दो० २०७—

पीलाणी (डिं०) पीली होगई, ज़र्द होगई। रक्ताभाव से निस्तेज हो जाने को भी "पीला पड़ जाना" कहते हैं।

जिस प्रकार 'नीला' से 'नीलाणी' उसी प्रकार 'पीला' से 'पीलाणी' बना है।

ऊखधी (डिं०)=(सं० ओषधि)=वनस्पति, वनौषधियाँ।

निसुर (डिं०)=(सं० नि+स्वर) शब्दरहित, मौन।

सुत्री (डिं०)=(सं० सु+स्त्री) सुन्दर स्त्री।

अलंकार—उपमा।

दो० २०८—

वितए (डिं०)=(सं० व्यतीते) व्यतीत होने पर।

गुडलपण (डिं०)=हिं० गुदलापन, गँदलापन। पानी का मैलापन, विलोड़ित होने पर मिट्टी से मिले हुए पानी का भूरा और मटमैला रङ्ग हो जाता है, उसे 'गुदलापना' कहते हैं।

मिले (डिं०)=हिं० मिल जाना। मिल कर अदृश्य हो जाना, विलीन हो जाना।

ग्यान-दहण=(सं० ज्ञान+दहन)=ज्ञानाग्नि, ज्ञानरूपी आग।

कलुख (डिं०)=(सं० कलुष)=पाप।

दीपति (डिं०)=(सं० दीप्ति)=प्रकाश, आलोक।

नोट—इस दोहले में कवि ने प्रकृतिवर्णन करते हुए उपमा के रूप में नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग किया है।

तुलसीदासजी ने भी किष्किन्धाकाण्ड में वर्षावर्णन में नीति के उपदेशों को उपमान रूप में प्रकट किया है। एक श्रेणी के काव्यालोचकों को कविता में इस प्रकार का नीति का प्रयोग खटकता है। परन्तु तभी तक, जब तक वे भावों की गहराई में नहीं पैठते।

अलंकार = उपमा।

दो० २०६—

वली (डिं०) = (सं० वलयन) आई, लौटी।

रस श्रवति = (सं०) देखो, पूर्व प्रयोग दो० २०३ में, 'श्रवति'। उदा० "रातिदिवस रस स्रवत सुधामय कामधेनु दरसाई। (सूर)

उदगिरति = (सं०) उगलती है, देती है, निकालती है। उदा० अरध उरध लै भाठी रोपी, ब्रह्म अगिन उदगारी। (कबीर)

पोइणिए (डिं०) = (सं० पद्मिनि) प्रा० पोइणी। एकारान्त बहुवचन है। उदा० 'पोइणि फूल प्रताप सी।" (पृथ्वीराज के दोहे)

अगलोग वासिए (डिं०) = स्वर्ग-लोकवासी (एकारान्त बहुवचन)। डिंगल के नियमानुसार रेफ का स्थान-विपर्यय हुआ है।

पितरे (डिं०) = (सं० पितृ) बहुवचन। मरे हुए पूर्वज जिनका प्रेतत्व छूट गया हो, जिनको श्राद्ध-तर्पणादि दिया जाता है, उन्हें 'पितृ' कहते हैं।

मृत लोक (डिं०) = (सं० मर्त्यलोक) मनुष्यलोक, पृथ्वीलोक।

ही (डिं०) = हि० भी।

अलंकार = समासोक्ति—पूर्वार्द्ध में ।

दो० २१०—

तिसी (डिं०) = (सं० तादृशी) प्रा० ताइसी = ऐसी, तैसी ।

बे (डिं०) = (सं० द्वि) = दोनों । गुजराती में भी प्रयोग होता है ।

गमै (डिं०) = (१) हिं० गुमना, गुमाना, गँवाना = खोना, भूल जाना ।
(२) अरबी ग़म = शोक, दुःख रंज ।

हिन्दी में 'गम' का खोने के अर्थ में प्रयोग होता है । उदा० "कीनी प्रीत प्रगट मिलिबे की अँखियन शर्म गमाए" (सूर)

राजस्थानी में खोने के अर्थ में 'गमना' क्रिया का इतना बहुतायत से प्रयोग होता है कि हमें यही अर्थ लेना उचित प्रतीत होता है, यद्यपि अन्यान्य टीकाकारों ने शब्द के अर्थ के विषय में आश्चर्यजनक कष्ट-कल्पनायें की हैं ।

गमै = आत्मविस्मृति किये हुए, अपने आपको भूले हुए ।

मुहरमुह = (सं० मुहुर्मुहुः) = बारम्बार ।

पासै = (सं० पार्श्वे) = नज़दीक, पास में ।

अलंकार = मीलित ।

दो० २११—

उजुयाळी (डिं०) = हिं० उजियारी, चाँदनी ।

उदा० (१) कबहुक रतन महल चित्रसारी, सरद निसा उजियारी । (सूर)
(२) आय सरद रितु अधिक पियारी, नव कुआर कातिक उजियारी । (जायसी)

ऊजलृ (सं० उज्ज्वल) उज्ज्वल वस्तुएँ । एकारान्त बहुवचन द्योतक है । 'उज्ज्वल' विशेषण शब्द का विशेष्य की तरह प्रयोग हुआ है ।

सोलृह कलृा ससि = चन्द्रमा की षोडशकला मानी गई हैं । वे ये हैं—

अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टिः, पुष्टिः, रतिर्धृतिः ।
शशिनी चन्द्रिका कान्तिर्ज्योत्स्ना श्रीः प्रीतिरेव च ।
अंगदा च तथा पूर्णा पूर्णामृता षोडश वै कला ॥
कृष्णपक्ष में चन्द्र के संचित अमृत को एक एक कला करके देवता पी जाते हैं और उनके द्वारा वे कलायें पुनः पृथ्वी के पदार्थों में ओषधि, दूध इत्यादि के रूप में आती हैं ।

ऊजासहि = (हिं०) उजेला, प्रकाश । उदा० "नित प्रति पून्यौं ई रहै, आनन ओप उजास" । (बिहारी)

अलंकार = मीलित ।

दो० २१२—

तुलि (डिं०) = (सं०) तुला राशि पर । ज्योतिष की १२ राशियों में से सातवीं 'तुला' राशि है । मोटे तौर से सवा दो नक्षत्रों की एक राशि होती है । तुला में स्वाती और विशाखा के आद्य ४५—४५ दंड तथा चित्रा के ३० दंड रहते हैं । इसका आकार तराज़ू हाथ में लिये हुए मनुष्य की तरह माना गया है । अतएव इस राशि में लोग तुलादान कर ग्रहों को तृप्त करते हैं । मनुष्य के तौल के बराबर द्रव्य या पदार्थ दिया जाता है । तीर्थों पर राजा महाराजा लोग ऐसा दान करते हैं ।

तरणि = (सं०) सूर्य ।

तुलिया = बराबर हुए ।

कणय (डिं०) (सं० कनक) प्रा० कणअ, कणय = सोना । हिं० उदा० "कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय" । (बिहारी)

भाति = (सं०) = शोभा देते हैं । हिन्दी काव्य में प्रयोग होता है ।

उदा० हय गय सहन भँडार दिये, सब फेरि भेंट से भाति । (सूर)

प्रामै (डिं०) = पाते हैं, प्राप्त करते हैं ।

गौरव = (सं०) = वृद्धि ।

नोट—कवि के अनुभव-सिद्ध ज्योतिष ज्ञान की ओर ध्यान देना चाहिए । तभी तो उन्होंने दो० २९९ में "ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी" कहा है ।

अलंकार = श्लेष—'तुलि' में ।

हेतु और व्याघात—उत्तरार्द्ध में ।

दो० २१३—

दीधा (डिं०) दिये गये अर्थात् जलाये गये । "दीवा देना" अर्थात् दीवा जलाना—मुहाविरा भी है ।

थका (डिं०) = होते हुए, रहते हुए । 'थका' का इस अर्थ में प्रयोग राजस्थानी भाषाओं में अब तक बहुत प्रचलित है ।

भासै = (हिं०) = प्रकाशित होते हैं । (सं० भासते, प्रा० भासइ)

समाणियाँ (डिं०) = (सं० समान स्त्री० बहुवचन) क्रियावि० 'समान' का विशेष्य की तरह प्रयोग हुआ है । जैसे हिन्दी

में—"समानों (पुँल्लिंग) में वह श्रेष्ठ है।" अर्थात् समान पुरुषों में वह श्रेष्ठ है। =समवयस्का सखियों में।

लाजती (डिं०)=हिं० लजाती। उदा० "जेहि तुरंग पर राम बिराजे, गति बिलोकि खग नायक लाजे"। (तुलसी)

अलंकार—उपमा।

दो० २१४—

मंडियै (डिं०)=(सं० मंडन) बनाये जाते हैं, सजाये जाते हैं, मनाये जाते हैं।

कुमारी =(सं०) १२ वर्ष तक की उमरवाली कन्या को शास्त्र में 'कुमारी' कहा है।

थिर चीत्रन्ति=स्थिर चित्त होकर चित्रित कर रही है।

चित्राम थई= स्वयं चित्र बनी हुई अर्थात् चित्रलेखन में इतनी तल्लीन कि निश्चल चित्र की तरह स्वयं दिखाई देने लगीं। उदा० राम बदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा, मानहुँ चित्र माँझ लिखि काढ़ा। (तुलसी)

अलंकार=विरोधाभास।

दो० २१५—

रासि= सं० रास। गोप-गोपियों की श्रीकृष्ण के साथ एक प्रकार की क्रीड़ा हुआ करती थी जिसमें वे घेरा बाँध कर नाचते थे। कहते हैं, इस क्रीड़ा का आरम्भ श्रीकृष्ण भगवान ने कार्त्तिकी पूर्णिमा की अर्धरात्रि से किया था। पीछे से अन्यान्य पूजायें भी 'रास' में मिल गईं।

भुगति (डिं०) = (सं० भुक्ति) विषयोपभोग करना, लौकिक सुख भोगना।

नवै प्रति नवा = नये से नये, नये नये, नित नये।

जग चाँ मिसि वासी जगति = सांसारिक सुखों के मिस से संसार-स्वरूप द्वारिका के निवासी सेवन करते हैं।

इस पंक्ति में कवि ने 'जगति' शब्द की सार्थकता सिद्ध की है। इस प्रकार "जग चाँ मिसि" यह पद 'जगति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करता हुआ उसका व्यंग्य अर्थ 'द्वारिका' स्थापित करता है। कवि ने कोरी कल्पना के बल से ही 'जगति' को द्वारिका का पर्याय-शब्द नहीं लिया है, बल्कि उसको सार्थक भी प्रमाणित किया है।

दो० २१६—

भीरि (डिं०) = (हिं० भीर, भीड़) भीर पड़ना; मुसीबत, कष्ट पड़ना। भीर आना = विपत्ति में सहायतार्थ आना, दुःख में काम आना, मदद देना।

भीड़, भीर = (१) कष्ट, दुख, विपत्ति।

(२) पक्ष, मदद, सहायता।

उदा० (१) अपर नरेश करै कोउ भीरा, बेगि जनाउब धर्मज तीरा। (सबल)

(२) भीर बाँह पीर की निपट राखी महाबीर। (तुलसी)

कजि (डिं०) = (सं० कार्य) प्रा० कज्ज = कार्य से, कारण से, हेतु से, के लिए, वास्ते। यहाँ विभक्ति-चिह्न की तरह यह

शब्द प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में भी ऐसा प्रयोग मिलता है—

(१) रोए कंत न बहुरैं, तो रोए का काज। (जायसी)

(२) परस्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै। (गिरधर)

धनञ्जय = (सं० धनंजय)—अर्जुन।

जनारजन (डिं०) = (सं० जनार्दन)—विष्णु, कृष्ण।

मींट (डिं०) = (देशीय शब्द)—नींद की झपकी। 'मींट लागणी,' राजस्थानी में मुहाविरा है।

भीर कजि आयाँ धनञ्जय अनै सुयोधन = महाभारत के आरम्भ में पाण्डवों की ओर से अर्जुन और कौरवों की ओर से दुर्योधन भगवान् कृष्ण के पास युद्ध में पक्ष-याचनार्थ आये थे। उस समय उन्हें श्रीकृष्ण सोते हुए मिले। दुर्योधन तो अपने राज्यमद और प्रभुत्व के गर्व में आकर भगवान के सिरहाने बैठ गया और अर्जुन पैरों के पास। जब भगवान जागे तो पहले-पहल उनकी दृष्टि अर्जुन पर पड़ी और तब दुर्योधन की ओर देखा। प्राकृतिक न्याय के अनुसार अर्जुन सहायता का भागी समझा गया और दुर्योधन को केवल भगवान् के सैन्य की सहायता मिली। अतएव अर्जुन की विजय हुई। इसी प्रकार देवप्रबोधिनी एकादशी के दिन भगवान् के चतुर्मास के अनन्तर जाग कर उठने पर मार्गशीर्ष मास सामने आया। इसी लिए वह "मासे मगसिर भलउ"—"मासानां मार्गशीर्षोऽहं" मासोत्तममास कहा गया।

दो० २१७—

फिरियौ (डिं०)=(सं० स्फुरित) प्रा० फुरिय; हिं० फिरा=बदला, दिशा परिवर्तन की। उदा०—जो यह मारग फिरिय बहोरी, दरसन देब जान निज दासी"। (तुलसी)

पछिवाउ (डिं०)=(सं० पश्चिम वायु) पश्चिम से बहनेवाली हवा।

फरहरियौ (डिं०)=(अनुकरण शब्द) फरफराकर चला, वेग से चला।

उदा० (१) भीमसेन फरके भुजदण्डा, अधर फरहरत रोम प्रचंडा।

(२) सिर केतु सुहावन फरहरै, जेहि लखि परदल थरहरै। (सबल)

सहुए (डिं०)=सभी। एकारान्त बहुवचन चिह्न है।

सूहव (डिं०)=(हिं० सधव)—सधवा स्त्री।
सं० टीका० "सर्वेषां नराणां सधवस्त्रियामुरांसि"।

सरग (डिं०)=(सं० स्वर्ग)।

पुड़ (डिं०)=हिं० परत, पड़त=पृथ्वी की सतह, तह। देखो प्रयोग दो० २८२ में। "जग पुड़ि वाधै वेलि जिम"

विवरे=(सं० विवर) (१) बिल, गर्द, छिद्र, गुफा, गड्ढा।
(२) लाक्षणिक अर्थ में तहखाने, तलघर।

बरग (डिं०)=(सं० वर्ग) एक जाति की वस्तु, जाति।

भुयँग धनी......वरग=इन पंक्तियों में कवि ने धनियों और सर्पों को एक कोटि में रख कर, 'प्रथमी पुड़ भेदे', "विवरे

पैठा", "बे वरग" इत्यादि पदों का प्रयोग दोनों के लिए किया है, जो साभिप्राय है। इनसे हास्य की ध्वनि निकलती है। कवियों ने धनियों की हँसी उड़ाई है; यह स्पष्ट है। रसवैभिन्य की दृष्टि से यह दोहला तथा दो० ११३-११४ अत्यन्त चमत्कार-पूर्ण हैं।

अलंकार = परिकराङ्कुर।

दो० २१८—

हेम, हेमालै (डिं०) = (सं० हिम, हिमालय) 'हेम' के बर्फ़ के अर्थ में प्रयोग के लिए देखो दो० १८७ "गाढ धरा द्रव हेमगिरि"।

वधण (डिं०) = (सं० वर्द्धन) प्रा० वड्ढण, डिं० वधणो = बढ़ने। देखो प्रयोग पूर्व दो० १३, २३ में।

थायै (डिं०) = हुई, हुए (बहुवचन)। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

थूल (डिं०) = (सं० स्थूल) मोटा।

थण (डिं०) = (सं०स्तन) प्रा० थण = उरोज, कुच, वक्ष।
हिन्दी में गाय, भैंस, चौपायों के स्तनों को थण, थन कहते हैं—स्त्रियों के नहीं।

अलङ्कार = उपमा।
व्याघात—पूर्वार्द्ध में।

दो० २१९—

भजन्ति = (सं०) सेवन करते हैं, रहते हैं,। देखो 'भजै' दो० १९१ में।

निसि मिलि = रात्रि के मिलने पर, अर्थात् रात पड़ने पर।

वहै (डिं०) = (सं० वह) चलते हैं। पूर्व दो० में कई जगह इस अर्थ में प्रयोग हुआ है। राजस्थानी बोलचाल की भाषाओं में "वहणो" चलने को कहते हैं।

कम्बलि = हिं० कम्बल—सरदी में ओढ़ने का एक ऊनी वस्त्र।

भारियौ रहन्ति = भार से भारी रहते हैं, लदे रहते हैं।

डा० टैसीटरी ने द्वितीय पंक्ति का पाठान्तर, "मलिन सुतनु केइ वहै मगि" लिया है, जिसका अर्थ इतना उपयुक्त एवं रोचक नहीं है। हमने ढूं० प्रति का पाठान्तर अच्छा समझ कर लिया है।

दो० २२०—

रिणाई (डिं०) = (सं० ऋण + दायिन्) = ऋणदाता।

रिणी = (सं०) क़र्ज़वाला। उदा० "पूरब तप बहु कियौ, कष्ट करि, इनको बहुत ऋणी हौं"। (सूर)

क्रमि क्रमि = (सं०) क्रम क्रम से, क्रमशः, धीरे धीरे।

"क्रम क्रम करि डग डग पग धरै" (सूर)

दो० १९९ में "क्रमि" का चलने के अर्थ में भी पूर्व प्रयोग हुआ है।

संकुड़न (डिं०) = हिं० सिकुड़ना। देखो प्रयोग पूर्व दो० १९२ में।

"संकुडित सम समा सन्ध्या समयै"।

नीठि (डिं०) = मुसकिल से, देखो नोट पूर्व दो० १९३ में।

करषणि (डिं०) = (सं० कर्षण) = खींचना, तानना।

प्रौढ़ा = अधिक उमरवाली स्त्री। साहित्य में वह नायिका जो काम-कलाओं में दक्ष हो। इसकी अवस्था का परिमाण ३० से ५० तक है। इस नायिका के (१) रतिप्रीता और (२)

संमोहिता, दो भेद हैं। अन्य प्रकार से (१) धीरा, (२) अधीरा, (३) धीरा-धीरा तीन भेद और भी हैं।

स्वभावानुसार (१) अन्यसुरतदुःखिता, (२) वक्रोक्ति-गर्विता और (३) मानवती—तीन भेद होते हैं।

(१) स्वकीया, (२) परकीया, (३) सामान्या। तीन और भी भेद हैं।

प्रौढ़ालत्तण = प्रौढ़ा लज्जा ललित कछु, सकल केलि की खानि।
तिय इकन्त में कन्त कहँ, अंक भरति मनमानि ॥ (भानु)

पङ्गुरिणि (डिं०) = देशीय शब्द = वस्त्र।

अलंकार—उपमा।

दो० २२१—

उलझाया = क्रि० सक० प्रेरणार्थक रूप। (सं० अवरुन्धन) प्रा० ओरुञ्झण = गुँथा देना, अटका देना, एक दूसरे में लिप्त कर देना। उदा० जीव जँजाले मढ़ि रहा, उलझानो मन सूत। (कबीर)

विहत = (सं० वि + हन) दूर करने के लिए।
मा० टीका० "विहत शीत गमायउ तन मन एकठा करी नइ"
सं० टीका० "यथा शीतं विहितं दूरीकृतम्"।

वरि = (सं० वर) पति, श्रीकृष्ण ने। इकारान्त 'परि' के साथ तुक मिलाने को 'वर' को भी इकारान्त किया है। अन्यथा 'वरि' का पूर्व प्रयोग स्त्रीलिंग में पत्नी के अर्थ में हुआ है। देखो पूर्व दो० १८२ में।

परि (डिं०) = भाँति, रीति से ।

'वाणि अरथ जिमि' से मिलाओ "वागर्थाविव संपृक्तौ ।"

(रघुवंश)

अलंकार—मालोपमा ।

दो० २२२—

मकरध्वज = मकरकेतु, मकरांक, मकरपति—कामदेव के नाम हैं । कामदेव की रथ की ध्वजा पर मकर के चिह्नवाली पताका मानी जाती है—न कि कामदेव का वाहन मकर माना जाता है । मकर, गंगाजी और वरुण का वाहन माना जाता है ।

वाहणि (डिं०) = (सं० वाहन) = सवारी ।

अहिमकर = सूर्य ।

वाउ (डिं०) = (सं० वायु) हवा ।

वाए (डिं०) = बाजै (डिं०) का रूपान्तर = चलकर ।

वालि (डिं०) = हिं० बारना, बालना = जलाना, प्रज्वलित करना । यथा:—दीपक बारना । यहाँ पूर्वकालिक रूप है ।

अम्ब (डिं०) = (सं० आम्र)—आम का पेड़ ।

मकरध्वज वाहणि = मकर राशि । यह १२ राशियों में से १० वीं राशि है, जिसमें उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अन्तिम तीन पाद, पूरा श्रवण नक्षत्र और धनिष्ठा के आरंभ के दो पाद आ जाते हैं ।

अलंकार—रूपक ।

व्याघात ।

दो० २२३—

पारथिया (डिं०) = (सं० प्रार्थित:) याचित, माँगने पर, माँगा हुआ ।

अम्वह विण (डिं०) = (सं० आम्रस्य + विना) आम्रवृक्ष के बिना, या 'अम्ब' को छोड़ कर। ठीक अपभ्रंश भाषा की तरह यह "अम्बह" षष्ठी का रूप है। यथा उदा० "तुअ पुण अन्नह रेसि ।" यहाँ 'अन्नह' का षष्ठी प्रयोग 'अम्बह' की भाँति ही हुआ है।

जलण (डिं०) = (सं० ज्वलन) = अग्नि ।

प्रति = (सं०) अव्यय । यहाँ कर्म विभक्ति के चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है। "लोग प्रति"—लोगों को। हिं० उदा० "दूती का वचन नायिका प्रति ।"

वण (डिं०) = (सं० वन) ।

पारथिया कृपण वयण दिसि = प्रार्थित कृपण के वचन की दिशा की ओर अर्थात् 'उत्तर' दिशा की ओर। प्रार्थना अथवा याचना करने पर कृपण क्या वचन कहता है ? वह ख़ाली उत्तर देता है। राजस्थानी में 'उत्तर' अथवा 'ऊतर' का रूढ़ अर्थ "नाहीं" का होता है। यथा'—उदा० "उणाँ तो उत्तर देय दीन्हों"—का मतलब होता है, "उन्होंने तो नाँही दे दी ।"

कवि ने सीधे आशय को एक शब्द में न कह कर घुमा फिरा कर एक जटिल वाक्य में कहा है। सूरदास के कूट पदों का स्मरण होता है।

अलंकार—'चित्र' अलंकार—प्रथम पंक्ति ।

विरोधाभास—अन्तिम पंक्ति ।

दो० २२४—

नियं (डिं०) = (सं० निज) अपना ।

नीळा (डिं०) = (सं० नील) हरे । देखो नोट पूर्व दो० में "नीळाणी ।"

थकी (डिं०) = स्थित । देखो पूर्व प्रयोग दो० २१३ में ।

पातिग (डिं०) = (सं० पातक) पापकर्म, वह कर्म जो नरक में गिराने का कारण हो ।

पैसै (डिं०) = (सं० प्रविशति) प्रा० पइसइ = पैठता है, प्रवेश करता है, घुसता है ।

मँजियै (डिं०) = (सं० मज्जन) धोना । हिं० उदा० मंजण फल पेखिय ततकाला । (तुलसी)

मळि (डिं०) = (सं० मल) कल्मष, दोष । उदा० "कलिमलहरणि तुलसी कथा रघुनाथ की ।" (तुलसी)

नोट—'सीत' को पातकी कैसे ठहराया ? उसका नाम 'शीत' है, उसे तो पदार्थों को शीतल करना चाहिये । परन्तु वह अपनी प्रकृति के विरुद्ध जलाने का कार्य करता है । इसी लिए ऐसे पातकी को द्वारिका जैसे पुण्य स्थान में प्रवेश कर देना मना है । बात भी वास्तव में सत्य है, द्वारिका में समुद्र के समीप होने के कारण सरदी और गरमी कम पड़ती है । यह एक भौगोलिक तथ्य है । परन्तु कवि ने कल्पना के बल पर विचित्र ही कारण बताया है !

अलंकार—विभावना—पूर्वार्द्ध में ।
हेतूत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में ।

दो० २२५—

प्रतिहार करै = प्रतिहारपने का कार्य करता है; पहरेदारी करता है ।
प्रताप = (सं०) (१) (प्र+ताप) = सूर्य की तेज़ धूप ।
(२) पराक्रम, पौरुष ।
उदा० "बल प्रताप विक्रम बड़ाई, नाक पिनाकहिं संग सिधाई । (तुलसी)
सी (डिं०) = सं० शीत, प्रा० सीअ = सरदी । प्रचलित राजस्थानी में प्रयोग होता है ।
उदा० (१) कीन्हेसि धूप सीउ औ छाँहा । (जायसी)
(२) जहाँ भानु तहँ रहा न सीऊ । (जायसी)
पाले (डिं०) = बरजता है । राजस्थानी भाषाओं में इसी अर्थ में अब तक बोल चाल में प्रचलित है ।
वारै (हिं०) निछावर करता है, उत्सर्ग करता है ।
उदा० "चितै रही मुख इन्दु मनोहर, या छबि पर वारत तन को ।" (सूर)
अहोनिशि = (सं० अहर्निश) रात-दिन ।
उदा० "मुयो मुयो अहनिशि चिल्लाई ।" (जायसी)
धूप = (हिं० धूप)—(१) सूर्यातप, सूरज की धूप ।
(२) धूप, "धूपदीपनैवेद्य"—पूजा के समय जलाने का सुगन्धित द्रव्य और उसका धुआँ ।
अलंकार = कैतवापन्हुति—उत्तरार्ध में ।
रूपक—पूर्वार्ध में ।

दो० २२६—

कलसि = (सं० कलश-'कुंभ' का पर्य्याय शब्द) = कुंभ राशि पर । यह ११ वीं राशि है; धनिष्ठा नक्षत्र के उत्तरार्द्ध में और

शतभिष और पूर्वभाद्र के तृतीय चरण तक रहती है। प्रति बारहवें वर्ष जब सूर्य कुंभराशि पर होता है तब हरिद्वार में पर्व पर कुंभ का मेला लगता है।

पालट (डिं०) = (सं० पर्य्यस्त, प्रा० पलट्ट) परिवर्त्तन।

उदा० (१) बिनही प्रिय आगमन के पलटन लगी दुकूल। (बिहारी)

(२) नर तनु पाय विषय मन देही,
पलटि सुधा ते सठ विष लेही। (तुलसी)

ठरे (डिं०) = (देशीय शब्द) अत्यन्त शीत से ठिठुरना।

ठंठ (डिं०) = हिं० ठंठ, ठूँठ = सरदी से डाली और पत्तियाँ सूखा हुआ वृक्ष; ठूँठ। उदा० "तस सिंगार सब लीन्हेसि कीन्हेसि मोहिं ठंठार। (जायसी)

डहकियौ (डिं०) = (अनुकरण शब्द) पुनर्जीवित हो जाना, पुन: फूलना-फलना, फैलना। हिन्दी में भी 'डहकना' इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। देखो, उदा०—

(१) चंदन कपूर जलधौत कलधौत धाम,
उज्ज्वल जुन्हाई डहडही डहकत है। (देव)

(२) फिरत सबन में डहडही वहै मरगजी बाल। (बिहारी)

नोट—डा० टैसीटरी ने "डहकियौ" की जगह "द्रहकियौ" पाठान्तर लिया है, जिसका अर्थ संस्कृत और मारवाड़ी टीका के आधार पर यों किया है—सं० टीका—(१) "द्रहा ह्रदा ठण्ठीकृता अकम्पनकरा कृता यत: कुम्भे शीतं च जर्जरम्।"

(२) मा० टीका० "पाणी का द्रह निवाण ठण्ठ कहताँ जाणी नइ पालउ थयउ।"

पाठक दोनों अर्थों को विचार कर देख सकते हैं कि कौन से पाठान्तर का अर्थ ज़्यादा स्वाभाविक और ऋतुपरिवर्त्तन के अनुकूल पड़ता है।

ऊडण (डिं०)=(सं० उड्डयन) उड़ने के लिए।

कलकंठ=(सं०) मधुर कंठ अथवा बोलीवाली। रूढ़ार्थ में कोकिल।
हिं० उदा० "काक कहहिं कलकंठ कठोरा।" (तुलसी)

समारि (हिं०)=(सं० संवर्णन)=ठीक करना, अलंकृत करना, सजाना।

इस दोहा में ऋतुपरिवर्तन के प्राकृतिक लक्षणों का बड़ा स्वाभाविक चित्र अंकित किया गया है।

अलंकार—स्वभावोक्ति।

दो० २२७—

बीणा डफ महुयरि बंस=वाद्यों के नाम। वीणा, डफ, महुअर नाम का बाजा और बंशी या बाँसुरी।

महुवरि—हिं० उदा० "सूरश्याम जानि चतुराई, जेहि अभ्यास महुवरि को।" (सूर)

करि रोरी=हाथ में रोली। रोली—हल्दी और चूने से बने लाल रंग के गुलाल को कहते हैं।
उदा० मुख मंडित रोरी रंग सेंदुर माँग छुही। (सूर)

डा० टैसीटरी ने "री री" पाठान्तर लेकर संस्कृत और मारवाड़ी टीका के आधार पर "री री इति बाढ़स्वरेण" अर्थ लिया है। 'री री' करके गवैये राग को अलापते हैं यह अर्थ भी लिया जा सकता है।

दुतरणि (डिं०) = (सं० दुस्तरण, दुस्तर) बड़ा कठिन, दु:खदायी।

• फाग (डिं०) = (सं० फाल्गुन) हिं० "फाग"—फाल्गुन मास का वह उत्सव जिसमें गुलाल डाल डाल कर प्रेमी परस्पर क्रीड़ा करते हैं और साथ साथ वासन्तिक गीत गाते हैं।
उदा० "आछंद सदा सुगंध, वह जनु वसंत औ फाग"।
(जायसी)

पंचमराग = संगीतशास्त्र के सात स्वरों में से पाँचवें स्वर 'प' को पंचम कहते हैं। इसका उच्चारण नाभि, उरु, कंठ, हृदय और मूर्द्धा पाँच स्थानों की वायु को संचारित करने से होता है और संगीताचार्य दामोदर के मतानुसार प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये पाँचों वायु इसमें लगते हैं। अतएव 'पंचम' नाम पड़ा। पंचम स्वर जिसमें प्रधान हो वे सब रागिनियाँ साधारणतया पंचम राग कहला सकती हैं।

(२) कई आचार्यों के मत से 'पंचम राग' वह राग है जो छः रागों में तीसरा राग है। इसके विषय में मतभेद है। कई इसे हिंडोल राग का पुत्र मानते हैं और कई भैरव राग का। कुछ लोग इसे ललित और वसंत के योग से बना हुआ और कुछ हिंडोल, गांधार और मनहर के योग से बना हुआ मानते हैं। सोमेश्वर और ब्रह्मा के मतानुसार इसके गाने की ऋतु शरद् और प्रात:काल समय है। इसकी छः रागिनियाँ ये हैं :—विभास, भूपाली, कर्णाटी, बड़हंस, मालश्री और पटमंजरी। कुछ लोग इसे ओड़व जाति का (अर्थात् पाँच स्वरों का) राग मानते हैं और इसमें ऋषभ, कोमलपंचम और गांधार वर्जित मानते हैं।

(३) छः रागों के नामों के सम्बन्ध में संगीताचार्यों में बड़ा मतभेद है। कइयों ने "पंचम" को छः रागों में गिनाया है, कइयों ने नहीं। हनुमत के मत से—भैरव, कौशिक (मालकोश), हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ—ये छः राग हैं। ब्रह्मा के मत से—श्री, वसंत, पंचम, भैरव, मेघ और नट-नारायण। नारद-संहिता के मत से—मालव, मल्लार, श्री, वसंत, हिंडोल और कर्णाट।

स्वरभेद से राग तीन प्रकार के होते हैं:—(१) सम्पूर्ण—सात स्वरों का राग, (२) षाड़व (छः स्वरों का), (३) ओडव (५ स्वरों का)।

मतंग के अनुसार (१) शुद्ध, (२) छायालग या सालक (जिसमें दूसरे किसी राग की छाया मिली हो), (३) संकीर्ण (कई रागों के योग से बना हुआ राग)—ये रागों के तीन विभाग हैं।

प्रत्येक राग के छः रागिनियाँ होती हैं—यह सोमेश्वर का मत है और यही आज तक प्रचलित है।

दो० २२८—

अजहुँ = (सं० अद्यापि) हिं० अजहुँ, अज्यों, अजौं।
उदा० अजहुँ सो देव मोहिं पर रूठा। (तुलसी)

थोड़ (डिं०) = (सं० स्तोकम्) प्रा० थोअ (डिं०), हिं० थोड़ा।

गादरित (डिं०) = (अनुकरण शब्द) गदगदाना, स्थूल हो जाना। (हिं० गदराना) युवावस्था के आरम्भ में शरीर का पुष्ट और सुडौल होना।

अकीधे (डिं०) = (सं० अ + कृत) प्रा० अकद, अकिद, अकिध। = नहीं किये हुए।

सोहति (हिं०) = (सं० शोभते) उदा० "सोहत ओढ़े स्याम पट श्याम सलोने गात"। (बिहारी)

अलंकार—उपमा, विभावना—उत्तरार्द्ध में।

दो० २२६—

समापित (डिं०) = (सं० समाप्ते) = समाप्त होने पर।

मुणणन्ति (डिं०) = (अनुकरण शब्द)—गुंजार करते हुए। भ्रमरों के मुन मुन शब्द करते हुए।

कूजति = (सं०) मधुर बोलना, गूँजना, कूजना, ध्वनि करना।
उदा० (१) जल खग कूजत गुंजत भृंगा। (तुलसी)
(२) कलरव कूजत बाल मराल। (सूर)
(३) कोकिल कूजति कुंज कुटीर। (हरिश्चन्द्र)

कठिण वेयणि = (सं०) = कठोर (वेदनापूर्ण) वचन।
उदा० "महाकष्ट दस मास गर्भ बसि अधोमुख सीस रहाई।
इतनी कठिन सही तब निकस्यौ, अजहुँ न तू समुझाई॥"
(सूर)

प्रसवती = (सं०) बच्चा जनती है, पैदा करती है।
डा० टैसीटरी ने 'रति' पाठान्तर लिया है। हमने ढूँढाड़ी टीका के अर्थानुसार "रित" पाठान्तर ज्यादा उपयुक्त समझा है।

इस दोहे में कवि ने वनस्पति देवी की प्रसववेदना का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र अंकित किया है। "मन व्याकुल" "मुणणन्ति", "कठिण वेयणि" शब्दों की आयोजना उस वेदना के भाव को व्यंग्य करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

अलंकार—समासोक्ति ।

दो० २३०—

कसटि भँगि = (सं० कष्ट + भंग) राजस्थानी में "कसट" विशेषरूप से "प्रसव वेदना" को व्यक्त करने के उपयोग में आता है ।

= प्रसव वेदना के दूर होने पर ।

प्रसूतिका = (सं०) जच्चा, प्रसव करनेवाली स्त्री ।

होलिका प्रब = सं० होलिका पर्व ।

कवि ने अपने कल्पनानुसार कथाप्रसंग से "होली" के त्यौहार की उत्पत्ति मनगढ़न्त कर ली है । परन्तु कल्पना इतनी वास्तविक प्रतीत होती है कि सत्य मालूम पड़ती है । मानो वनस्पति देवी की प्रसव-वेदना-शान्ति के उपलक्ष ही में होलिका पर्व को हम इस प्रकार मनाते हैं । पुरातन प्रथा के अनुसार प्राचीन काल में मदनोत्सव अथवा वसन्तोत्सव होता था । उसी की परम्परा आज तक मानी जाती है । साथ ही होलिका राक्षसी की शान्ति का वृत्तान्त भी मिला दिया गया है ।

प्रब (डिं०) = सं० पर्व । डिंगल के नियमानुसार 'रेफ' को स्थानान्तरित किया गया है ।

धर्म-पुण्य कार्य अथवा उत्सव आदि मनाने के पुण्य अवसर को पर्व कहते हैं । पुराणों के अनुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णिमा और संक्रान्ति ये सब पर्व हैं, जिनमें उपवास, नदीस्नान, दान, जपादि किया जाता है ।

वनसपती = वनस्पति को यहाँ प्रकृति देवी का स्वरूप देकर उसके गर्भ से वसन्तकुमार की उत्पत्ति कराई है ।

दो० २३१—

द्रलि (डिं०)=(सं० दल=शरीर के अवयव, भाग)=शरीर पर।
देखो पूर्व प्रयोग दो० १८६ में "दलि मुगता आहरण दुति"।
'दल' का अर्थ पत्ता, किशलय भी होता है।

ढूँ० टीका—"दल कहताँ शरीर थी"।

त्रिगुण=(सं०) सत्व, रज, तम, प्रकृति के तीन गुण (सांख्यमतानुसार) हैं। वायु के सम्बन्ध में त्रिगुण वायु—शीतल, मन्द, सुगंध वायु को साहित्य में त्रिगुण वायु कहते हैं।

त्रिस=(डिं०)=(सं० तृषा) प्यास। उदा० देखि कै विभूति सुख उपज्यौ अभूत कोऊ, चल्यौ मुख माधुरी के लोचन तिसाये हैं। (प्रियादास)

रूँख राइ (डिं०)=(सं० वृक्षराजि) प्रा० रुक्ख राइ—वृक्षों की पंक्ति, श्रेणी।

नोट—"लागै" और "परसतै" दोनों का एक ही अर्थ है। अतएव प्रस्तुत अर्थ में एक का उपयोग अनावश्यक सा प्रतीत होता है। परन्तु कवि ने, संभव है, रूपक के दोनों अंगों को स्पष्ट करने के लिए ये दो समानार्थवाची शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त किये हों।

अलंकार=कैतवापन्हुति।
रूपक।

दो० २३२—

घराघरि (डिं०)=घर घर में।

रमै (डिं०)=(सं० रम्)=रमण करता है, विहार करता है। उदा० गोपिन सँग निशि सरद की, रमत रसिक रस रासि। (बिहारी)

वास = हिं० वास, सुवास = सुगन्धि, सौरभ ।

नोट—और किसी राजकुमार के जन्म की बधाई तो कान से सुनी जाती है परन्तु सुगंधिरूपी बधाईदार ऋतुराज के जन्म की बधाई की सूचना लोगों को नासिका के मार्ग से देते हैं। यह भी विचित्रता है ।

अलंकार—रूपक ।

अनुप्रास की छटा पूर्वार्द्ध में देखते ही बनती है ।

दो० २३३—

मौर = (सं० मुकुल) प्रा० मउल । हिं० मौर = मंजरी । उदा०—"मनो अंबदल मौर देखि कै कुहकि कोकिला बानी है" ।

(सूर)

तोरण = (सं०) गृहद्वार की एक प्रकार की विशेष सजावट जो मंगल-अवसरों पर की जाती है ।

राजस्थान में वैवाहिक घरों के द्वार पर एक विशेष प्रकार की सजावट की जाती है । लकड़ी का बना हुआ एक "तोरण" जिसमें मोर चित्रित होते हैं, गृहद्वार के ऊपर लटकाया जाता है ।

साधारण अर्थ में 'तोरण'—बन्दनवार को भी कह सकते हैं ।

अजु (डिं०) = और जो ।

मंगल करि कलस = 'मंगल' अर्थात् धवल-मंगल प्रथा करने का जलपूर्ण कलश, जिसमें हरी डालियाँ रहती हैं । इसे "मंगल-कलश" भी कहते हैं ।

वन्नरवाल (डिं०) = (सं० वंदनमाला) फूल, पत्तों, दूब आदि की बनी वह माला जो मंगल कार्यों के समय द्वार पर लटकाई जाती है।

वल्ली = (सं०) लता।

बियै = (सं० द्वितीय) दूसरे। देखो नोट दो० ५ में।

अलंकार—रूपक।

दो० २३४—

वानरेण = (सं०) शुद्ध संस्कृत विभक्तिप्रयोग।

फुट (डिं०) = (सं० स्फुटनं, स्फोटनं) फोड़ा हुआ।

कच (डिं०) = हिं० 'कच्चा'—का अल्प रूप।

नालिकेर फल = (सं० नारिकेल)—नारियल का फल पवित्र माना जाकर पूजा में काम में आता है। राजस्थान में मांगलिक पूजाओं में इसका सर्वत्र प्रयोग होता है। उदा०—

"नालिकेर फल परठि दुज, चौक पूरि मनि मुत्ति।
दई जु कन्या वचन वर, अति अनंद कर जुत्ति"। (चन्द)

मज्जा = (सं०) भीतर का भाग, गूदा। साधारणतः हड्डियों के अन्दर के गूदे को मज्जा कहते हैं। फल के आन्तरिक भाग के लिए यह बहुत कम प्रयुक्त होता है।

तिकरि (डिं०) = (सं० तत्कृते) तिणि करि (डिं०), हिं० "तिन करि" = उनकी, के लिए। यहाँ सम्बन्धकारक षष्ठी विभक्ति के चिह्न की तरह प्रयुक्त हुआ है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १४३, २७९।

अखित (डिं०) = (सं० अक्षत) = चंदन वा केसर में रँगे हुए चावल पूजा के लिए काम में लाये जाते हैं।

उदा०—"सेवा सुमिरन पूजिबो पात अखित थोरे।" (तुलसी)

अलंकार—रूपक।

दो० २३५—

इलि (डिं०) = (सं० इला) = पृथ्वी पर ।

पोइणि (डिं०) = (सं० पद्मिनी) = प्रा० पोयणि । उदा० "पोयण फूल प्रतापसी" । (पृथ्वीराज)

भामिणि (डिं०) = (सं० भामिनि) सुसज्जिता स्त्रियाँ ।

मोतिए थाल भरि... = राजस्थान में राजकुलों में बधाई देने की यह प्रथा है कि थाल में मोती भर कर बधाई दी जाती है। राजस्थानी साहित्य में "मोतिए थाल" का प्रसंग अकसर उपलब्ध होगा ।

काचमै वणे = काँच के बने हुए ।

अलंकार = उत्प्रेक्षा ।

दो० २३६—

करणि (डिं०) = (सं० कर्णिकार) = कनक चम्पा, एक प्रकार का पुष्प, जो पीले रङ्ग का होता है ।

केसू (डिं०) = (सं० किंशुक) = ढाक, अथवा टेसू के पुष्प ।

करि = षष्ठी का विभक्तिचिह्न—'के' । हिन्दी में भी प्रयोग होता है । "राम ते अधिक राम कर दासा ।" (तुलसी)

कामदुधा = (सं०) पुराणों के अनुसार समुद्र मंथन के उपरान्त १४ रत्नों में निकली हुई एक गाय, जो मनोवांछित पदार्थ माँगने पर देती है ।

कामा = (सं०) कामनाएँ, मनोरथ ।

वरखन्ती (डिं०) = (सं० वर्षन्ति) = बरसाती हुई, बौछाड़ करती हुई, बहुतायत से देती हुई ।

पीला वसन = पीत वस्त्र, पीले रंग के वस्त्र। पीला रंग मांगलिक समझा जाता है। राजस्थान में प्रथा है कि प्रसव-अवधि की समाप्ति हो जाने पर माता को पीले मांगलिक वस्त्र पहनाये जाते हैं। उसी का उल्लेख कवि ने उपमा के रूप में यहाँ किया है।

कामा......कामदुधा वसंत ऋतु में वनस्पतियों में अनेक प्रकार के फल-फूल लगते हैं। जिसकी जैसी रुचि होती है उसको वैसे ही फूल-फलों की प्राप्ति इस ऋतु में होती है। अतएव वनस्पति देवी का 'कामदुधा' होना असंदिग्ध है।

अलंकार—उपमा।

वनस्पति देवी की प्रसूति का ऊपर के कई दो० में वर्णित रूपक प्रकृतिसिद्ध एवं स्वाभाविक है। कवि की सूझ अनूठी है। साहित्य में यह एक नवीनता है।

दो० २३७—

कणियर (डिं०) = (सं० कर्णिकार—प्रा० कणियार) हिं० कनियार या कनेर = कनक चम्पा। यह कर्णिकार की जाति का एक पुष्पवृक्ष होता है।

सेवंती (डिं०) = (सं०) एक प्रकार का पुष्प, गुलाब का एक भेद, सफ़ेद गुलाब, चैती गुलाब, शतपत्री।

कूजा (डिं०) = (सं० कुब्जक) = मोतिया या बेले का पुष्प। उदा० कोइ कूजा सतवर्ग चमेली, कोई कदम सुरस रस बेली। (सूर)

जाती = (सं०) मालती, चमेली। देखो पूर्व प्रयोग दो० ९९ में :—

"कीर सु तसु जाती क्रीड़न्ति।" (वेलि)

सोवन = हिं० सोहना। एक प्रकार का पुष्पवृक्ष विशेष। भारत के दक्षिण के जंगलों में पाया जाता है।

गुलाल = (फारसी गुल + लाल) एक प्रकार का लाल पुष्प।
उदा० जेहि चम्पकवरनी करैं, गुल्लाला रंग नैन। (विहारी)

ईए (डिं०) = इसने (अर्थात् वनस्पति देवी ने)। मारवाड़ी भाषा में अब तक इस सर्वनाम का इसी अर्थ में बोलचाल में प्रयोग होता है।

नोट—तृतीय पंक्ति में वयणसगाई का यथावत् साधारण प्रयोग न करके कवि ने आन्तरिक वयणसगाई का प्रयोग किया है। इसके स्पष्टीकरण के लिए देखो भूमिका। कवि ने वनस्पति-वर्णन में अपने वानस्पत्य वस्तु-ज्ञान के अनुभव का पर्याप्त परिचय दिया है। हिन्दी कवियों में जायसी की दक्षता इस ओर ख़ूब बढ़ी-चढ़ी है। प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं का सविस्तर वर्णन पद्मावत में ख़ूब मिलेगा। पाठकों को यह वर्णन जायसी के पुष्पवर्णन से मिलाना उपयोगी सिद्ध होगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

दो० २३८—

बधावे (डिं०) = हिं० बधावा, बधाई। बधाई देने की विविध प्रकार की रस्में, प्रथाएँ। देखो पूर्व प्रयोग "विधि सहित बधावे बाजित्र बावै।" दोहा १४८।

हुलरावणे, हुलरायो (डिं०) = अनुकरण शब्द। हिं० हुलराना = प्यार से झुलाना, गीतवाद्यादि के साथ बालक को प्रसन्न करना। 'हुलरावणे' (संज्ञा) झूले के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

राजस्थानी में 'हुलल हुलल' शब्द के साथ माता के बालक को लोरी देने को भी "हुलराना" कहते हैं।

उदा० (१) मदन महीप जु को बालक बसंत,
ताहि प्रात हुलरावै गुलाब चत्कारी दै। (देव)

(२) लै उछंग कबहुक हुलरावै,
कबहु पालने घालि झुलावै। (तुलसी)

(३) जसुदा हरि पालने झुलावै,
हलरावै, मल्हरावै जोइ सोइ कछु गावै। (सूर)

झालिम (डिं०) = भलापन, अच्छापन। सौन्दर्य्य, कान्ति आदि सभी गुणों में भलापन होने को 'झालिम' कहते हैं।
सं० टीका—"झालिम इति भाषायां भव्यतया।"

भरण (डिं०) = हिं० भर जाना। लाक्षणिक अर्थ में—शरीर का भरा पूरा होना—मांसल और शक्ति-सम्पन्न होना। हिन्दी में प्रयोग होता है। यथा "पहले तो वे अत्यन्त कृश थे परन्तु अब तो शरीर में कुछ कुछ भर गये हैं।"

गहवरिया (डिं०) = (सं० गह्वर) हिं० गहराना, गहरा होना = सघन हो जाना। पत्तों से लदा हुआ सघन वृक्ष जिसकी छाया सघन हो। किसी प्रकार की गहराई अथवा सघनता के लिए उपयुक्त हो सकता है।
सं० टीका "गहवरिया इति गर्वितैः पुष्पादि समृद्धिमद्भिस्तरुभिस्तरुणैरिव।

अलंकार—परिकर—"तरुण" अभिप्राय गर्भित है।

दो० २३९—

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण = कामदेव।

धर सधर (डिं०) = सं० धराधर = पर्वत।

माथै (डिं०) = (सं० मस्तके) सिर पर, ऊपर ।
उदा० "सो जनु हमरे माथे काढ़ा,
दिन चलि गयहु ब्याज बहु बाढ़ा ।" (तुलसी)

मंडाणा (डिं०) = (सं० मंडित) = मँडे हैं, सजे हैं, लगे हुए हैं, तने हुए हैं ।

चमर = (सं० चामर) हिं० चमर, चाँवर, चामर । सुरा गाय की पूँछ के बालों का गुच्छा चाँदी सोने की डाँड़ी में लगा कर राजाओं या देवताओं के सिर पर पीछे से अथवा बगल से डुलाया जाता है ।
उदा० "चँवरदार दुइ चँवर डोलावहिं ।" (जायसी)

ढलि (डिं०) = हिं० ढुलाना = इधर उधर हिलाना, डुलाना ।
उदा० (१) "धुजा फहराइ छत्र चौर सो ढुराइ, बागे वीरन बनाइ, यों चलाइ दाम चाम के ।" (हनुमान)
(२) सूर श्याम श्यामावश कीन्हो,
ज्यों संग छाँह ढुलावै हौ । (सूर)

अलंकार—रूपक ।

नोट—इस दोहे से कवि मदन महीपति के वासन्तिक दरबार का रूपक स्थापित करता है ।

दो० २४०—

दाड़िमी (सं०) अनार ।

दीसै (डिं०) = (सं० दृश्यते, प्रा० दीसइ, डिं० दीसै) = दीखते हैं ।
उदा० "विदुसन प्रभु विराट सम दीसा ।" (तुलसी)

निउँछावरि (डिं०) = (सं० न्यास + आवर्त्त; न्यासावर्त्त), (अरबी० निसार), हिं० न्यौछावर। किसी प्रेमी अथवा श्रद्धा-भाजन के ऊपर किसी बहुमूल्य द्रव्य का उत्सर्ग करना। प्रथा यह है कि आनन्द के अवसरों पर प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के ऊपर से द्रव्य, रुपया, पैसा, अशर्फी अथवा अन्य प्रकार का कोई मूल्यवान् द्रव्य घुमा कर डाल देता है अथवा भाट, बन्दीजन को दान कर देता है। राजस्थान में वैवाहिक अवसरों पर यह प्रथा अच्छे कुलों में अब तक बरती जाती है।

नाँखिया (डिं०) = (सं० नाश) = (१) नष्ट किया। (२) फेंका। राजस्थान में बोलचाल की भाषा में अब तक फेंकने के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है।

हिं० उदा० जो उर झारन ही झरसी मृदु मालती माल वहै मग नाखै।

नग (डिं०) = (फारसी० नगीना), (सं० नग) बढ़िया शीशा अथवा क़ीमती पत्थर जो जड़ने के काम का हो। नग = रत्न।

लुञ्चित, चुम्बित, मुञ्चन्ति, सिञ्चन्ति } शुद्ध संस्कृत प्रयोग। कवि ने अपनी भाषा को पाण्डित्य-पूर्ण और परिमार्जित करने के लिए संस्कृत-प्रयोगों का बहुत कुछ सहारा लिया है। कई अंशों में डिंगलकाव्य में यह आपत्तिजनक है।

अलंकार—रूपक।

दो० २४१—

एण = (सं०) एक काले रङ्ग का हरिण जिसकी आँखें बड़ी और पैर छोटे होते हैं।

पदाति = (सं०) = पैदल सिपाही।

हय लास = (सं० हय + लास्य—लासक) लास्य = एक प्रकार का नाच, अतएव हयलास्य = घोड़ों को नचानेवाला, घुड़सवार या सईस। लास (डिं०) = घोडों को लासने अर्थात् बाँधने की घुड़साल, पायगह।

डा० टैसीटरी प्राचीन मा० टीका के आधार पर —

"घोड़ानो ल्हासि घोटकशाला पायगह" अर्थ करते हैं।

सं० टीका—लासिरिति मन्दुरा। (अँगरेज़ी में "लेसिङ्ग" जहाज़ बाँधने अथवा जानवर बाँधने के मोटे रस्से को कहते हैं)।

पूठि (डिं०) = (सं० पृष्ठ) प्रा० पुट्ठ या पिट्ठ, डिं० पूठ, हिं० पीठ; पृष्ठ।

उदा० देखादेखी पकरिया, गई छिनक के छूटि।

कोई विरला जन ठहरे जाकी ठकोरी पूठि ॥ (कबीर)

ढलकावै (डिं०) = (हिं० ढरकावै) = किसी आधार से गिराना, लुढ़काना।

गय (डिं०) = (सं० गज) प्रा० गय, हिं० गज = हाथी।

उदा० "हय गय बसह हंस मृग जावत।" (सूर)

खजूरि = (सं० खर्जूर) हिं० खजूर। एक प्रकार का ताड़ की जाति का वृक्ष जो गरम देशों में समुद्र के किनारे मैदानों में होता है।

सिणगारिया (डिं०) = (सं० शृंगारिता) = शृंगारे हुए, सजाये हुए।

अलंकार = उपमा।

नोट—यहाँ से आगे ऋतुराज वसंत की सेना का रूपक बाँधा गया है। राजा के सेना भी होनी चाहिए।

दो० २४२—

पसरन्ता (डिं०)=(सं० प्रसरत:) हिं० पसरे हुए; फैलते हुए, पसरते हुए।

सरला=(सं० सरल)=सीधे, एकदम सीधा ऊँचा गया हुआ (वृक्ष)

तरला=(सं० तरल)=हिलता डोलता, चंचल, अस्थिर, चलायमान।

उदा०—लसत सेत साड़ी ढक्यौ, तरल तरयौना कान।
(बिहारी)

तड़ि (डिं०)=(सं० तट) डिंगल में "तड़ी"—लम्बी छड़ी को कहते हैं। जिसके मारने से 'तड़तड़' शब्द हो, ऐसी लम्बी लकड़ी को 'तड़ी' कहते हैं।

डिं० उदा० तड़ी तड़ी कर तड़ी धोवियो, बड़ी बड़ो बालियौ बपु। (पृथ्वीराज)

सरगि (डिं०)=(सं० स्वर्ग) स्वर्ग में; आसमान तक।

उदा० "मूल पताल सरगि वहि साखा"। (जायसी)

पाटि (डिं०)=(सं० पट्ट) सिंहासन, राज्यासन, राज्यपाट, गद्दी।

जगहथ पत्र (डिं०)=जगत को हस्तगत करने के लिए घोषणा-पत्र। संसार का दिग्विजय करने के लिए चुनौती देते हुए घोषणा-पत्र।

प्राचीन काल में भारतीय चक्रवर्ती राजा दिग्विजय करने के लिए घोषणा करते थे। यह घोषणा कई प्रकार से हुआ करती थी। या तो राजसूय अथवा अश्वमेध जैसा महायज्ञ किया जाता था जिसमें आधिपत्य स्वीकार करनेवाले

तमाम राजाओं को निमंत्रित किया जाता था, अथवा और किसी रीति से अथवा पत्र-द्वारा घोषणा की जाती थी।

ऋतुराज वसंत ने भी इसी प्रकार दिग्विजय की घोषणा की है।

सं० टीका० "जगद्धस्ता: पत्रावलम्बनानीव बद्धा इव अस्माकं यो जयतु तेनागन्तव्यमिति।"

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

सम्बन्धातिशयोक्ति—पूर्वार्द्ध।

दो० २४३—

आगलि (डिं०) = आगे। देखो नोट पूर्व दो० १८ में—"आगलि पित मात रमन्ती" उदा० "आगल से पाछल भयो, हरि सों कियो न हेत"। (कबीर)

मंडियौ (डिं०) = (सं० मण्डित:) सुसज्जित हुआ। देखो पूर्व प्रयोग दो० ९० में।

अवसर (डिं०) = (सं०) = समय, विशेष अवसर। प्रसंग से यहाँ लाक्षणिक अर्थ में—'महफिल', 'उत्सव' का अर्थ है।

मंडप = (सं०) किसी उत्सव या समारोह के लिए ऊपर से छाकर बनाया हुआ चारों ओर से खुला स्थान, शामियाना।

रङ्ग वसुह (डिं०) = (सं० रङ्ग + बसुधा = रङ्गभूमि) अभिनय, समारोह अथवा उत्सव होने का स्थानविशेष।

मेलगर (डिं०) = (सं० मेलक = समूह) = मेला, जमावट, मिलनेवाले अर्थात् दर्शक गण—जाणगर = जानेवाले
मेलगर = मिलनेवाले

नायक = महफिल, उत्सव अथवा अभिनय का प्रधान पुरुष अथवा पात्र ।

नीझरण (डिं०) = (सं० निर्झरण) = झरना, निर्झर ।

पंचबाण = (सं०) कामदेव । कामदेव के पाँच बाण पूर्व दो० १०६ के प्रसंग में नोट में दिये गये हैं ।

अलंकार = रूपक ।

दो० २४४—

कलहंस = (सं०) = राजहंस । उदा० "सजि सी सिंगार कलहंस गती सी, चलि आइ राम छबि मंडप दीसी" ।

जाणगर (डिं०) = हिं० जानकार = कलाविज्ञ, ज्ञाता, चतुर, कला-कुशल । मिलाओ "मेलगर" दो० २४३ ।

सं० टीका—"कलहंसा ज्ञातारो भव्यभव्येति भाषका" । अर्थात्, 'वाह वाह', 'क्या ख़ूब', 'वल्ला', "बहुत अच्छा" कह कह कर सराहना करनेवाले चतुर द्रष्टा या श्रोता ।

आरि (डिं०) = (देशीय शब्द) = झिल्ली, झींगुर ।

सं० टीका—"आरिशब्देन काचिच्चटिका जातिविशेषः" इस प्रकार अनुमान से "कोई पक्षीविशेष" अर्थ लिया है ।

तन्तिसर (डिं०) = (सं० तंत्रीस्वर) तार के वाद्यों का स्वर, सितार, सारङ्गी, बीणा, वेला, दिलरुबा इत्यादि का शब्द ।

उदा० "तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रङ्ग" । (बिहारी)

ताल = (सं०) = (१) संगीत में "ताल"—समय-विराम को कहते हैं । अतएव "तालधर" = ताल का समय देनेवाले ।

(२) करताल, मजीरा इत्यादि ताल देने के बाद्यविशेष ।

नोट--नाचने या गाने के समय काल और क्रिया का परिमाण बताने के लिए बीच बीच में हाथ पर हाथ मार कर करतल-ध्वनि द्वारा सूचना देते हैं। भरताचार्य के अनुसार (१) मार्ग और (२) देशीय, दो प्रकार के ताल हैं। पहले के ६० और दूसरे के १२० भेद हैं। इनमें से बहुत थोड़े ताल प्रचलित हैं।

उदा० कूजहिं काँख बजावहिं ताला। (सबल)

उपंगी = (सं० उपाङ्ग) = नसतरङ्ग को बजानेवाला। नसतरङ्ग एक वाद्य-विशेष का नाम है।

उदा० (१) उघटत श्याम नृत्यत नारि। धरे अधर उपंग उपजैं लेत हैं गिरधारि। (सूर)

(२) चंग उपंग नाद सुर तूरा, मुहर वंस बाजै भल तूरा। (जायसी)

उघट = (सं० उत्कथन या उद्घाटन) = हिं० उघटना। संगीत में ताल की जाँच के लिए, मात्राओं की गणना करके शब्द संकेतों द्वारा नियमानुसार "बोल" बोले जाते हैं और उनके अनुसार ताल दी जाती है। इसे 'उघटना' कहते हैं।

उदा० " कोउ गावत कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत कोउ ताल बजावत। (सूर)

तीवट (डिं०) = (सं० त्रिवट) (१) सम्पूर्ण जाति का एक राग-विशेष, हिंडोल राग का पुत्र, दोपहर के समय गाया जाता है।

(२) 'तिरवट' नामक एक राग 'तिल्लाने' का भेद भी है।
(३) एक जाति का ताल जिसे तेवर, तेवरा भी कहते हैं।

यह १४ मात्राओं का माना जाता है। इसके तबले के बोल

+ ३ ०

ये हैं:—धिन्, धिन्, धाकेटे, धिन्, धिन् धा। तिन्, तिन्

१

ताकेटे, धिन् धिन् धा ॥

चकोर = चकोर एक पक्षीविशेष का नाम है। इसकी बोली तीन भागों में विभक्त होती है और 'त्रिवट' ताल के बोलों से मिलती है। अतएव साम्य स्पष्ट है। कवि की कल्पना सराहनीय है।

नोट—इस दो० में सङ्गीतशास्त्र का आन्तरिक अनुभव भरा पड़ा है। कवि के सङ्गीतशास्त्र के अनुभव के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं हो सकता। दोहा २६६ वाली—"सङ्गोती तारकिक" वाली गर्वोक्ति ? अत्यन्त सत्य है।

अलंकार = रूपक।

दो० २४५—

विधि पाठक = (सं०) शास्त्र की रीति, नियम, प्रणाली का पाठ करके बतानेवाला।

कोविद = (सं०) = पंडित, विद्वान्, कृतविद्य, चतुर, कलाकुशल।

खंजरीट = (सं०) (१) खंजन पक्षी। यह पक्षी बहुत चंचल होता है। आँखों के उपमान की तरह साहित्य में प्रयुक्त होता है। (२) सङ्गीत में एक प्रकार के ताल का नाम भी है।

गतिकार = (सं०) = तालस्वर के अनुसार अंगों के संचालन को 'गति' (हिं० गत) कहते हैं; गतिकार = गतें बतानेवाला। नृत्य की कई गतें होती हैं। यथा, मेंढक की गति, थाली की गति इत्यादि।

उदा० (१) सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय।
रस जुत लेत अनंत गति पुतरी पातुर राय ॥ (बिहारी)

(२) अनुहारि ताल गतिहि नट नाचा। (तुलसी)

पारेवा (डिं०) (सं० पारावत) हिं० परेवा = कबूतर।

उदा० हारिल भई पंथ मैं सेवा, अब तोहिं पठ्यौ कौन पारेवा।
(जायसी)

प्रगलभ = (सं० प्रगल्भ) = चतुर, विज्ञ, ज्ञाता।

विदुर = कौरवों के सुप्रसिद्ध मंत्री, विदुरजी राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीति में परम निपुण थे। ये धर्म के अवतार माने गये हैं। महाभारत के अनुसार जब सत्यवती ने अपनी पुत्र-वधू अम्बिका को दूसरी बार कृष्णद्वैपायन के साथ नियोग करके पुत्रोत्पत्ति करने की आज्ञा दी, तो वह उनकी भद्दी शकल देख कर घबरा गई और अपने बदले अपनी दासी को उनके पास भेज दिया। इस दासी से विदुर का जन्म हुआ। अतएव विदुर शब्द–दासीपुत्र–विदूषक, राजाओं के चाकरों को भी कहते हैं। 'विदुर' के पर्याय में "विदुष" का भी प्रयोग होता है। वेश भूषा और नक़ल करने में चातुरी द्वारा लोगों को हँसानेवाले, राजा लोगों के "प्रिय वयस्य" को भी, विदूषक, विदुष, विदुर कह सकते हैं।

लाग दाट (डिं०) = नृत्य की दो प्रकार की भाव बताने की क्रियाएँ।
उदा० अरु लाग धाड़ रायउ रँगाल। (केशव)

सं० टीका–"दाटिर्गुटककथनं प्रगल्भलागिभ्र्मरीस्फुरणवृत्त्या मूर्छना विष्करणं।"

ढ़ूँ० टीका:—"लागदाट पारेवा ल्यै छै भाँति भाँति की जैसे नटवा संगीत की लागदाट ल्यै तिहिं तिहिं भाँति की मानों पारेवा ल्यै छै।

कोविद......गतिकार = खंजन पक्षी की चाल अत्यन्त मनोहर होती है अतएव उसका गतिकार होना उपयुक्त है।

अलंकार = रूपक।

दो० २४६—

तिरप = नृत्य में एक प्रकार का ताल जिसे त्रिसम या तिहाई भी कहते हैं।

उदा० "तिरप लेति चपला सी चमकति झमकति अंग"। (सूर)

उरप = (देशीय शब्द) = उड़प, उडुप उरप। एक प्रकार का नृत्य-विशेष। उदा० बहु उडुप तियगयति अति अड़ाल, अरु लाग धाड़ रायउ रँगाल। (केशव)

मरुत चक्र = (सं०) = वातचक्र, वगूला, ववंडर।

मरू (डिं०) = (सं० मूर्च्छना) संगीत में एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाने में सातों स्वरों का आरोह अवरोह करना, "मूर्च्छना" कहलाता है। ग्राम के सातवें भाग का नाम मूर्च्छना है। भरत के मत से गाते समय गले को कँपाने से ही मूर्च्छना होती है और किसी किसी का मत है कि स्वर के सूक्ष्म विराम को भी मूर्च्छना कहते हैं। तीन ग्राम षड़ज, मध्यम और गांधार के अनुसार २१ मूर्च्छनाएँ होती हैं।

उदा० सुर मूर्च्छना ग्राम ले ताला,
गावत कृष्ण चरित सब काला। (रघुराज)

लियत (डिं०)=ली जाती है।

रामसरी=(१) एक राग जो हिंडोल का पुत्र गिनाया जाता है।
(२) एक प्रकार की चिड़िया।

खुमरी (डिं०)=(अरबी) पंडुख की जाति की एक चिड़िया जो सफ़ेद कबूतर और पंडुख से उत्पन्न होती है। इसके गले में कंठी अथवा हँसुली होती है। इसकी बोली बड़ी गंभीर और मधुर होती है। यह "केशव तू २" रटन लगाया करती है।

माठा ध्रूया (डिं०)=(सं० मधुर ध्रुपद)। यह ध्रुपद राग का एक भेद है।

चन्द धरु (डिं०)=(सं० चन्द्रक ध्रुपद) यह भी ध्रुपद राग का एक भेद है।

नोट—ध्रुपद संगीत-शास्त्र में एक राग है जिसे ध्रुवक अथवा ध्रुवपद भी कहते हैं। ध्रुपद एक पृथक् ताल भी होता है। इस गीत के चार भेद हैं—अस्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग। द्रुत और विलम्बित दोनों लय में गाया जाता है। ध्रुपद सब चौताल ताल पर गाये जाते हैं। इसके भेद, ध्रुपद कान्हड़ा, ध्रुपद केदारा, ध्रुपद एमन इत्यादि अनेक हैं जिनमें से दो वेलि में वर्णित मधुर (माठा) और चन्द्रक (चन्द्र) ध्रुपद भी हैं। संगीताचार्य दामोदर के अनुसार ध्रुपद के १६ भेद हैं यथा :—जयन्त, शेखर, उत्साह, मधुर (माठा), निर्मल, कुंतल, कमल, सानन्द, चन्द्रक, सुखद, कुमुद, जयी, कंदर्प, जयमंगल, ललित, तिलक।

माठा (डिं०)=ठस बोलनेवाला, मन्द या मधुर बोलनेवाला। जैसे—"तबला माठा बोलता है।"

रट = (सं० रटन) = बोलना। उदा० केशव वे तुहिं तोहिं रटैं, रट तोहिं इतै उनही की लगी है। (केशव)

नोट—कवि ने "तिरप, उरप, मरू, धुआमाठा, चन्दधरू" संगीत-शास्त्र की विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग करके अपने संगीत-कला के आन्तरिक ज्ञान का परिचय दिया है। देखो दे० २९९ की गर्वोक्ति (?)

अलंकार = रूपक।

दो० २४७—

निगरभर (डिं०) = (सं० नि + गह्वर) खूब सघनता से भरे पूरे हुए। देखो प्रयोग पूर्व दे० १८१।

"लिखमोवर हरख निगर भर लागी।" (वेलि)

सघण छाँह = घनी छाया। उदा० "सघन कुंज छाया सुखद शीतल, मंद समीर।" (बिहारी)

दीपगर (डिं०) = (सं० दीपगृह)—दीवट, दीपकों का समूह।

मौरिक = (सं० मुकुलित)—मंजरीयुक्त।

उदा० विलोके तहाँ अम्ब के साखि मौरे, चहूँधा भ्रमैं हुंकरैं भौंर बैारे। (गुमान)

रीझ = (सं० रंजित) हिं० रीझना = मोहित होना, मुग्ध होना। उदा० (१) रीझहिं राजकुँवर छबि देखी। (तुलसी)

(२) जा तन हेरौं निमिष कै रीझहु रीझी जात।

(रसनिधि)

अलंकार = रूपक।

दो० २४८—

कोक=संगीतशास्त्र का छठा भेद जिसमें नायिकाभेद, रस, रसाभास, अलंकार, विभाव, अनुभाव, समय समाजादि का शास्त्रविवेचन किया गया है। देखो पूर्व प्रयोग दो० १८३ में।

जवनिका=(सं० यवनिका)—नाटक का परदा। प्राचीन काल में नाटक के परदे संभवत: यवन देश के ढङ्ग पर अथवा यवन-देश से आये हुए कपड़े पर बनते थे। इसी लिए यवनिका नाम पड़ा।

पात्र=(सं०) अभिनेता, नाटक के पात्र, कार्य-कर्त्ता। नट, नर्त्तक आदि।

नाँखी (डिं०)=डाली, गिराई। देखो पूर्व प्रयोग दो० २४० में।

पहुपंजलि (डिं०)=सं० पुष्पाञ्जलि; पुष्पों से भरी भेंट; पूजार्थ अंजलि।

निज......परि=प्राचीन काल में राजाओं के दरबार में जब अभिनय होते थे तो राजा स्वयं देखने आते थे। अभिनय के प्रारम्भ में सूत्रधार प्रधान पात्रों सहित आकर राजा का उचित अभिवादन कर उसको पुष्पांजलि भेंट करता था। तदनन्तर नाटक होता है। उसी प्रथा के अनुसार ऋतुराज के आगे महफिल में अभिनय हो रहा है।

अलंकार=रूपक।

दो० २४९—

उदभिज=(सं० उद्भिज)=वृक्षलता गुल्मादि पृथ्वी फोड़कर उस पर उगनेवाले सृष्टि के पदार्थों को उद्भिज कहते हैं;

वनस्पति। सृष्टि के चार प्रकार के प्राणियों में से यह अन्त:सत्व श्रेणी की सृष्टि कही गई है। इनमें ऐसी संवेदना या चेतनाशक्ति है जिसे यह प्रकट नहीं कर सकते। अब तक आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों का भी यही मत था। परन्तु श्री जगदीशचन्द्र बोस की इस ओर खोजों के बाद में अब इस श्रेणी के पदार्थों में भी अन्य जीवधारी प्राणियों की तरह संवेदना और चेतनाशक्ति मानी जाने लगी है।

प्रज (डिं०) = (सं० प्रजा) प्राणीसमूह; ऋतुराज वसंत के सम्बन्ध में सृष्टि के सभी प्रकार के जीव और पदार्थ "प्रजा" ही हैं।

दुरीस = (सं० दु: + ईश) = दुष्ट शासक, दुष्ट राजा।

ऊथापिया (डिं०) = (सं० उत्थापित:) उखाड़ दिया; स्थान, पद अथवा अधिकार से च्युत कर दिया।

उदा० "उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै पुनि को जेहिं वे टरिहैं।" (तुलसी)

असन्त = (सं०) = दुष्ट, अनिष्टकारी।

ऊतर (डिं०) = (सं० उत्तर) = लाक्षणिक अर्थ में—उत्तर दिशा का पवन अर्थात् शिशिर का शीत वायु जो उत्तर दिशा से चलता है।

प्रसन (डिं०) = (सं० प्रसन्न) प्रसन्नता-उत्पादक, सुखद, प्रसन्न करनेवाली।

प्रवर्त्यौ = (सं०) प्रवर्त्तित किया, प्रचार किया, चलाया।

अलंकार—रूपक ।

अपह्नुति (कैतवा) ।

नोट—डा० टैसीटरी ने "ऊतर" शब्द का संस्कृत और मारवाड़ी टीकाओं के आधार पर (१) उत्तर दिशा का पवन और (२) "उत्तर" अर्थात् "नाँही"—अस्वीकृति—दोनों अर्थ लिये हैं, जो सम्भव हैं। पिछले अर्थ का प्रयोग पूर्व दो० २२३ में हुआ है । "पारथियां कृपण वयण दिसि"—

दो० २५०—

खाडिया (डिं०) = (सं० खात्) खड्ड, खड्डा, गड़हा, गर्त (संज्ञा) । क्रियाप्रयोग में, खड्ड में गड़ा हुआ। हिं० 'उखाड़ना' शब्द इसी का उलटा है। खाड़ना—उखाड़ना ।

द्रब (डिं०) = (सं० द्रव्य) धन, सम्पत्ति, दौलत ।

मांडिया (डिं०) = (सं० मण्डिताः) किये, बनाये, सजाये, प्रकट किये ।

उदा० (१) मनोज मख मांडयौ नाभि कुंड में। (देव)
(२) हौं तुमसों फिर युद्धहिं मांडौं। (केशव)

ऊखेलि (डिं०) = (सं० उत् + चालनम्] हि० उखाड़ना, उखेलना । हि० उदा० "कियो उपाय गिरवर धरिबे को, महि ते पकरि उखेरो।" (सूर)

दीपक दीधा (डिं० मुहाविरा) = दीपक दिया, दीवा जलाया, दीपक लगाया ।

कोड़ि (डिं०) = (सं० कोटि) = करोड़ों ।

नोट—प्राचीन काल में लक्षपति धनिक लोग अपने ख़ज़ाने पर अखण्ड दीपक जलाया करते थे और करोड़पति ध्वजा गाड़ते थे। उसी प्रथा के अनुसार ऋतुराज की धनिक प्रजा के लखपतियों और करोड़पतियों ने किया। चम्पक के पुष्प प्रज्वलित दीपक के समान होते हैं और कदली के पत्ते ध्वजा से समानता रखते हैं अतएव उपमा अत्यन्त युक्तिसंगत है।

अलंकार=रूपकातिशयोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

अपह्नुति (कैतवा)। पूर्वार्ध में।

दो० २५१—

मलयानिल=(सं०) मलय पर्वत से बहनेवाला सुगन्धित वायु। साहित्य में यह त्रिविध—शीतल, मंद, सुगंध प्रसिद्ध है। इसे वसंत वायु, दक्षिण वायु भी कहते हैं।

वाजि (डिं०)=(सं० वाद्य) हवा के ज़ोर से शब्द करके चलने को डिंगल में "बाजना" कहते हैं। राजस्थानी में, "हवा बाजै छइ" प्रयोग प्रचलित है।

सुराज=(सं०)=अच्छा, उत्तम राज्य, जिस राज्य में प्रजा सन्तुष्ट हो।

विलागी (डिं०)=(सं० विलग्ना)=लगी।

अङ्क भरि (हिं० मुहा०) अङ्क भर लेना=आलिङ्गन करना।

नोट—ऋतुराज के सुराज्य में प्रजाजीवन के आनन्द, चैन और सन्तोष का कैसा अच्छा चित्र दिया है। जिसमें प्रजाजन पारस्परिक प्रेमबन्धनों से बँधे हों और उनके हृदय में आनन्द उत्साह हो, वास्तव में वही सुखी राज्य है। वृक्ष पति है और वेलें पत्नियाँ।

अलंकार = रूपक ।

समासोक्ति ।

*दो० २५२—

पहिलौ = (हिं०) पहले का, विगत, व्यतीत, गुजरा हुआ । हिन्दी में भी यह शब्द बहुधा इस अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

दाखि (डिं०) = देख कर ।

टाल्यौ = (देशीय शब्द) टाल दिया, दूर कर दिया, हिं० 'टारा' 'टाला' ।

उदा० "करम गति टारी नाहिं टरै ।" (हरिश्चन्द्र)

व्याए (डिं०) = (सं० विवाह) हिं० ब्याहना, ब्याहे ।

(१) विवाह करना (२) सन्तान उत्पन्न करना । विशेषत: पशुजाति के लिए इस (२) अर्थ में प्रयुक्त होता है यथा— "गाय ब्याई छै ।"
राजस्थानी में यह शब्द दूसरे अर्थ में ही बोलचाल में प्रयुक्त होता है । हिन्दी में भी प्रयोग मिलता है । यथा उदा०—
न तरु बाँझ भलि छाँडि बियानी, राम विमुख सुत ते हितहानी ॥ (तुलसी) ।

वैसाखि = (सं०) (१) वैसाख का महीना, (२) शाखाओं से जिसकी उत्पत्ति है ।

नोट—हेमन्त और शिशिर के अन्याययुक्त शासन के नीचे वृक्ष-लतादि वानस्पत्य प्रजा अत्यन्त दुखी थी । ऋतुराज के राज्याभिषेक से वह दुख दूर हुआ । प्रजा सुखी हुई; लताएँ निर्भय होकर अपने पतियों—वृक्षों के संयोग में दाम्पत्य-सुख-लाभ करने लगीं । इस सम्मिलन के फल-

स्वरूप बैसाखरूपी सन्तान का जन्म हुआ। चैत मास के बाद बैसाख का जन्म होता ही है। वही मानो चैत में लताओं के वृक्ष की शाखाओं का सहवास करने से शाखा-जात 'बैसाख' मास के जन्म का कारण है। इसी कारण इस मास का नाम "बैसाख" पड़ा। यह कवि की कल्पना है।

अलंकार = परिकराङ्कुर–'बैसाख' अभिप्राय गर्भित है।

दो० २५३—

डंक (डिं०) = (सं० दंश) हिं० डंक = विषैले जन्तुओं का काटना और काटकर शरीर में ज़हर का प्रवेश कर देना।

ग्रहणि = (सं० ग्रहण) ग्रहण करने में (डिं० सप्तम्यन्त इकारान्त)

मवरि (डिं०) = हिं० मौर (सं० मुकुल—प्रा० मउर, मउल—डिं० मवर, मौर)

गानगर (डिं०) = (सं० गानकरा:)—गायक, गानेवाले, यथा—पूर्व दो० में 'जाणगर' निरतगर इत्यादि।

परवरिया (डिं०) = (सं० प्रवर्त्तिता)—डोलने लगे, फिरने लगे।

करग्राही = (सं०) कर, राज्य का लगान लेनेवाले, लगान उगाहनेवाले। डा० टैसीटरी ने 'डङ्कन' को एक शब्द मान लिया है और संस्कृतटीका के आधार पर "डङ्कनं स्तोकं स्वादुमात्रं दीयते दण्ड: सर्वथा लुण्टनरूप न दीयते"—यह अर्थ लिया है। हम नहीं समझते कि 'डङ्कनं' का अर्थ "थोड़ा स्वाद देना" कैसे हो सकता है। हमने "डङ्कनं" को पृथक् पृथक् करके "डङ्क नहीं दिया जाता" अर्थ किया है जो अत्यन्त सरल शब्दार्थ है। ढूँढाड़ी टीका ने यही अर्थ लिया है यथा:—"वनस्पती नैं

कोइ डंक न देयै छः जैसैं प्रजा नैं सुराज्य माहैं डण्ड नहीं छै।"

अलंकार = रूपक।

दो० २५४—

पसाइ (डिं०) = (सं० प्रसाद) प्रसाद से, कृपा से, अनुग्रह से।
 उदा०—भरा मंजु मंगल सगुन गुर सुर शंभु पसाउ। (तुलसी)

भरिया = (सं० भरिता) भर गये हैं, लद गये हैं, समायुक्त होगये हैं। देखो पूर्व प्रयोग दो० २३८ "भालिम......भरग।"

वहे (डिं०) = (सं० वह) = चलने से, हिलने से। देखो पूर्व प्रयोग दो० ४६ में "रह रह कोइ वह रहे वह।"

वेसन्नर (डिं०) = (सं० वैश्वानर) = अग्नि।

भुरड़ीतौ (डिं०) = (हिं० भुरता, भुड़ता) किसी वस्तु के दब कर, कष्ट पाकर अथवा अग्नि में तप कर अथवा कुचली जाकर विकृताकार प्राप्त कर लेने को "भुड़ता हो जाना" कहते हैं। हिं० मुहावरा भी है। "बेंगन का भुरता"। यहाँ पर अर्थ है—अग्नि तापते हुए।

रहे = श्लिष्टार्थ में प्रयोग है (१) भुरडीता रहे = ताप रहे हैं।
 (२) " " = तापने से रह गये हैं।
 = तापना बंद कर दिया है।
 "रहे" के इस प्रयोग के लिए देखो पूर्व दो० ४६ में "रह रह कोइ वह रहे रह।"

वलि......जगि = "रहे" का श्लिष्टार्थ लेने पर दूसरा अर्थ यों हो सकता है = वसंत में ऋतुराज की कृपा से लोगों ने शीतकाल की तरह अग्नि से तापना छोड़ दिया है परन्तु अब वे एक दूसरी

प्रकार की अग्नि से तापते हैं—वह है कामाग्नि। यहाँ "वेसन्नर" का अर्थ "कामाग्नि" लिया जायगा।

अलंकार = उत्प्रेक्षा।

पर्यायोक्ति—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५५—

तिम = (हिं०) त्यों। उदा० "तिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन।" (तुलसी)

जिमि—तिमि—आपेक्षिक हैं।

कोलाहल = (सं०) = शोरगुल।

सेव (डिं०) = सेवा।

अलंकार = व्यतिरेक—पूर्वार्द्ध में।

उत्प्रेक्षा—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५६—

ओटि (डिं०) = (सं० उट = घास फूस) हिं० ओट = आड़, व्यवधान, रुकावट; मिस से, बहाने से। उदा०—"तृण धरि ओटि कहति वैदेही।" (तुलसी)

सं० टीका "कुसुमायुधस्य कामस्येयम्, ओटिर्आश्रयस्थानं।"

मा० टीका० "ओटि कहताँ आश्रय विशेष ठाँमइ।"

ढूँढारी टीका ने "ओटि" के स्थान में "उदै, उदौ" पाठान्तर लिया है जिसका अर्थ यों किया है :—"कुसुमायुध कहताँ कामदेव ते कै उदै करि केलि विलास खेल।"

कंत = (सं० कान्त) = पति। उदा० "इँचे खिँचे इत उत फिरत ज्यों दुनारि को कन्त।" (पद्माकर)

कृत = (सं० कृते) = के लिए, वास्ते।

किंसुख = (सं० किंशुक) = टेसू। पलाश के फूल सुग्गे की चोंच की तरह टेढ़े और लाल होते हैं, इसलिए उनको देखकर सुग्गे का भ्रम होता है। इसी लिए किं शुक ? यह नाम पड़ा। यहाँ पर कवि ने अपने कल्पनानुसार इस शब्द की "किंसुख" ? व्युत्पत्ति की है।"

पलास = (सं०) टेसू। "पलं मासं अश्नाति इति पलाश:" = मांसाहारी।

नोट—कवि ने संयोगिनी और वियोगिनी नायिकाओं की भावनाओं की अच्छी कल्पना की है। एक ही टेसू का वृक्ष उन्हें अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार सुखमय और दुखमय दिखाई दिया। "पलाश" की दो प्रकार से व्युत्पत्ति बड़ी युक्तिपूर्ण है।

अलंकार = उल्लेख।

श्लेष–'पलास'–'किंसुख' श्लिष्ट शब्द हैं।

दो० २५७—

मालिणि (डिं०) = हिं० मालिन। साहित्य में एक विशेष प्रकार का दूती जिसका वर्णन कहीं कहीं बड़ा सुन्दर किया गया है। उदा० "मद सों भरी चलि जात मालिनियाँ।"

वीणति (डिं०) = (सं० विनयन = चुनना) हिं० बीनना; चुन चुन कर एकत्रित करती है। उदा० "सुन्दर नवीन निज करन सों बीनि बीनि येला की कली ये आजु कौन छीन लीन्हीं है।" (प्रताप)

करपल्लव = (सं०) हाथ के वाचक शब्दों के साथ 'पल्लव' का समास होने से, "उँगलियाँ" का अर्थ होता है। यथा:—पाणि-

पल्लव । रूपक की सार्थकता स्पष्ट है; खुले हाथ की उँगलियाँ और 'पल्लव' के आकार में बहुत सादृश्य है ।

वणि वणि = सज सजकर । देखो, पूर्व प्रयोग दो० २०० में ।

तसु (डिं०) = (सं० तस्य) उसके । हिन्दी में "तासु", "तसु" का प्रयोग काव्य में इस अर्थ में होता है ।

केसरि = (सं०) = (१) फूल के बीच में बाल की तरह पतले पतले पीले रङ्ग के सींके होते हैं— उन्हें केशर कहते हैं ।

(२) एक प्रकार के फूल का केशर जिसका पौधा बहुत छोटा होता है और पत्तियाँ घास की तरह लम्बी और पतली होती हैं । यह फारस, स्पेन, चीन और कश्मीर में होता है । कश्मीर का केशर सर्वोत्तम माना जाता है । इसका फूल बेंगनी रंग की झाँई लिये हुए कई रंग का होता है । पौधे में फूल लगने के बाद पत्तियाँ आती हैं । प्रत्येक फूल में केवल तीन केशर होते हैं । इसलिए आधी छटाँक केशर के लिए प्राय ४००० फूल की आवश्यकता होती है । केशर ले लेने के बाद फूलों को सुखा कर कूटते और पानी में डाल देते हैं । जो अंश नीचे बैठ जाता है उससे मध्यम श्रेणी की केशर, "मोंगला" निकलती है । ऊपर का अंश पुनः सुखा कर और कूट कर पानी में डाला जाता है । उससे जो केशर बनती है उसे "नीबल" कहते हैं ।

म० पृथ्वीराज ने स्वयं अपनी आँखों से कश्मीर में केशर की खेती होती हुई देखी होगी । इसी कारण इतना स्वभाव-सत्य चित्र अंकित किया है । कोई चित्रकार यदि रंगों में इस चित्र को बनाता तो कितना रोचक चित्र बनता, अनुमान करना चाहिए । म० पृथ्वीराज के जीवन-चरित से मालूम

होता है कि बादशाह की प्रेरणा से उन्हें काबुल जाना पड़ा था। अतएव राह में कश्मीर-यात्रा करना सम्भाव्य है।

अलंकार = उपमा,—पूर्वार्द्ध में।

भ्रान्तिमान्—उत्तरार्द्ध में।

दो० २५८—

सबल = (सं०) बलयुक्त, मन में विश्वास और सन्तोष का बल लिये हुए।

जल सभिन्न (डिं०) = जल से भीगा हुआ। हिं० भीना, भीगा हुआ। उदा० "कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बाँसुरिया रसभीनी।" (रसखान)

डिगमिगि (डिं०) = हिं० डिगना, डिगमिगाना, डोलना, लड़खड़ाना। उदा० "डिगमिग हालै मेरी नैया रे कन्हैया बिनु।"

हूँत (डिं०) = प्राकृत विभक्ति = चिन्ह "हिन्तो" का डिंगल में रूपान्तर अवशिष्ट है = से। पुरानी हिन्दी में यह पंचमी और तृतीया के विभक्ति-चिह्न की तरह प्रयुक्त होता था।

उदा० "जब हुँत कहिगा पंखि विदेशी, तब हुँत तुम बिन रहै न जीऊ।" (जायसी)

कामदूत = कामदेव का संदेशवाहक।

हालियौ (डिं०) = (सं० हल्लान) हिलना डोलना, झूमते चलना।

उदा० (१) "हालति न चंपलता डोलत समीरन के, बानी कल कोकिल कलित कंठ परिगौ ।'

(२) "भूतल भूधर हाले अचानक, आप भरत्थ के दुंदुभि बाजे।" (केशव)

नोट—साहित्य में मलयानिल अपने त्रिविध–शीतल, मंद, सुगंधगुणों के लिए प्रसिद्ध है। इस दो० में कवि ने उसे (१) "जल-भिन्न', (शीतल) (२) "सुगंध भेंट सजि" अतएव सुगंधित और (३) "डिगमिग पाउ वाउ क्रोध डर"–अतएव मंद–वर्णित किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने इस मलयानिल से दूति-कार्य कराया है। इसे शिव भगवान् को प्रसन्न करना है। पहले कामदेव ने उनकी समाधि भंग करके शिवजी को क्रुद्ध कर दिया था। फलतः भस्मसात् किया गया था। उसी अपराध के प्रक्षालन करने का उपाय किया जा रहा है।

अलंकार = समुच्चय।

परिकर—'कामदूत'-साभिप्राय है।

स्वभावोक्ति।

दो० २५६—

तरतौ = तैरता हुआ।

ऊतरतौ = (सं० उत्तरण क्रि० सक०) नदी पार करके उतरता हुआ। उदा० "लखन दीस पय उतरि करारा।" (तुलसी)

विलग्ग (डिं०) = (सं० विलग्न) प्रा०विलग्ग = लगते हुए।

पग्ग (डिं०) = (सं० पदक) प्रा० पअग = पाँव, पैर।

तणाँ, तिणि (डिं०) = देखो० प्रयोग दो० ३०३ में।

आवतौ (डिं०) = हिं० आवत = आता हुआ।

वहै (डिं०) = (सं० वह्) चलते हैं।

उदा० अस कहि चढ़्यौ ब्रह्म रथ माँहीं, श्वेत तुरंग बहै रथ काहीं। (रघुराज)

नोट—इस दो० में भी शीतल, मंद, सुगंध त्रिविध-पवन का वर्णन है। कवि ने पवन को शठ नायक बनाया है, जो अन्यत्र विहार करने के कारण अपनी प्रेयसी से मिलने में संकुचित और लज्जित होता है।

शठ नायक का लक्षण :—

शठ साधत निज काज, मुख मीठो हिय कपटमय।
प्यारी गारी आज, मिसरी तें मीठी लगैं ॥

(भानु)

अलंकार = समासोक्ति।

दो० २६०—

कुंद, केवड़ा, केतकी = ये सभी फूल सफ़ेद रंग के और एक ही मौसम के हैं।

(१) कुंद—जुही की तरह का एक पौधा जिसमें सफ़ेद पुष्प लगते हैं। इनकी सुगंध बड़ी मीठी होती है। यह कार्त्तिक से फाल्गुन तक फूलता है।

उदा० "कुंद इन्दु सम देह, उमारमण करुणायतन" ॥

(तुलसी)

(२) केतकी का झाड़ या पौधा छोटा होता है जिसकी पत्तियाँ लम्बी, नुकीली, चिपटी, कोमल, चिकनी, और किनारे और पीठ पर काँटेदार होती हैं। केतकी दो प्रकार की होती है। (१) सफ़ेद (२) पीली। सफ़ेद को हिन्दी में केवड़ा (सं० केविका) कहते हैं और पीली या सुवर्ण रंगवाली को केतकी कहते हैं। इसके बरसात में फूल लगते हैं।

श्रम-सीकर = (सं०) पसीने के बिन्दु या कण। उदा० "श्रम स्वेद सीकर गंड मण्डित रूप अम्बुजं।" (सूर)

गन्धवाह = (सं०) = गन्ध को ले जानेवाला अर्थात् पवन ।

गन्धवाह—नाक, नासिका को भी कहते हैं ।

नोट—इस दो० में भी पवन के त्रिविध गुणों का पृथक् पृथक् कथन किया है ।

अलंकार = हेतु—उत्तरार्द्ध में ।

दो० २६१—

रेवा = (सं०) रेवा नदी; नर्मदा । उदा० "रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ।" (काव्यप्रकाश)

रसलोभी = रस का लोभी ।

सरति = (सं०) चलता है । शुद्ध संस्कृत क्रियारूप का प्रयोग ।

सापराध पति = अन्यत्र रतिक्रीड़ा करके अपनी नायिका के पास आये हुए अपराधी पति को "सापराध" कहते हैं । नायकों में यह एक प्रकार का नायक माना जाता है और 'धृष्ट' नायक के भेद के अन्तर्गत आता है । यथा :—

"धृष्ट कलंकी निलज पुनि, करै दोष निरशंक ।
ज्यौं ज्यौं बरजत ताहि तिय, त्यौं त्यौं लागत अंक ।।"
(भानु)

अलंकार = उपमा ।

दो० २६२—

पुहपवती (डिं०) = (सं० पुष्पवती) (१) फूलोंवाली (२) रजस्वला, ऋतुमती ।

सं० उदा० पुष्पवत्यपि पवित्रा । (कादम्बरी)

पमूँके (डिं०) = (सं० प्रमुक्त) प्रा० पमुक, डिं० पमूक = छोड़ता है ।

मधुपान = (सं०) पुष्पों की मदिरा का पीना, पुष्पासव का पान। मिलाओ :—"मधु द्विरेफ: कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियायामनुवर्त्तमान: ।" कुमारसम्भव:

पय (डिं०) = (सं० पद) प्रा० पअ = पैर, पग, पद।

ठाइ (डिं०) = (सं० स्थान) प्रा० ठाण। उदा०—"नाहिन मेरे और कोउ बलि चरन कमल बिनु ठाँह।" (सूर)

मंडै (डिं०) = (सं० मंडन) = माँडता, स्थापित करता, धरता, रखता है।

वमन करतौ = गिराता हुआ, उद्गिरण करता हुआ।

मतवालौ = मदमत्त, नशे में चूर, मदिरा में धत्त।

नोट—इस दो० में भी शीतल, मन्द, सुगन्ध त्रिविध पवन का उल्लेख है।

अलंकार—समासोक्ति।

श्लेष—"पुहपवती" में।

दो० २६३—

तोय = (सं०) = जल।

छंटि (डिं०) = (हिं० छाँटना) छाँटता हुआ, फैलाता हुआ, छींटों छींटों में विस्तरण करता हुआ।

ऊघसत (डिं०) = (सं० उत् + घर्षत:) घिसता हुआ, रगड़ खाता हुआ। देखो नोट पूर्व दो० २०३ में "आधोफरै मेघ ऊघसता।"

मलय तरि = (सं०) मलयाचल पर बहुतायत से उगनेवाला चन्दन-वृक्ष। कहते हैं इसकी शाखाओं पर साँप लिपटे रहते हैं।

रजधूसर = (सं०) धूल से भर कर धूल के मटमैले रङ्ग का हो जाना।

उदा० धूसर धूरिभरे तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये। (तुलसी)

मातंग = (सं०) बड़ा हाथी। उदा० "मदमत्त यदपि मातंग संग"। (केशव)

मल्हपति (डिं०) = (सं० आलपति) आनन्द की मौज में कुछ कुछ शब्द करते चलना। हिं० मल्हाना, मल्हराना, मल्हारना—प्राय: इसी प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं:—

उदा० हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै। (सूर)

नोट—इस दो० में भी शीतल, मंद, सुगंध पवन का वर्णन है।

अलंकार = रूपक। उत्तरार्द्ध में अनुप्रास की छटा देखने योग्य है।

दो० २६४—

उभयपख = (सं० उभयपक्ष) = दोनों पक्षों में अर्थात् संयोगिनी और वियोगिनी दोनों के सम्बन्ध में पृथक् पृथक्।

हिं० उदा० उभै बीच अन्तर कछु बरना। (तुलसी)

भख = (सं० भक्ष्य) हिं० भख = खाद्य पदार्थ। उदा० (१) "पट पाखै भख काँकरै, सफर परेई संग।" (बिहारी)

(२) अब भख जनम जनम कहँ पावा। (जायसी)

गिलि (डिं०) = (सं० गिलन) = निगलकर, खाकर।

ऊगलित (डिं०) = (सं० उद्गिरन) प्रा० उग्गिलण, हिं० उगलना। वापिस निकालना; वमन करना; निकालना।

गरल = (सं०) = विष।

वाद = (सं० वाद) हिं० वाद = बहस, हठ, तर्क ।

उदा० प्रभु सों विवाद कै के वाद ना बढ़ायहीं । (तुलसी)

ए (डिं०) = (सं० एष) = यह । हिन्दी में भी प्रयोग होता है ।

उदा० (१) दुरै न निघट घटै दियें, ए रावरी कुचाल । (बिहारी)

(२) "ए हलधर के बीर" । (बिहारी)

भुयंग = (सं० भुजङ्ग) हिं० भुयंग = सर्प, साँप ।

नोट—इस दो० का उत्तरार्द्ध ठीक दो० २५६ के उत्तरार्द्ध के ढङ्ग का है । "कंत सँजोगणि किंसुख कहिया, विरहणि कहे पलास वन ।"

अलंकार = उल्लेख ।

वृत्त्यनुप्रास की छटा समस्त दो० में देखने योग्य है ।

दो० २६५—

किहि (डिं०) = (सं० कस्मिन्) प्रा० कहिं, हिं० किंहि = किसी ।

सरस = (सं०) = रसयुक्त, आनन्दयुक्त ।

बे-बिहूँ = (सं० द्वि) हिन्दी में "बे-बिहुँ" का 'दो—दोनों' के अर्थ में बहुतायत से प्रयोग होता है । देखो नोट पूर्व दो० ८२ में ।

ताइ (डिं०) = [(सं० सर्वनाम ता + हि (प्रत्यय)] हिं० ताहिं, ताइ । देखो नोट पूर्व दो० ४ में । उदा० "ताइ प्रात हुलरावै गुलाब चतकारी दे" । (देव)

सूधति (डिं०) = (सं० शोधू) = शुद्ध कर देता है । हिन्दी में इस अर्थ में प्रयोग होता है । उदा० "सिय लौं सोधति तिय तनहिं लगनि अगनि की ज्वाल ।" (बिहारी)

सारिखौ (डिं०) = (सं० सदृशकः) प्रा० सरिखउ, हिं० सरीखौ।
= समान।

नोट—डा० टैसीटरी "सूधति" क्रिया पद को पृथक् पृथक् करके "सूध ति" पाठान्तर लेते हैं। इससे उनका क्या आशय है, हमें समझ में नहीं आता। इस पाठान्तर के अन्यथा स्पष्ट अर्थ के सम्बन्ध में अनावश्यक संशय उत्पन्न हो जाता है।

अलंकार = व्यतिरेक।

दो० २६६—

निमिख पल = (सं०) = दोनों समय के सूक्ष्म परिमाणसूचक शब्द हैं।

दाखै (डिं०) = दिखाते हैं, बताते हैं। देखो नोट पूर्व दो० २५२ में।

थायै (डिं०) = थिउ, थियउ क्रियाओं का सम्मानसूचक प्रयोग है।
= हो गये, हो रहे। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

अलंकार = अन्योन्य।

दो० २६७—

ओढण (डिं०) = (सं० उपवेष्टन) प्रा० ओवेड्ढण, हिं० ओढ़ना। ओढ़ने का वस्त्र। उदा० "सोवत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।" (बिहारी)

पाथरण (डिं०) = (सं० प्रस्तरण) प्रा० पत्थरण, हिं० पाथरण = बिछौना। तुलसीकृत रामायण में इस शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग हुआ है।

हिण्डति (डिं०) = (सं० हिण्डनम्) = झूलते हैं। देखो पूर्व दो० ६२ में "मणिमैं हीँडि हींडलै मणिधर"।

हिँडोलि (डिं०) = (सं० हिन्दोल) = झूले में।

पुहपाँ सरणि (डिं०) = (सं० पुष्पशरणा) = पुष्पों की शरण; पुष्पों पर आश्रित हैं। अर्थात् सखियों को पुष्प लाने ले जाने का ही कार्य रहता है। अतएव उनकी जीविका पुष्पों पर निर्भर है, वे पुष्पों की शरण में हैं।

अलंकार = उदात्त।

नोट—इस दो० के "सरणि" शब्द के विषय में डा० टैसीटरी को सन्देह है। शब्द का अर्थ और दो० में प्रासंगिक प्रयोग इतना स्पष्ट है कि किसी प्रकार के संशय को अवकाश नहीं हो सकता।

दो० २६८—

पौढाड़ै (डिं०) = (हिं० पौढ़ना) प्रेरणार्थक—पौढ़ाना = लेटाना, सुलाना। डिङ्गल में क्रिया का प्रेरणार्थ रूप बनाने में 'अड़, आड' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। हिन्दी में इनके स्थान में 'अल' 'आल' का प्रयोग होता है। दोनों में भेद थोड़ा ही है। भाषा में 'ड' और 'ल' का अभेद माना गया है। यथा—हि० बैठना—बिठलाना या बैठालना। डिं० पौढणौ—पौढाड़णौ। हिं० उदा० "एक बार जननी अन्हवाये, कर सिंगार पालन पौढाये"। (तुलसी)

परबोधै (डिं०) = (सं० प्रबोधनम्) (१) जगाना (२) समझाना, चेताना।

वाग = (१) (सं० वाक्) = वाणी, सरस्वती (२) बाग, बगीचा। ढूँढाड़ी टीका 'वाग' का द्वितीय अर्थ लेकर यह अर्थ करती है:—"नित्य बागाँ कै विषै विहार कहताँ निवास करै छै"।

परन्तु "नाद" और "वेद" के ओजस्वी प्रसंग के देखते हुए हमने प्रथम अर्थ का प्रयोग किया है—अर्थात् जहाँ भगवान को "नाद पौढाड़ै" और "वेद परबोधै" वहाँ 'वाग' सरस्वती देवी का नित्य विलास होता है। सरस्वती देवी भी भगवान् के गुणानुवाद करने को रात दिन मौजूद रहती हैं।

माणै—माणग (डिं०) = रसिक; 'माणने' वाला अर्थात् सुख-समृद्धि का भोग करनेवाला। राजस्थानी में "माणैं" क्रिया शृंगार-रस-सम्बन्धी सुखों का उपभोग करने के अर्थ में अब तक प्रचलित है। 'माणग' का रूपान्तर "माणीगर" भी डिंगल-काव्य में प्रयुक्त होता है।

मयण (डिं०) = (सं० मदन) प्रा० मयण० हिं० मैन = कामदेव।

अलंकार = उदात्त।

दो० २६६—

अवसरि = (सं०) = (१) काल, समय, (२) अवकाश में, भीतर, अन्दर। पृथक् पृथक् यहाँ दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है।

पसरि (डिं०) = (सं० प्रसर) = पसर कर, बढ़कर, विस्तृत होकर।

गया = (सं० गता)-गये हुए, नष्ट हुए, खोये हुए।

उदा० "गई बहोरि गरीबनिवाजू।" (तुलसी)

जुड़िया (डिं०) = (सं० युक्ता) प्रा० जुत्ता०। हिं० जुटना, जुड़ना। = संयुक्त, जुड़े हुए। उदा० "दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत"। (बिहारी)

जठरि = (सं०) पेट में।

अनंग = (सं०) कामदेव । हरकोपानल से कामदेव भस्म होकर अंगविहीन हो गये थे। अनंग के वे विश्रृंखलित अंग अब रुक्मिणी के गर्भ में पुनः संयुक्त हुए ।

मोहिया (डिं०) = (सं० मोहिता) = मोहित कर लिया ।

उदा० "मोहे श्याम धनी" । (हितहरि)

हाइ भाइ = (सं० हाव-भाव) 'हाव' की परिभाषा साहित्यकारों ने इस प्रकार की है—

"ग्रीवा रेचकसंयुक्तो भ्रूनेत्रादिविकासकृत्
भावादीषत्प्रकाशो यः स हावः इति कथ्यते ॥"

(उज्ज्वलमणि)

भाव की परिभाषा :—"निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ।" (सा० दर्पण)

और भी—प्रकट सुभाव तियान के, निज सिंगार के काज ।
हाव जानिये ते सबै, यों भाषत कविराय ॥

(भानु)

साहित्य में हाव १२ गिनाये गये हैं:—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित्, ललित, मोट्टायित, विव्वोक, विकृत, कुट्टमित, हेला और बोधक ।

भाव-विधान में हाव "अनुभावों" के अन्तर्गत हैं ।

विश्वनाथ हाव की व्याख्या यों करते हैं :—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः ।
भाव एवाल्पसंलक्ष्य विकारो हाव उच्यते ॥

(सा० दर्पण)

(२) भाव के साहित्यकारों ने तीन भेद माने हैं :—(१) स्थायीभाव (२) व्यभिचारीभाव (३) सात्विकभाव। क्रमशः इनकी संख्या ९, ३३, और ८ है।

स्थायीभाव :—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद।

व्यभिचारीभाव :—निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, विषाद, मति, चिन्ता, मोह, स्वप्न, विबोध, स्मृति, अमर्ष, गर्व, औत्सुक्य, अवहित्था, दीनता, हर्ष, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता, चपलता, वितर्क।

सात्विकभाव :—स्वेद, स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

दो० २७०—

वसुदेव = यदुवंशियों के कुल के एक राजा। ये श्रीकृष्ण के पिता थे। इनके पिता का नाम देवमीढ़ और माता का नाम मारिषा था। अपने पिता के ये ज्येष्ठ पुत्र थे। इनके १२ स्त्रियाँ थीं। जिसमें से रोहिणी के गर्भ से बलराम और देवकी के गर्भ से कृष्ण का जन्म हुआ था। वसुदेव की बहन कुन्ती थी, जिसके पाँच पाण्डव पुत्र थे।

प्रदुमन = प्रद्युम्न; श्रीकृष्ण के बड़े पुत्र का नाम। ये कामदेव, कंदर्प, अनंग के अवतार माने गये हैं।

देवकी = वसुदेव की स्त्री और श्रीकृष्ण की माता। जब वसुदेव के साथ इनका विवाह हुआ था तब नारद ने आकर मथुरा के राजा कंस को कहा था कि तुम्हारी चचेरी बहिन

देवकी के आठवें गर्भ से तुम्हारा मारनेवाला उत्पन्न होगा। कंस ने एक एक करके देवकी के छः बच्चों को मरवा डाला। सातवें गर्भ को योगमाया ने देवकी से आकर्षित करके रोहिणी के गर्भ में स्थित कर दिया, जिससे बलराम उत्पन्न हुए। आठवें गर्भ से भादों कृ० ८ को कृष्ण जन्मे। उसी रात नन्द की स्त्री यशोदा के कन्या जन्मी। वसुदेव ने रातों रात पहुँच कर पुत्र कन्या का अदला बदला कर लिया। इस कन्या को कंस ने पछाड़ मारा। कृष्ण बच गये।

रामा = लक्ष्मी का अवतार रुक्मिणी। पुराणों के अनुसार सीता, रुक्मिणी, राधा—ये लक्ष्मी के अवतार में विष्णुपत्नियाँ मानी गई हैं।

रति = कामदेव की स्त्री और दक्षप्रजापति की कन्या थी। दक्ष ने अपने शरीर के पसीने से उत्पन्न कर इसे कामदेव को अर्पित किया था। यह संसार की सबसे अधिक रूपवती स्त्री मानी गई है। इसे देखकर सब देवताओं को अनुराग उत्पन्न हुआ। अतएव इसका नाम "रति" पड़ा। शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म होने पर अपने पति कामदेव के लिए अत्यन्त विलाप कर इसने शिवजी को प्रसन्न किया। शिवजी ने वरदान दिया कि अब से वह सदा के लिए अनंग कामदेव के साथ रहेगी।

सासू (डिं०) = (सं० श्वश्रु) हिं० सास।

सु बहू = (सं० सु + वधू) यहाँ बहू का अर्थ पुत्रवधू से है। दूसरे "बहू" का अर्थ 'बधू' अर्थात् पत्नी है।

नोट—इस दो० में कवि ने भगवान् के प्रशस्त कुटुम्ब की वंशावली वर्णन की है। भगवान् की वंशावली वर्णन करने के लिए

भक्त कवि को यदि 'बहीभाट' भी बनना पड़े तो उसे सहर्ष स्वीकृत होता है।

दो० २७१—

लीलाधण (डिं०) = (हिं० लीला + धनी) = लीला के स्वामी, सांसारिक लीला करनेवाले, मायापति। श्रीकृष्ण का विशेषण है।

वेदान्तिक मायावाद के अन्तर्गत भगवान् के अवतार को संसार में आत्मविलासहेतुक और लीलामय माना है। राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम और कृष्ण को लीला-पुरुषोत्तम कहा है।

मानुखी-लीला = संसार का मनुष्योचित उपभोग करना; मनुष्य के समान संसार का सेवन करना।

जगवासग वसिया जगति = "जगति" शब्द को द्वारिका के अर्थ में पुष्ट करने का यह दूसरा प्रमाण है। जो संसार तथा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने शरीर में बसाते हैं वे "जगति" संसार-स्वरूप द्वारिका में बसे। अर्थात् आश्रयदाता आश्रित होकर रहे अथवा आधारस्वरूप भगवान आधेय बन कर रहे। यही आश्चर्य है। यही भगवान की मानुषी-लीला का उदाहरण है।

अनिरुद्ध = ये श्रीकृष्ण के पोते और प्रद्युम्न के पुत्र थे।

ऊषापति = बाणासुर की कन्या उषा, कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के साथ व्याही थी। देखो कथा—"अनिरुद्ध-उषा-आख्यान" प्रेम-सागर में।

वासग (डिं०) = (सं० वासकः) वास करनेवाला; बसानेवाले।

अलंकार = विरोधाभास। पूर्वार्द्ध में।

दो० २७२—

कहिसु (डिं०) = (सं० कथयिष्यामि) = कह सकूँगा, कहूँगा, कहूँ।

नारायण = मनुस्मृति में इस शब्द की व्याख्या यों की है :—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायन पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। मनु० १। १०।

अर्थात् 'नर' परमात्मा का नाम है। परमात्मा से सबसे प्रथम जल की उत्पत्ति हुई। अतएव उसका 'नारा' नाम पड़ा। जल जिसका प्रथम अधिष्ठान या अयन है वही 'नारायण' हुए। और कई प्रकार से भी इस शब्द की व्याख्या की गई है।

निरगुण = सत्त्व, रज, तम, प्रकृति के इन तीन गुणों से परे।

निरलेप = रागद्वेषादि सांसारिक गुणों से निर्मुक्त; अनासक्त।

अलंकार—अतिशयोक्ति (सबन्धा) पूर्वार्द्ध में।

दो० २७३—

लोकमाता = विष्णुपत्नी होने के कारण लक्ष्मी जगज्जननी हुई, क्योंकि विष्णु संसार के पालनकर्त्ता हैं।

सिंधुसुता = समुद्रमंथन से उत्पन्न हुई लक्ष्मी।

उदा० चौंर ढारत सिंधुजा जय शब्द बोलत सिद्ध।"

(केशव)

लक्ष्मी = सौन्दर्य्ययुक्त, शोभायुक्त (शब्दार्थ)।

उदा० "मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।"

(शकुन्तला, मालती-माधव)

अवरगृहे अस्थिरा = (सं० अपरगृहे अस्थिरा) = विष्णु के सिवाय दूसरे किसी के घर में स्थिर न रहनेवाली अतएव "चंचला।"

इन्दिरा = प्रभुत्वशालिनी (सं० इन्द = प्रभुत्व, जैसे 'इन्द्र' में)

रमा = (सं०) भगवान् जिसमें रमण करते हैं।

श्री = शोभा, सौन्दर्य्य, ऐश्वर्य इन गुणों का स्थान —लक्ष्मी।

प्रमा = (सं०) न्याय और तर्कशास्त्र के अनुसार—'प्रमा' यथार्थ ज्ञान को कहते हैं।

अलग अलग श्रेणी के दार्शनिकों ने 'प्रमा' के पृथक् पृथक् साधन अथवा कारण जिन्हें 'प्रमाण' कहते हैं, माने हैं। यथा :—

नैयायिकों ने 'प्रमा' के साधन :—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान, (४) शब्द। ये चार प्रमाण माने हैं।

सांख्यकों ने (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द। तीन प्रमाण माने हैं। इसी प्रकार दूसरों दूसरों ने।

अमरकोश में लक्ष्मी के पर्य्यायवाची नाम इस प्रकार गिनाये हैं।

लक्ष्मी पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया।
इन्दिरा लोकमाता मा क्षीरोदतनया रमा॥

कवि की नामावली उपरोक्त नामावली से बहुत कुछ मिलती है।

दो० २७४—

कंदर्प = इसकी व्याख्या और व्युत्पत्ति यों की गई है :—

कंदर्पयामीति मदाज्जातमात्रो जगाद च।
तेन कंदर्पनामानं तं चकार चतुर्मुखः॥

हिं० उदा० "कंदर्प अगणित अमित छबि नव नील नीरज सुदरं।" (तुलसी)

संबरारि = कामदेव ने शम्बरासुर को मारा था। रामायण और महाभारत में इसे कामदेव का शत्रु माना है।
उदा० "शम्बर ज्यों शम्बरारि दुःख देह को दहै।"
(केशव)

समर = स्मृतिजन्य अर्थात् प्रेमस्वरूप कामदेव; स्मर।

मदन = (सं० माद्यति अनेन—मद् करणे ल्युट्) मदमत्त करनेवाला।

मार = (सं० मृ-घञ्) मारक, मारनेवाला।
देखो प्रयोग:—"श्यामात्मा कुटिल: करोतु कबरी भारोऽपि मारोद्यमं।" (गीतगोविन्द)

पंचसर = कामदेव के पाँच बाण पूर्व दो० में प्रसंगवश गिनाये गये हैं। देखो दो० १०९ का नोट।

तनुसार = (१) (सं० तनु + सृ (धातु)) (१) शरीर में व्याप्त होकर रहनेवाला (२) बलवान् शरीरवाला।

मिलाओ अमरकोष की नामावली :—

मदनो मन्मथो मारः प्रद्युम्नो मीनकेतनः।
कंदर्पो दर्पकोऽनंगः कामः पञ्चशरः स्मरः।
शम्बरारिः मनसिजःकुसुमेषु रनन्यजः।
पुष्पधन्वा रतिपतिर्मकरध्वज आत्मभूः॥

दो० २७५—

चतुर्मुख...इत्यादि = अनिरुद्ध की पर्यायवाचिनी इस नामावली से प्रतीत होता है कि कवि ने अनिरुद्ध को ब्रह्मा अथवा ब्रह्मात्मा का अवतार माना है। इसकी पुष्टि के लिए हमको कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी

कल्पना के बल से अनिरुद्ध को ब्रह्मा का अवतार मान लिया है। जितने पर्य्यायों का उल्लेख है वे सभी ब्रह्मा पर घटते हैं।

दो० २७६—

सुन्दरता......इत्यादि = लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी में सर्वदा स्थायी इन विशिष्ट गुणों को कवि ने अपने कल्पना-बल से सहचरी का रूप दे दिया है। पुराणों में इन सखियों का कहीं नामोल्लेख नहीं मिलता।

दो० २७७—

सुपहु (डिं०) = (सं० सुप्रभु) = श्रेष्ठ प्रभु।

गृह-संगृह = (सं०) गृहस्थ के श्रेष्ठ गुणों का संग्रह करना; लोक संग्रह देखो, " लोकसंग्रहमेवापि" इत्यादि (गीता)

गिणि = (सं० गणना) हिं० गनि = गिनकर, समझकर।

मूँकिया (डिं०) = (सं० मुच्) हिं० मूकना = छोड़ना, त्याग देना। उदा०"पाल्यौ तेरे टूक को परेहू चूक मूकिये न।" (तुलसी) देखो पूर्व दो० २६२ में "पमूँकै" का प्रयोग।

चंडालि = (सं० चाण्डाल) पतित, दुष्ट, दुष्टात्मा, दुरात्मा। 'चाण्डाल' एक नीच शूद्र जाति का नाम विशेष भी है।

अलंकार = रूपक-उत्तरार्द्ध में।

दो० २७८—

रस = (सं०) = प्रेम; शृङ्गाररस (रतिमूलक)।

खेत्र = (सं० क्षेत्र) = (१) रणक्षेत्र (२) खेत।

उदा० "हतिहौं खेत खिलाइ खिलाइ"—(जायसी)

वैसे (डिं०) = (सं० वेशन) = बैठना, बैठकर। देखो अन्यत्र पूर्व दो० ११२, १३५ में प्रयोग।

उदा० देखा कपिन जाइ सो वैसा, आहुति देत रुधिर औ भैंसा। (तुलसी)

पारकी (डिं०) = (सं० परकीय) दूसरों की।

खगि (डिं०) = (सं० खड्ग) प्रा० खग्ग। तलवार।

डि० उदा० "दुइ सेन उदग्गन खग्ग सुमग्गन बग्ग तुरग्गन अग्ग लई।"

चात्रण (डिं०) = सं० चात्र (संज्ञा) = अग्निमंथन यंत्र; 'आरणि' का एक अवयव। यहाँ 'चात्र' (संज्ञा) का अकर्मक क्रिया प्रयोग है। अतएव यह अर्थ हुआ :—जिस प्रकार चात्र यंत्र से अग्नि मथी जाती है उसी प्रकार शत्रुदल का मंथन करना।

नोट—इस दो० से वेलि-पाठ का माहात्म्य प्रारम्भ होता है। मिलाओ भर्तृहरि का श्लोक—"यदि हरिस्मरणे रतिः स्यात्"...... इत्यादि। कवि का यह दावा कि वेलि-पाठ से मनुष्य रसज्ञ, योद्धा और वक्ता बन सकता है—कहाँ तक सत्य है, हम नहीं कह सकते। पाठक स्वयं प्रमाण ढूंढ़ें।

दो० २७९—

भावी = (हिं०) भविष्यत्‌काल, आनेवाला समय। भवितव्यता।

उदा० "भावी काहू सों न टरै।"

भुगति (डिं०) = (सं० भुक्ति) भोक्तव्य; संसार में भोगने योग्य सुख, विषय इत्यादि; लौकिक साधनों का उपभोग और सुख-लाभ।

ऊवरि (डिं०) (सं० उदर (सप्तम्यन्त)) उदर में, हृदय में, अन्तः-करण में। सं० टीका—उवरि अभ्यन्तरे । मा० टीका—हीयइ ।

तिकरि (डिं०) (सं० तत्कृते, त्वत्कृते) = के लिए, के वास्ते, देखो पूर्व प्रयोग दो० १४३,२३४ में।

त्याँ (डिं०) = उनको, उनके ।

दो० २८०—

सुइ (डिं०) = हिं० 'सोइ' = सोकर, लेटकर ।

अपरस (डिं०) = (सं० अस्पृश्य) = अछूत, शुद्ध ।

पढन्ताँ (डिं०) = पढ़नेवालों को, के लिए ।

वंछित (डिं०) = (सं० वांछित) = इच्छित, ईप्सित ।

नोट—पूर्वार्द्ध में कवि ने उपासना—मार्ग के कर्मकाण्ड का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे उनके वैष्णव भक्त होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता।

दो० २८१—

ऊपजै (डिं०) = (सं० उत्पद्यते) = उत्पन्न होती है ।

उदा० उपजै बिनसै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग। (तुलसी)

आप आप में (डिं० मुहा०) = परस्पर। हिन्दी में भी यह मुहावरा प्रयुक्त होता है। यथा :—"यह वस्तु आप आपमें बाँट कर खा लो।"

रति = (सं०) प्रेम, प्रीति ।

लहै = (सं० लभ्) हिं० लहना = प्राप्त करना ।

उदा० "नाचत ही निसि दिवस मर्यो, पै नहिं सुख कबहूँ लह्यौ।" (सूर)

परणी (डिं०)=(सं० परिणीता)=ब्याही हुई स्त्री।

कुमारी=(सं०) अविवाहिता कन्या।

नोट—वेलि-पाठ के माहात्म्य के इस अंश को अक्षरशः सत्य माना जाय अथवा नहीं यह पाठकों की रुचि पर निर्भर है। परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम के रूप में संसार के सामने आदर्श दाम्पत्य प्रेम का जो विशुद्ध एवं उच्च आदर्श स्थापित किया है वह मानव-समाज एवं वेलि-पाठकों के लिए अत्यन्त हितकर है।

अलंकार=अन्योन्य-पूर्वार्द्ध में।
दीपक—उत्तरार्द्ध में।

दो० २८२—

पड़पोत्रे (डिं०)=(सं० प्रपौत्र) पौत्र का पुत्र।

साहण (डिं०)=(सं० साधन=सिद्धि के सहायक हेतु)
सं० उदा०—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। (कुमार)
हिं० उदा० "आये निशाचर साहनि साजे।" (रघुराज)
'साहण' के कई अर्थ हैं:—(१) साथी, संगी। (२) सेना, फौज। (३) परिषद, (४) हाथी-घोड़े इत्यादि विजय या सफलता-प्राप्ति के साधन।
यहाँ अन्तिम अर्थ में प्रयोग हुआ प्रतीत होता है। सं० टीकाकार भी "साहणैर्गजाश्वरथरूपै" अर्थ करके इसी आशय का समर्थन करता है।

जग पुड़ि (डिं०)=संसार के पुड़त, पृथ्वीतल, जगतीतल पर। 'पुड़ि' के इस अर्थ में प्रयोग के लिए देखो पूर्व प्रयोग दो० २१७ में।

बाधै (डिं०)=(सं० वर्द्धते) बढ़ते हैं। पूर्व दो० में कई जगह प्रयोग हुआ है।

अलंकार=उपमा।
विशेष (दूसरा)।

दो० २८३—

पेखे (डिं०)=(सं० प्रेक्ष्य) देखकर।
हिं० उदा० "मज्जन फल पेखिय तत्काला।" (तुलसी)

वगि (डिं०)=(सं० वर्ग) प्रा० वग्ग=वर्गीकृत, एकत्रित, इकट्ठा।

कवण (डिं०)=हिं० कवन=कौन, कौन से। उदा० "कारण कवन नाथ मोहिं मारा।" (तुलसी)

क्रम (डिं०)=(सं० कर्म) डिंगल के प्रथानुसार रेफ को स्थानान्तरित किया गया है।

जाणियै (डिं०)=(सं० जाने) प्रा० जाणे=ऐसा प्रतीत होता है, जानो।

अलंकार=अनुमान प्रमाण।

दो० २८४—

चतुरविध वेद प्रणीत चिकित्सा=वास्तव में आयुर्वेद में अष्टांग चिकित्सा गिनाई गई है। परन्तु कवि ने उनमें से मुख्य चार लेकर यहाँ पर अपने ही ढङ्ग से गिनाई है।
शास्त्रोक्त अष्टांग चिकित्साओं के नाम ये हैं।
(१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) कायचिकित्सा (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अंगदतंत्र, (७) रसायनतंत्र, (८) वाजीकरणतंत्र।

चिकित्सा :—आयुर्वेद के दो विभाग हैं, (१) निदान, जिसमें रोगों की पहिचान और उनका वर्णन है। (२) चिकित्सा, जिसमें भिन्न

भिन्न रोगों पर भिन्न भिन्न ओषधियों की व्यवस्था बताई गई है। चिकित्सा के ३ उपभेद हैं। (१) दैवी जिसमें पारदादि रसायनों का प्रयोग हो, (२) छः रसों द्वारा की हुई मानवी चिकित्सा, (३) आसुरी—अस्त्रप्रयोगद्वारा चीर-फाड़ कर की हुई चिकित्सा। परन्तु कवि ने इन चिकित्सा के विभागों को न मानकर स्वयं अपना काल्पनिक विभाग किया है। यथा :—(१) शस्त्र (२) ओषधि (३) मन्त्र (४) तन्त्र।

उपचार=(सं०)=उपाय, दवा, इलाज।

उदा० "ग्रह ग्रहीत पुनि वातवश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय वारुनी, कहहु कौन उपचार॥"
(तुलसी)

सुवि (डिं०)=हिं० सभी।

हुवि (डिं०)=होता है।

तन्त्र=यह हिन्दुओं का उपासना-सम्बन्धी एक प्राचीन शास्त्र है। इसे शिवप्रणीत माना है। तंत्रशास्त्र तीन भागों में विभक्त है। (१) आगम, (२) यामल, (३) मुखतंत्र।

जिसमें, सृष्टि, लय, मन्त्रनिर्णय, देवताओं का संस्थान, यन्त्रनिर्णय, तीर्थ, आश्रमधर्म, कल्प, ज्योतिषसंस्थान, व्रत, कथा, शौच, अशौच, स्त्री-पुरुष-लक्षण, राजधर्म, दानधर्म, युवाधर्म, तथा इतर आध्यात्मिक विषयों का वर्णन है, वह तंत्रशास्त्र कहलाता है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है कि कलियुग में वैदिक मंत्रों और यज्ञादिकों का कोई फल नहीं होता। इस युग में सब प्रकार के कार्यों की सिद्धि तंत्रशास्त्र में वर्णित मंत्रों और उपायों से हो सकती है। इसके सिद्धान्त बड़े गुप्त रखे जाते हैं। इसके लिए मनुष्य

को पहले दीक्षित होना पड़ता है। प्राय: आजकल लोग मारण, उच्चाटन, वशीकरणादि तथा इतर हीन सिद्धियों के साधन के लिए ही तंत्रोक्त क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। यह शास्त्र प्रधानत: शाक्तों का है और इसके मंत्र प्राय: अर्थहीन और एकाक्षरी होते हैं। यथा: ॐ ह्रीं, क्लीं, श्रीं, शूं इत्यादि। तांत्रिकों का पंचमकार मद्य, मांस, मदिरा, मुद्रा और मैथुन है। प्रसिद्ध चक्रपूजा में उपरोक्त पदार्थों का प्रयोग होता है। यद्यपि अथर्वसंहिता में मारण,मोहन—उच्चाटन, वशीकरणादि का वर्णन है परन्तु आधुनिक तंत्र से उनका बहुत थोड़ा सम्बन्ध है। भारत में चौथी पाँचवीं शताब्दी में इस मत का प्रचार हुआ था।

अलंकार = विशेष (दूसरा)

दो० २८५—

आधिभूतक आधिदेव अध्यातम त्रिविधताप = शास्त्र में तीन प्रकार के सांसारिक दुख अथवा ताप गिनाये गये हैं।

उदा० दैहिक, दैविक, भौतिक, तापा, रामराज काहुहि नहिं व्यापा। (तुलसी)

(१) आधिभौतिक = व्याघ्र सर्पादि जीवधारियों द्वारा प्राप्त दुख। सुश्रुत में रक्त तथा शुक्रदोष अथवा आहार-विहार से उत्पन्न व्याधियों को भी आधिभौतिक ही कहा है।

(२) आधिदैविक = देवता, यक्ष भूत प्रेतादि-द्वारा प्राप्त दुख। सुश्रुत में सात प्रकार के दु:ख गिनाये गये हैं। उनमें से तीन इसी वर्ग के अन्तर्गत हैं यथा :—(१) कालबलकृत—बर्फ़, ओले, वर्षादि से उत्पन्न, (२) देवबलकृत यथा :—बिजली पड़ना, पिशाचादि लगना, (३) स्वभावबल कृत यथा :—भूख प्यासादि लगना।

(३) आत्मा, मन एवं देह-सम्बन्धी दुःख, यथा:—शोक, मोह, ज्वर इत्यादि हो जाने को आध्यात्मिक ताप कहते हैं।

पिंड = (सं०) शरीर। देखो पूर्व दो० ११३ में।

प्रभवति = (सं०) = होनेवाले।

कफ वात पित रोग त्रिविधमैं = वैद्यक में ये तीन प्रकार के रोग माने गये हैं।

(१) कफ = वैद्यक के अनुसार शरीर में एक धातु जिसके रहने का स्थान आमाशय, हृदय, कंठ, शिर और सन्धियाँ हैं। इनका क्रमशः नाम क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और श्लेष्मा हैं। आधुनिक पाश्चात्यमत से इसका स्थान साँस लेने की नालिकाएँ या आमाशय हैं। कुपित अथवा अनवस्थित होने पर 'कफ' दोष गिना जाता है और रोग का कारण बन जाता है।

(२) वात = वैद्यक के अनुसार यह शरीरस्थ एक वायु है। इसके कुपित होने से अनेक रोग होते हैं। शरीर में इसका स्थान पक्वाशय माना है। शरीर की सब धातुओं और मलादि का पाचन इसी से होता है। श्वास, प्रश्वास, वेग, चेष्टा और कार्य भी यही करती है।

(३) पित्त = वैद्यक के अनुसार पित्त शरीर के स्वास्थ्य और रोग के कारणभूत तीन प्रधान तत्त्वों और दोषों में से एक है। जिस प्रकार रस का मल कफ होता है, उसी प्रकार रक्त का मल पित्त होता है, जो यकृत अथवा जिगर में उससे पृथक् किया जाता है। यह उष्ण, द्रव, लघु, सत्त्वगुणयुक्त, स्निग्ध और कटु होता है। यह अम्ल, अग्निस्वभाववाला, तरल पदार्थ है जो शरीर के अन्दर यकृत में बनता है। अग्निस्वभाव होने के

कारण इसे अग्नि, उष्ण, तेजस् भी कहते हैं। इसकी बनावट में कई प्रकार के लवण और दो प्रकार के रंग पाये जाते हैं। यकृत के कोष्ठों से रस लेकर दो विशेष नालियों-द्वारा पक्वाशय में आकर यह आहाररस से मिलता है और वसा और चिकनाई को पचाने में सहायक होता है। इस क्रिया के लिए उसमें पित्त का यथेष्ट मात्रा में मिलना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसके कई कार्य हैं। आमाशय से पक्वाशय में आये हुए आहाररस की खटाई को दूर करना; आँतों में भोजन को सड़ने न देना; शरीर का तापमान (Temperature) स्थिर रखना। पित्त की कमी से पाचन-क्रिया बिगड़ जाती है और मन्दाग्नि, कब्ज और अतीसारादि रोग हो जाते हैं। इस प्रकार के विकार में ज्वर, दाह, वमन, प्यास, मूर्च्छा और चर्मरोग होते हैं। जिसका पित्त बिगड़ जाता है उसका रंग पीला पड़ जाता है।

शरीर में पित्त के पाँच स्थान हैं—आमाशय, यकृत-प्लीहा, हृदय, दोनों नेत्र, और त्वचा। इनमें रहनेवाले पित्त के क्रमशः नाम ये हैं :—पाचक, रेचक, साधक, आलोचक और भ्राजक। शरीर में इनकी पृथक् पृथक् क्रियाएँ एवं कर्तव्य हैं। अँगरेज़ी में पित्त को Bile कहते हैं, जो क्रोधप्रधान प्रकृति माना गया है। अरबी में सफ़रा और फ़ारसी में तलख़ा कहते हैं।

नोट—दो० २६६ "जोतिखी वैद पौराणिक जोगी" में कवि ने वैद्यक के ज्ञान की चर्चा की है। इस दोहले में वैद्यक शास्त्र की कुछ सूक्ष्मताओं का उल्लेख है। आंशिक रूप में गर्वोक्ति सत्य है।

दो० २८६—

रुषमिणी-मंगल=जिस ग्रंथ में श्रीरुक्मिणी का मंगल अर्थात् श्रीकृष्ण के साथ विवाह वर्णित है; अर्थात् "वेलि"। 'रुक्मिणी-मंगल' कवि के समसामयिक एक चारण कवि के काव्य का नाम भी था। कहते हैं यह ग्रंथ 'वेलि' की तुलना में बादशाह के सामने रखा गया था। कथा के लिए देखो भूमिका।

थाइ (डिं०)=होता है। गुजराती में भी प्रयोग होता है।

दुरदिन=(सं०) बुरा समय, आपत्तिकाल।

दुरग्रह=(सं०) ज्योतिष के अनुसार दुष्ट ग्रहों का कोप।

दुरदसा=(सं०) बुरी दशा।

दुसुपन=(सं० दुःस्वप्न)=निमित्तसूचक बुरे बुरे स्वप्न।

दुरनिमित=(सं०) भविष्य में होनेवाले अनिष्ट को सूचित करनेवाला अशकुन; बुरे शकुन।

नोट—हमें ज्ञात है कि राजस्थान के कई धार्मिक प्रकृति के पुरुष "वेलि" का नियमपूर्वक पाठ करते हैं और उनका विश्वास है और कथन है कि वेलि-पाठ से उनको बहुत से आध्यात्मिक एवं भौतिक लाभ हुए हैं। यह असम्भाव्य नहीं है। कलियुग में विश्वास और जप का बड़ा माहात्म्य है। इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

दो० २८७—

छलन्ति, भणन्ति, नभसि=(सं०) शुद्ध संस्कृतप्रयोग।

अलंकार=अत्युक्ति।

दो० २८८—

सन्यासिए, जोगिए, तापसिए=एकारान्त डिंगल में बहुवचन-द्योतक होता है। संन्यासियों, योगियों, तपस्वियों को।

(१) संन्यासी=गीता में इसकी व्याख्या यों की गई है :—

काम्यानां कर्मणां न्यासं (त्यागं) संन्यासं कवयो विदुः। (गीता)

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति। (गीता)

सांसारिक प्रपंचों के त्याग की वृत्ति को 'संन्यास' कहते हैं; वैराग्य। प्राचीन भारतीय आर्यों के जीवन की चार अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था। पुत्रादि के सयाने हो जाने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम को छोड़ कर एकान्तवास और ब्रह्मचिंतन के निमित्त परलोकसाधनार्थ जंगल में निवास करता था। किसी आचार्य-द्वारा दीक्षा लेकर सिर मुँड़ा कर, दंड ग्रहण कर भिक्षावृत्ति से आत्मनिर्वाह करता था। संन्यास दो प्रकार के माने गये हैं:—(१) संक्रम—अर्थात् क्रमागत काल में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ जीवन के उपरान्त संन्यास ग्रहण करना। (२) अक्रम—बीच ही में जब वैराग्य हुआ तभी संन्यास ले लेना।

(२) योगी :—आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दु:खं स योगी परमो मत: ॥
(गीता)

जो भले, बुरे, सुखदुखादि द्वन्द्वों को समान समझे, उनमें आसक्त न हो। वह आत्मज्ञानी जिसने योगाभ्यास-द्वारा सिद्धि प्राप्त की है। योगदर्शन में अवस्था भेद से चार प्रकार के योगी माने हैं। यथा :—(१) काल्पिक—जिसने

योगारम्भ किया है, (२) मधुभूमिक जो भूतों और इन्द्रियों पर विजय चाहते हैं; (३) प्रज्ञाज्योति—जिन्होंने भली भाँति इन्द्रिय-निग्रह कर लिया है; (४) अतिक्रान्त भावनीय—जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों। परन्तु अब तक चित्तलय बाकी है।

(३) तापसी = तपस्वी, तप करके शरीर को कष्ट देनेवाला; कठोर व्रत नियमादि का पालन करके चित्त को शुद्ध और इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करनेवाला।

प्राचीन काल में हिन्दुओं, बौद्धों, जैनों, यहूदियों और ईसाइयों में बहुत से लोग ऐसे होते थे जो इन्द्रियों को वश में करने और सांसारिक विषय-वासनाओं से मन को हटाकर चित्त-शुद्धि करने के लिए, धार्मिक विश्वास के अनुसार नगरों से दूर जंगलों, पहाड़ों में जाकर रहते थे। वहाँ घास-फूस का आवास बना कर कंद-मूल फल खाते और तरह तरह के कठोर व्रत उपवासादि किया करते थे। पुराणों में इस प्रकार के तपस्वियों की कथाएँ भरी पड़ी हैं। कभी कभी किसी अभीष्टप्राप्ति के लिए अथवा किसी देवता को प्रसन्न करके वरप्राप्ति करने के लिए भी तप किया जाता था। यथा—गंगा को लाने के लिए भगीरथ का तप, शिव को ब्याहने के लिए पार्वती का तप। पतंजलि के अनुसार ऐसे तप को क्रिया-योग कहा है। गीता में तीन प्रकार के तप गिनाये हैं, (१) कायिक, (२) वाचिक, और (३) मानसिक।

हठ-निग्रह = हठयोग; वह योग जिसमें चित्तवृत्ति हठात् बाह्य विषयों से हटा कर अन्तर्मुख की जाती है और जिसमें शरीर को साधने

के लिए कठिन कठिन आसनों और मुद्राओं को साधना पड़ता है। नेती, धौती आदि क्रियाएँ हठयोग के अन्तर्गत हैं। इनके लिये देखो हठ-प्रदीपिका—स्वात्मारामविरचित, जो इस योग का प्रधान ग्रंथ है। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथादि योगीश्वर इसके आचार्य हैं। पतञ्जलि के योगसूत्र के दार्शनिक अंश को छोड़कर 'साधना', अंग पर हठ-योग आश्रित है।

काँइ (डिं०)=डिंगल में प्रश्नवाचक सर्वनाम है=क्या। राजस्थानी बोलचाल की भाषा में अब तक प्रयुक्त होता है।

इवड़ा (डिं०)=ऐसा, इतना। "ऐहड़ा" का भी प्रयोग होता है।

पार थिया पार थिया=इन शब्दों की पुनरावृत्ति निश्चयार्थद्योतक है। अर्थात् निश्चय ही पार होगये। जैसे हिन्दी में "पार हो गये और फिर होगये।" अर्थात् इसमें सन्देह नहीं है।

डा० टैसीटरी ने अन्तिम पंक्ति "तरि पार" के स्थान में 'ऊतरे' पाठान्तर लिया है। पुनरावृत्ति को बचाने के लिए उन्होंने इस बहुसम्मत पाठान्तर को छोड़ दिया है। हमारी समझ में काव्य में उपयुक्त स्थान पर पुनरावृत्ति करने से चमत्कार की वृद्धि ही होती है—जैसी कि इस दो० में।

अलंकार=प्रतीप।

दो० २८९—

जोग=पतंजलि का योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य इन चार विभागों में विभक्त है। समाधि-भाग में योग के उद्देश्य और लक्षण और उसका साधन बताया गया है; साधन-भाग में क्लेश, कर्म-विपाक और कर्म-फलादि का विवेचन किया गया है; विभूति-भाग में योग के अङ्ग, उनका

परिणाम क्या है और उनके द्वारा अणिमा महिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कैसे होती है इत्यादि का विवेचन है। कैवल्य-भाग में मोक्ष का विवेचन किया गया है।

योगदर्शन का संक्षेप में यह मत है कि मनुष्य को अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष और अभिनिवेष—ये पाँच क्लेश होते हैं। उनसे बचने के उपाय पतंजलि ने योगसाधनोंद्वारा बताये हैं। योग के अंगों को सिद्ध कर मनुष्य अन्त में मोक्ष पा लेता है। योग दो प्रकार का माना गया है। (१) संप्रज्ञात और (२) असंप्रज्ञात। जिस अवस्था में ध्येय का रूप प्रत्यक्ष रहता है उसे प्रथम और जिसमें किसी प्रकार की चित्तवृत्ति का उदय नहीं होता अर्थात् जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता, केवल संस्कार-मात्र बने रहते हैं, उसे असंप्रज्ञात कहते हैं। योगसाधनों का सिद्धान्त यह है कि प्रथम स्थूल विषयों का आधार लेकर क्रमशः सूक्ष्म विषयों पर चित्तवृत्ति को स्थिर करना और अन्त में विषयों का इन्द्रियों से परित्याग करना, जिससे आत्मा में चित्तवृत्ति का निवेश किया जा सके। आठ प्रकार के योग-साधन हैं, जिन्हें अष्टांगयोग कहा है, यथा—

यमो नियमश्चासनं प्राणायामस्ततः परम्।
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं सार्धं समाधिना।
अष्टांगान्याहुरेतानि योगिनां योगसिद्धये॥

जाग = [यज्ञ (सं०)] प्राचीन आर्यों का एक प्रसिद्ध वैदिक कृत्य जिसमें प्रायः हवन-पूजन होता था। देवताओं को प्रसन्न करने, पुत्रजन्म, विवाह, अन्य समारोह, अन्त्येष्टि-क्रिया, पितरों का श्राद्ध आदि के समय पर यज्ञ करने की

प्रथा थी। यज्ञ कई प्रकार के होते थे, यथा—सोमयज्ञ, अश्वमेध, राजसूय, अग्निष्टोम इत्यादि। ब्राह्मणों की नित्य-क्रिया में पंचमहायज्ञ का निर्देश था। वैदिककाल में यज्ञ में पशु-बलि की प्रथा भी पड़ गई, जो पीछे बहुत बढ़ गई और जिसका विरोध करने के लिए बौद्धमत का प्रचार हुआ। ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में यज्ञविधि और कर्म-काण्ड की विवेचना की गई है।

जप = किसी मन्त्र का बार बार धीरे धीरे पाठ करना। यह भी उपासना का एक साधन है। पुराणों में जप तीन प्रकार के माने गये हैं—(१) मानस, (२) उपांसु, (३) वाचिक। प्रथम में, मन ही मन मन्त्र का अर्थ मनन करना और धीरे धीरे ऐसा उच्चारण करना कि होठ और जिह्वा न हिलें; द्वितीय में जिह्वा और होठों को कुछ कुछ हिलाते उच्चारण करना, जो थोड़ा सुनाई दे। तृतीय में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करना होता है। जप करते समय जप की संख्या पर ध्यान रखना होता है। अतएव "जपमाला" की आवश्यकता पड़ती है।

तीरथ = वह पवित्र या पुण्यस्थल जहाँ धर्मभाव से लोग यात्रा, पूजा और स्नानादि के लिए जाते हैं। यथा—काशी, प्रयाग, गया, जगन्नाथ, द्वारिका इत्यादि।

हिन्दू शास्त्रानुसार तीर्थ तीन प्रकार के हैं—(१) जंगम—ब्राह्मण साधु आदि, (२) मानस—जैसे, सत्य, क्षमा, दया, दान, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, धैर्य, मधुरभाषणादि गुण, (३) स्थावर जैसे, काशी, गया, प्रयागादि पुण्यस्थान।

व्रत = किसी पुण्य तिथि को अथवा पुण्यप्राप्ति के निमित्त नियमपूर्वक उपवास करना। हिन्दू व्रत के दिन प्रायः कुछ

नहीं खाते या कोई विशिष्ट पदार्थ खाते हैं। साधारणतः प्रत्येक एकादशी को व्रत रखते हैं। किसी व्रत में केवल फलाहार होता है; प्रदोष के व्रत में अन्न भी खाया जाता है। निर्जला एकादशी को जल भी नहीं पाते। कुछ व्रत ऐसे हैं जो महीनों चलते हैं, यथा—चांद्रायण, चातुर्मास्य आदि। स्त्री और पुरुषों के लिए पृथक् पृथक् व्रत निर्दिष्ट हैं। व्रत के दिन आचार-व्यवहार विचारादि की पवित्रता पर ज़्यादा ध्यान दिया जाता है।

दान = वह धर्मार्थ कृत्य जिसमें श्रद्धा या दयापूर्वक धर्मभाव से अप्रत्युपकारी को धनादि पदार्थ दिया जाय। स्मृतियों में इस पर बड़ा विचार किया गया है। दान देते समय दान-ग्रहीता की पात्रता पर बड़ा ध्यान रहना चाहिए। दानों का विशेष विधान यज्ञ, श्राद्धादि धर्मकृत्यों के बाद होता है। दान देते समय दाता में श्रद्धा होनी चाहिए। गीता में सात्त्विक, राजस और तामसी—तीन प्रकार के दान कहे गये हैं।

आश्रम—स्मृतियों में हिन्दू-धर्म के चार आश्रम बताये हैं,—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास।

वरण = प्राचीन आर्यों ने हिन्दू-समाज के चार विभाग किये—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ऋग्वेदीय काल में भारतीय आर्य-जनता के दो वर्ग थे—(१) आर्य (२) दस्यु।

आगे चल कर यही वर्गीकरण व्यवसाय के आधार पर हुआ है। पुरुष-सूक्त में आलंकारिक ढङ्ग से पहले पहल चार वर्णों का सूत्र-पात हुआ है। ब्राह्मण ईश्वर के मुख से, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य जंघा से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। अलग अलग वर्णों का धर्म और कर्त्तव्य, व्यवसायादि भी पृथक् पृथक्

निर्दिष्ट हो गये। वर्णाश्रम की व्यवस्था हिन्दू-धर्म की ख़ास व्यवस्था है। अतएव हिन्दू अपने धर्म को "वर्णाश्रमधर्म" नाम से कहते हैं।

कलपसि = (सं० कल्पन = (दुख की) उद्भावना करना) बिलखना, विषाद करना। उदा० "नेकु तिहारे निहारे बिना कलपै जिय क्यों पल धीरज लेखौं।" (पद्माकर)

सं० टीका = "किं कलपसि किं याचसे इत्यर्थः।"

अलंकार = प्रतीप।

दो० २९०—

भजै = (सं० भजति) = सेवन करती है, सेवा करती है, आश्रय लेती है। उदा० "तजो हठ आनि, भजो किन मोहिं।" (केशव)

अतारू (डिं०) = अ + तारू = नहीं तैरनेवाला। देखो "तारू" का प्रयोग पूर्व दो० ६ में "तारू कवण जु समुद्र तरै।"

बोलै (डिं०) = हिं० बोरना = डुबोना, जलमग्न करना।

उदा० (१) कपट बोरि बानी मृदुल, बोलेउ कपट समेत।

(तुलसी)

(२) लागी जबै ललिता पहिरावन, कान्ह को कंचुकी केसर बोरी।

ग्रब (डिं०) = (सं० गर्व) देखो डिंगलप्रथानुसार रेफ का स्थानांतरित होना।

म (डिं०) = सं० मा (निषेधात्मक) का अल्परूपान्तर।

वाहणी (डिं०) = (सं० वाहिनी) = (१) बहनेवाली, (२) सेना।

आणाँ (डिं०) = (सं० अन्यत्, प्रा० अण्ण, हिं० आन) = दूसरा, अन्यत्र।

सूँ = गुजराती प्रयोग। गुजराती के बहुत से प्रयोग राजस्थानी और डिंगल में पाये जाते हैं। वास्तव में इन पड़ोस की भाषाओं

का बड़ा निकट सम्बन्ध है। गुजराती में "सूँ" प्रश्नवाचक सर्वनाम है—कैसे, क्यों, किस प्रकार—अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ वही अर्थ है।

भागीरथी = सूर्यवंश के राजा भगीरथ गंगा को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाये थे, अतएव उसका यह नाम पड़ा। राजा सगर के साठ हज़ार पुत्रों को कपिल के शाप ने भस्म कर दिया था। अपने इन पूर्वजों के उद्धार के लिए अयोध्या के सूर्यवंशी राजा और सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने बड़ा तप किया और गंगाजी को पृथ्वी पर लाये। पृथ्वी पर आने पर शिवजी ने गंगा को जटा में धारण कर लिया। वहाँ से गंगासागर की ओर जाते हुए जह्नु ऋषि ने इसे पी लिया। प्रार्थना से निर्मुक्त होने पर गंगा ने सगर के पुत्रों को पुनर्जीवित किया। स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में गंगा की तीन धाराएँ मानी गई हैं। जिनको क्रमशः (मंदाकिनी) आकाशगंगा, भागीरथी और भोगवती कहते हैं।

बे हरि हर भजै = गंगा ने विष्णु और शिव दोनों की सेवा किस प्रकार की यह प्रसङ्ग हरिश्चन्द्र की 'गंगा की शोभा' कविता में यों वर्णित है :—

"श्रीहरिपदनख चन्द्रकान्तिमणि द्रवित सुधारस।
ब्रह्मकमण्डलुमण्डन भवखण्डन सुख सरबस॥
शिवसिरमालति माल, भगीरथ नृपति पुण्यफल॥"

ढूँढाड़ी टीकाकार ने इस दो० में गंगाजी की निन्दा होना समझ कर अर्थ देना उचित नहीं समझा है :—"गंगाजी की निन्दा करी छै। ताके लियां या दुवाला को अरथ मैं नहीं लिख्यौ छै।" हमें तो इस दो० में किसी प्रकार से गंगा की

निन्दा नहीं दिखाई देती। इतना तो निश्चय है कि कवि कृष्ण की भक्ति को गंगा की भक्ति से ज़्यादा व्यापक एवं श्रेष्ठतर समझता है, जो युक्त ही है। इसी लिए तुलना में भगवत्स्तुतिरूप "वेलि" को गंगा से ज़्यादा व्यापक एवं श्रेष्ठ माना है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि कवि को गंगाजी की भक्ति न थी। उनके स्फुट काव्य में "भागीरथी" और "जाह्नवी" के दोहे अत्यन्त भक्तिपूर्ण हैं। गंगाजी के माहात्म्य की स्तुति करने में भी कवि ने कोई कसर नहीं रखी है। देखो भूमिका में "गंगा के दोहे।"

अलंकार = प्रतीप।

दो० २९१

वायौ (डिं०) = (डिं० बाहना (क्रिया)) = खेत जोता, खेत बोया, जोता। देखो पूर्व दो० १२३, १२४ में प्रयोग "वूठै वाहवियै आ वेला"। और "हलधर काँ बाहताँ हलाँह"।

थाणौ (डिं०) = (सं० स्थान) प्रा० थाण-ठाण, हिं० थाला, थाँवला = आलवाल, वृक्ष के चारों ओर का पानी रहने का नीचा स्थान।

दास प्रिथु = भगवान् का दास कवि पृथ्वीराज राठौड़, भक्त पृथ्वीराज। पृथ्वीराज अपने आपको भक्त कवियों की श्रेणी में मानते हैं। इसी प्रकार तुलसी, सूर, कबीरादि ने अपने आपको 'दास' कहा है। भक्तमाल में नाभादासजी ने इनको इसी श्रेणी में माना है। भक्त के हृदय की नम्रता इसी से प्रकट होती है कि "पृथ्वीराज" न कहकर "प्रिथु-दास" कहा।

भागवत = श्रीमद्भागवतपुराण, जो वेलि के कथानक का मूलाधार है। देखो दो० ९८—"भजति कि सुक मुखि भागवत।"

ताल = संगीत का काल-परिमाण। "ताल" इसलिए कहा क्योंकि "वेलि" का पाठ "वेलियो गीत" में गाया जाता है। इतर काव्य की तरह केवल पढ़ा जाने के लिए ही यह काव्य नहीं है। ताल स्वर से गाने के लिए "वेलियो गीत" का प्रयोग है।

मंडहै (डिं०) = मंडप पर। उदा० मंडये तर की गाँठ में, गाँठ गाँठ रस होय। (रहीम)

नोट—इस दो० में कवि ने "वेलि" के नाम के अन्तर्गत रूपक का अपनी कल्पना से स्पष्टीकरण किया है। यह भी स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की मूलकथा श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध से ली गई है। इस रूपक के विषय में विशेष ज्ञातव्य देखो भूमिका में।

अलंकार = रूपक।

दो० २९२—

अक्खर (डिं०) = (सं० अक्षर) प्रा० अक्खर। शुद्ध प्राकृत और अपभ्रंश प्रयोग डिंगल में बहुतायत से मिलते हैं। इन प्रयोगों से यह स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि इस भाषा ने उस समय स्वरूप ग्रहण किया जिस समय प्राकृत और अपभ्रंश काल को छोड़कर भारतीय देशभाषाएँ अथवा प्रान्तीय बोलचाल की प्राकृतें नवीन स्वरूप ग्रहण कर रही थीं। यह वही समय है जब पूर्व में अवधी, पूर्वी और पश्चिम में व्रज-भाषा, राजस्थानी भाषाएँ बनीं।

द्वाला (डिं०) = दुआला, दोहला। डिंगल में यह एक छन्दविशेष है। वेलि का प्रत्येक छन्द दोहला है, जो वेलियों गीत के अन्तर्गत पड़ता है। हिन्दी के 'दोहे' से यह भिन्न है। परन्तु दोहा और दोहला नाम में इतना कम अन्तर है कि दोनों का एक होना अनुमानित होता है।

उदा० "सतसैया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।"

रसिक = जिस पुरुष को रस-सम्बन्धी बातों में रुचि हो; सहृदय, रसज्ञ, काव्यमर्मज्ञ।

उदा० सूरदास रास रसिक बिनु, रास रसिकिनी विरह विकल करि भई है मगन। (सूर)

व्रिधि (डिं०) = (सं० वृद्धि) = बढ़ना। स्थानान्तरित रेफ का प्रयोग।

तन्तु = (सं०) = बेल के ताँते, डोरे।

नवरस = साहित्य में आत्मा को आनन्द देनेवाली वह चित्त-वृत्ति या अनुभव जो विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से युक्त स्थायीभाव को व्यजित करने में समर्थ हो—'रस' कहलाती हैं। रस नव हैं :—

रस—	शृंगार,	हास्य,	करुण,	रौद्र,	वीर,	भयानक,	बीभत्स,	अद्भुत,	शांत।
	|	|	|	|	|	|	|	|	|
स्थायीभाव—	रति	हास	शोक	क्रोध	उत्साह	भय	जुगुप्सा	आश्चर्य	निर्वेद

नोट—वेलि में इन नव-रसों का न्यूनाधिक रूप में जहाँ तहाँ उद्भास हुआ है। विशेष स्थलों को रसज्ञ पाठक ढूँढ़ निकालेंगे। हमने जहाँ तहाँ नोट में इनके सम्बन्ध में निर्देश कर दिया है।

अलंकार = रूपक—दो० २९१ में प्रारम्भ किया हुआ "वेलि" का रूपक इस दो० में भी चालू है।

दो० २९३—

कलपवेलि = पुराणानुसार देवलोक का एक वृक्ष। समुद्रमंथन के समय १४ रत्नों में यह निकला था और इन्द्र को यह दिया गया। यह विश्वास है कि इससे जो वस्तु माँगी जाय, मिलती है। यह कल्पान्त में भी नाश नहीं होता। इसे कहीं कहीं लता और कहीं कहीं वृक्ष भी कहा है।

कामधेनुका = यह भी देवलोक की एक गौ है, जो समुद्र-मंथन से निकली थी और अभीप्सित फल देती है।

चिन्तामणि = यह एक कल्पित रत्न है। पुराणों में यह विश्वास प्रख्यात है कि इससे जो कुछ माँगा जाय, मिलता है।

उदा०—"रामचरित चिन्तामणि चारू"—तुलसी

सोमवल्लि = (सं०) प्राचीन काल की एक लता का नाम जिसका रस सुवर्ण रंग का और मादक होता है। इसका रस यज्ञ में देवताओं को चढ़ाया जाता था और अग्नि में हवन किया जाता था। ऋग्वेद में सोमरस का बड़ा गुण गान है। यह यज्ञ की आत्मा और अमृत कहा गया है। वैद्यक में सोमलता को दिव्यौषधि कहा है।

चत्र (डिं०) = (सं० चत्वार) = चारों, चार।

पृथुमुख पंकज = इस प्रकार की कल्पनाओं को देखकर पाठकों को शायद कवि के आत्माभिमान और आत्मश्लाघा का अनुमान हो। वस्तुत: ऐसी बात नहीं है; 'दास प्रिथु' से यह आशा नहीं की जा सकती। कवि ने "वेलि" को इतना पवित्र स्वरूप दे दिया है कि उसके सम्बन्ध में सभी वस्तुओं को अलंकृत रूप देना पड़ता है। यह 'पृथु' की प्रशंसा नहीं,

बल्कि भगवद्भक्ति की प्रशंसा है, जिसके लिए कोई भी प्रशंसा अत्युक्ति नहीं है।

अलंकार = अपह्नुति।

दो० २६४—

मुगति तणी नीसरणी मंडी = मुक्तिप्राप्ति के लिए मानो निसैनी बनी या सुशोभित है। निसैनी से, ऊँची रखी हुई वस्तु की प्राप्ति सरलता से हो सकती है।

उदा० "सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावति"।
(गंगा-शोभा "हरिश्चन्द्र")

आगम = (सं०) = शास्त्रग्रन्थ।
नीगम = (सं०) = वेद।

नीसरणी (डिं०) = (सं० निःश्रेणी) हिं० निसैनी—सोपान, सीढ़ी।
सोपान = (सं०) = सीढ़ी, निसैनी।

कजि (डिं०) = (सं० कार्ये = कार्य-सिद्धये) विशिष्ट अर्थ में यहाँ 'कार्य'–कार्यसिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इळ (डिं०) = पृथ्वी, देखो पूर्व दो० २३५ में नोट "आयो इळि बसन्त।"

नोट—इस दो० में कवि ने अपने काव्य की स्वयं आलोचना की है। हमारा तो ख़याल है कि जब कवि को अपने प्रयास की पूर्ण सफलता का विश्वास हो गया है, तो आलोचना करना उसका अधिकार है। तुलसीदासादि ने भी ऐसा किया है। इसमें मिथ्या आत्मश्लाघा का दोष नहीं लग सकता है।

अलंकार = रूपक।

दो० २६५—

बिसाहण (डिं०) = (सं० व्यवसाय (संज्ञा) से क्रिया बनी है)—हिं० बिसाहना = दाम देकर खरीद करना।

उदा० (१) जिन एहि हाट न लीन बिसाहा, ताकँह आन हाट किन लाहा। (जायसी)

(२) मेरे जान जब ते हौं जीव ह्वै जनम्यौ, तब ते बिसाहो दास लोभ कोह काम को। (तुलसी)

कुण, मूँकै (डिं०) = कौन, छोड़े। देखो नोट पूर्व दो० २७७ में।

अनूप = (सं०) अनुपम। उदा० "अरथ अनूप सुभाव सुवासा।" (तुलसी)

चालणी (डिं०) = (सं० चरण, चरणी) हिं० छलनी, चलनी। = छानने का बर्त्तन-विशेष।

सूप = (सं० सूर्प) = छाज, हिं० सूप।

उदा० भरिगे रतन पदारथ सूप हजारहों। (तुलसी)

सोभण (डिं०) = (सं० शोधन) = शुद्ध करना, संशोधन। भिन्नार्थ में पूर्व प्रयोग "सोभै" देखो दो० ४ में।

उदा० सोधि अवनि जग्य लगि, जो जन चार प्रमान।

कण = (सं०) = मोती का कण; हिं० 'मोती का दाना' प्रसिद्ध ही है।

मूझ (डिं०) = (सं० मह्यम्) प्रा० मज्झम हिं० मुझ, मूझ। = मेरा, मेरे। पूर्व दो० में कई बार प्रयोग हुआ है। देखो नोट दो० ५६ सूप और चालनीवाली यह सूझ अनूठी है। कवि ने साधारण जीवन के वृत्तों को उपमाओं में प्रयुक्त कर अपनी सहृदयता एवं व्यापक प्रतिभा का प्रमाण दिया है। साधारण

जीवन से ली हुई ऐसा बहुत सी उपमाएँ "वेलि" में प्रयुक्त हैं—जैसे लोहार के व्यवसाय की उपमा दो० १३२ में।

सुकवि······सूप = इसी प्रकार तुलसी ने भी अपने रामचरितमानस को सज्जन और दुर्जन दोनों प्रकार के आलोचकों के सामने रक्खा है।

अलंकार = दृष्टान्त।
यथासंख्य।

दो० २९६—

मूँ (डिं०) = मेरी। देखो प्रयोग पूर्व दो० १०३ में "मति तै बाखाणण न मूँ।" यहाँ पर सम्बन्धकारक में प्रयोग हुआ है। परन्तु दो० ६२ "महण मथे मूँ लीध महमहण" में "मूँ" का कर्म-कारक में प्रयोग हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण में शब्दों का षष्ठी रूप साधारणतया प्रायः सभी विभक्तियों में प्रयुक्त होता था। देश भाषाओं में उसका कुछ आभास रह गया है।

वाणी (डिं०) = (सं०) = कविता, काव्य-रचना। यथा 'कबीर की बानी'।

असै—सई (डिं०) = (सं० अ + सती, सती) = असाध्वी, साध्वी स्त्री।
दूषण = (सं०) = दोष, कलंक, अपमानारोपण।
अलंकार = उपमा।

दो० २९७—

भाषा = (सं०) = प्रचलित देश भाषा; देश की बोलचाल की भाषा, उदा० "भाषाबद्ध करब मैं सोई।"

प्राकृत = (सं०) भाषा-विज्ञान में प्राकृत से दो आशय लिये गये हैं :—
(१) बोलचाल की भाषा जिसका किसी प्रान्त में प्रचार हो, या रहा हो; प्रकृति से उत्पन्न या प्रकृतिसम्बन्धिनी; स्वाभाविक, नैसर्गिक भाषा।
(२) एक प्राचीन साहित्य-भाषा जिसका प्रचार पुरातनकाल में भारत में था। यह प्राचीन संस्कृत-नाटकों में कई भिन्न भिन्न रूपों में पाई जाती है और स्त्रियों और साधारण श्रेणी के पात्रों द्वारा बोली जाती है। भारत की आधुनिक प्रान्तीय भाषाएँ पहले की बोल-चाल की प्राकृतों से बनी हैं। प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राकृतों के कई भेद माने हैं, जिनमें छः प्रधान हैं :—महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पाली और अपभ्रंश। इनके उपरान्त शकारी, चांडाली, आभीरी, ढक्की, द्राविड़ी, और पैशाची, चूलिका पैशाची इत्यादि अनेक विभाषाएँ प्राकृतों के भेद प्रचलित थे। महाराष्ट्री प्रकृष्ट प्राकृत समझी जाकर साहित्य में अधिक प्रयुक्त हुई। हेमचन्द्र प्राकृतों का प्रधान वैयाकरण है।

संस्कृत = परिमार्जित और संस्कार की हुई आर्यों की प्राचीन साहित्य-प्रयुक्त भाषा, जो कभी बोली जाती थी, परन्तु अन्त में साहित्य-स्थिर होगई। यह भाषा वेदों की भाषा से भिन्न है। वेदों की संस्कृत सबसे प्राचीन बोल-चाल की संस्कृत का रूप है जो पीछे से संस्कृत होकर पाणिनि और यास्क के हाथों व्याकरण-नियम-बद्ध होगई। यह व्याकरणबद्ध तब हुई थी जब भारतीय-इतर अनार्य द्राविड़ादि भाषाओं का इस पर दूषित प्रभाव पड़ने लगा था। उन्हीं के दूषित मिश्रण से बचाने के लिए यह प्रयास था। अतएव संस्कृत नाम पड़ा।

भारती = (सं०) = सरस्वती, वाणी ।

रसदायिनी = (सं०) = आनन्ददायिनी ।

रसदायिनी......भूमि सम = इसी प्रकार का भाव जगन्नाथ पंडित-राज ने 'भामिनि-विलास' में 'यवनी' के वर्णन में लिखा है: —
उदा० "यवनी नवनीतकोमलांगी शयनीये यदि नीयते कदाचित् अवनीतलमपि साधुमन्ये........."

नोट—इस दो० में कवि ने, "भाव अनूठे चाहिएँ भाषा कोऊ होय" वाले सिद्धान्त का प्रकाश किया है । भाषा कैसी ही क्यों न हो, परन्तु उसमें रसपूर्ण काव्यमयी भावनाओं का समावेश होना चाहिए, तभी उस कृति को काव्य कह सकते हैं ।

अलंकार—उदाहरण ।

दो० २९८—

करणि = (सं० करणीय) = करतूत, काम ।
उदा० (१) अपने मुख तुम आपनि करनी, बार अनेक भाँति बहु बरनी । (तुलसी)
(२) देखो करनी कमल की जल सों कीन्हों हेत । (सूर)

प्रामिस्यौ (डिं०) = (सं० प्राप्स्यसि,) पाओगे, पा सकोगे । गुजराती में शब्द के मध्यवर्त्ती 'व' का 'म' उच्चारण होता है, जैसे :—डिं० पावणौ, गुज० पामणुँ ।

ओछे (डिं०) = न्यून, कम, कमती । उदा० "ओछे बड़े न ह्वै सकै, लगि सतरौहैं बैन ।" (बिहारी)

इओ (डिं०) = (सं० इतः) = इससे, इतने से ।

दो० २६६—

ज्योतिषी=(सं०) ग्रहों, नक्षत्रों, शकुनों आदि का मनुष्य पर प्रभाव जाननेवाला; दैवज्ञ।

वैद=आयुर्वेदान्तर्गत वैद्यक-शास्त्र का ज्ञाता और अनुभवी वैद्य।

पौराणिक=पुराणवेत्ता; पौराणिक गाथाओं का जाननेवाला।

जोगी, संगीती तारकिक=योगशास्त्र, संगीतशास्त्र और तर्कशास्त्र—इन सब का ज्ञान रखनेवाला।

भाखाचित्र=भाषा का चमत्कार उत्पादन करनेवाला, चतुर कवि; शब्दालंकार, अर्थालङ्कार और चित्रालंकार के प्रयोग में निष्णात कवि।

भाट=एक जाति का नाम जो राजाओं का यश-वर्णन और कविता करती हैं। इनकी अनेक जातियाँ हैं।

चारण=राजपूताने की एक काव्य-प्रिय जाति-विशेष। चारण लोग अपने आपको राजपूत कहते हैं। इनका व्यवसाय राजाओं की ख्यात लिखना और गुणगान करना है। हिन्दी में चारण-काव्य का बड़ा महत्व है। चंदबरदाई श्रेष्ठ चारण कवि होगये हैं। प्राय: प्रत्येक राजपूत राज्य में राज्याश्रित चारण कवि नियुक्त रहते हैं।

एकठा (डिं०)=(सं० एक+स्था) हिं० इकट्ठा=एकत्रित।

नोट—"वेलि" का अर्थ समझने के लिए वास्तव में पाठक को अनेक शास्त्रों का ज्ञान और अनुभव होना अत्यावश्यक है। यह केवल कवि की आत्मश्लाघापूर्ण उक्ति नहीं है; बल्कि सत्य है। हमने नोटों के पूर्वांश में जहाँ तहाँ जिन जिन शास्त्रों का उल्लेख और प्रसंग आया है, व्याख्या करने की चेष्टा की है। कवि ने इस दोहे में जितने शास्त्रों के ज्ञान का होना

वेलि-पाठक के लिए आवश्यक बताया है, प्रायः उन सबका आन्तरिक प्रसंग कहीं न कहीं वेलि में आ चुका है। विशेष स्थल के लिए पाठक नोट देखें।

दो० ३००—

ऊग्रहिया (डिं०) = (सं० उत् + ग्रहीत या उदगिलित) = उगल दिया; वापिस निकाल कर बाहर कर दिया।

मोटाँ = (हिं० मोटा) = मोटे पुरुषों का, प्रतिष्ठित पुरुषों का। उदा० "मोटो दसकंधर सो न दूबर विभीषण सो।" (तुलसी)

ऐठौ (डिं०) = झूठा, उच्छिष्ट, स्पर्श किया हुआ, एक बार उपभोग किया हुआ।

आतम सम = (सं० आत्मसम) = अपने समान।

गिणि = (हिं० गनि) = सोचकर, समझकर।

प्रसाद = (सं०) = वह वस्तु या पदार्थ जो देवता या बड़े आदमी को भेंट की जाय या चढ़ाई जाय और वह प्रसन्न होकर उसे पुनः अपने भक्तों या सेवकों में बाँट दे।

उदा० यह मैं तो ही में लखी भक्ति अपूरब बाल।
लहि प्रसाद माला जु भो, तन कदम्ब की डाल। (बिहारी)

नोट—जिन लोगों को वेलि के उत्तरांश में कवि की आत्मश्लाघा और मिथ्याभिमान पर आपत्ति होती हो, वे इस दो० की कवि की विनयोक्ति पर मनन करें। नम्रता और विनयशीलता की पराकाष्ठा है। इस 'वेलि' की सफलता अथवा रचना का गौरव कवि अपना न समझ कर, "ग्रहिया......ऊग्रहिया" और "मोटाँ तणौ प्रसाद" समझते हैं। आलोचकों की शंकाओं का पूर्णतः परिहार हो जाता है।

अलंकार = उल्लेख।

दो० ३०१—

हालिया (डिं०) = चले। देखो पूर्व प्रयोग दो० ३७ में।

अम्हीणा (डिं०) = (सं० आत्मानकं = प्रा० अम्हाणअं या अस्माकं = प्रा० अम्हाअं) = हमारा। देखो दो० ६९ में नोट।

तम्हीणै (डिं०) = "अम्हीणा" के साथ मिथ्या-सादृश्य false analogy के प्राकृतिक भाषाशास्त्र-नियम के अनुसार—"तम्हीणा" बना = तुम्हारे।

मो (डिं०) = (सं० मम, मे) मेरा, मेरी। उदा० "मो संपति यदुपति सदा, विपति विदारनहार।" (बिहारी)

वीनती (डिं०) = (सं० विनय) हिं० बिनती = विनयपूर्वक निवेदन। उदा० "विनती करत मरत हौं लाज।"

सदोख = (सं० सदोष)—दोषयुक्त, अपूर्ण।

नोट—कवि ने विनय की पराकाष्ठा कर दी है।

अलंकार = समासोक्ति

रूपक—"श्रवणतीरथे" में।

दो० ३०२—

रहसि-रस = (सं०) रहस्य—एकान्त में की हुई केलि का आनन्द। रहस्य—एकान्त के अर्थ में हिन्दी संस्कृत में बहुधा प्रयुक्त होता है।

उदा० "मिले रहस चाहिय भा दूना" (जायसी)।

तासु = (हिं०) = उसके [सं० ता (सर्व० स्त्री) + सु, विभक्तिचिह्न षष्ठी] हिन्दीकाव्य में "तासु" का बहुतायत से प्रयोग होता है।

महे (डिं०) = (सं० मध्ये) प्रा० मज्झे, महे, हिं० मँह = में, अन्दर।

तेम (डिं०) = हिं० तिमि। गुज० तेम। उदा० तिमि तुम्हार आगमन सुनि, भये नृपति बलहीन। (तुलसी)

रस = (सं०) कामकेलि, कामक्रीड़ा। इस अर्थ में हिन्दी में प्रयोग देखो, उदा० "दलित कपोल रद ललित अधर रुचि रसना रसनि रस रस में रिसाति है।" (केशव)

सरसै (डिं०) = (सं० सरस्वती) प्रा० सरस्सई।

नोट—कवि ने पाठकों के मन में सम्भाव्य इस सन्देह को दूर करने की चेष्टा की है कि जगन्माता और जगत्पिता श्रीरुक्मिणी कृष्ण का अनुचित शृंगार वर्णन करके उसने अपराध किया है। अतएव कवि ने सरस्वती की शरण ली है। कवि का कुछ अपराध हुआ या न हुआ, यह तो रसज्ञ जानें। परन्तु यदि कल्पना से किसी दोष का परिहार हो सकता है, तब तो यह अच्छी दलील है।

दो० ३०३—

कुण (डिं०) = "कवण" का भी पूर्व-प्रयोग कई बार हुआ है। राजस्थानी बोल-चाल में 'कुण' का ख़ूब प्रयोग होता है।

क्रम (डिं०) = (सं० कर्म) उदा० "भूंडा क्रम भागीरथी" (पृथ्वीराज)।

भलौ = (सं० भद्र। प्रा० भल्ल) = हिं० भला = हितकर, अच्छा।
उदा० "एकहि भाँति भलेहि भल मोरा"। (तुलसी)

भूँडौ (डिं०) = राजस्थानी देशीय शब्द = ख़राब, अनिष्टकर।
उदा० "भूँडौ जकौ हमीणौ भाग।" (पृथ्वीराज)

माहरो (डिं०) = मेरे, हमारे। उदा० "माहरे सदा ताहरी माहब। रजा सजा सिर ऊपर राम"॥ (पृथ्वीराज)

अलंकार = काकु वक्रोक्ति। पूर्वार्द्ध में।

दो० ३०२ में वेलि-निर्माण में सरस्वती ने कवि को जो सहायता दी है, उसी के प्रति धन्यवाद के भाव कवि ने इस दो० के उत्तरार्द्ध में व्यक्त किये हैं।

दो० ३०४—

कहिवा (डिं०)=इस शब्द का स्वरूप अवधी रूप से मिलता है। तुलसी में ऐसे बहुत प्रयोग हैं।=कहने के वास्ते।

सामरथीक (डिं०)=(सं० समर्थ + अक (प्रत्यय)=सामर्थ्यवान्।

जाइ (डिं०)=(सं० यानि) प्रा० जाणि=जितने (गुणों) को। देखो प्रयोग दो० १०४ में।

तिसा (डिं०)=(सं० तादृशा) प्रा० ताइसा। हिं० तैसा - वैसे ही अर्थात् उतने ही। यह शब्द 'जाइ' के आपेक्षिक 'ताइ' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। डिं० जाइ-ताइ; जिसा-तिसा।

जम्पिया (डिं०)=(सं० जल्पिता) प्रा० जम्पिया, जम्पिदा, जम्पिआ= बके हैं, कहे हैं, भद्दे ढङ्ग से कहे हैं। विनयोक्ति है।
उदा० "जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि, सठ विलोकु मम बाहु" (तुलसी)

राणी=(सं० राज्ञी) (हिं० रानी) प्रा० रण्णी।
गोविँदराणी=भगवान् गोविन्द-कृष्ण की रानी=रुक्मणी।

दो० ३०५—

अचल=पर्वत। पुराणानुसार पर्वत असंख्य हैं। परन्तु प्रधान पर्वतों की संख्या सात मानी जाती है। वे सात प्रसिद्ध पर्वत ये हैं—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, रिच, विन्ध्य और पारिपात्र। अतएव ७ की संख्या हुई।

गुण = गुण तीन हैं। सत्त्व, रज, तम। अतएव ३ संख्या।

अंग = वेदाङ्ग से आशय है। वेदाङ्ग छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष। अतएव ६ की संख्या।

ससी = चन्द्रमा एक संख्याद्योतक है।

नोट—काव्य में संवत् की संख्याएँ उलटी लगाई जाती हैं। यह काव्य-प्रथा है। अतएव ७३६१ का उलटा १६३७ संवत् हुआ।

तवियौ = (डिं०) = (सं० स्तवन) प्रा० तवण = स्तुति की।

कंठ करि (डिं० मुहा०) = कंठ करना, कंठस्थ करना। हिन्दी में भी मुहाविरा है।

पामै (डिं०) = हिं० पावै गुज० पामै = पावै, पाता है। "प्रामै" का पूर्व प्रयोग हुआ है।

———

डिंगल शब्दकोष

शब्द-कोष ।

अ

अंक भरि	आलिंगन करके २५१
अंकमाल्	आलिंगन, अँकवार १४३, १६९
अंकुर	कोंपल २२८
अंग	वेदांग २८, शरीर के अंग ९६, २६१, २६३, २६९, छः संख्यासूचक ३०५
अंगण	आँगन १५९
अंगणि	आँगन में १८, २३५, भूमि १२२,
अंगणि	अंगनायें, स्त्रियाँ १५५
अंगि	अंगों में, शरीर में १८, १०१,
अंगुली	अंगुली से ८४
अंचला	आँचल, गँठजोड़ा १५८
अँतर	विभेद ९४
अंतरजामी	अन्तर्यामी, घट घट की बात जाननेवाला ५४, ६४
अंतरि	में १५९, १७१
अन्तरिख	आकाश १०६, ऊँचा स्थान हिँडोला इत्यादि २९७, अभ्यन्तर ९१
अन्तरै	बाद १६९, बीच में १११

अँतहकरण	अन्त:करण, हृदय के भाव १७२
अंतहपुरि	अन्त:पुर में ५२
अंति	अन्त में १७४, २०७
अंधारी	कुंभस्थल का आवरण ९०
अंब	आम के पेड़ ५०, २२२, २३९, २४७
अंब	माता ७९
अंबर	आकाश ८५
अंबरि	आकाश में १९३
अंबह	आम्र वृक्ष २२३
अंबहर	आकाश वृक्ष १९४
अंबहरि	आकाश में १४
अंबि	आम्र में ५०
अंबिका	अंबिका देवी ७९, १०८
अंबिकालय	अंबिका देवी का मंदिर ६६
अँबु	पानी ३४
अंबुज	कमल २३३
अउर	और २२२
अकरण	असंभाव्य, अघटनीय १३७
अकास	आकाश १४४
अकीधै	बिना किये, नहीं किये हुए २२८
अक्खर	अक्षर २९२
अखरावलि	अक्षरसमूह, अनश्वर वस्तु-समूह, २९३
अखित	अक्षत, चावल, लाजा १४२
अखियात	स्तुत्य, आश्चर्यजनक १३३
अगनि	अग्नि में ६०, अग्नि १५३, २२५
अगर	एक सुगंधित द्रव्य १५३

अँतहकरण	अन्त:करण, हृदय के भाव १७२
अंतहपुरि	अन्त:पुर में ५२
अंति	अन्त में १७४, २०७
अंधारी	कुंभस्थल का आवरण ६०
अंब	आम के पेड़ ५०, २२२, २३६, २४७
अंब	माता ७६
अंबर	आकाश ८५
अंबरि	आकाश में १६३
अंबह	आम्र वृक्ष २२३
अंबहर	आकाश वृक्ष १६४
अंबहरि	आकाश में १४
अंबि	आम्र में ५०
अंबिका	अंबिका देवी ७६, १०८
अंबिकालय	अंबिका देवी का मंदिर ६६
अँबु	पानी ३४
अंबुज	कमल २३३
अउर	और २२२
अकरण	असंभाव्य, अघटनीय १३७
अकास	आकाश १४४
अकीधै	बिना किये, नहीं किये हुए २२८
अक्खर	अक्षर २६२
अखरावलि	अक्षरसमूह, अनश्वर वस्तु-समूह, २६३
अखित	अक्षत, चावल, लाजा १४२
अखियात	स्तुत्य, आश्चर्यजनक १३३
अगनि	अग्नि में ६०, अग्नि १५३, २२५
अगर	एक सुगंधित द्रव्य १५३

अग्रज	बड़ा भाई १३५, १३६
अग्रि	आगे ९८
अचंभ	आश्चर्यजनक ३९
अचिरज	आश्चर्य ७३, ७८, १८८
अचल	पर्वत, सात संख्यासूचक ३०५
अछेह	निरन्तर, अधिक १५३
अजहुँ	अभी तक २२८
अजु	जो, और जो २३३
अजे	अभी (तक) १२३
अटत	घूमता है १६५
अणमारिवा	नहीं मारना १३३
अणियाला	अनीदार, तीक्ष्ण ८६
अणी	नोक १३१
अतारू	तैरना नहीं जाननेवाला २९०
अति	बहुत, १०, १९, २२ इत्यादि
अत्रिपत	अतृप्त १७०
अदरसणि	अदर्शन (हो रहा है) २११
अदिठ	अदृष्ट, जो कभी देखा नहीं १७३
अधम	नीच ३००
अधिकार	योग्यता, गति, आधिपत्य २८
अधोअधि	आधे आध, बीचोंबीच, ठीक मध्य में ८५
अध्यातम	आध्यात्मिक, आत्म-संबंधी ताप २८५
अनंग	कामदेव २६९, प्रद्युम्न का नाम २७४
अनँत	अनन्त, बहुत २८
अनँत	विष्णु, कृष्ण १२१, २८

अनड़	पर्वत १९६
अनाहत	अनहद नाद १८४
अनि	और, दूसरे १३, ४२, ७७, १६४, भिन्न १६०
अनिरुध	अनिरुद्ध, कृष्ण के पौत्र का नाम २७१
अनै	और ११, ६५, १२१, १६६, २१६, ३०३
अन्नथा	अन्यथा, और तरह १३७,
अबल़	अवली, पंक्ति १०१
अबीरमई	अबीरमय १४५
अभिन	अभिन्न, एक ही १४८
अमरावती	इन्द्रपुरी ५१
अमिल़ी	नहीं मिले हुए १७१
अमाप	असीम, मापरहित १६८
अरक	सूर्य ११५, २२५
अरगजौ	अरगजा १०२
अरजुन	बाँस, सोना चाँदी १५३
अरणी	अग्नि उत्पन्न करनेवाले दो काष्ठ-खंड १५३
अरथ	मतलब, अर्थ ६७, २२१, २९१, २९८, २९९
अरथ	मनोरथ ७३
अरध	आधा ९३
अरपण	अर्पण, देना १३९
अरपण कीधे	दिये हुए, लगाए हुए, १३९
अरि	शत्रु १११

अरु	और २८२
अरुण	लाल १६
अरुणोद	अरुणोदय १६
अलंक्रित	सुसज्जित १९२
अलक	केश, अलकें ८९
अलगी	दूर ११६
अलल	बहुत से आला दर्जे के ११३
अवर	और, दूसरे ६०, ७६, २७३
अवलंबि	सहारा लेकर, पकड़कर १६७
अवसरि	समय २६९, भीतर २६९
अवसर	महफ़िल २४३
अवलंब	सहारा १७७
असंत	दुष्ट २४९
असंधे	जुदा हुए १६४
अस	अश्व, घोड़े १११, ११४
असरण	जिसकी कोई शरण न हो ५८
असुभकारियौ	जनता का अहित चाहनेवाले १२०
असै-असड़	असती, कुलटा १८६, २९६
अश्रुत	अश्रुतपूर्व १७३
अहि	शेषनाग १०, २७२
अहिमकर	सूर्य २२२
अहीर	ग्वाल, गुवाल १३०
अहीराँ	अहीर जाति के लोग, गुवालों के ३२
अहोनिसि	दिन रात १६४, २२५, २६६, २९२
अह्म	हमारे ६०
अह्मां	हमारे ३१

अह्मीणा	हमारे ३०१
अह्मीणो	हमारा ६९

आ

आंगणि	आंगन में २४६
आँसू	अश्रु, आँसू ४३
आ	यह (स्त्री०) ५१, ६६, १२३
आइयौ	आया, आगया ६५
आइस	आज्ञा ३६
आइस्यै	आज्ञा १०४
आउध	आयुध १३१, १३[illegible]
आउधि	युद्ध में १३३
आदेस	आज्ञा १३६
आकरषण	आकर्षण, काम का एक बाण १०९
आकृति	आकृतिवाले, शकल के १२२
आखर	अक्षर ३००
आखाढसिध	युद्धभूमि में सिद्धहस्त ७४
आखै	कहता है ७९, १३५
आगम	{ आगमन १४१ धर्म शास्त्र २९४
आगमन	आना १६६
आगमि	आगमन पर ३८
आगलि	आगे, सामने १८, ८३

आगलै	आगे १५६
आगै	आगे, पहले, सामने ७८, १६६
आचरताँ	आचरण करते हुए, आचरण करने से, २८३
आजाति	आते हुए १७१
आडँग	वर्षा का आसार ११७
आडा	बीच में ६६
आडो अड़ि	तिरछा होकर १३०
आणँद	आनन्द ५७,१६८,२३५
आणँदमई	आनन्दमई २१४
आणाँ	अन्यत्र २६०
आणी	लाई १६७
आणे	लाये, एकत्र किये ६२
आणै	लावे ६०
आतपत्र	छत्र १५४
आतम	आत्मा ३००
आतमा	आत्मा २७६
आतिथ	आतिथ्य ५४
आतुर	उत्कंठायुक्त १६३,१६६
आतुरी	व्याकुल ६५
आदरस	आदर्श, शीशा ८३
आदरी	अंगीकार की ३
आद्र—आर्द्र	आर्द्र, गीला १५३, १६३
आद्रा	आर्द्रा नक्षत्र १६३
आधिदेव	आधिदैविक २८५
आधिभूतक	आधिभौतिक २८५

आधोफरै	छज्जों से २०३
आप	अपना ८७, स्वयं २११
आप आप में	परस्पर २२१
आपड़े	आ करके १३०
आपणै	अपने २११
आप पर	परस्पर ७७
आपाणा	अपना २६९
आपिवा	देने के लिए १४३
आपे	देकर १६९
आपो आप सूं	स्वयमेव, मन ही मन ५३
आभ	आकाश २०२
आभरण	गहने १०१
आमहो सामुहै	आमने सामने ११७
आयाँ थई	आने पर २१६
आयै	आये, आने पर आने से ८८
आयौ	आया ८८
आरँभ	शुरू ३, शुरूआत १७३
आरँभि	शुरू में १५६
आरँभिया	शुरू किये ८०
आरणि	लोहार के ऐरण पर १३२
आरात	पास ६६
आरि	झिल्ली २४४
आरोपित	धारण किया हुआ ९४, लगी हुई १५५
आलाप	मधुर शब्द ५०
आलि	सखी १५९

आली	सखी ८३
आलूदा	बने ठने, सजे हुए ११३
आलोचै	विचार करता है ५३
आलोज	मन के भाव ६४
आलोजि	विचार से, विचार में १३३
आवतौ	आता हुआ ५४, आता है १७
आवरित	आवृत, वंद ९२, ढका हुआ १०३
आवासि	भवन में ७८
आविसि	आऊँगी ६६
आवूं	आऊँ ७९
आवै	आती है १८
आसन्नो	निकट ७१
आसाढ	आषाढ़ महीना १९०
आसोज	आश्विन महीना २०८
आहरण	आभरण, गहने १८९
आहुटि	आहट पर १६५
इंद्र	इन्द्र, प्रभु ४५
इँद्री	इंद्रिय २८०
इंधण	ईंधन १५३
इ	ही ३६
इ	पादपूर्त्यर्थ ३२,१८३
इअे	इससे २९८
इक	एक ९९
इणि-इण	इस ५६,१०३,१५६
इतरै	इतने में ८३
इता	इतने ३२

इते	इतने २६८
इभ	हाथी ६०
इम-इमि	ऐसे ३१,५१,६६,७६,१०३,१६४। १८१,२१३,२८२
इल्-इलि्	इला, पृथ्वी २३५,२६४
इवड़ी	इतनी, ऐसी ७०
इवड़ा	ऐसे २८८
इसी	ऐसी ३१
इसै	ऐसे ६८
इहाँ	यहाँ ६

ई

ई	यही, ही ३६, १४६,१६०,२६७
ईंट	ईंट ३६,१६२, २०४
ईए	इसी ने, इसने २३७
ईखे	देखकर ३०

उ

उघट	ताल देनेवाला २४४
उच	कहा जाता है २१

उजाथर	उजागर, धीर वीर ७४
उजुयाळी	उजियाली २११
उठी	उत्पन्न हुई १४०, १८४
उडीयण	उडुगण, तारे १४
उतमंग	सिर पर ८५
उतर	उत्तर दिशा २६१
उतामळा	उतावले, शीघ्रतायुक्त १४०
उतारि	उतार कर, करके १४७
उतारे	उतार दिये, रख दिये ६५
उदगिरति	उगलती है २०६
उदभिज	वनस्पति सृष्टि, वृक्ष लतादि २४६
उदरि	उदर में ६
उदित	प्रकाशित १०१
उदौ	प्रकट हुआ २२
उनमादक	उन्मत्त बनानेवाला, काम का एक बाण १०६
उपंगी	नसतरंग बाजा बजानेवाला २४४
उपचार	इलाज २८४
उभै-उभय	दो, दोनों २६४
उरप	नृत्य का एक भेद २४६
उरस्थळ	हृदयस्थल ६४
उरि	हृदय में १४०
उलझाया	गुम्फित किया २२१
उवरि	हृदय में, (उदर में) २७६
उषध-उखध	ओषधि २८४
उहास	उजास, प्रकाश २२

ऊ

ऊँच ऊँचा १२५
ऊँचा ऊँचे, लंबे २४२
ऊंधा उलटे, उलटे हुए १२२
ऊकसै उठते हैं १२१
ऊखधी ओषधियाँ २०७
ऊखापति उषा के पति, अनिरुद्ध का नाम २७१
ऊखवतै उखेलते हुए, तेज़ी से दौड़ाते हुए ११६
ऊखेलि उखाड़ कर २५०
ऊगि उदय होकर १८५
ऊगलित उगला हुआ २६४
ऊग्रहिया उगल दिया ३००
ऊघसत घसता हुआ २६३
ऊछजतै { उठाई जाती हुई १२६ / तैयार किये जाते हुए }
ऊछलै उछलता है १२५
ऊछव उत्सव ३८, १४२
ऊजम उद्यम, कामकाज १६३
ऊजल उजली १६५
ऊजलियाँ उजली १२०
ऊजलें उजली वस्तुएँ २११
ऊजास प्रकाश २११
ऊठिया उठे ५४
ऊडण उड़ने के लिए २२६

ऊतर-उत्तर	उत्तर दिशा २१७, २२२, २४६
ऊतरतौ	उतरता हुआ } २५६ फाँदता हुआ }
ऊतरि	उतर कर ८३
ऊथापिया	दूर किया, पदच्युत किया २४६
ऊधरी	उद्धार की गई ६१, ६३
ऊधसता	रगड़ कर चलते हुए २०३
ऊपजै	उत्पन्न होता है २८१
ऊपड़ी	उठी ११५, १६३
ऊपनी	उत्पन्न हुई २६
ऊपनौ	उत्पन्न हुआ १६८
ऊपरि	ऊपर २७,११८
ऊफणियो	उफना, क्रुद्ध हुआ ३४
ऊभा	खड़े हुए ७८,
ऊभी	खड़ी हुई १६५, खड़ी १६७
ऊरध	ऊपर को उठनेवाला २१
ऊवड़ियौ	उमड़ा १२०

ए

ए	ये १ यह १३,५१,७२,१३३,१३५ २६४,२७६,२६७
एकन्त	एकान्त में १७३
एक	एक ही, अकेले ७४

एकठा	एकत्र २९९
एकण	एक को २६६
एकणि	एक (से) ८४
एकत्र	इकट्ठे २९३
एकसंथ	एकमत, एक रीति का अनुसरण करने-वाले ८
एका	एक (से) २३३
एकाएक	एकाएक, सहसा १३०
एण	हरिण २४१, इस २६८
एणि	इस २३५, २३८, इसने २८३
एतला	इतनों को १८५, १८६
एम	इस प्रकार ५६, १३०, १४४, १४५, १५२
एरिसा	ऐसे ३०
एहवा	ऐसे ७४
एह	यह, इस १८, १९
एहवी	ऐसी १५, २०५, २०७
एहवौ	ऐसा ११५
एहिज	यही, इसी २१६
एही	यही १८९
एहु	इस (में) १८०

ऐ

ऐठित	उच्छिष्ट वस्तु ६०
ऐठौ	जूठा, उच्छिष्ट ३००

ओ

ओछे — कम होने पर २६८
ओछौ — कम, अधूरा २६८
ओटे — अटा पर, ऊँचा स्थान १३९, १५५
ओढण — ओढ़ने का वस्त्र २६७
ओपति — शोभा देता है २७
ओलाँडे — छोड़ कर, छोड़ दिया ३२

औ

औ — यह ६९, ७१, ७७
औछायो — छाया हुआ १४४
औझड़ै — शस्त्रप्रहार का शब्द करते हुए १२१

क

कंचुकी — काँचली नाम का छाती पर पहनने का एक वस्त्र ९०
कँठ, कंठ — कंठ, गला २०, ५७, ८४, ९१, १७६, ३०५
कंठसरी — कंठी ९१
कंठि — कंठ में २७९
कंत — पति २५६, २६६, २६८
कंता — कान्ता, पत्नी २६६

कंदरप	कन्दर्प, काम या अनिरुद्ध का एक नाम २७४
कंध	कन्धा १२४
कंपित	काँपता हुआ १५०
कंवलि	कम्मल में २१९
कइ	कब १४९
कई	कभी ७०
क	अथवा, मानों ९०
कच	कचा २३४
कजि	लिये ६०, ९७, २१६
कजि	कार्य २९४
कटकि	कटक, सेना १३८
कटि	कमर में २५, ९६
कठ	काठ २
कठचीत्र	काष्ठ में अंकित २
कठठी	आगे बढ़ी ११७
कठिण-कठिन	कठोर २४, २२९
कण	धान्य के कण १२८, मोती के दाने २९५
कणियर	कनेर का फूल २३७
कणाय	कनक से २१२
कथ	कथा, यश, ११, ७३, २९८
कनक	सुवर्ण १२
कनकबेलि	सुवर्ण की लता १२
कन्है	पास १७८
कपाट	दरवाज़ा ३९
कपिल	कपिला गाय ५९

कफ	कफ २८५
कबरी	वेणी ८५
कमलिणी	कमलिनी १७४
कमोदणि	कुमुदिनी २२
करंती	करती हुई को १८
करंबित	फूलों के गुच्छों से गुँथा ८५, २००
कर	करने को २५८
कर	लगान, टैक्स २५३
करषणि	कर्षण, खेंचा जाता हुआ २२०
करग	हाथ, पंजा, कराग्र २३
करगि	हाथ में १०२, २५४
करण	करनेवाले १३७, करने ८२
करणि	कर्णिकार २३६, २३७, करनेवाली २९१
करणि	करणी, कार्य २९८
करभ	कलभ, हाथी का बच्चा २६
करल	मुष्टि (से) ९६
करि	से ३०
करि	हाथ से २, ८७
करि	हाथ में ६, ५९, १४०
करि	करती हुई १२, करके ४९, १९५, समझकर २७७
करी	हाथी २४
करुणाकरण	करुणा करनेवाले ६३
करुणामै	करुणामय ६१
करे	करके ३

करेउ	किया, करके १४३
करेण	हाथ से १५९
करै	करता है ६,७
करौ	करो २९८
कल़	सुन्दर ९१
कल़कंठ	कोयल २२६
कल़कलि़या	चमके ११९
कलपबेलि	कल्पलता २९३
कल़पसि	दु:ख भोगता है २८९
कल़स	कलस, कुंभ ३८,४९
कल़सि	कुंभराशि में २२६
कल़ह	युद्ध ९०
कल़हि	युद्ध में ७४
कलि़	युद्ध में ११९, कलियुग २०८,२३१,२९३
कल़ी	कली १४,२१
कलुख	कलुष, पाप २०८
कवच	जिरहबख़्तर ९०
कवण	कौन २८३
कसटि	कष्ट के, प्रसव-वेदना के २३०
कहंति	कहते हैं ७२,२६५
कह	कोलाहल ४८
कहकहाहट	ज़ोर से हँसने का शब्द १७९
कहण	कथन, कहना ७, कहने १५०
कहणो आवै	कहने में आय १७३
कहि	कहा जाता था, प्रसिद्ध था ११
कहि	कह ३०३, कहकर २७२

कहिजै—कहीजै	कहा जाय ६६
कहिया	कहे ३०२
कहिवा	कहने को ३०४
कहिँसु	कहूँगा २७२
कहुँ	कहीं ४८
कहे	कहकर ५८, कहा १६६
कहेवा	कहने को, कहना ३
कहै	पठन करे २८१
काँ	के १२४
काँइ	क्या २८८
काँठलि	वर्तुलाकार घटा १९५
कांती	कांति २७६
कांपिया	कांपे १२०
का	के २७२
कायराँ	कायरों के १२०
कागल़	चिट्ठी ४३,५६,६७
काच	शीशा २३५
काचमै	शीशे का बना २३५
काज	लिये १८
काजल़	काजल, ४३,१९९
काजल़गिरि	काजलगिरि, एक काला पहाड़ १९९
काज	लिये ८०
काट	दोष ८७
काढे	निकाल दिये, निकाले ८७
कातिग	कार्त्तिक मास २१३,२१४
कादो	कीच, गार २०४

कामअँकुर	काम के अंकुर, चिह्न २१
कामणि	कामिनी, स्त्री २३
कामधेनुका	कामधेनु नामक गौ २९३
कामा	कामनायें २३६
कामागनि	कामाग्नि १६४
कामि	कामी, कामुक, भोगी १६४
कामिए	कामी लोगों के १८०
काया	शरीर २८४
कारणै	वास्ते ८२
कारियौ	करनेवालों के १२०
कारीगर	नग जड़नेवाला कारीगर १७५
काल़ाहणि	काली घटा, प्रलयकारी सैन्यदल ११७
कालिंद्री	कालिंदी, यमुना ८४
काल़ि	समय में २०७
काल़ी	काली १९५
किं	क्या २७२, २८९
किंकर	किंकर्त्तव्यविमूढ १९३
किंजल़क	पराग ९९, २३४
किंसुख	पलास का एक नाम, थोड़ा सुख २५६
कि	या ४, २७, ८४, ९०, १९१,४१
किउ	किया १३२,१३५
किण	किसने ६१
किणै	किसने ६२
किना, किनौ	या ५१,४१
किम	कैसे ४,१५०,

किमत्र (किं + अत्र)	कैसे यहाँ ९५
कियौ-किय	किया २,१८७
किरण	किरण, प्रकाश ४६,११९
किरि	मानो २,१२,१६
किरीटी	कुक्कुट १=१
किसी	कौन सी ३१
किसूं	कैसे, क्या ६४, ६६, २११
किसौ	कौन सा ५
किहि	किसी के २६५, १०२
की	संबन्धबोधक विभक्तिचिह्न ९२
कीजै	किया जाता है, करना चाहिए ८, ५०
कीध	की, किया ३६, ७०, १९३
कीधाँ	किये ७
कीर	शुक पक्षी ९९
कीरतन	यश का कीर्तन ७
कीरति	कीर्ति, यश ३, ९१, २७६
कुंत	भाले ११९
कुंद	एक फूल २६०
कुंदण	सोना ३८
कुंदणपुर	कुन्दनपुर १०,३८
कुंभ	कुंभस्थल (हाथी का) ९०
कुँअरि	कुमारी १३,१४
कुँअर	कुमार ११
कुकवि	बुरा कवि २९५
कुण	कौन ६, २९५

कुत्र	कहाँ ५५
कुमकुमै	गुलाब-जल से ८१, २०५
कुंआरमग	आकाश गंगा, शिशुमार चक्र ८५
कुलटा	कुलटा, असती १६३
कुलपांति	कुल श्रेणी ३१
कुल	कुल में १४
कुसल	कुशल में २८६
कुसथलो	द्वारिका में ७२,१४०
कुसुमायुध	कामदेव २७४
कुहकबाण	तोप ११८
कूंकूं	कुंकुम ८७
कूजति	कूजन २२९
कूजा	एक फूल २३७
केकाणाँ	घोड़े १२७
केतकी	एक फूल २६०
केतला	कितने, कितने ही ३७
केन	किससे ५५
केम	कैसे ७
केलि	कदली, केला, खेल, क्रीड़ा २५०
केवड़ा	एक फूल २६०
केवी	दुरात्मा, दूसरे, कई ७६
केसरि	केशर, पीत पराग २५७
केसरिया	केशर के-से रंग की पोशाक ११३
केसव	केशव, विष्णु ३०३
केसू	टेसू २३६
केहवो	कौनसा १८८

कोक	चकवा चकवी, रतिशास्त्र के आचार्य का नाम १८३
कोड़ि	करोड़ों २५०
कोपि	क्रुद्ध होकर ३४
कोरण	काले बादलों के किनारों पर के सफ़ेद बादलों की घटा ४१, १९५
क्रति	क्रीड़ा १२
क्रम	पैर १५८, कर्म २८३, लीलायें ३०३
क्रमि	चल कर १६६
क्रमि २	क्रम क्रम से, धीरे धीरे २२०
क्रमिया	चले १४३
क्रमियौ	पास गया ५२
क्रिगल	कवच ११३
क्रित-कृत	कृत, किया हुआ १३७। २४७ की गई, लिये १६५
कृतारथ	कृतार्थ, कृतकृत्य ५३
क्रितारथी	कृतार्थ, के लिए (कृत के अर्थ में) १६५ मनोरथ किये।
कृपण	क्षुद्र, दीन २८९
क्रिपा	कृपा २७६
कृस	कृश २१८
किसन-कृसन	कृष्ण ७, ३०, ७२
क्रिसा	कृश ९६
क्रीडंति	क्रीड़ा करता है ९९
क्रीड़ता	क्रीड़ा करते हुए १७४

ख

खंचे	खींचे १२८
खंजरीट	खंजन पत्ती २४५
खँति	उत्सुकता ६८
खंभ	स्तंभ २६
खगि	तलवार से २७८
खजूरि	एक पेड़ २४१
खट	छः २८
खट अंग	वेद के छः अंग २८
खल्	शत्रु २७८
खलाँ	शत्रुओं को १२७, १२८
खलाँह	दुष्टों को, शत्रुओं को १२४
खलै	खलिहान में १२८
खाडिया	गड़ा हुआ २५०
खाद्र	खड्डे १९३
खारी	कड़वा १२४
खिणांतरि	क्षणान्तर में १६१
खीण	क्षीण, कृश २५, २५६
खीर	दूध २०९
खुधा-षुधा	क्षुधा, भूख २३१
खुमरी	एक चिड़िया २४६
खुरसाण	सान देने का चक्का ८६
खेड़ि	चलाकर १११
खेड़ै	हाँकते हैं ६८

खेतिए	किसान १६३
खेत्र	क्षेत्र, रणक्षेत्र १२५,२७८

ग

गंग	गंगा २००
गंधवाह	हवा २६०
गई	अस्त हो गयी ४६
गजरा	गजरे (हाथ का एक गहना) ६३
गड़ड़ै	गड़गड़ाहट, गड़गड़ाता है १२०
गढ़	क़िला, दुर्ग ६३
गण	गण, समूह १८०
गति	चाल १६, १०५, १३६
गति	प्रकार ३७
गति	गम्यस्थान १११
गतिकार	गत लेनेवाला (संगीत में) २४५
गदगद	गद्गद ५७
गमै	भूले हुए, भग्न २१०
गय	हाथी २४१
गयण	गगन, आकाश ६
गया	गये हुए, नष्ट हुए हुए २६६
गरकाब	समाये हुए १०४
गरभ	गूदा २६, गर्भ २२६
गरभ	गर्भ में १५५
गरल	विष २६४

गलन्ती	गलती हुई, क्षीण होती हुई १८२
गलि	गल कर १६५
गलि	गला ८८, गले में २५१
गलिगलैं	गलेगले में २५६
गलित	बहाते हुए १०५
गलित्रागो	यज्ञोपवीतधारी, ब्राह्मण ४४
गलिबाहाँ	गलबाहीं २०१
गवरि	गौरी, पार्वती २६
गहमह	दीपकों की जगमगाहट ४६
गहवरिया	पत्र पुष्पों से भर गये २३८
गाइजै	गाइये, गाना चाहिए १
गाजँते	गर्जना से १२०
गाढ	गाढ़ापन, घनत्व १८७
गात्र	गात, शरीर १०५
गादरित	हरित २२८
गादी	गद्दी, आसन ८३
गानगर	गायक, गुंजार करनेवाले २५३
गारि	गार ३६,१६२
गालि	गाली २७७
गावण	गाने को २
गाहटतै	मथते हुए, अनाज मींड़ते हुए १२७
गिणि	जानकर, समझ कर १६,२०२
गिरोवर	गिरिवर, पर्वत १०५ (पर्वतों के समान)
गिलि	निगलकर २६४
गिलित	निगला हुआ ३००

गुंथित	गूँथा हुआ ८५
गुडन्ता	झूमते हुए, गिरते हुए १०५
गुण	डोरा, गुण मोती (मोती की एक जाति) ८१
गुण	गुण ६, १९, २२१, ३०४
गुणनिधि	गुण के ख़ज़ाने २
गुणमै	गुणमय, 'गुण मोती' ९८
गुणि	गुण के २६६
गुणी	गुणवान्, २२१
गुणे	गुणों के २६६
गुरु	गुरु १, ३५, माता पिता ३५, भारी २६०, ३५
गुहिर	गंभीर १९६
गूँथियै	गूँथा जाय, रचा जाय ८
गेहि	घर ३५
गै-गाय	हाथी १६७
गैगमणि-गयमणि	हाथी की सी चालवाली १६७
गैगहण	गहगहाने का (आकाश को गुंजाने का) गंभीर शब्द ११८
गो	गाय १८५, १८६
गोख-गौख	गौंखा, झरोखा २०४
गोखे-गौखे	झरोखे में ४२
गोघोष-गोघोख	गायों का बाड़ा १८५
गोर	गोरा ९२
ग्याति	ज्ञाति, जाति ३१
ग्यान	ज्ञान १५, २०८, २७९

ग्यौ	गया ५२
ग्रंथे	ग्रंथ में ३७
ग्रब	गर्व कर २६०
ग्रभ	गर्भ, भीतरी हिस्सा १६५
ग्रहगण	ग्रहावली ६६
ग्रहगति-गृहगति	ग्रहफल १३६
ग्रहणा	गहने १६७, २५१
ग्रहणे	गहने ने १८३, गहने २६६
ग्रहणौ	गहना २६७
ग्रहि-गृहि	घर में ५०, ६०
ग्रहित	लिया हुआ २६४
ग्रहि	ग्रहण करे २६५
ग्रहिया	पकड़ा, लिया २५४, ३००
ग्रहियौ	पकड़ा, लिया ८४, २६०
ग्रही	पकड़ी, ग्रहण की १८३
ग्रहीत-गृहीत	ग्रस्त, घिरा हुआ १५५
ग्रहे-गृहे	घरों में ४६
ग्राही	लेनेवाले २५३
गृह-	गृह ३६, १५६, २६७, २८३
गृहि	घर में, घर को १४७, २७६
गृहे	घर में २७३
ग्रीधणी	गिद्धनी १२८
ग्वालाँ	ग्वालों की ३१

घ

घंटिका	करधनी १७८

घटा	मेघघटा ११७
घटि	शरीर में १२५
घटै	कम होता है १८७
घड़ियाल्	घंटे का शब्द १८१
घड़ी	घड़ी, वेला १६९
घण	मेघ १९७
घण-घण	बहुत १६९, १७७
घणघोर	घनघोर ४०
घणसार	कपूर १५३
घणी	बहुत १०८,
घणूँ	अधिक ६६, २११
घणै	अधिक ३७, १०८, २११
घणौ	अधिक ९४
घराघरि	घर घर में २३२
घरि	घर में १६५, १६९
घाइ	घाव १२५
घाउ	घाव १२५
घात	षड्यंत्र ६६
घाति	डालकर १७७ । २०१
घुरै	बजते हैं ४०
घूंघट	घूँघट १७१
घूघरा	घूँघरू ९७
घेघूंचे	एक होगये २०१
घोख	शाला, बाड़ा १८५
घ्रित-घृत	घी १५३

च

चंचल़	चलायमान, चपल, गतिशील, १६४
चांडाल़	चांडाल ५६
चँडालि़	चांडाल २७७
चंद	ध्रुपद का एक भेद २४६
चंदण	चंदन ३६
चंद्रवा	चँदौवा १६०
चंदाणणि	चन्द्रवदनी ६७, १०६
चंपक	चम्पा ४६, २५०
चंपियौ	पकड़ा १५६
चमर	चमर २३६
चकडोल़	डोली, जनानी पालकी १०३
चकव	चकवा १८६
चक्र	विष्णु का एक आयुध ६४
चक्र	पहिया ८६, बगूला ११५, २४६
चक्रवाक	चकवा २४५
चख	नेत्र १७६
चड़ियै	चढ़ कर १२७
चड़ी	चढ़ी हुई १३६
चढतौ	चढ़ता हुआ १५
चढि	चढ़ कर १५५, २३८, २७८

चढिया	चढ़े, चढ़ाई की ७४
चढ्यौ	चढ़ा २२२
चतुर	चार २७५
चतुर जुग विधायक	चारों युगों के करनेवाले २७५
चतुरदस	चौदह (विद्या) २८
चतुरमुख	चारमुख वाले, ब्रह्मा २७५
चतुर वरण	चार वर्ण २७५
चतुरविध	चार प्रकार का २८४
चतुरातमक	कुशल बुद्धिवाला २७५
चत्र	चार २६३
चत्रभुज	चतुर्भुज ६४
चरणे	चरणों में ६७, चरणों से २४०
चलि	चलती हुई २३६
चलपत्र	पीपल ७१
चा-चाँ	का ३७, के २१५
चाचरि	युद्धभूमि में १२१
चात्रण	मारने के लिये २७८
चामांकर	सोना ६७
चारण	एक (कवि) जाति २६६
चारौ	भोजन, चारा १२८
चालणी	चलनी २६५
चालियौ	चला ४६
चालै	चलता है १२२
चाहि	उत्कंठापूर्वक, ओर १०६
चाहै	देखती है १३६,१५५
चिंतवती	सोचती ७०

चिड़	चिड़िया १२८
चितवणि	चितवन, देखना १०९
चित्र	चित्र कविता २९९
चित्र	चित्र १६०
चित्रण	चित्रित या अंकित करने २
चित्रसाळी	चित्रशाला १७९
चित्राम	चित्र की तरह, चित्रवत् ११४,२१४
चित्रारे-चीत्रारै	चित्रकार को २
चिहुरे	केशों से ८१
चीत्रंति	चित्र बनाती हैं २१४
चुंबित	खाये हुए २४०
चुणी	चुनी गई ३९
चुवण	चूना ८१
चै	के ८२
चोटियाळी	खुले केशोंवाली (योगिनियाँ) १२१
चै।-ची	का—की १२,६७,८७,१३३, १४८,१७३,
चौकि	चौक १७९
चौथी	चौथी ६४
चौथे	चौथी दफा १५६
चौंरी	चँवरी, विवाहमण्डप १५८
चौसठि	चौंसठ कलाएँ २८, चौसठ योगिनियाँ १२१
च्यारि	चार २८
च्यारे	चारों २७७

छ

छंडि — छोड़कर ६०, छोड़ो ६९
छंडियौ — छोड़ा १३४
छंडी — छोड़ी १८३
छछोहा — शीघ्रता से फव्वारे की तरह (छूटना) ८१
छत्रे — मंडपों से १४४
छबि — शोभा २१४
छलंति — छलता है २८७
छांह — छाया १८७
छाइजै — छाये जाते हैं ३८
छिंछ — फव्वारे १२५
छिणियै — क्षण भर ही १३४
छिपाड़ण — छिपाने के लिये १८
छींक — छींक ७०
छीणे — टूटने से ८१
छुडै — छूटता है २२०
छुद्रघंटिका — मेखला, करधनी १७८
छूटा — छूटे, गिरने लगे ८१
छूटी — छूटी, खुल गई १७८
छूटै — छूटने पर १५८
छेदण — छिन्न करने के लिए १३१
छेदै — काट देते हैं १३३

ज

जंगम	चलते फिरते, संन्यासी ४६
जंघ	जंघा २६
जंत्र	यंत्र, जंतर-मंतर २८७
जंप	शान्ति १७
जंपिया	कहे, वर्णन किये ३०४
जंपियौ	कहा ५१
जई	जब ६२, १५१
जग	जगत् २१५
	जगत् में २८२
जगतपति	जगत् के स्वामी ५४,२७०
जगति	द्वारिका में ४७, २१५
जगदीस	जगत्पति २७१
जगदीसर	जगदीश्वर ३०२
जगन	यज्ञ ५०
जगनि	यज्ञ में ५०
जगवासग	जगत् के निवास, जगत को बसानेवाले २७१
जगहथ	दिग्विजय २४२
जगि	जगत् में ७,२४२
जठरि	पेट में २६९

जड़	मूल १२४
जण	जानकर १७,सज्जन ७४, जन ७८
जण	लोग २५४
जणौ जणौ	जना जना ७८
जत्र	जहाँ ४५, २३७
जथाविधि-यथाविधि	विधिपूर्वक १५७
जद्यपि	यद्यपि १७०
जनम	जन्म ७
जनमियौ	जन्मा २३२
जनारजन	जनार्दन, विष्णु, कृष्ण २१६
जनेन	व्यक्ति द्वारा ५५
जपंत	जपते हुए २८५
जपंति	जपते हैं २८३, जपनें से २८४
जमण	यमुना २००
जमुण	यमुना ८५
जरासिंधु	जरासंध १४७
जल़	पानी २३, १२२, १३२, १९६, २२३, २५८
जल़ग्रभ	बादल, जलगर्भ १९५
जल़जाल़	जलधारा २०३
जल़जोर	ज्वार २३
जल़ण	अग्नि २२३
जल़द	बादल़ ४०
जल़दि	बादल में १९६
जल़धर	बादल २०१
जल़निधि	समुद्र १९६

जल़वाल़ा	बिजली १९६
जल़हरी	चंद्रमा की चौतर्फ कुंडली १०७
जल़ि	पानी में २०८, २२४, २८७
जवनिका	यवनिका २४८
जस	यश, ५, १२४
जसु	जिसका ३३
जाँ	जहाँ ५०
जाइ	जा ४५, जाने को १०४
जाइ	जिसको, ६८ जितने, जिनको ३०४
जाइ	जाता है ११२
जाग	यज्ञ २८९
जागरण	रात को जगना १८०
जागवै	प्रज्वलित की जाती है ५०
जागिया	जगे १६, २१६
जाग्रति	प्रकट होता, जगता १५
जाणगर	जाननेवाला, ज्ञाता, समझनेवाला २४४
जाणणहार	जाननेवाला ६७,१७३
जाणि	जानकर २८
जाणि	मानो २४,८१, १०७
जाणियै	जान पड़ता है २८३
जाणियौ	जाना ७०
जाणे	मानो ३, जानकर, १७
जाति	जाति, ज्ञाति ३१, जाते हुए, जाता है १७१
जाती	मालती फूल ९९, २३७
जात्र	यात्रा ७९

जादवाँ	यादवों के ४५
जान	बरात ४१
जामिए	योगी, योगाभ्यासी १८०
जाळी	जाली, झरोखा ४३
जाळै	जलाता है २२४
जावणहार	जानेवाला १७
जि	ही १५,१३३,१७३
जिका	जो २९
जिणि	जिसने, जिससे ५, ७, २६९
जित	जीते हुए २८०
जितइँद्री	जितेन्द्रिय २८०
जिम	जैसे ६९,७१
जिवड़ी	जीव को ९
जीपण	जीतने को ३
जीपि	जीत कर १३८
जीपिस्यै	जीतेंगे १२३
जीपे	जीत कर १४७
जीव	जीव १७, जीवित १३४
जीवि	जीवी, जीनेवाला १३४
जीवित	जीवन १८१
जीवितप्रिय	जीवनप्रिय १८१
जीह, जीहा	जिह्वा ५,७
जु	जो ३,६, १३३ इत्यादि
जुअळि	दोनों, युगल २६
जुग	युग २७५

जुगति	युक्ति १८६,२७६
जुड़िया	जुड़े २६६
जूं	बैलों पर का जूआ ८६
जूंसहरी	जूवे के सदृश ८६
जूजुआ	जुदा जुदा ७५
जूता	जुते हुए हैं ८६
जेठ	जेष्ठ मास १८६
जेणि	जिसने, जिससे २,३६
जेम	जैसे १३१
जेहड़ि	जैसी १६८
जेही	जैसा, जैसे १६६,१७०,२२०
जैदेव	जयदेव ८
जो	जो ६, यदि ५६
जोइ	जो ही, (स्त्री) ४०
जोग	योग ७६,१८४,२८६
जोगिणि	योगिनी ११७,१२२ वर्षा सूचक योग अथवा युद्ध की योगिनियाँ,
जोगिए	योगी २८८
जोगी	योगी २६६
जोगेसवर	योगीश्वर ७६
जोड़ि	जोड़कर ७८
ज्योतिख	ज्योतिष १४६
जोतिखी-ज्योतिषी	ज्योतिषी २६६
जोध	योद्धा १०४
जोवण	यौवन २३, १७
जोवनागमि	यौवनागमसमय २१८

जोर	शक्ति, बल २३
जोवणि	यौवन ने २४
जोवै	देखती है ४३,५०

झ

झंखर	झंखाड़, पुष्प-पत्रविहीन १९१
झड़	झड़ी १२१
झड़ण	झड़ने, टूट कर गिरने १४४
झरणि	झरना, निर्झर २६३
झल	ज्वाला १४०
झाँखाणा	कुम्हला गये १४०
झालरिए	झालर से १४४
झोलै	तरी को शुष्क करनेवाली वायु १९१

ट

टाल्यौ	टाला, दूर किया २५२

ठ

ठंठ	झंखाड़ वृत्त, ठूँठ २२६
ठरे	ठंढे, ठंढे होगये, ठंढे हुए २२६
ठाइ	ठौर, स्थान पर, २६२
ठाकुर	सरदार ११३
ठाहे	स्थान पर, बदले ११३

ड

डंक	डंक २५३
डफ	डफ, एक बाजा २२७
डर	भय २५८, २८७
डहकियौ	अंकुरित हुआ, डहडहा हुआ २२६
डाकिणि	डाकिनी २८७
डाल़	डाली २२८
डिगमिगि	डगमगाते हुए २५८
डेडराँ	मेंढकों के ५
डोर	रस्सी, डोरी, पाश २३

ढ

ढल़कावै	लटकाते हैं २४१
ढल़ि	ढलता है २३९
ढल़ियै	गिरते हैं १२१
ढालि	ढाल २४१
ढील	देरी ४५
ढूलड़ी	गुड़िया १३
ढेरवियाँ	रोक लीं ११६

त

तंडव	तांडवनृत्य ४०
तंति	तार के बाजे २४४

तंतिसर	तार के बाजों का स्वर २४४
तंतु	लतासूत्र २६२
तंत्र	मंत्र तंत्र २८७
तंबोल	तांबूल, पान ९९
तई	तब ६१, ६२
तट	नदी तट २००
तड़ि	पेड़ी २४२
तण	शरीर २५७
तणा	के, की २०८, २३, ९७, १२२, २१५, २५९, २६०, ३०३, ३०४
तणी	की ३, ३०३ इत्यादि
तणु	का १३२, १६१
तणु	देह १३२, २२५
तणै	के ५७, ५९
तणो, तणौ	का ७, २३, ५२ इत्यादि
तत	तत्त्व १, १८०
ततकाल्	फ़ौरन ६७, १५१
ततसार	सार तत्त्व १
तत्त	तत्त्व ७६
तथापि	तो भी ६५
तदि	तब १२३, १८३
तनि	शरीर में १५, २०५
तनुसार	काम या प्रद्युम्न का एक नाम २७४
तपत	जलते हुए, क्रुद्ध १३२
तपन	सूर्य १९०

तपि	तपकर १६०
तम	अंधकार २१२
तरणि	सूर्य २१२
तरतौ	पार करता हुआ २५६
तरळा	चंचल २४२
तरि	पेड़ पर २३२, २३३, पेड़ से २६३
तरि	तैर करके १२२
तरितरि	पेड़ पेड़ में २३२, पेड़ पेड़ पर २५६
तरुवरां	पेड़ों के २५१, २५२
तरुवर	पेड़ २४७
तरै	पार करे ६
तवति	स्तवति, गान करता है ६
तवियौ	गाया (स्तु) ३०५
तसु	उसका २६, ४३, १५६, २५७
तह	चेतना, होश ११०
त्याँ	वहाँ, उनके २७६
ताइ	उसको, ४ उसके, उनके ११ उसका १२
ताइ	वह, वही १३, ३०३
ताकि	देख कर १०४
ताटंक	कर्णफूल ८६
ताप	कष्ट, दुःख २८५
तार	नक्षत्र, प्रकाश २७
तारकिक	तार्किक, नैयायिक २६६

तपन	सूर्य १६०
तारू	तैराक ६
ताल	ताल (संगीत) २४४, २६१
ताल़	एक पेड़ २४२
ताल़	ताला १८५
तालधर	ताल देनेवाला २४४
तालि	समय १७७
तासु	उसका ५२
ताहरै	तेरे ४५
तिकरि (सं० तत्कृते)	के लिए १४३,२७६
तितरै	इतने ही में ४४
तिणि	उसने, उसको ५,५१,१६८ वह, उससे ८
तिणि	उस ७, ५७, १७७, १६२, २०१,२६७, २६६, इत्यादि
तिणि	तिससे, इसलिए ६४,२१२ इ०
तिमि	वैसे ७०,१०४ इ०
तिरप	नृत्य की एक ताल (त्रिसम) २४६
तिलक	टीका एक आभूषणविशेष ८७, ८८
तिसा	वैसे ३०४
तिहाँ	वहाँ २५३
तिहि	उसको २५६
तीरथ	तीर्थ, घाट ४६, १८६, २८६
तीरथे	तीर्थ में ३०१
तीवट	त्रिवट नामक ताल २४४
तुम्ह	तुमको ६०

तुम्हां	तुमको ६२
तुम्हांसूं	तुमसे, तुमको ६१
तुलता	तुलते हुए २१२
तुलसी	तुलसी ५९
तुलि	तुला राशि पर २१२
तुलिया	बराबर हुए २१२
तूं	तू ४, २९०, ३०३
तूंतणी	तेरी रुक्मिणी } ३०३
तूझ	तेरी ६, ५८
त्रूटो	टूटी १७८
ते	इसलिये २९०, अपने २१०
ते	वे ८, वह १७३
तेड़ि	बुलाकर १४९
तेणि	उससे ५४, जिससे १२२, उस १६०
तेही	तैसी, उस प्रकार १७७
तै	उसको ९५, १०३
तो-तौ	तो ७८, ७९, ९५, २९८
तोईज	तभी तो १२९
तोय	पानी २६३
तोरण	तोरण ४०, २३३
त्रिकाल	तीन काल १५१
त्रिकुट गढ़	लंका ६३
त्रिगुण	सत्व, रजस्, तमस् २१, २३१
त्रिगुण मै	तीन गुणयुक्त (शीतल, मंद, सुगंध वायु) २१

त्रिणि	तीन ६६
त्रिणे-तृणे	तृण, तिनके घास १९८
त्रिह्नि	तीन १५६
त्रिह्ने	तीनों १
त्रिपत	तृप्त, संतुष्ट १७०
त्रिभुवन	स्वर्ग, भूमि, पाताल १११
त्रिया	स्त्री ६५, १५७, १६३
त्रिबलि	पेट के तीन बल २५
त्रिविध	तीन प्रकार की २८५
त्रिस	प्यास २३१
त्री	स्त्री ८, १५४, १६९, ३०३
त्री वरणण	स्त्री का वर्णन ८
त्रूटंति	टूटती हुई; व्यतीत होती हुई १८१
त्रूटै	टूटता है १२४

थ

थंभ	थंभा, खंभा २०४
थंभि	बन्द होते हैं, ठहरते हैं १९५, रोको ६९
थई	हुई ४६, ७०, १७७, पर २१६
थका	होते हुए भी २१३
थकी	स्थित २२४
थण	स्तन २१८
थयौ-थयो	हुआ १९, २९

थलि	स्थल में, जगह में १९७
थाइ	होता है २८६
थाकौ	थक गया २७२
थाणौ	आलबाल, थाला २९१
थापे	रखकर, रखे १३७
थायै	होता है, होते हैं २१८, २६६
थाल	थाली, थाल २३५
थिउ	हुआ, हुई २५६
थिय	हुआ २३८
थिया	हुए १३६, २५१, २७०, २८८
थियौ	हुआ ५२, १८२, १८४, २२६
थिर	स्थिर १२७, २१४
थी	हुई २३६
थूल	मोटा २१८
थोके	बातों में १३७
थोड़	थोड़े २२८
थ्या	हुए १६६, १८८
थ्यौ	हुआ १६

द

दँड	दंड, सजा २५३, दंडे १४४
दई	दी १३५

दक्खिण, दखिण	दक्षिण १०,२१, २५६
दखिण	दक्षिण की पवन, मलयानिल २६१
दखिणानिल	दक्षिण की हवा २६१
दड़ड़	मेघगर्जन का शब्द १६६
दधि	समुद्र ६८ दही २३४
दरब	द्रव्य, वस्तु २३०
दरसणि-दरसण	दर्शन होने पर १४१, २२०
दरसे	दर्शन किये १०८
दल	पत्ता २७,४६,२६२
दल	शरीर के अवयव समूह २०,२७,४६
दलां	फ़ौजों का ११६
दलिद्र	दरिद्रता १४२
दस	दश ६
दहण	अग्नि २०८
दहन	जलाना १६१
दायिनी	देनेवाली २६७
दाखि	देखकर २५२
दाखै	देता है, दिखाता है २६६
दाट	संगीत का भाव-विशेष २४५
दाड़िमी	अनार का फल २४०
दाण	मद, दान, मदजल २४
दादुर	मेंढक १६८
दाहक	जलानेवाला २२३
दिखालिया	दिखलाया २४
दिणयर	दिनकर ने, सूर्य ने १८५

दिन	दिया, दी ५९, दिन को १४१
दियौ	दो १४९
दीठ	दिखाई दिया १११,१६३
दीठा	देखे १४०
दीठी	देखी १६८
दीठौ	देखा ९८
दीध	दिया, दी ७,६१,९०
दीध	देकर ४१
दीधा	दिये (जलाये) २५०
दीन्हा	दिये १५८
दीपगर	दीवट, फानूस २४७
दीपति	चमकता है, शोभित है १०
दीपमाला	दीपकों की माला १०१
दीपति	दीप्ति, प्रकाश २०८
दीपै	प्रकाश करता है १८२
दीसै	दिखाई देता है ४१, २४०
दीह	दिन ६६
दीह	दिन १८७
दीहां	दिनों में १६९
दुआरामती	द्वारामती, द्वारिका ५१
दुख	दुःख २५२
दुज	द्विज ४६, ७१
दुजि	द्विज ने १७३
दुतरणि	दुस्तर २२७
दुति	द्युति, कांति ९९, १४४
दुरग्रह	दुष्ट ग्रह २८६

देव	देवता, महाराज ५१
देवाधिदेव	देवताओं के प्रभु ५८
देवाळै	देवालय १०८
देवि	देवी १००
देवे	देवता ने १७३
देसपति	राजा ३७
देह नायक	देह का स्वामी २७५
देहरा	मंदिर १००, १०९
देहळी	देहली १६८
देहि	दे ४४
दैवग्य	ज्योतिषी १४९
दोख	दोष १५१
दोर	भुजा २३
द्रव	पिघलना १८७
द्रब	द्रव्य २५०
द्रवड़ित	फैली हुई १६३
द्रविण	द्रवित करनेवाला १०९
द्रिठ	दृष्टि १६३
द्रिठि	दृष्टि १६२, १३१
द्रोब	दूब १४२
द्वारि	दरवाज़े में १०९
द्वाळा	दोहले, दोहे (बेलि का छंद) २९२

ध

धजा	ध्वजा २५०

धड़	शिरहीन शरीर, कबंध १२१
धड़ि धड़ि	शरीर शरीर पर ११९
धण	स्त्री, पत्नी १४६, १९१, २००
धणी	पति, मालिक १९१, २००
धनंजय	धनंजय, अर्जुन २१६
धनी	धनवान् २१७
धबकि	चमकने लगीं ११९
धर	पृथ्वी ६८, १९३, २००, २०६
धर	धारण करनेवाला २००
धरम	धर्म १५०
धर सधर	पर्वत २३९
धरहरिया	जल प्लावित करने लगा १९५
धरा	पृथ्वी १८७, २०७
धरि	धारण करके ९, ८१, १७६
धरिया	धारण किये हुए ९५, धारण किये २०५
धरी	धारण की १०७
धरू	ध्रुपद २४६
धवळ	सफ़ेद ४१, १४६
	मांगलिक गीत ११३, १४६
धवळागिरि	धवलागिरि पर्वत, श्वेतपर्वत ४१
धवळहर	धरहरे, महल ४१, १४६
धवळित	सफ़ेद किया हुआ, स्वच्छ १४६
धसति	प्रवेश करती हुई १६८
धार	धारा ११९
धारॉं	धाराओं से १२०
धाराधर	बादल २००

धारूजल़	तलवार ११६
धारे	धाराओं से १६५
धारै	धारण करती है ६५
धावंति	दौड़ते हैं ६८
धावतौ	दौड़ता हुआ ४
धुड़ो	धूल, रज १६३
धुनि	ध्वनि, शब्द १७६, १८४
धूया	ध्रुवा रागिणी २४६
धूप	धूप, एक सुगंधित वस्तु १०२, सूर्यातप २२५
धूपणै	धूप देने के ८२
धूम	धुँआ ८७
धूसर	भूरे रंग का २६३
धोया	धोये हुए २०५
धौत	धुले हुए, श्वेत ८१
ध्रुगध्रगी	धकधकी (हृदय की) १७६
ध्रम	धर्म ५४
ध्रू	मुंड १०७, १२१
ध्रूमाल़ा	मुंडमाल १०७

न

न	नहीं ४, १०३

नई	नदी १४५
नखित्र	नक्षत्र, तारे ९३
नग	हीरे १०१, २४०
नड़	पर्वतीय नाले १९६
नद	आवाज़, शोर ४८
नदि	नदी १०६, १८७
नदिमै	नदीमय १९८
नभि	आकाश में २०८
नमे	झुककर ७३
नयण	नयन २०, २२
नयर	नगर ६६,४८
नयरे	नगर में २४९
नर	मनुष्य ३३, वीर ३५,
नरवर	नरश्रेष्ठ २७५
नरवरै	नरश्रेष्ठ के ११४
नरि	मनुष्यों में १८२
नरेस	राजा ७५
नळणी	नलिनी २२४
नळी	कपड़ा बुनने की नलिका १७१
नव	नया ५
नवग्रही	नवरतनी ९३
नवनवौ	नया नया ५
नवनवा	नये नये २१४
नवी	नई २०, २४, १२६
नवीनवी	नई नई २१४
नवै	नवों १५७

नवै	नये १६२
नह	नहीं ४६,७४,११०
नहि	नाथकर, बनाकर, रखकर ६२
नाँखी	डाली २४८
नाँखै	डालता है ६४
नायक	नायक, आचार्य २४३
नाँखिया	डाले २४०
नाग	नाग, साँप ३३, ६२, हाथी १०५
नागर	चतुर, नागरिकों की १४६
नाद	शब्द (अनहद नाद) २६८
नारि	स्त्री (रुक्मिणी) १७२
नालि	नलिका, बंदूक ११८
नालिकेर	नारियल २३४
नासफरिम	जिसकी आज्ञा भंग हो १८२
नासां	नथुने ११५
नासा	नासिका ६८
नाह	नहीं ३०
नाह	पति, नाथ, वर ३०
निंदा	चुगली, निंदा २७७
निउँछावरि	न्यौछावर में २४०
निकुटी	गढ़ी थीं, बनाई थीं ११०
निगम	वेद १५७
निगरभर	निर्भर, निमग्न, भरे हुए १८१, २४७
निगुण	निर्गुण, गुणहीन २
निग्रह	संयम २८८
निठ	कठिनता से १६३

नितंबणी	नितंबिनी, स्त्री २६
नितु	नित्य २६८
निदरसी	दर्शक १५१
निधुवनि	रतिसमय में २०६
निमिख	निमेष, क्षण २६६
निय	निज, अपना १३२, १७१, २२४, २२५
निरखे	देखकर १५१
निरगुण	निर्गुण २७२
निरणै	निर्णय १५१
निरतकर	नर्त्तक २४४
निरधण	पत्नीरहित १६१
निरलेप	निर्लेप, अलिप्त २७२
निराउध	आयुधरहित १३४
निरूपम	उपमारहित, सुंदर २६
निलाट	ललाट ८७
निवाणे	नीचे स्थान में २०६
निवारण	बंद १७६
निसामै	रात्रिरूपी १८४
निसुर	निःस्वर, निःशब्द २०७
निहखरता	निकलते हुए, पीछे दौड़ते हुए ११४
निहस	चोट ३८
निहसति	भूलता है ६८
निहसे	गर्जना से, गर्जना के साथ १६७
नीखर	निखर कर, स्वच्छ होकर २०६
नीगम	वेद २६४
नीझर	झरना १६१

नीझरण	झरने २४३
नीठि	कठिनता से २२०
नीपनौ	उत्पन्न हुआ १२५
नीपायौ	बनाया था ११०
नीर	पानी २६, १८७
नीरासइ	तालाब में १७४
नीरेवरि	समुद्र में १४५
नीऌवर	नील वस्त्र १०१, १६८
नीऌकंठ	महादेव, एक पक्षी ८४
नीलमणि	नीलम २०४
नीला	हरे भरे २२४
नीऌाणी	हरित (नीली) हुई १६७,१६८
नीऌाणा	हरे हो गये, प्रसन्न हो गये १४०
नीसरणी	निसेनी २६४
नीसरे	निकलकर ४६
नीसरै	निकल रहे हैं १२५
नीसाण	निसान, नगारे ४०, ४८, ११५
नीसाणै	नगारों पर, नगारों की ३८, १२०
नूपुर	एक गहना ६७
नेउर	नूपुर, नेवरी १६६, १७६
नैड़ी	पास ११६
नैड़ो	पास ४७
नेड़उ	पास ६५
नेत्रे	मथने की रस्सी में ६२
नैरन्ति	नैऋत्य दिशा १६१
न्याइ	समान १६८

प

पख	पक्ष २६४, महीने के पक्ष २६५
पगवंदण	चरणवन्दना ४५
पगि	पग पर १६७
पग्ग	पैर २५६
पछि	पश्चिम का २१७
पच्छिम	पश्चिम १५४
पट	वस्त्र ३८, २०४
पटल्	समूह ४६, आवरण, पर्दा १८४
पड़ती	पड़ती है ३८
पड़ी	पड़ी, व्याप्त हुई १३६
पड़पोत्रे	प्रपौत्र २८२
पड़ै	गिरता है १२०
पढ़ँता	पढ़ते हुए २८०
पढि	पढ़, पढ़ो २७८
पढे	पढ़कर २४८
पणिहारि	पनिहारी ४६
पत्र	पत्ता ७१, ६५, ११५, १६२, २४४, २६२; चिट्ठी ४५, ५५, पात्र, खप्पर १२२
पथि	मार्ग में २३२
पदमिणी-पदमिणि-पदमणी	पद्मिनी, सुंदर स्त्री १४, २५, ४२, १६७
पदमराग	पद्मरागमणि २०४
पदमा	लक्ष्मी २७३

पदमालया	लक्ष्मी २७३
पदाति	पैदल २४१
पधरावि	स्थापित कर, बिठाकर १५७
पधरावी	बिठाई १६६, पहुँचाई १७८
पधारया	पधारे ७५
पनाँ	पन्ने (मणि) ३६
पमूंकै	छोड़ता है २६२
पयोधर	कुच २५
पयोधि	समुद्र १६६
पयोहर	कुच १६, ६५
परजलतौ	जलता हुआ १८२
परठि	धारण करके १०६
परठित	स्थापित १५४
परठीजै	बाँधे जा रहे हैं ४०
परणी	विवाहिता २८१
परणै	ब्याहे ५६, १४६
परदल	शत्रुसेना १३८
परनालें	मोखों से १२०
परबोधै	जगाते हैं २६८
परभाते	प्रभातसमय ४७
परमेसर	परमेश्वर १
परवरिया	घूमने लगे २५३
परस	स्पर्श २६२
परसण	स्पर्शन, दर्शन ८०
परसपर	आपस में १५७
परि	ऊपर, पर १६६, १७४, २४८

परि	जैसै, तरह, ज्यों, मानो १४, १५, २५, ४२, १२६, १६२, २१६, २२१, २३५
परिग्रह-परिगह	परिचरवर्ग १६
परिपाळै	परिपालना करती है ६
परियासि	जाते हो ५५
पळ	क्षण १५, २६६, मांस १२८
पलव-पल्लव	पत्ता २७, २२८
पळास	पलाश वृक्ष, मांसभक्षी २४७, २५६
पल्लवित	पल्लवयुक्त १९८
पवणै	पवन ने २२३
परसतै	लगते ही २३१
पसरंता	फैले हुए २४२
पसरि	प्रसरित होकर २६९
पसाइ	कृपा से २५४
पसारी	फैल कर १४३
पहरंतै	प्रहार करते हुए, प्रहार करते हैं १२६
पहरि	पहर में १३
पहल	दूसरे २०३
पहि	परन्तु ४
पहिराइत	पहरेदार ६७
पहिरायौ	पहनाये २३७

पहिलुं	पहले ३६
पहिलौ	पहले ८, १६, १४६, २५२
पहुचेस्यां	पहुँचेंगे ४७
पांतरि	मूर्खता कर ३३
पांतरिया	सठिया गये ३२
पांति	पंक्ति, श्रेणी ३१
पांपणि	पलकें २०
पाइ	पैरों से १२७, पैरों में १६८
पाइक	सिपाही १०५
पाइदल़	पैदल सेना के १०५
पाकी	पकी २०७
पाखाणमै	पत्थरमय ११०
पाँचि	पंचरत्न २०४
पाट	शहतीर ३६, रेशमी डोरा या फुँदना ६२
पाटि	सिंहासन पर २४२
पाठक	वाचक, बतानेवाला २४५
पाठके	पाठकों ने १५७
पाणि	हाथ १५०
पातां	पत्तों के २५०
पात्र	भाजन, योग्य पुरुष (कुपात्र) ५६
पाथरणि	बिछौना २६७

पान	पत्ता १२, तांबूल १०२
पान	(मदिरा का) पीना २६२
पाने	पत्रों से २३०
पामै	पाता है ३०५
पायौ	पाया ५
पार	पार, सीमा, अन्त ५
पारकी	पराई, दूसरों की २७८
पारथिया	प्रार्थना करने पर २२३
पाखती	चारों ओर १०७
पारस	पास १०७
पार, पारि	पार २८८
पारेवा	कपोत २४५
पालट	परिवर्त्तित, परिवर्त्तन २२६
पालटै	बदलता है ११३
पालि	पालकर, रक्षाकर २२२
पालै	रोकता है २२५
पावन्न	पावन, पवित्र करनेवाली ८५
पावसि	वर्षा ऋतु में १९४
पास	पाश, समूह ८२
पासै	निकट में १३५, २१०
पिंड	शरीर ११३, २८५
पिंडि	शरीर में २९६
पिड़ि	पेड़ी वृक्ष की १२५, १२६
पिण	यद्यपि, परन्तु ७५, भी १३८
पित	पित्त २८५
पित	पिता १८, २७०

पितरे	पितर, पितृगण २०९
पितामह	दादा २७१
पीड़ंति	पीड़ा देते हुए २५२
पीतता	पीलापन, वैवर्ण्य १७६
पिअ्रति	पीते हैं २४६
पीला़	पीले कपड़े, लाल रंग के कपड़े ९७, २०३
पीला़णी	पीली हुई २०७
पुंडरीकाख	पुंडरीकाक्ष, श्रीकृष्ण १३६
पुड़	सतह २१७
पुड़ि	सतह पर २८२
पुणच	प्रत्यंचा १३१
पुणि	फिर १
पुणै	कहते हैं ७७
पुनरभव-पुनर्भव	नख २७
पुनह पुनह	बार बार १५०
पुरखोतम	पुरुषोत्तम ६६
पुरतो	सामने, पास ५५
पुरि	पुर में ७५
पुरुख	पुरुष २३२
पुरोहित	पुरोहित ३५
पुहतौ	पहुँचा ३६
पुहपंजलि़	पुष्पांजलि २४८
पुहपवती	रजस्वला, पुष्पवती २६२
पुहपां	फूलों के २५०
पुहप	पुष्प ९५, १४६, २२१, २२८

पुहपित	कुसुमित २४७
पूछत	पूछता हुआ ५२
पूछि	पूछ ७१
पूछीजै	पूछा जाता है १३९
पूछै	पूछती है ७९
पूजियै	पूजा जाता है २३०
पूजै	पहुँचे ४
पूठ	पीठ १५४
पूठि	पीछे ८८, पीठ पर २४१
पूत	पुत्र ९, ३३
पूतली	पुतली २, मूर्त्ति ११०
पूरब	पूर्व दिशा १५४
पूरबक	पूर्वक ५८
पूरै	पूरे होने पर २९८
पूरौ	पूरा पूरा २९८
पेखण	देखने को १६३
पेखतां	देखते हुए ९
पेखि	देखकर १४, १३२
पेखे	,, १६, २८३
पै	पय, जल १४७
पै-पय	पैर २०२, २६२
पैठा	प्रविष्ट हुए २१७
पैसि	प्रवेश करके १०८
पैसे	प्रवेश करता है २२४
पोइणि	पद्मिनी, कमलिनी २३५
पोइणिए	कमलिनी की २०९

पोकार	पुकार, शब्द १८१
पोखण	पोषण ७
पोत	पवित्री, गले में पहनने का काला रेशमी डोरा ८४
पोतौ	पौत्र २७१
पोत्रे	पौत्र ?८२
पोस	पौष मास २२०
पौढाड़े	सुलाते हैं २६८
पौराणिक	पुराणज्ञ २६६
प्रकटित	प्रकट हुई २६३
प्रखोलित	छिड़के हुए २०५
प्रगटिया	प्रकटे २४८
प्रगटी	प्रकट हुई ६१
प्रगटे	प्रकट होने पर २०८
प्रगलभ	चतुर २४५
प्रज	प्रजा १३६,२४६
प्रणपति	प्रणाम ४४
प्रणवि	प्रणाम करके १
प्रति	की अपेक्षा, से ६, १६०, २१५
प्रति	प्रत्येक ३६
प्रति	प्रति, को २२३, २८३
प्रतिबिंब	परिछाया १०४, २५७
प्रतिहार	पहरेदार २२५
प्रदुमन	प्रद्युम्न; कृष्ण के पुत्र २७०
प्रफूले	प्रफुल्ल, खिले हुए १८३
प्रब	पर्व, त्यौहार २३०

प्रणाली	रीति, मार्ग २६४
प्रभणंति	कहता है, बोलता है ३१
प्रभणावै	कहलाते हैं १५७
प्रभणै	कहते हैं ३३
प्रभवति	होते हैं, होनेवाले २८५
प्रमा	लक्ष्मी का नाम २७३
प्रमुदित	प्रसन्न २३४
प्रवर्त्त्यौ	प्रचार किया, फैलाया २४६
प्रवाली	मूँगा, एक रत्न ३६, नवीन पत्ते १२५
प्रविसंति	प्रवेश करती है १४५
प्रवेस	प्रवेश ७५
प्रसन	प्रसन्न, निर्मल १३६, २४६, २५८
प्रसरि	चलकर १६१
प्रसवती	प्रसव करती हुई २२६
प्रसिध	प्रसिद्ध २६४
प्रसेद	पसीना १७५, २०७
प्रापति	प्राप्ति, पाना २६
प्राणायामे	प्राणायाम में १८४
प्रामिस्यौ	पाओगे २६८
प्रामै	पाता है, पावे २१२, २८०
प्रारथित	प्रार्थना की हुई १७४
प्रासै	खावे, भक्षण करे ५६
प्रथमी-प्रथिमी	पृथ्वी १११, १६८, २१७
प्रिथी-पृथी	पृथ्वी २०८
प्रिथु-पृथु	पृथ्वीराज, ग्रंथकर्त्ता २६३
प्रिथुदास	,, २६१

प्रिथुवेलि	पृथ्वीराज की वेलि २९४
प्रियाग	प्रयागतीर्थ २५
प्री	प्रियतम ८०, १५६, १६५, २२८, प्यारा २०९
प्रेरित	चलायमान १७०
प्रेषितं	भेजा गया ५५
प्रौंचिया	पहुँचियाँ ९३
प्रौंचे	पहुँचों में ९३
प्रोलि़	द्वार ४०
प्रोहित	पुरोहित ३६, ६७

फ

फण	फन (साँप का) ५, १६०
फणि	फण में ५, साँप १६०
फरहरियौ	फहराया, चलने लगा २१७
फल़े	फल में २३०
फहराणी	फहराई २५०
फाग	फगुआ, फाल्गुन मास का गाना, बजाना इत्यादि २२७, २३८
फागुण	फाल्गुन मास में २२७
फिटकमै	स्फटिकमय ३९
फिरि	फिरा फिरा कर १२७
फिरि	फिर करके १५६
फिरियौ	घूम गया, रुख़ बदला २१७
फुट	फूटा हुआ (स्फुट) २३४

फुल्ल	फूला हुआ २५५
फूल	पुष्प १५९
फूलि	फूलते हैं २०
फूले	फूलों ने १८३
फूलै	फूलती हैं ४२
फेण	फेन ८५, १५९
फेरता	फेरते हुए १२७
फेरा	भाँवर १५६

ब

वँदि	बन्दीजन २५५
वंध	संग्रह ७४
वंध	बन्धन १८५
बन्धण	बन्धन ९०
बँधाणी	बाँधी गई २३३
वंधि	बाँधी १३१
वंधि	बँधी २४१
वंधियाँ	बँधे हुओं को, बन्द हुए को १८५
वंधिया	बाँधे २४२
वंधे	बाँधे, पहने ९२
बँधे	बन्द हुए १६४
वंभण	ब्राह्मण ७३
बकूँ	बकती हूँ, कहती हूँ ६५
बत्रीस	बत्तीस १३
बऌ	बल, शक्ति १२६, २८७
बऌदेव	बलराम, श्रीकृष्ण के बड़े भ्राता १२६

बल़भद्र	बलभद्र, बलरामजी का नाम १२३, १२८, १२६, १२९
बल़ाहक-बलाहकि	श्रीकृष्ण के एक घोड़े का नाम ६८, बादल १९४
बलि़	बलि, भाग ५९, बलिराजा ५९, ११२, बल से १२६
बलि़बँध	बलि राजा के बाँधनेवाले ने, श्रीकृष्ण ने, ११२
बहिनि	बहन, भगिनी १३५
बहिरि	बाहर ९१
बहु	बहुत १७
बहुरूप	अनेक रूपवाले, बहुरूपिये ११३
बाजूबंध	भुजबन्ध, भुजा में पहनने का एक गहना ९२
बाजोटा,	चौकी ८३
बाझै	बाँधे जा रहे हैं ३८
बापूकारे	उत्साहित करते हैं, प्रेरित करते हैं १२३
बारगह	तम्बू, पटकुटी ९०
बाल़	बाल्य १२, १३, १७
बाल़क	बच्चा १२
बाल़कति	बाल्य क्रीड़ा १२
बाल़ पण	बालकपना १७
बाल़ लीला	बाललीला १३
बाल़सँघाती	बाल्य काल का साथी १७
बाल़ा	बाला स्त्री १७, बालिका १९६

बालि	जलाकर २२२
बालिया	जलाये २२३
बाहां	भुजायें २०१, १४३
बाहरि-बाहिर	बाहर १७२, २१३
बिंदुलौ	बिन्दिका १९९
बिंब	प्रतिबिम्ब ९१
बि	दो ५
बिजड़ां	तलवार १२६
बिन्है	दोनों १८०
बियै	दूसरे २३३
बिहुँ-बिहूँ	दोनों १२, ८२, ९२, २६५
बीजिजै	बोया जाता है, बोइये, बोना चाहिए १२४,
बीजौ	दूसरा ५९, ७३
बीड़ौ	पान का बीड़ा ९९
बीरज	रजरहित, निर्मल १४ (द्वितीया, बीज)
बूँद	बिन्दु ११८
बे	दो, दोनों ८७,११७,२१०,२१७, २६५
बेउ	दोनों १४३
बेग	तेज चाल से ६८
बेपुड़ी	दोहरी, दोनों तर्फ़ से ११७
बेलखि	शरपुंख १३१
बेली	साथी, सहायक १२३
बैठा	बैठ गये १९४
बैठौ	बैठा, स्थित हुआ २१२, २२६
बैसारी	बिठाई ११२, १३५

बैसे	बैठकर २७८
बोलंत	बोलते हैं २५५
बोलंति	बोलते हैं २१०
बोलण	बोलना, बोलने के लिए २७८
बोलिया	बोले ६६
बोलै	बोलता है ३४
बोलै	डुबा देती है २६०
ब्रह्मसू	वेदों को उत्पन्न करनेवाला, ब्रह्मा २७५
ब्राहमण	ब्राह्मण ४४, ४६, ५८
ब्रूहि	(तू) बोल, बोलो ५५

भ

भँगि	भंग पर, मिटने पर २३०
भंजियौ	भागा, भगा दिया १२८
भई	भाई, भई (संबोधन) १३५
भई	हुई २५१
भख	भक्ष्य २६४
भगति	भक्ति १४८, २७६, ३०५
भजंति	सेवन करते हैं २१६
भजति	भजता है, भजन करता है ६८
भजै	भजते हैं, सेवन करते हैं १६१
भणंति	पढ़ने से २८७
भणंता	कहते हुए २६७
भणि	कहती है २६४

भति	समान ४७
भमर	भ्रमर ६७, १७७, १८५, २४४
भर	भार १२८, २५४
भर	तमाम २०५
भरण	भरण पोषण, पालन ७
भरतार	पति ३०५
भरि	भर करके, लेकर के २५१
भरिया	भर गये १६३, २५४
भला	वाह १३५
भला भली	अच्छी से भी अच्छी वस्तु पृथ्वी पर है (एक कहावत) १२६
भली	अच्छी १३५
भलौ-भलउ	अच्छा १३५, २१६
भवति	होता है (संस्कृत) २८५
भाँति	प्रकार १५६
भाइ	भाव २६६
भाखा-भाषा	भाषा २६७, २६६
भाखि	कही जाती है १४८
भाग	भाग्य ८८
भागि	भाग, हिस्सा ८४
भाजै	भागते हैं २८७
भाट	भाट जाति का पुरुष २६६
भाति	शोभित होते हैं २१२
भाद्रवि	भाद्रपद का महीना २०५
भामिणि	भामिनी, स्त्री २३५
भार	भार, समूह २५१, बोझ २६०

भारती	वाणी २९७, सरस्वती ३०३
भारियौ	भारयुक्त, ओढ़े हुए, लपेटे हुए, २१९
भालियलि	ललाट में ८८
भाव	प्रेमभाव १०८
भावी	होनहार, सौभाग्य ९६, भविष्य (में) २७९
भासै	मालूम होता है २१३
भिड़	भिड़ कर, युद्ध करके १२८
भिन	भिन्न, पृथक् १४८
भिन्न	भीगा हुआ २५८
भिलित	मिला हुआ ४३
भींति	दीवार ३९
भीखमक	भीष्मक, रुक्मिणी के पिता का नाम १०
भीरि	सहायता २१६
भुइँ	पृथ्वी (दूरी) १३०
भुगति	भुक्ति, भोग २१५, २७९
भुयँग-भुयंग	भुजंग, साँप २१७, २६४
भुरड़ीतो	तपता हुआ, सन्तप्यमान २५४
भुवणि	घर में ४३
भूंडो	बुरा ३०३
भूखण	भूषण, गहना ९५
भूत	भूत-प्रेत २८७
भूला	भूल गये २०१
भूली	भ्रांत बन गई, भ्रम में पड़ गई २५७
भेख	भेष, रूप ११३
भेट	भेंट २५८

भेदे	भेदन करके २१७
भेरि	भेरी (एक बाजा) १८४
भेळा	एकत्र ९६
भै-भय	डर १७८, २१९
भो	हे ५५
भोगविजै	भोगे जाते हैं २०५
भौ	भय ४७
भ्रमि	भ्रांति में (से) २०१
भ्रमिया	मँडराये २०
भ्रूंहारे	भौंहें २०
भ्रूह	भौं ८९
भ्रूहे	भौंहों में १७२

म

मंगळ	शुभ, कल्याणमय १, २३३ उत्सव धवल मंगल, ४२, १५५, मंगलगान २८६
मंगळचार	मंगलाचरण १
मंगळिक	मंगलमय, शुभ २३४
मंजण	मज्जन, स्नान १०६
मंजरि	मंजरी २३९
मंजियै	साफ़ किये २२४
मंजे	साफ़ हुए, हटे १८४
मंजै	स्नान करता है २८०

मंडप	मंडप, वितान ३८, ९०, २४३
मंडहे	मंडप पर २९१
मंडाणा	तने हुए हैं २३९
मंडिजै	मनाये जाते हैं ३८
मंडियै	आरम्भ किये जाते हैं २१४
मंडियौ	लगा २४३
मंडी	स्थापित की २९४
मंडे	सजाये ९०
मंडै	चित्रित किये जाते हैं ४०
मंदिर	महल २०४
मंदिरंतरि	अलग अलग मंदिर में, मकान में १६१
मंदा	मंद, अस्वस्थ १८२
म	मत ४५, ७७, २९०
मई	मयी, युक्त १४५, २१४
मखतूल	काला रेशम ८१
मगसिर	मार्गशीर्ष महीना २१६
मगि	मार्ग में ४३, २१९
मछे	मछली से १५५
मज्जा	गरी गूदा, २३४
मझि	मध्य में, में ९९, ११५
मठ	मंदिर ११०
मणिमै	मणियों का बना ९२
मतवालौ	मतवाला २६२
मति	नहीं, मत ३२, बुद्धि ६, १९, १०३, २७६
मथे	मथकर ६२

मद	रस २६३
मद	मद, गर्व, १६७, हाथी का मद, दान १०५, २६३
मदन	काम ८२, २७४
मदोनमत्त	मदमत्त २६३
मधि	मध्य में, में २८, १७५
मधु	चैत्र, वसंत २४८
मध्याहन	मध्याह्न, दुपहर १९०
मनमथ	कामदेव २७४
मनरखिए	मन रखनेवाली, मनोऽनुकूल चलनेवाली १७९
मनसि	मन में ७२
मनावि	मनाकर २०२
मनि	मन में २९, १८३, २१३
मनु	मानो ९०
मनुहार	मनुहार, आतिथ्य, ७८
मनै	मानो ४२
मयण	काम १७५
मरजादा	मर्यादा २७६
मरम	मर्म, रहस्य २९७, ३००
मलय	चंदन २६३
मलयाचल	मलयगिरि २१, २५८
मलि	मैल को २२४
मलयानिल	मलयानिल २३१
मलै	मलयाचल २१
मल्हपति	मल्हाता हुआ चलता है २६३

मवरि	मौर २५३
मसि	स्याही, कालिमा ४३, १६०
मसिव्रन	काला १६०
महंति	माहिती, खबर, संवाद, सूचना ७२
महण	महार्णव ६३, समुद्र ११८
महति	महिमा २७६
महमहण	समुद्रमंथन करनेवाले, विष्णु ६३
महर	अहीर ११४
महानिसि	प्रलय रात्रि, निशीथ काल, १८०
महियारी	ग्वालिन ११४
महुयरि	अलगोजा एक वाद्य विशेष, २२७
मद्दे	में ३०२
महोछव	महोत्सव २१४
माँगी	माँगी हुई वस्तु १५७
मांडि (पग मांडि)	रोक १३०
मांडिरहे	चित्रित हुए १६०
मांडियौ	किया, शुरू किया, ३ लगी १२१
मांडिया	प्रकट किये २५०
मांहि, माहि	में ५६
माँखण	मक्खन ११४
माघि	माघ मास में २२३
माठा	मधुर ध्रुपद, ध्रुपद राग का एक भेद २४६
माणग	रसिक, भोगी २६८
माणिक	एक मणि १७५
माणै	भोगते हैं २६८

मात	माता ९, १८, २३१
मातौ	गहरा १२१
माथै	ऊपर २३९
मानसरोवरि	मानसरोवर में १२
मानुखी	मानुषी २७१
मापित	मापा हुआ ९६
मामोलौ	वीरबहूटी १९९
मारकुए	आक्रमणकारी लोग, हरण कर ले जानेवाले ११६
मारगि	मार्ग में ५०, १४३
मारजण	मार्ज्जन, सफ़ाई १५९
माल़	माला १९२, पंक्ति २४१
माल़िणि	मालिनी २५७
मावीत्र	माता पिता ३४
मासि	महीने में १३, १८९
मासे	महीनों में २१६
माह	माघ महीना १९०
माहरै	मेरे ४५
माहरौ	मेरा ३०३
माहव	माधव १, ६४, ११४, १३२
माहि	में ५६, २१३
माहुटि	माघ की मेघ घटा १९०
माहे	में ११८
मिथ्या	झूठ ३०२
मिरिगाखी	मृगनयनी १३६
मिल़ण	मिलन, मिलने को १६५

मिलि़	मिलकर १९०
मिलि़त	मिला हुआ ४३
मिलि़या-मिलि़याँ	मिले, मिलाया १७५, १८६, २००
मिलि़वा	मिलने के लिए १६१
मिलि़यै	मिलाते हुए २००
मिसि	बहाने ७३, १६०, १६४, २१५, २२९, २४९, २५०, २९२
मींट	निद्रा २१६
मुंचंति	छोड़ते हैं, टपकाते हैं २४०
मुखा	मुख से ३००
मुखि	मुख में ७, १६, २७९ मुख से ३००
मुगता	मुक्ता, मोती १८९
मुगता	छूटे हुए, खुले हुए ८२
मुगतावलि़	मुक्तावली १७८
मुगति	मुक्ति २७९
मुणगंति	गुंजार २२९
मुताहल़	मुक्ताफल, मुक्तावलि ९८
मुहुरमुह	बार बार २१०
मूँ	मुझे ६२, ३०२
मूँ	मेरी १०३, २९६, ३००
मूंकिया	छोड़ दिये २७७
मूंकै	छोड़े २९५
मूझ	मुझे ५९, मेरा, २९५, २९७, २९८
मूठि	मुष्टि में १३१
मूढ	मूर्ख ४

मूरछित	मूर्च्छित ११०
मूरति	मूर्त्ति, मूर्त्तिमान १५३
मूल़	जड़ १२४, मूलपाठ २९१
मे	मेरे ५५
मेखला	मेखला, करधनी ९६, १९९
मेघ	बादल २०३
मेघपुहप	मेघपुष्प, कृष्ण का एक घोड़ा ६८
मेटि	मिटाकर, दूर कर ३४
मेढ़ि	मेंड़ १२७
मेन	अंधकार, २२
मेरु	मेरु पर्वत ६, १२
मेल़	मिलन १८६
मेल़गर	दर्शकगण २४३
मेल़ण	मिलाने को १७१
मेली	पूर्ण की, पूर्ण हुई १८३
मेल्हियौ	भेजा ५६
मेह	मेह, वर्षा, मेघ ११८
मैं	मैंने २, ३०२, ३०४
मै	मय, २१ इत्यादि
मै	रूप की तरह १७१
मै	में २२१
मो	मेरी ३०१
मोख	मुक्ति के लिए, मुक्त करो ३०१
मोखियाँ	मुक्त १८५
मोटां	बड़े ३००
मोतिए	मोतियों को २९५

मोतियाँ	मोतियों की ९१
मोती	मुक्ता ८१, ९४, १००
मोर	मयूर ४०, १९४, २४४
मोरै	मंजरीयुक्त (उमञ्जित) होता है २१
मोहिया	मोहित किया, २६९
मौर	मञ्जरी २३३
मौरित	मंजरीयुक्त २४७
मौरिया	मंजरीयुक्त हुए हैं ५०
म्रजाद	मर्यादा ३४
मृग	मृग ८२, ८९, १९३
मृगशिर	मृगशिर के वायु ने १९३
मृत्तलोक	मृत्युलोक, पृथ्वी २०९
मृदंग	मृदंग २४३
म्लेच्छां	म्लेच्छों के ६०

र

रंक	ग़रीब ६, १७०
रंगि	रंगों में, रंगों से १६०
रंभ	केला २६
रई	मंथन दंड ६२, १८५
रजी	धूल ११५

रटति	शब्द करता है, कूकता है २३१
रणि	रण में ६३
रतनमै	रत्नमय ८८
रत	रति, लगा हुआ, १८०
रत	रक्त ११७, १२५
रति	सुरत १६१, १६२
रति	प्रद्युम्न या काम की स्त्री २७०
रथी	रथ का सवार, सारथी ८९
रद	दाँत २२
रमतां	रमण करते हुए २९७, ३०२
रमंति	खेलती है १३
रमंती	खेलती हुई १८
रमण, रमणि	प्रेमी, पति १८३, २१५, रमणी, प्रेयसी १६२, १६७
रमै	विहार करता है २३२
रयणि	रात्रि १८१, १८२
रलतलिया	बह निकला १२२
रविकिरण	सूर्यप्रकाश ४६
रस	इच्छा ८३, रस २०९, ३०१ नवरस २९२, आनंद २६५, ३०२
रसदायिनि	रस या आनंददायिनी २९७
रसवंछक	रस के इच्छुक २४५
रहंति	रहते हैं २१९
रहती	रहती हुई १६७
रह	राह ४६

रहरह	रह रह कर ४६
रहसि	एकांत ३०२
रहिया	रह गये, आये नहीं ७०
रही	रही ११०
रहे	रहे हैं २२६
रहै, रहै	रह गये २५४
राइ	राजि, श्रेणी २३१
राइहर	राजा, राज्यकुल (राज्यधर) ७७
राखि	रखकर १४८
राखी	रखी ७६
राखे	रखा ४३
राजकुँअरि	राजकुमारी १३, १४, ८३
राजति	शोभित है १०, १४, २२, २४१
राजरमणि	रानी १४८
राजवियां	राजवंशियों में ३१
राजान	राजे ४१, १४८, १९४
राज	आप ५६
राजै	शोभित है २०३
राणी	रानी ७६, ३०४
राता	रत, लगे हुए, लीन १८० लाल २०३
राति	रात २१२
रातिराति	प्रतिरात, रात, रात २१२
राम	बलराम १२७
रामसरी	एक चिड़िया २४६
रामा	लक्ष्मी १२, २७०, २७३

रामा (अवतारि)	राम ६३
रायंगणि	राजा के आँगन में १४
रिखपंति	नक्षत्रपंक्ति २२
रिखि	ऋषि १६४
रिखिय	ऋषिगण २०१
रिण	रण १२२,१२७
रिणाई	ऋणदाता, महाजन २२०
रिणी	ऋणी, क़र्ज़दार २२०
रितु-रित	ऋतु २२६, २४८
रितुराउ	वसंत १६
रितुराय	,, २४३
रीझ	प्रसन्न होकर २४७
रुकम	रुक्मक, रुक्म, रुक्मि, भीष्मक का ज्येष्ठ पुत्र ११
रुकमइयौ	रुक्मक, भीष्मक का बड़ा पुत्र १३२
रुकमकेस	भीष्मक का चौथा पुत्र ११
रुषमणिरमण	कृष्ण १६२
रुकम बाहु	भीष्मक का दूसरा पुत्र ११
रुकम रथ	भीष्मक का पाँचवाँ पुत्र ११
रुकमाळी	भीष्मक का तीसरा पुत्र ११
रुख	सिर २६
रुख	भाँति ४२, २०५
रुहिर	रुधिर, रक्त १२२
रूँख	पेड़ २३१
रूठा	रूठे हुए २०२
रूप	आकृति ६१

रूप	सौंदर्य से १७०
रै	के ७८
रे	अरे ११२
रेख	रेखा १६६
रेवा	नर्मदा नदी २४१
रेसि	लिये १४१
रोमांचित	पुलकित शरीर ५७
रोमाँसूं	रोमों से १६८
रोरी	रोली, अबीर २२७

ल

लंगरै	सांकल १६७
लखण	शुभ लक्षण ३०४
लखण	लक्षण १३, ५७
लखे	देख २०१
लगन	लग्न, मुहूर्त्त ३६, ६६, १४६
लगाए	लगाई हुई, बाँधी हुई १६७
लाग	योग्य, लगती १०४
लगि	तक १०८, १२३, २६६
लगी, लगै	तक ४४, १०३, ५६
ललाटि	भाल में ४१
लवली	लता १६१

लसइ	शोभित है १९७
लसणि	शोभा, लास्य, अंगभंगी १०९
लहर	तरंग, लपेट १९१
लहरिउँ	लहरें १४१
लहरीरव	समुद्र १४१
लहि	पाकर ९४
लहै	पाता है ९४, २८१
लाखे	लाखों पर, लाख संख्यक द्रव्य पर २५०
लागा	लगे १४४, २२०
लागी	लगी २, ४४, २३१, २४६
लागे	लगे, लगने पर २३१
लाजती	लजाती हुई २१३
लाजवती	लज्जाशील १८
•लाडी	पत्नी ३३
लाधी	उपलब्ध, पाई, मिली हुई १५७, २०२
लाधै	मिलता है, मिले मिलने पर, मिले पर ५८, ७३
लाधो	पाया, मिला १५७
लाया	जलाये हुए, लगाये १६४
लास	घुड़साल, पायगह पंक्ति २४१
लारोवरि	पीछे ११४
लिखमी	लक्ष्मी ३३, ७३
लिखि	लिखकर ४३
लिखिया	लिखे हुए, चित्रित ११४
लियत	ली जाती है २४६
लियै	ले रहा है, लिये हुए १४१

लियौ	लिया ३५
लिलाट-निलाट	भाल में, १७५, १६६
लीध	लिया ६२
लीधे	ले लेने, उतार लेने पर १६७
लीधै	वास्ते ८२
लीला	खेल १३, २७१
लीलाधरण	लीलापति, विष्णु २७१
लुंचित	नोचे हुए २४०
लू	गर्म हवा १६१
ले	ले कर ८३
लेइ	लेकर १३०
लेखणि	लेखनी ४३

व

वंछिति	इच्छा करती हुई १६२
वंछइ	चाहता है २७८
वंछित	इच्छित, इष्ट २८०
वंदण	वन्दना, प्रणाम १६, ५४
वंदै	वंदना करती है ७३
वंसा	बाँस १५३, बाँसुरी २२७
वखणि	बखान करती है २४
वगि	एकत्र २८३
वजाए	बजाते हुए २२७
वटाऊ	पथिक ४४

वडगिरि	हिमालय ८४
वडफरि	ढाल १२९
वडौ	बड़ा ३५
वण	वन २२४
वणतौ	बनता हुआ ९८
वणराय-इ	वनराजि २४८
वणि	वन में २५७
वणी	बनी, शोभित हुई २००
वणे	बने २३५
वणै	बनता है ५७
वदनि-वदन	मुख में ६०, १७६
वधंति-वधंती	बढ़ता है १३, बढ़ते हुए २३
वधण	बढ़ने २१८
वधाइहार	बधाईदार १३८
वधाई	बधाई २३२
वधाउआँ	वधाईदारों को १४२
वधाए	बधाई दी २३८
वधावे	बधाई देता है, बधावे, बधाइयाँ २३८, १४८
वधिया	बढ़े २३
वधू	दुलहिन, स्त्री १६२, १८६
वधे, वधै	बढ़े १८७, बढ़ता है १३
वनसपती	वनस्पति २२९, २३०
वनि	वन में २३२
वयण	वचन ५, २२३, २९५, ३०१

वयणा / वयणि	वचनों से २०६
वयणे	वचन से २६
वर	दुलहा, पति २९, ३५, ६०, ११२, १७२, १८१, १८२, २८१
वर	श्रेष्ठ २९
वरजित	बंद ११९
वरण	वर्ण, रंग ४९, १४४
वरणण	वर्णन ८
वरणा	वर्ण (से) २८९
वरणि वरणि	वर्ण वर्ण के २३७
वरसतै	बरसते हुए, बरसने से १९६
वरसाल	बरसानेवाला ३४
वरसि	वर्ष में १३, ३०५
वरसि	बरस कर १९३
वरसै	बरसता है ११७
वरहासां	घोड़ों के ११५
वरि	भाँति, मानो १५, ३४, पर, के ऊपर ८६
वरि	सुन्दरी, पतिव्रता १८२
वरि	वर ने २२१
वरिखा	वर्षा २०६
वरुण	एक देवता २३
वरै	विवाह करे ३५
वलतो	आने पर २०६
वलि	फिर, और २९३

वळित	गूँथी हुई ६३
वळी	वलित किया, परिवेष्टित ८४
वळी	लौटी २०६
वळे	फिर ६, ८६
वळै	वलय, कंकण ६३
वेलि	वेलि, लता २६३
वल्ली	,, २३३, २६१
वसंति	पीला ११५, बसंत में २६६
वस	वश ५
वसइ	स्थित है, रहता है १६७
वसत	वस्तु ८१
वसत्र	वस्त्र ६५, १६७, २०५, २३७
वसत्रे	वस्त्र से २१६, २३०
वसन	वस्त्र २३६
वसि	वश में ३६, २६६
वसिया	बसे, रहे २६६, २७१
वसी	आई, हुई ३१
वसीकरण	वशीकरण १०६
वसुदेव	कृष्ण के पिता १५२, २७०
वसुधा	पृथ्वी १६७
वसुह	वसुधा, भूमि २४३
वहंति	बहता है २६५
वह रहे	चलते रुक गये ४६

वहती	धारण करती हुई १६७
वहतै	चलते हुए १३८
वहि	वही १६९
वहे	मारा ६३, चलते हुए १६६, चलने या हिलने से २५४
वहै	चलता है, १०६, ११७, २१९, २५९
वांकिया	धनुषाकार लकड़ी (रथ के पहिये में) ८९
वाचत	पढ़ते ५७
वांछता	चाहते थे......
वाइ	वायु १९१
वाउ	वायु ११९, २२२
वाउवा	सन्निपात (वात) वश, ४
वाउलौ	बावला, पागल ४
वाए	चल कर २२२
वाकार्यौ	पुकारा, ललकारा १३१
वाखाण	बखान २११
वाखाणण	बखानना ९५,
वाखाणे	बखानते हैं २६
वाग	वाटिका, सरस्वती, वाणी २६८
वागहीणि	वाक्हीन, गूँगा ३
वागां	घोड़े की रासें ११६
वागुरि	जाल ८२
वागेसरी	वागीश्वरी, सरस्वती ३
वाग्यो	बोला १३०

वाच	वाणी १५७
वाचण	बाँचने ५८
वाजंति	बजता है ११५
वाजित्र	बाजा १४८
वाजिया	बजे १९६
वाढ	धार ८६
वाणि	वाणी २४, १४८, २२१
वाणिजाँ	बणिकों को १८६
वात	बात ३६ वायु ११५ वादो २८५
वातचक्र	बगूला ११५
वाद	विवाद ३
वादल	बादल २०८
वादोवदि	बदाबदी से १३८
वाधण	बढ़ने १३८
वाधाऊआ	बधाईदार १६६
वाधै	बढ़ता है २८२
वाम	बायाँ ९९
वामे	बायीं ओर १५७
वायौ	बोया २९१
वार	बार, दफा ६४
वार वार	बार बार १४७, १७०
वारि	वार करके १४७
वारै	वारते हैं, न्यौछावर करते हैं १४७, २२५
वालियौ	दिया, डाला ८६

वाळी	बाली, बालियाँ ८९
वावे	बज रहे हैं १४८
वास	सुगंध १८३
वासग	बसानेवाले २७१
वासना	इच्छा ३१
वासिए	निवासियों को २०९
वासुदे	वासुदेव २७०
वाहणि	वाहन पर २२२
वाहणी	बहनेवाली २९०
वाहताँ	चलाते हुए १२४
वाहर	सहायतार्थ चढ़ाई ६४, ११२
वाहरुए	सहायतार्थ चढ़नेवालों ने ११६
वाहळा	बादल या नाला, तुच्छ नदी ३४
वाहवियै	चलाने से, हल चलानेवाले १२३
वाहिस्यइ	चलावेगा १२३
(हाथ) वाहिस्यइ	शस्त्र प्रहार करेगा १२३
विगलित गति	म्लान दशा को प्राप्त १७४
विचारि	विचारी ३६
विचित्रे	विचित्र १६१
विट	लंपट, कामी १८६
विण	बिना, सिवा २२३
विणु	बिना ७, १९७
वितए	बीतने पर २०८
वितीत	व्यतीत १९
विथुरी	बिखरी २००
विदरभ	विदर्भ देश १०

विदुख	विद्वान् २६
विदुर	स्वाँग बनानेवाला, विदूषक २४५
व्रिधपणै	बुढ़ापे में ३२
विधायक	करनेवाले २७५
विधि	रीति, प्रकार १८ विधान १४८, १५७
विधिपाठक	शास्त्ररीति बतानेवाला २४५
वियाज	व्याज से, बहाने से १५६
विरहिण	विरहिणी १६५
विरहि	विरही २२७
विरहियाँ	बिछुड़े हुओं को १८६
विराजति	शोभित है २४
विराजै	,, ८६
विराजै	विराजते हैं ६५
विराम	निवासस्थान १८
विरुधि	युद्ध में १२६
विल़कुलियौ	क्रोध से रक्त हो गया १३१
विलखी	विलखित हुई, व्याकुल हुई १७
विलग्ग	ल़गकर २५६
विलासा	विलास १७२
विलोकन	देखना १७०
विवरजित	रहित, बंद ११६, १५१
विवरे	बिल में २१७
विसतरण	फैलाने ८२
विसतरियाँ	फैलाये २५२
विश्वक्रत	विश्वकृत्, विश्वनिर्माता २७५

विसहर	विषधर, साँप ८९
विसिख	विशिख, बाण ११९
विसेखि	विशेष ५४
विहत	निवारण के लिये २२१
विहाणै	प्रातःकाल १६२
विहित	ठीक है १८८
वीखियै	देखकर ५३
वीछड़तै	बिछुड़ते समय १७
वीजलि	बिजली १४४
वीणति	चूँटती है, एकत्र करती है २५७
वीणि लियो	चुन लिया, निकाल लिया, उठा लिया ९८
वीनती	विनती ३०१
वीनवियौ	विनती की ५८
वीर	भाई ४४, ७५, १३०
वीवाह	विवाह ३०, १६१
वूठै	वर्षा होने पर १२३
वूठौ	बरसने लगा, बरसा १९७
वेयणि	वेदना पूर्ण वचनों से २२९
वेगि	वेग से, १०६
वेड़तै	युद्ध करते हुए, काटते हुए १२६
वेदवँत	वेदवित् ७६
वेदविद	वेदज्ञाता १५०
वेदारथ	वेदार्थ ७६
वेदी	वेदिका १५३
वेदे	वेद में ५४

वेदीगत	वेदोक्त १५०
वेधियौ	वेधा ९३
वेल़	लहर १८६
वेल़ा	समुद्र की वेला ६३, समय १२३
वेल़ाहरण	समुद्र ६३
वेलि	वेलि, लता १२, २५९
वेली	सहायक, साथी १२३, लता २५१, २५२
वेस	अवस्था १५
वेसासौ	विश्वास करो ३२
वेसि	उम्र में १४, २३
वेह	विवाहवेदी के चारों ओर स्थापित कलस १५३
वैद	वैद्य २९९
वैसाखि	वैशाख को २५२
व्याए	जन्म दिया, जना २५२
व्रन	वर्ण १९०
व्रह्मसू	ब्रह्मसू, वेदों को उत्पन्न करनेवाला २७५
व्राहमण	ब्राह्मण ४४
व्रिख	वृक्ष १८८
व्रिख	वृषराशि १८८
व्रिधि	वृद्धि २९२
व्रीड़ित	लज्जित १३६

स

संकरखण	संकर्षण, बलराम ७४
संकर	शंकर ने १०७
संकुचणि	संकोच १०६
संकुड़िणि	संकुचित होने, घटने २२०
संकुड़ित	संकुचित हुए १६२
संखधर	शंख धारण करनेवाले, विष्णु ८४
संखेप	संक्षेप में २७२
सँगि	साथ में १४,३७,४१
संगीती	सांगीतिक, गानविद्या का पंडित २६६
संग्रहि	संग्रह करे, स्थापित करे ६०
संग्रहि	पकड़ या धारण करके १३१
संघट	समूह १७६
संघाती	साथी १७
संच	चली, संचार किया, प्रवेश किया १०६
संजोई	जलाई १०१
संयोग	मिलन २६४
संजोगि	संयोगिनी २२२
संजोगिणि-संयोगिणि	संयोगिनी १८५,२५६,२६४
संझा	संध्या १६
संझावंदण	संध्यावंदन १६
संथ	रहे हैं, हुए हैं ८
संधि	मेल, मिलना १५ संधान करके १३१
संध्या	साँझ १६२
सन्यासिए	संन्यासियों २८८

संपेखी-संपेखे	देखकर १०४,१०७
संप्रति	प्रत्यक्ष ५१, फिर ८७
संबरारि	शंबर का शत्रु, काम, प्रद्युम्न २७४
संभल़त	सुनते हुए ११३
संभल़ि	सुनकर ११३
संभल़ी	समझ कर ७३, सुना १११
संभु	शंभु ६०
संवति	संवत् में ३०५
संसकार	संस्कार, विधियाँ १५२,१५४
संसक्रित	संस्कार, विधि १६१
संसार	जगत् २७७
सकंति	सकती है ७१
सकति	शक्ति २२१
सकतिवन्त	शक्तिमान् २२१
सकुसल़	सकुशल १४६
सकूं	सकती हूँ ६५
सकै	सकती है ७१,२०१
सखिए	सखिओं ने १६१
सगपण	संबंध १३३
सगल़ै	तमाम १३७
•सगाई	संबंध, वाग्दान ३२
सघण	घना २४७
सजि-सज	सजा कर ८६, ६७
सजै	प्रयोग करता है १३३
सतगुरु	सद्गुरु २०८
सइ-सई	सती १८२

सति	अस्ति, है १२५
सत्र	शत्रु १२३
सद	शब्द ४८, १६६
सदल्	दल (सेना) सहित १४६
सदोख	दोषसहित ३०१
सधरा	पत्नीसहित १४६
सधर	कठिन २५, धारण करनेवाला २३८
सनस	संकोच से, लिहाज से १३३
सन्निधि	पास १३३
संपेखतै	देखते हुए ११०
सबल्	बलरामसहित १४६
सवे	सभी २१५
सभिन्न	भीगा हुआ २५८
समझण	समझने को २७८
समये	समय में १६२
समरण	याद करने को, भजन के लिये २७८
समरवै	चमक रही है ११९
सममत्थ	समर्थ १३७
समरि	युद्ध में १२६
(समसरि)	बराबरी की शोभा २९०
समरपित	दी हुई, पहनाई हुई ९६
समवेग	कृष्ण के एक घोड़े का नाम ६८
समसमा	समान १६२
समाइ	समाता है २११
समागम	समागमसमय १९७
समाचार	ख़बर, संदेश ५६

समाणिश्राँ	समवयस्का २१३
समाणी	बराबर उम्र की १४
समापित	पूर्ण होने पर २२९
समारि	गँवारी हुई ८५, सँवार २२६
समावृत	घिरी हुई १६१
समाश्रित	श्राश्रित, स्थित, चले जाते हैं १६५
समी	समान ३३
समुहै	सामने हुए ११७
समै	बराबर ८४
सम्रिति	स्मृति, धर्मशास्त्र २८
सर	स्वर २०, ११३, १९४ बाण १०९, ११८
सरग-सरगि	स्वर्ग २१७ स्वर्ग तक २४२
सरगलोक	स्वर्ग २९४
सरण-सरणि	श्रासरा, शरण ५८, १८८, २६७
सरति	चलता है २६१
सरधा	श्रद्धा, शक्ति, २७६
सर्बजीव	सर्वजीव, ब्रह्मा का एक नाम २७५
सरयू	सरयू नदी १०६
सरला	सीधे, लंबे २४२
सरवरि	रात्रि, सरोवर २३

सरसै	सरस्वती ३०२
सरसति-ती	,, १, ४, ६१, २७६
सरि	समान, बराबर ३४, ३०
सरिखाँ	बराबरीवालों १२६
सरिस	समान, से ३२, के साथ १५०
सरिसौ	समान ४
सरि	डोरा, एक गहना ६१
सरीख	सदृश ४८, २८१
सरै	बने ७
सरोवरि	तालाव में १२
सवारि	सँवार कर २०
ससत	सत्य ही, निस्संदेह ६८
ससत्र	शस्त्रचिकित्सा २८४
ससिहर	शशधर, चंद्र २७
ससी	चंद्र, एक संख्यक ३०५
सहचरिए	सखियों २७२
सहस	सहस्र ५
सहसफणि	शेष १६०
सहसे	सहस्रों से (युक्त) १६०
सह	साथ २७२
सहि	सब २९६, २६७, ५६
सहि	अवश्य १५२
सहित	साथ १७८
सहु	सब, सभी ११०, १६५
सहू	सभी १४१, १५५
सहै	सहन करती है २९६

सांगुष्ट	सांगुष्ठ, अँगूठेसहित १५६
सांझ	संध्या ४७
सांडसी	सँड़सी १३२
सांभलि	सुनकर २९, समझ कर ६७
सांवल	श्यामल ४०
सा	वह १७८
शाकिणि	शाकिनी २८७
साखियात	साक्षात् ९८
साथ	संग १२३
साथि	साथ में ६७,
साध	लालसा, मन की इच्छा १८३
साध्र	साध, लालसा १८३
सापराध	अपराधी २६१
साबतौ	सही सलामत १२३
सामरथीक	सामर्थ्यवान् ३०४
सामल	श्यामल, साँवला, काला १४६
सामुहै	सामने ११७
सायर	सागर ४८
सारँग	शार्ङ्ग धनुष ६७
सार	सार वस्तु १,
सारथी	सारथी ६७, ६९
सारिखा	समान ८
सालिगराम	शालिग्राम ६०
सालै	साले के १३७
सावक	बच्चा २७

सास	स्वास २१
सासत्र	शास्त्र २८
सासना	शासन, सजा, शिक्षा १३५
सासू	सास २७०
साहस	हिम्मत ३०१
साहण	गज, अश्वादि साधन २८२
साहियै	साधते हैं, लेते हैं १२९
साहुलि	पुकार ११३
साऊजम	सोद्यम, कार्यव्यस्त १४१
साहे	साधे, पकड़े हुए ११२
साहै	लग्न १५१
सिँगार	श्रृंगार ८
सिंघ	सिंह ५९, एक राशि का नाम ९६
सिंघासण	सिंहासन २३८
सिंधुसुता	लक्ष्मी २७३
सिख	शिखा ८८
सिखरि	शिखर पर २०४
सिखि	मोर २०४
सिणगार	श्रृंगार ८०, १००
सिणगारै	सजाता है १९४
सिणगारिया	श्रृंगारे २४१
सिद्धि	सिद्धि २७६
सिध	सिद्ध, सिद्धहस्त ७४
स्याल	सियार, गीदड़ ५९
सिरहर	शिरोधर, सरताज १०
सिरां	सिरों के, धान के बालों के १२६

सिरा	धान की बाली १२५
सिर	ऊपर ६४, २०४
सिरि	श्री, शोभा २४८
सिरि	पर, सिर पर, चोटी पर ८६, ११४,१८७
श्रीषंड	चंदन ६२
सिलह	कवच १०४
सिल्हाँ	कवचों ११८
सिला	शिलहाँ २३८
सिल़ाउ	(विद्युत) शलाका, बिजली ११६
सिल़ीमुख	बाण ६७
सिल़ी	शलाका ८६
सिली	धार देने का पत्थर ८६
सिसिर	शिशिर ऋतु १६, २४८
सिसुपाल़	शिशुपाल ३४, ३५
सिहरि	शिखर पर ११६
सी	शीत २२५
सीकर	बिन्दु, कण २६०
सीख	शिक्षा ६१, ६३
सीखव्या	सिखाया, शिक्षा दी ६२
सीखावि	सिखाकर ७६
सीत	ठंढ २१६, २२१
सीतल़ताइ	शीतलता १८३
सील़	शील १०३
सील़ि	शील में १४
सीस	मस्तक पर ४६

सुं	से १०३
सुंदरि-सुंदरी	सुंदरी १०९ ,, २९७
सुँधा-सौंधा	सौंधा, सुगन्धित वस्तुएँ २०५
सु	अच्छा ६, अपने ११२
सु	सो १५, १९, २२, २३, २६, ३२, ३९, ९४
सुकदेव	शुकदेव ८
सुकल़	शुक्ल, श्वेत २१०
सुकवि	श्रेष्ठ कवि ८
सुख	सुख ६९, १७३, १७९, २९१
सुखपति	सुषुप्ति १५
सुगह	अच्छी तरह मथन १२७
सुगृह	अपने अपने गृह २१९
सुग्रीवसेन	कृष्ण का एक घोड़ा ६८
सुजि	वही ७९
सुयोधन	दुर्योधन २१६
सुणति	सुनाई देती है ४८
सुणि	सुनकर ५२
सुणिजै	सुना जाता है ११५
सुणै	सुनते हैं ७७
सुतन सुतनु	सुंदर शरीर २१, ४३
सुतरु	सुंदर पेड़ १८७
सुत्री	सुंदर स्त्री १५०, २०७
सुथिर	दृढ़, सुस्थिर २९१

सुदरसण	सुदर्शन, अच्छा दर्शन ५२
सुइ	सोकर २८०
सुद्धि	शुद्ध २८६
सुध	शुद्ध, श्रेष्ठ ३०
सुनमित	नीचा किया हुआ १३६
सुपहु	सुंदर प्रभु, अच्छा राजा २७७
सुपुत्री	अच्छी बेटी ११
सुपुहपे	सुंदर फूलों से २३०
सुबहू	सुन्दर पतोहू २७०
सुव्रीड़ित	लज्जायुक्त १३६
सुभ	श्रेष्ठ २८३
सुरँग	सुन्दर रंग का १४५
सुरँगे	सुन्दर रंग के २३०
सुरमण	सुन्दर रति करने की १८३
सुराज	सुराज्य २५१
सुवि	सभी २८४
सुसमित	सुस्मित, मुस्क्याते हुए; १३६
सुसरि	सुंदर लड़ी या माला ९१
सुसा	बहन ३५
सुस्री	सुन्दर शोभा २०९
सुहाइ	सुहावना २०
सुहाग	सौभाग्य २१३, २८१
सुहिणा	स्वप्ननामक अवस्था १५
सुहिणौ	स्वप्न ५१
सूं	से ५३, ६४, १०३,
सूं	क्यों, क्योंकर २९०

सूचक	बतानेवाले ९६
सूझै	दिखाई देता है ४, ३०
सूणहर	शयनगृह १५८
सूता	सोये १९४
सूतौ	सो गया ४६, ४७
सूत्र	डोरा १७१
सूद्र	शूद्र ६०
सूध-ति	शुद्ध करता हुआ २६५
सूधाँवास	सौंधावास, सुगन्धित गंध १६६
सूप	छाज २९५
सूर	सूर्य ४२, १८७
सूरिज	सूर्य १६२, १८८
सूहव	सधवा नारी २१७
सेन	सेना १०७
सेवंति	सेवा करता है, भोगता है २१५
सेवंती	सेवती का फूल २३७
सेव	सेवा ३३, २५५
सेस	शेष ५ बाकी १५२
सैल	पर्वत २६४
सैसव	बाल्यकाल १५, १९
सोइ	वही ४०
सोखण	शोषण, काम का एक बाण १०९
सौच	शुद्धि २६१
सोझण	संशोधन करने को २९५
सोनानामो	रुक्मकुमार १३४

सोमवल्लि	सोमलता २९३
सोलह	सोलह २११
सोवन	सोन चमेली, एक फूल २३७
सोहंत	सोहता है ९२
सोहति	सोहती है २२८
स्याम	श्याम, कृष्ण १७९
स्यामतर	श्याम जैसे २०१
स्यामता	कालापन २४
स्यामा	श्यामा स्त्री, रुक्मिणी २९, ७२, ८७, २०१
स्रगलोग-श्रगलोग	स्वर्गलोक २०९
स्रब	सर्व, सब २३०
स्रम-श्रम	उद्योग, परिश्रम ७
स्रवणि	कानों से ५२, ७३
स्रवति-श्रवति	बरसाता है २०३, झरती है २३१
स्रिंगार	शृंगार ८३
स्रीपति-श्रीपति	लक्ष्मीपति, भगवान ६
स्रुति	कान १६५
स्रोणि	नितंब २५

ह

हँस, हंस	हंस १२, १००, २१०, प्राण १२५, ब्रह्मा २७५
हँसणी-हंसणी	हंसनी २१०
हंसागति	हंस की सी गतिवाली १६६

हए	मारा ६१
हठ	हठयोग २८८
हत्थ	हाथ १३७
हथनालि	बंदूक ११८
हथलेवौ	पाणिग्रहण १५१
हय	घोड़ा २४१
हर	महादेव २९
हर	अभिलाषा २९, ७७
हरख-हरखि	हर्ष में, हर्षित होकर ३७, २४७
हरण	हरना १५१
हरि	हरकर ११२
हरि	हरी ११२, १४३, ५२
हरि	इन्द्र १९४
हरिणाकस	हिरण्याक्ष ६१
हरिणाखी	मृगनयनी ९१
हरिवल्लभा	लक्ष्मी, विष्णुप्रिया २७३
हरी	हरित १४२
हल	हल १२३
हलधर	बलराम १२४
हलांह	हलों से १२४
हलिद्र	हल्दी १४२
हलिया	चले १०५
हवाई	एक अग्न्यस्त्र ११८
हसणि	हास्य, मुसक्यान १०९
हसति	हँसते हुए १०५
हसि	हँसकर १७२

हसत	हस्त, हस्तनक्षत्र ६३
हा	थे, था १३७
हाइ	हाव २६६
हाथा	हाथों (में) १०८
हाथालगि	हस्तगत १०८
हाथे	हाथ से १०८
हाळाहळाँ	हलाहल विष (जैसे) १२४
हा लिया	लिये थे १३७
,, ,,	चले ३०१
हालियौ	चला ३७
हास	हँसी २२,२४७
हिडंति	झूलती है २६७
हिंसा	जीवहिंसा २७७
हित	उपकार ३५, प्रेम १०८
हिमकरि	चंद्रमा को ६३
हिमाचल	हिमालय २५८
हियौ	हृदय, मनोभाव १३४
हिळवळिया	जल्दी जल्दी, हड़बड़ाये १०५
हिव	अब १५, ४५, ५३
हींगळू	हिंगुल, सिंदूर ३६
हींडलै	झूलते हैं ६२
हींडि	झूले पर ६२
ही	ही, भी, ५, १३७, २०६
हीर	हीरा २७
हीलोहल	हलचल, लहरों का शब्द ४८
हुँता	से ४५, ५६

हुइ	हुआ १७६
हुआ	हुए ३७
हुइ	होकर ३७
हुइ	होकर १५७, हो १७६
हुइस्यै	होगी ५३
हुए	होकर ४५, ६१
हुए	होने से १५२
हुँता	थे ४१
हुलरायौ	लोरी दी गई २३८
हुलरावणै	गान द्वारा, प्रेम से २३८
हुवइ	होंगे १५२, होती है २१८
हुवि	चलने का शब्द ११८
हुवि	हो, होता है २८४
हुवै	हो ३५
हुऔ, हुवौ, हूऔ	हुआ ५२, ५३, १५२,
हूँ	मैं २, ५१, ५३, मुझे ६१, ६३
हूं	से ६१, १२२
हूंता	से ७२, थे, था १३७
हूती	से ६३, ६१
हूतौ	था ८८,
हेक	एक ३५, ४४, २०३
हेकणि	एक (से) १५०
हेकमन	एक मन ४५
हेका	एक ओर ४८
हेत	प्रेम ६
हेतु	कारण, लिये ७३

हेमंति	हेमंतऋतु में २१६
हेम	हिम, हिम दिशा (उत्तर) १८८, २२६, २१८
हेमगिरि	हिमालय १८७
हेमाळै	हिमालय पर २१८
होइसै	होगा १५
होड	स्पर्धा १००
होमै	होमे, होमता है ६०
होळिका	होली २३०

प्रथम-पंक्ति-सूची

प्रथम-पंक्ति-सूची

अ

आ

ग

घ

च

छ

ज

त

फ

ब

भ

म

र

ल

व

परिशिष्ट (क)

ढुँढाड़ी टीका

परिशिष्ट क

(ढूँढाड़ी टीका सं १६७३ में लिखित)

१—प्रथमही परमेस्वर कौं नमस्कार करै छै। पाछैं सरस्वती कौ नमस्कार करै छै। पाछैं सदगुरु कौं नमस्कार करै छै। ए तीने ततसार छै। मंगलरूप माधव छै। तै कौ गुणानुवाद कीजै छै। या उपरांत मंगलाचार को नहीं छै।

(संवत् १६७३ की ढूँढाड़ी (पूर्वीय राजस्थानी) टीका में प्रथम दोहले की टीका नहीं मिलती। इसलिये यह टीका संवत् १८२६ में खुवास श्री आसांजी द्वारा लिखाई हुई असली ढूँढाड़ी टीका की नक़ल से ली गई है।—संपादक।)

२—कवि कहै छै। जिं मुनै उपायौ। जे परमेस्वर सुगुणां की निधि छै। जाके गुण कौ पार कोई न पावै। में निगुण थकौ ते कौ गुण कहिवा कौ आरंभ कीयो। ता कौ दृष्टांत। जैसें काठ की पूतली कों कारीगर करै। फेरि कारीगर कों पूतली चित्रणे चाहै। तेसें परमेस्वर कर्त्तमकर्त्ता मुनें उपायौ। अर हों परमेस्वर कौ गुण कह्यो चाहूं। ग्रंथकर्त्ता इह आंपणी लघुता करै छै।

३—कमलापति जु ईस्वर। तिहि की कीरति कहिवा कौ जु में आदर कियो छै। सू जीभ विना जाणें सरस्वती सूं वाद करै छै।

४—कवि आंपणा मननै कहै छै जा वात कौ सरसती पार न पावै छै। ता वात कों तू साभै छै। आंपणा मनने कहै छै। तुं

बाउलौ हुओ छै। जैसे पांगुलो मन की बराबरि दोड्यो चाहै तो कहां पुहचै।

५—जिणि सेषनाग रै सहस फण छै। फणि फणि दोइ जीभ छै। दोय हजार जीभां करि नित नवौ जस कहै छै। तिण पणि त्रीकम जे परमेस्वर का जस को पार न पायो तौ मो मीडका कौ किसौ वस छै। जा मीडका कै ऐक ही जीभ नहीं छै।

६—कवि कहै छै। श्रीपति इसौ कुंण को मति छै जु तुहारौ गुण कथै। अर इसौ कुण तारू छै जु समुद्र तरै। अर इसो कवण पंषी छै जु गगन कहतां आकास लग पूहचे। अर इसो कुण गरीब सामर्थ छै जु सुमेर ने उठावै। जो ऐसौ असामर्थ छै तौ बेसि रहै जस न कहै। ताकौ जबाब आगला दुवाला मांहि कहै।

७—कवि कहै छै। जिहां परमेस्वरि पहिले जन्म दीयौ। जिण मुष रै विषे जीभ दीधी। पाछे भरण पोषण करै। तिहां परमेस्वर को गुणानुवाद आपणि मति कै सारै श्रम कीधा विण केम सरै। वुधि कै अनुमान कह्यो चाहिजै।

८—कवि कहै छै। सुषदेव व्यासदेव जइदेव आदिदे अनेक सुकवि हुआ छै। पणि रीति सब ही की येक ही छै। श्री कृष्णदेव तें पहिलौ ज रुकमणी जी कौ वर्णन कीयउ। सुया वासतैं जु शृंगार ग्रंथ कीजै तौ पहिलैं श्री कौ वर्णन कीयौ चाहीजै। शृंगार श्री कों सोभित विसेष छै। वडा वडा कवि यों कहिआ छै।

९—पहिलैं माता दस मास उदर विषै गर्भ धारण करै। पछे दस बरस लगि पालण पोषण करि वडो करै। इतनो ऐक

परिपालै । तो पुत्र कों हेत विचारतां पितार्थी माता वडां । तेहि हित करि माता को वर्णन पहिलउ कीयउ ।

१०—दषिण दिसा । तिहां विदर्भ नामा देस अतिहो सौभत । ता देस माहे कुंदणपुर नाम नगर । सु नगर अति इसउ उतम । तिहां राजाजी भीषमक नाम राज करै । सु राज किसउ विराजै छै । नागलोक का राजा थैं सिरहर । नरलोक । देवलोक । असुरलोक । सब हो तइ अधिक अधिक सोभति छै ।

११—तिहि राजा रै पांच पुत्र छठी पुत्री । एक कउ नाम रुकम । दूजौ रुकमबाह । तीजै रुकमाली । चैाथौ रुकमकेस । पांचमो रुकमरथ । ऐ पांच बेटांका नाम कह्या छै ।

१२—रामां कहितां लदमी जी तिहिकौ अवतार । ताकउ नाम रुकमणी । सु किसी छइ । जिसौ मानसरोवर विषै हंस कउ बालक होय । कै सुमेरु कै विषै जिसी सुवर्ण की वेलि । दुदुं पानां हुइ होय । इसी रुकमणी जी देषीयइ छै । बाल अवस्था माहे इसी सोभित छै ।

१३—श्रोर बालक जितरौ वरसदिन माहे वधै । तितरै रुकमणीजी एक महीना माहें वधै । श्रौर महीना माहे वधै । तितरौ रुकमणीजी ऐक पुहर माहे वधै । लषण बत्रीस संयुक्त । बाललीला माहे राजकुआरि ढूलडिया रमै छइ ।

१४—रुकमणीजी कइ साथि जु सषी छै सु सीलै करि कुलै कर नै वै करि एक समान छै । जैसें कमल नी पांषूडो सर्व बराबरि छै । राजकुआंरि राय आंगणि कै विषै सषो विचि इसी सोभा पावै छै । जिसी आकास के विषै तारा मध्य द्वितीया को चंद्रमा कों सोभा पावै ।

१५--सैसव कहतां बालक अवस्था। तें माहे थकर बालक जाणे सूतां बराबरि छै। जौवन आवै तब जाणे जाग्यो। सु इह तीन बालक अवस्था माहे सूत्रै छै। नै यौवण आयै जागै छै। इहि विचि की संधि सु वयसंधि कहावै। जैसें सुपिनो। न सोवै छै न जागै छै। आगें पल पल चढतौ होसी। पिणि हिवै बैसंधि को इसौ प्रथम ग्यांन ताकी इसी परिछै।

१६—पहिलें मुषकै विषै अरुणता दीसण लागी। जैसें सूर्य कै उदय पूर्व दिसा कौ आकास देषीयै। इसी मुषि विषै आरक्तता दीसइ छैं। पयोहर जु उठ्या छै। योवन अरु बाल अवस्था की संधि माहे कैसे उठ्या छै। जैसैं रिषीस्वर राति अर दिन की संधि संध्यावंदण उठ्या होइ। रिषिस्वर की ओपमा कुचां ने दी। सु ए आवास तैं। जु राति अरु दिन की संधि संध्या वंदण उठै। अर ए बाल अवस्था योवन की संधि उठैं। तातें यो भाव लीयो। दूसरो यो भाव जु रिषिस्वरां को नाम सद्वृत कहीजै छै। इति अर्थः।

१७—जोवण आवंतो जाणि जीव नइ जंप नही छै। सु किसै आंटै। योवण आवै छै। पणि जावणहार छै। योवण आसी रहसी नही। तै आंटै तौ जीव नें जंप नही। अरु विलषी देषीजै छै सु कुंण वासतै। बालसंघाती बालपण बीछड़ै छै। बाल-संघाती बीछड़े छै। तातें घणुं विलषी छै। सुए आंटै छै।

१८—माता पिता कै आगै षेलतां। कामरा जु विराम छैं। सु छिपाया चाहिजै। सु कामरा विराम कुंण। जु ऐक तउ कुच प्रगट हुया। नेत्रां चंचलता हुई। नितंब भारी दीसै लागा। ए काम का विराम। पहिलें बालकपणें निषंक षेलती थी। अब इया बातरी लाज कीधी चाहीजै। एती क्यौं डील में लाज जु लाज करंता लाज आवे लागी।

१९—सैसव जु बालकपणो सोई तौ ससिर रिति हुई। सीत रिति सुतौ वितीत हो गयो। हिवइ रितिराउ कहतां वसंत रिति सरूपियौ जोवन सु आपणा नाना प्रकार गुणगतिमति सहित यों परिगह ले आयो।

२०—हिवै वसंत आयौ। योवन फूलिजै छै त्यां सरीर फूल्यउ। नेत्र सोई कमल हुआ। मधुर वाणी बोलै छै। सु कोकिला हुई कंठरै विषै। पलक छै नेत्रां की इहां तउ पांष हुई। भ्रूह सू भ्रमर आयो बसंत कौ परगह।

२१—मलयाचल पर्वत सोई तौ रुषमणीजी को सरीर। उठै ज्यों मलयतरु मौरजै छै। त्यौं अठे मन मौर्‍यौं मौर्‍यां पाछे कली हुवै। कुच येही कली हुई। कांमकी जौ दषिण दिसा हुती त्रिविध पवन सीतमंदसुगंध प्रगटै छै। त्यौं चतुर को नाम दत्तण कहावै छै। तौं रुषमणीजी छै सु चतुर छै। तिन रउ जु ऊर्ध सांसु उहै पवन हुवो।

२२—इहाँ रुषमणीजी कउ मुष पूर्ण चंद्र करि वर्णश्रै छै। रुषमणीजी का योवन आया अर्थात् प्रकट हुओ। इहाँ तो चंद्रमा का उदौ। रुषमणीजी को मंद हास्य छै। सोई चंद्रमा को प्रकाश भयो। रुषमणीजी की दंति पंकति सोभित छै। सोई तारा हुया। नेत्र प्रफूलित हुआ सुइ हैं कमोदनी। राति कै विषै दीप चाहिजै। सु रुषमणीजी की नासिका इहां दीप। राति कउ अंधकार चाहिजै। तौ केसपास छै सौइ राति भई। राका कहतां पूर्णिमा ताको ईस चंद्रमा सौई मुष हुऔ।

२३—अइ तौ सरीर रै विषै वधाया। अर उवै सरोवर रै विषै वधै। सु आंपणी वधती वैस विषै। अइ जोवन रै जौरि

बधीया। नइ उवे पाणी रै जोरि वधै। सु वधीया सु कांय वधाइया। हाथ वधीया......सु कमल करि वर्णया। अर ए बाह सु कमलरी नालि वर्णई। कामरा बाण कह्या छै। सु कमल।

२४—एजु रुषमणीजी कै कठिन स्तन छै सु करि कहतां हस्ती तिण का कपोल करि वर्णया छै। नवी वेसका कवि कहै छै। वाणी करि रूड़ा वषाणी। स्तनां उपरि स्यामता सौभै छै। सु जाणो जोवन का दाण दिषालिया छै।

२५—धरधर कहावै सुमेरु सु ए रुषमणीजी का स्तन छै। सुमेरु का शृंग करि वर्णया छै। कटि छै सु घणौ षीण छै अरु अति ही सुघट छै। पदमनी रुषमणीजी कौ जु नाभि सु प्रियाग करि वर्णयो। नाभि कै विषै जु त्रिवलि छै सु त्रिवेणि करि वर्णवो छै। श्रोण कहतां नितंब सोई तट हुउ।

२६—जंघस्थल किसौ छै। जिसौ करभ। करभ कांई कहिजै हाथरो चीटी आंगुली थी लै अर पुंहचा तांई इह तौ गूदौ। इह करभ कहीजै। दूसरा दृष्टांत जिसउ कैलि कौ पेड़ होय। विपरीत रुष कहतां उलटउ कीयउ। आगइ पींडी कइसो जैसो केलि कौ गर्भ। विदुष कहतां पंडित सुवचना करि वषाणै।

२७—पदपल्लव कहतां पगां की आंगुली। पुनरभव कहतां नष। आंगुलि उपरि नष छै। सु किसा सोभै छै। जैसइ उजल कमल उपरि जइसी पाणी की बूंद होय। बहुरि दूसरो दृष्टांत। कि इह तेज करि रतन हइ। बीजो दृष्टांत। कि तार कहतां रूपौ हइ। किना इह तारा छै। कइ हरिहंस

कहतां सूर्य कै ताक कै ससि कहतां चंद्रमा । सावक कहतां बचा छै । कै ए हीरा छै ।

२८—कोई कहसी रुषमणीजी श्रीकृष्णजी सों अनुराग हुअउ सु विण देष्यां क्योंकरि हुऔ । तिकौ जवाब देई छै । रुषमणी जी व्याकर्ण पढ्या । पुराण पढ्या । इतनां सबही मांझ ऐक परमेस्वर ही कौ अधिकार पायो । तब कह्यो सु परमेस्वर कोंण । तब पंडिता कह्यउ सु श्रीकृष्णजी । वसुदेवजी रा पुत्र । मनुष्य कै विचारि करि तौ इहिं भाँति अनुराग हुअउ । अर उवइ जातिस्मर हूंता ही । उनकों पहिलां जनमां की पहिचाणि हुंताही ।

२९—सास्त्र माहे सांभलि सांभलि रुषमणोजी रै कृष्णजी में अनुराग वध्यो । वरप्राप्ति हुआ वर की वांछा करै छै तिहि समय परमेसर रा गुण भणि जिकाई इच्छा उपनी छै । तिण पार-बती अर महारुद्र की पूजा करण लागा । इच्छा सोई हर कहिजै ।

३०—ईषे कहताँ देषितां माता इसा चिह्न देष्या । तब वीवाह करण रौ घणउ विचार हुवौ । तब कह्यो सुंदर सील कुल करि सुध । इतरां सिगलां थोकां करि ऐक कृष्णजी छै । ओरतउ इसो बींद सूझइ नहो । रुषमणीजी का माता पिता यो विचारयौ जु कृष्णजी ने दीजै ।

३१—रुषमणीजो कउ भाई रुकमइयौ । सो राजा भीषम सों अरु माता सुं कहै छै । जु सुनै तौ इह अकल उपजै छै । जु राजवियां ने ग्वालां किसी ग्याति । कुण जाति कुण पांति । राजवीयां री सगाई तौ राजवीयां सुं बूझै छै ।

३२—वले रुषमइयौ कहै छै। इतना राजवंस छोडि नें अहोर सुं सगाई करै। सू बूढा हुआं कौ वेसास को मत करो। देषौ माता पिता कितरउ चूकै छै।

३३—रुषमणीजी कउ पिता माता बेटा सों जबाब करै छै। कहै वै तूं पातरि मां भूलि मां। सुरनर नाग तीन्यों लोक जाकी सेवा करै सौई इह वासदेव कृष्णजी। जा रुषमणी छै सु लषिमी। तूं अह सगाई वरजि मां।

३४—तब रुषमइयो मजाद मेटि बोल्यौ। सु ससिपाल बराबरि वींद कोई नही। अति रोस करि जैसउ उलट्यौ ज्यो वरसाला कउ वाहल्यो उफणइ। ताको अर्थ जो पूर्ण गंभीर नही। हलूओ छै।

३५—तव रुषमइयो गुर कै घरि गयो। पणि वात समझो नहो। चूक गुर कहतां निगुरुउ थकउ गयो। दमघोष इसो नाम परोहित तको घरि जाय बोलयौ। कह्यउ परोहित। वडौ हित यौ ही छै। सुसा कहतां बहिनि। जउ ससिपाल नै ब्याही जै तौ ए षारिसउ हित बीजो नहीं छै।

३६—ब्राहमण ढील न कीधी। हुकम रै सारै थो। क्यों भली बुरी बात विचारी नहीं। लगन ले सिसुपाल कै नगरि प्रोहित चंदेरी पुहतउ।

३७—तव घणो आणंदित होइ ससिपाल विवाहण चाल्यो। ज्यों ग्रंथि विषै गायो छै। जितनो एक परिगह कह्यो छै। तिहिं भांति होय चाल्यो। अनेक राजा देस देसिका ससिपाल साथे चाल्या। जाण चाल्यां री गणती कोण करि सकै। वडा देसाधिपति साथि होइ नें चाल्या।

३८—ससिपाल आवतौ सुणि। राजा भीषमक कै अनेक उछव होण लागा। अनेक वाजा वाजै छै। पटंबर का मंडप छायजै छै। कुंदणपुरि सुवर्ण का कलश चहोडीजै छै।

३९—घरि घरि कै विषै भींति। हींगुलुरी गारि सों लीपै छै। फिटक की ईटां सों भींति चुणै छै। पाट चढाया छै सु चंदण का छै। धूभी सु पंना की छै। थांभा छै सु प्रवाली का छै।

४०—रंगरंग रा समीयाना उभा कीया छै। सोई मांनुं बादल हुआ। दमामां ढोल नीसाण अनेक नाना भांति का वाजा वाजै छै। सोई मानु मेघ गाजै छै। प्रोलि प्रोलि तोरण परठीया छै। सोई मानु मोर नृत्य करै छै।

४१—ससिपाल के संगि जु राजा हुंता। सु कुंदणपुर के निकट आया। तब निलाड़ि हाथ दे देषण लागा। कहै छै। दूरि तैं देषिजे छै। सु ऐ नगर छै। कि बादल छै। कि धवलागिरि पर्वत छै। कि धउलहर छै।

४२—अस्त्री अनेक गोषां चड़ी छै। मंगल गावै छै। ससिपाल छै। सु सूर्य आवै छै। यों जाणै छै सकल श्री जितनी छै। तितनी कमल पदमनी सूर्य कै उदै फूलौं त्यांस मस्त फूलै छै। एक रुषमणीजी कमोदिनी ज्यों सूर्य कइ उदइ सकुचै। त्यों सकुचै छै।

४३—जाली कै पेंडै बैठी रुषमणी देषै छै। जाणै छै इसो कोई लहां जु कागल कृस्नजी ने लेई जाय। रुषमणीजी रो तन मन छै। सु कृस्नजी नै मिल रहीयो छै। कागल लिषि राष्यो छै। नष ही लेषणी। आंसू अरु काजल मिलि त्या ही मसि (हुई) तासुं कागल लिषै छै।

४४—तितरे ऐक पवित्र ब्राह्मण जनेऊ सहित देष्यो । तेंने नमस्कार कर्यो । एक म्हारउ संदेसउ द्वारिका लगि जाय कहि । भाई ब्राह्मण जाय कहि ।

४५—रुषमणीजी ब्राहमण नै कहै छै । तूं ढील मतां करै । एक मतो हो या कार्य कई तांई । जहां जादवेंद्र श्रीकृष्ण छै । तहां तुं जाजे । माहारे मुषि हुतां तुं पगवंदण कहिजे । अनें यो कागल दीजे ।

४६—सूर्य अस्तमित हुओ धरां कै विषै गहमहाट होइ रहौ छै । मारग मारग थें पंथी आय विश्राम कीयउ । पंथ चालता रह्या । ब्राह्मण पुर हुंतां बाहरि चाल्यो । पणि राति पड़ी तवै सूतो । आगें चाल्यो नहीं ।

४७—ब्राहमण सूतौ थको सोंच करण लागो । लगन को दिन नेड़उ आयउ अर द्वारिकाजी दूरि । क्यों पुहचीजसी । इसो सोचि ब्राहमण कुंदणपूरि सूतउ । प्रातकाल जाग्यौ तौ द्वारिकाजी माहे जाग्यो ।

४८—ब्राहमण कुंदणपुर सूतौ थौ । सू द्वारिका माहें जाग्यो । तब वेद धुनि सुणै लागो । संष धुनि झालर बाजती सुणी । दमांमा वाजता सुण्यां । हेक तरफ द्वारिकाजी को कह कहतां सोर नगर रा लोकां (रो) सूणै । हेक तरफ समुद्र की लहरि कौ आघात सूणै । नगर कौ अर समुद्र कौ एक सब्द होइ रह्यो छै । ब्राहमण मनि इसो अचरज ? होण लागौ । जु हों यह कासु सुणूं छों । उठि करि देषै लागौ ।

४९—पाणीहार्यां का समूह देषै लागौ । त्यांह को वरण चंपाके फूल सारिषौ सौ सबही पणिहार्यां कै माथै कलस छै । सु

सुवर्ण का छै। अर सही कां हाथां कमल छै। तीरथ जिहें घाट घाट तिहां जंगम तीरथ कहतां अनेक तपसी देषीयत हइ। विमल कहतां उजल ब्राहमूण। अरु उजल ही जल। तिहां घणा ब्राहमूण स्नान संध्या करै छै। तब नगर कां चाल्यौ।

५०—आगे देख्यउ तौ हि गृहि गृहि विषै जग्य होय छै। जग्य जग्य रै विषै तप जाप होइ छै। नगर का मार्ग विषै अंबा मोरयां छै। आंब आंब रै विषै कोकिला बोलै छै। ब्राहमूण कुं विस्मय होण लागो।

५१—ब्राहमूण कहै छै। ए वात देषां छे सु सही छै। कि सुपनो छै। कि हुं अमरावती कहतां वैकुंठ आयौ छूं। इसो भ्रम ज उपज्यौ। तब एक कों पूछ्यो। जु हों कोण ठोर छों। तब उनि कह्यो जु देवता या श्रीद्वारिकाजी छै।

५२—जब इह वात सुणी जु हों द्वारिका आयो तब मन माहि संतोष हुऔ। जिण द्वारिका कही तिण ने नमस्कार करि आघौ चाल्यौ। बहुरि पूछतो (पूछतो) दरिबारि गयो। जातां ही श्रीकृष्णजी को दरसण हुओ।

५३—कंवल सरीषो मुष श्रीगोविंद देव रउ देषि। आपणा मन स्युं आलोच ब्राह्मण आलोचै लागौ। जु रुषमणीजी कृतारथ होस्यें। हों तौ कृतारथ हुऔ।

५४—अंतरजामी पूर्ण ब्रह्म उहां पहिले ही जाण्यौ। जु यौ ब्राहमूण यें ही काम आयो जों जाणि नै उठीया। दूरंतरी आवतउ देषि ब्राहमण का पगां वंदनां कीधी। करि नइ जिहि भांति वेदे कह्यो छै। तिहि भांति ब्राहमूण को आगत स्वागत आतीथ ध्रम कीधौ।

५५—श्री कृष्णदेव ब्राहमण ने संहस्कृत भाषा करि पूछै छै। तुम्हारौ आगमन क्यां हुश्रौ। कह कहतां कहि। किल कहतां निश्चय। कस्मात् कहतां कुण थल थे आयो। किमर्थं कहतां कुण कार्य। केन कहता कुणै मोकल्यो। कितीक दूर थैं आयौ छै। परिजंति कति को यो अर्थ। जु तुहारौ ग्राम कितीक दूरि छै। ब्रूहि कहतां कहि। जनेन कहतां जिहां तुम्हारइ हाथि संदेसो कह्यो है। हे ब्राहमण पुरतो अम्हे कहतां मेरे आगे जिहां पठयो हइ। अर जु कुछु संदेसउ कह्यो सु कहि। श्री कृष्णजी पूछै छै। कहां थे आयो। कुण कार्य। कुणइ मेल्ह्यो। कुण कन्हा आयो। किसै कामि यै बात तुम्ह कहि।

५६—तब ब्राहमण बोल्यो। कुंदणपुर हुतां आयो। वसुं पणि कुंदणपुरि। यों कहि ठाकुरजी के हाथि कागल दीयो। यों कह्यो राज लगे रुषमणीजी मेल्हीयो। समाचार इणि कागल माहि सहु छै।

५७—कागल हाथि लेतां ही महा आणंद उपज्यो। रोमांचित हैाण लागौ। आष्यां आँसू आवण लागा। कंठ कै विषै गदगद वाणि हुई ए अति हीं हर्ष का लष्यण छै। तिण कागल वाच्यो जाय नहीं। तब कागल कृष्णजी ने ब्राह्मण रै हाथि दीयो।

५८—देवाधिदेव श्रीकृष्णजी की आग्या पाय कागल वाचण लागौ। विधि पूरवक जक्यो कागल माहै वडाई लिषजै छै सु वांची आगे इह वीनती। जु असरणसरण तुम्हारो विरद छै। अर हुँ तुमारै सरणि आई छों।

५९—ए कागल का समाचार रुषमणीजी वीनती करै छै। जु बलि वंधण इहो जु संघ की बलि छै। सु स्याल षासी। जो मुनैं

बीजो कोई परणस्यै । तो इह महा अजोग्य वात होसी । जैसें कपिला गाइ दान दीजें । अर कसाई कों दीजें । कै जाणें तुलसी का दल चंडाल के हाथ दीजें । इसी अजोग्य होस्यैं जो मुनैं काई ओर परणस्यै ।

६०—रुषमणीजी कहै छै । तुंम विना यो कोई ग्रोर कोई भरतार म्हारें कारणैं आणसी । ईसो अजोग्य छै । जिसो अग्नि माहि उचष्टि होम करै छै । कि जिसो सालिग्राम सूद्र का ग्रह कै विषै । कि जिसो मलेछ के मुषि वेदमंत्र ।

६१—रुषमणीजी कागल माहे लिषोयो छै । जु हरिजा तुम्ह वाराह रो रूप धरि । हरिणाकसि मारि । अर पाताल थे म्हारो उधार कीयो । करणामय कहा तो तदि थानें कुणै सीष दीधी हुती ।

६२—देव दाणव भेला करि सूप को नेत्रो करि । मंदराचल पर्वत को मंथाण करि समुद्र माह थी काढि लीधी । तब थांनै कुंणै सीष दीधी जु यो कार्य कीज्यौ ।

६३—रांमा अवतार कै विषै । रावण मार्‍यो । सु थाने कुंणै सीष दीधी । त्रिकुटगढ जो लंका तिहि माहि थो माहरो उधार कीयो । अरु वेलाहरण कहतां समुद्र बाध्यो ।

६४—रुषमणीजी कहै छै । ज्यों उवे तीनि वेर म्हारो उधार कीयो थौ त्यों चौथी या वेलां आवणी छै । च्यारि हुँ भुजा । च्यारि हुँ आहुध लेहु । संष चक्र गदा पद्म ले अर म्हारो बाहर करौ । तुम्ह तो अंतरयामी छौ । थांसु मुष करि किसी वात कहीजै । जु आप हो थें अंतर्गति जाणौ ।

६५—कोई कहसी जों अंतरजामी छै । तौ इनसूं तु कांई कहै । रुषमणीजी कहै छै । तथापि हुँ रहि नहीं सकों छों । अर

बकों छूं कहतां कहों छों। एक तो हों स्त्री अर प्रेम करि आतुर हुई। अर द्वारिका दूरि छै। सु राजि तहां विराजौ छो। अर विवाह रउ दिन नेड़ौ आयो। अर दुसमन आय नेड़ौ वइठौ।

६६—जब कागल़ लिष्यो छै। तब लगन आडा तीन दिन था। या घात छै। घणउ किसो कहुँ। इसी घात ओर नहीं छै। पूजा रै मिसि अंबिका रै देहरै नगर बाहिरि हुँ आवुं छुं। इतनी सहेट बताई। कागल़ का समाचार इतना सुण्या। समाचार सुणत ही चल्या।

६७—सारंग धनुष हाथि लीयो। सिलीमुष वाण लीयो। सारथी साथि लीयो। ब्राहमूण आयो थो सु साथि लीयो। कागल़ क अरथ सुणी करि ततकाल़ रथ बैठा। कृपानिधि रथि बैठि चाल्या।

६८—कृष्णजी रै रथि घोड़ा जूता छै। त्यांह रा नाम सुग्रीवसेन। मेघपुहप सम उ बलाहिक (सम) महावेग सुं चालै छै। त्रिभुवन कहतां श्रीकृष्णजी षांति लागा रथ घणौ उतावला षेड़ै छै। जाणिजै छैं धरतीं पर्वत रूंष साम्हा दोड्या आवै छै। जाय पुंहच्या।

६६—सारथी नै कह्यो जु रथ ऊभो राषि। ब्राहमूण नै कह्यो रथ थी उतरि। कृष्णजी यों कह्यो जु योही कुंदणपुर छै। ब्राहमूण स्युं कहो हमारो नाम ले आया कहि। ज्यौ रुषमणी जी सुष मानै।

७०—रूषमणीजो जाण्यौ जु कृष्णजी रह्या इतनी ढील म्हांहरै सहाइ नै दौड़तां कदेन कीधी थी। चिंतातुर होय महा दुष

करि चिंतवन लागा। तितरैई छींक हुई। छींक होत हीं रुषमणीजी धीरज बांध्यौ। तितरै ब्राह्मण आवतउ रुषमणीजी री दृष्टि पड्यौ।

७१—ब्राहमण दृष्टि पड्यौ तव रुषमणी कौं मन ज्यों पीपलपान वाउ को मार्‍यो डोलै त्यों डोलिवा लागौ। न तौ बूझै न रह्यो जाय। लोक पासै बैठा छै। त्यांह कै संकोचि पूछ्यो न जाय। अर मन माहि डर छै। कदाचित यों कहै जु नाया। ज्यों ज्यों ब्राहमण नजीक आवै छै। त्यों त्यों रुषमणीजी ब्राहमण का मुष की धारणा ताकै छै। यों ले आयो होसी। तो मुष की धारणा रूड़ी होसी।

७२—ब्राहमण आयो सु विचार करण लागौ।। रुषमणीजी रै संगि सखी संत जण बैठा छै। ब्राहमण मन विचार कीयौ। जु इहि भांति कह्यों जिह भांति ए आदमी यो न जाणै। जु कृष्णजो नै ब्राहमण लेण गयो थौ। तब कह्यो ब्राहमण जु द्वारिका तैं कृष्णजी कुंदणपुर पधारीया छै। लोक इसी बात कहै छै। इतनो दुराव राष्यो।

७३—तब रुषमणीजी बांभण कुं नमस्कार कीयो। लोकां जाण्यो ब्राहमण निमित वंदणा कही। पणि हेत इहै जु ब्राहमण कृष्णजी नै ले आयो। इह हेत वंदना करी। ब्राहमण री कही कांन सुणी। कोई कहसी ब्राहमण नै क्युं दीयो। जो लक्ष्मी ओरां सू एक कटाक्ष चिंत्तवै ताको दलिद्र दूरि होय। तौ जाकै पाय लषमी आंप लागा। तिण रै अर्थ रो कौण अचिरज।

७४—कृष्णजी ने चढ्या सुणि। बलिभद्रजी चढीया। उतावलि सुं चड़िया। सु साथ बलिभद्रजी पणि। एकठो करि न

सक्यो। अर साथि लिया तिके इसा लिया। जो उण माहे एक ही होय तो इतरा कांम एकेलोई करै। इसा कलह विषै साथो। आषाढसिध लीया।

७५—मारग विषै भेला होय न सक्या नगर मांहि पैठा तब दून्यो भाई एकठा होय पैठा। सजन दुरजन नर नारी नांग रिषोस्वर राजा समस्त देषै लागा।

७६—कृष्णजी का जुदाजुदा रूप देषण लागा। कामिनी कहइ काम आयो। शत्रु कहण लागा काल आयो। और जिकेइ विरोधी न था त्यांह श्री नारायण को सरूप जाण्यो। वेद कां अरथी थां। त्यांह कह्यो मूर्त्तवंत वेद आयो। योगीस्वरां जाण्यो जोगतंत योही।

७७—वसुदेव कुमार श्रीकृष्णजी को मुष देषि। लोक आंप माहि परस्पर बात कहण लागा। रुषमणीजी सो यो वर परणीजसी। और राजा हर मत करौ।

७८—वडै महलि ले जाय उतार्‌या। इकेक ठाकुर आगे दोइ दोइ आँणि आँणि हाथ जोड़ि ऊभा रह्या छै। बलिभद्रजी अर श्रीकृष्णजी राजा रे आया। तौ मनुहारि री कुण अचिरज छै।

७९—रुषमणीजी आंपणी सषो सिषाई रांणी पासि मोकली। जो आज थे मुनै हुकम करो तो अंबिका री जात्र करि आवों।

८०—राणी दुओ दीधौ। रुषमणीजी ने। पति पूछि सुत पूछि। समस्त परिवार पूछि। दुओ दीधौ। कह्यो अंबिका की जात्र करि आवौ। पूजा को मिस छै। कार्य छै। सु श्रीकृष्णजी परसण को छै। रुषमणीजी शृंगार आरंभिया।

८१—कुमकुमो कहतां गुलाब रो पांणी। तिहां सूं स्नान कीयो। धोया वस्त्र अंगोछिवा निमित्त पहिर्‌या। त्यांथे पांणी की बूंद पड़ै छै। सु किसी देषिजै छै। जैसे मषतूल कौ डोरो तूटो छै अर गुणमोती छळहा कहतां उतावला छिटकि छिटकि पड़ै छै। इसी सोभा देषिजै छै।

८२—रुषमणीजी स्नान कीयो। ता पाछै सषी धूप देई छै केस पास मुगता करै छै। दुहुं हाथा सों केस पास जु उरला करि धूप देवै छै। ताको द्रष्टांति। मृग स्वरूपी श्रौ मन बांधिवा नै कांमदेव की वागुरि मांडी छै।

८३—बाजोट थी उतरि रुषमणीजी गादी आय बैठा। सिंगार कै रसि इतरै इक सषी आरसी ले मुह आगइ आय उभी हुई।

८४—पइहिली ही पोति आंणि गलै बांधी। ताको द्रष्टान्त। जैसे कपोत कहतां कंमेडा का कंठ की स्याह लीक देषीयै। दूसरो द्रष्टांत। जिसौ महारुद्र कै विषै विष की स्यांमता। तीसरो द्रष्टांत। जु सुमेर पाषती कालिंद्री फिरै छै। चौथो द्रष्टांत। समै भाग करि संष कृष्णजी एकै आंगुली सुं पकड्यौ छै।

८५—कवरी कहतां चोटी फूल दे दे गूंथी छै। सु मांनु यमुनाजी कै उपरि उजल फेंण चढ्या छै। उतिमंग कहतां माथो। तिह कै अधोअधि मांग सवारी छै। सु जैसौ अंबर कहतां आकास विषै कुमारमग इसी सोभित छै।

८६—अणियाला तीषा नयण। सु ए बाण करि वर्णया छै। तीर रौ लोह तब ही तेज होइ जब षुरसाण चढ़ाईयै। सु कुंडल ही षुरसाण हुआ। अर सिली करि नेत्रांजण करै

छै। सु पाथर की सिली करि हथियार बाढि दीजै। सु इहीं सिली करि नेत्रां नूं वाढ दीयो छै। हथियार संवारै छै। तव कहै छै जु पांणी नीको चालो छै। सु काजल दीयो सु योही जाणे पाणी चालीयो छै।

८७—कमनीय कहतां सुन्दर कुंकुं को तिलक जु कीयो छै। सु प्रतषि महादेव का मुष का आरष कहतां चिहन। आंपणै मुषि आणि वणाया छै। रुषमणीजी को निलाट सु योही चन्द्रमा हुऔ। महादेव कै तीसरै नैत्र अग्नि बसै छै। तिहि की जु ज्वाला उठै छै। इहै तिलक हुऔ। महारुद्र के ललाटि चन्द्रमा छै। ता उपरि अग्नि की सिषा नीकलैं। भृगुटी थै तिलक कीयो छै। निलाट लगै इह चंद्रमा थै कलंक दूरि कीयो छै। अर अग्नि निर्धूम की छै। उवा चन्द्रमा मांहे कलंक छै। अग्नि माहे धूम छै। सु इहां कलंक अर धूम दून्यों काट थां सुदूरि कीया छै। इसौ तिलक कौ भाव कह्यौ।

८८—निलाट अर मस्तक की संधि कै विषै। जड़ाव कौ टीकौ दीयौ छै। मानो इह टीको नहीं छै। ससिपाल कै आगमि भाग्य गुदी पाछै जाय रह्यो थैा। सु कृष्णजी रे आगमि। मांग कै पेंडै होय। सनमुष आई भालीयल विषै भाग्य उदै हुऔ छै। यैा टीको नहीं छै।

८९—चन्द्रमा प्राय सरीषौ मुष छै रुषमणी कौ। सु रथ करि वर्णयौ छै। भूहां छै सु जूड़ो हुऔ। चन्द्रमा कै रथ हिरण छै। सु नैत्र छै सु ये ही मृग हुवा छै। चन्द्रमा के रथि रासि सर्प की छै। सु इहां कुटिल अलक छै सु इहै रासि हुई। गाडी कै वांकीया हुहि छै। सु वाली कानां की एई वांकीया

हुआ । चन्द्रमा रथ हुओ (?) कुंडल छै सोई रथ का पहीया आछै । तथा चन्द्र छै सोई सारथी हुओ छै ।

९०—रुषमणीजी कंचुकी पहिरी छै सुमांनु इभ कहतां हस्ती ते कै कुंभस्थल उपरि अंधारी राषी छै । दूसरो द्दष्टांत । जाणे महादेव जी कवच पहिर्यो छै । काम सों जुद्ध करिवाकै ताई । तीसरो द्दष्टांत । श्रीकृष्णजी का मन के तांई मंडप छायो छै । जु मन आय वइसिसी । चौथौ भाव यौ । जु मन वांध्यो चाहिजै । त्यैं कै कारणै या वारिगह दीधी छै ।

९१—हिरणाषी रुषमणीजी त्यांका कंठ कै विषै । अंतरि जु सरसती थी । सु मानों वाहरि लाल रूप करि प्रगट हुई छै । जु इह कंठसरी गलै बांधी छै । सु कंठसरी कै दूहुँ तरफां कु मोती लागा छै । सु परमेस्वर की कीरति छै । कीरति छै सु उजल छै । मोतीयां सरूपिणी कोरति लीयां । सरसती कंठ थे बाहरि प्रगट हुई छै । या कंठसरी नहीं छै ।

९२—बाजूबंध बांहां जि बाध्यां छै । सु गौर बांहां छै । मषतूल सों पोया छै । सु गौरता उपरि स्यांमता किसी सोभै छै । जैस्यै मणीमै हीडोलै मन धरि हींडै छै । मणि को हीडोलो वांध्यौ छै । मणिधर सर्प हीडै छै । अर श्रीषंड चन्दन की साषा हीडौलौ बाध्यौ छै ।

९३—गजरा नवग्रही पुंचीया ए प्रोंचा कै विषै । आपणी आपणी ठोड़ । विधि विधि सो वणाया छै । ता कौ द्दष्टांति । हस्त नषत्र जाणों चन्द्रमा कै वीचि वेध्यौ छै । दूसरो भाव । जाणे आधा कमल कै विषै । अलि कहतां भ्रमर तांहकी पंकति फिरी छै । हाथ कों आधो कमल करि वर्णयो छै ।

९४—रुषमणीजी मोतीयां कौ हार पहिर्यो छै। इहां घणो फरष पड्यौ छै। हस्ती कै कुंभस्थलि। अर रुषमणीजी कै उरुस्थलि। तिसौ ही मोत्यां कौ हार रुषमणीजी का कंठ कै विषै छै। अर तिस्या ही मोती हस्ती का कुंभस्थल विषै छै। पणि सोभा वैसी नहीं। जैसी रुषमणीजी का उरुस्थल विषै छै। तिसी सोभा न पाई। तवै हीं षुणस का लीयां। हस्ती माथा ऊपरि रज नांषै लागौ।

९५—जु धोया वसत्र स्नान करि पहिरीया था। सु ऊतारिया नौतन वसत्र पहिरीया त्यांह को वर्णन करिवा कवि कहै छै। हों सामर्थ नहीं। तथापि दृष्टांत कहै छै। भूषण जि ग्रहणा तेई तो पुहप हुआ। अर स्तन ऐई फल हुआ। रुषमणीजी को सरीर याही वेलि हुई। वस्त्र एई पान हुआ। नीलंबर वसत्र पहिर्या छै। पहिलै जु रुषमणीजी कनक वेलि करि वर्णी थी त्यांह को यो निरवाह कीयो।

९६—रुषमणीजी कटि विषै। कटि मेषला जु पहिरी छै। कटि किसी छै। महा कृस छै। करला ऐक कै मापि छै उपरि कटि मेषला छै। सु किसी सोभित छै। जाणे नवे ग्रह। जोग कै प्रमाणि करि। भेला होय सिंघ रासि आया छै। कटि प्रदेश तौ संघ कौ लंक ताकी उपमा दी जै छै। तातै संघ रासि कौ भाव कह्यौ छै।

९७—चरणां विषै चामीकर कहतां सुवर्ण का नूपुर। अर घूंघरा बांध्या छै। चन्द्राणणि कहतां चन्दवदनी रुषमणीजी। ए मानौ घूघरा नहीं छै। ए पीला भ्रमर छै। ए पहिरायति छै। चोकीदार छै। रुषमणीजी का चरणकमल त्यँ को मकरंद जि रस। त्यें का रषवाला छै।

९८—दधि कहतां समुद्र सु समुद्र सोधि । अर जु मोती लीयो थौ । जु वणतौ देष्यो सष्यात । गुणमै सु सत्यं या बात सहो । नासिका आगे मोतीं जु झूलै छै । सु किसी सोभा पावै छै । जैसे सुकिदेवजी कै मुषि श्रीभागवत सोभै छै ।

९९—रुषमणीजी का मुष विषै । तंबोल को जु रस । कोकनद कहतां कमल । कमल सरूपी या मुष माहे । कमल माहे कंजुलिकं हुआ तैसें ए माहे दंत । दुति कहतां सोभा कांति । वांम करकै विषै एक बीड़ौ सु किसो देषिजै छै । जिसौ कीर कहतां सुआ । सु जातां हाथि सोभै छै । केलि का पातकौ षेषरौ तासों बीड़ौ । सु मानुं सुआ हाथ कै विषै क्रीडा करै छै ।

१००——रुषमणीजी समस्त श्रृंगार संपूरण करि देविका देहरा दिसि मन कीयो । मोतीयां जड़ित पाणही पहिरी छै । सु ए पाण ही नहीं छै । ए मांनुं चालि चालिवा की होड छांडि । हंस आणि पगां लागा छै । इसी चालि हमारै कहै चाली नहीं (?) इसी जाणि हंस आणि पगां लागा छै ।

१०१—रुषमणीजी नीलम्बर पहिरीयो छै । तिहि माहे जु ग्रहणा पहिरीया छै । सु अंग अंग कै विषै । सु नग रतन उदोत करै छै । सु किसा देषिजै छै । मांनुं सदनि कहता घर घर कै विषै । कामदेव दीवाली कीधी छै । आनंदित होय कै ।

१०२—कुमकुमा कहतां गुलाब । एक कै हाथि केसरि एक कै हाथि फूल । एक कै हाथि कपूर । एक कै हाथि पांन । एक कै हाथि अरगजउ । एक कै हाथि धूप । ए सषी सब सांमग्री लीयां छै ।

१०३—चौडोल लगें रुषमणीजी जिहिं भांति चाल्या छै । सु कवि कहै छै । इहि भांति वर्णिवा तों मेरी मति समर्थ नहीं । सषीयाँ

का घणा समूह मांहे। रुषमणीजी किसी देषिजै छै। जैसें घणा लाज रै बीचि सील देषीज्यै।

१०४—जिके रुषमणीजी का साथि नै चढि चढि आया। ले ले घोडां का तंग। जैसें ताक कहतां ताला सा जडीया छै। इसा दृढ़ तंग लीया छै। जोधा जि बड़ा बड़ा घोड़ा चढ़ी आया। सु सिलह मांहि इसा गरकाब हुया छै। जैसें आरसी मांहि प्रतिबंब लोह बीचि समाइ जाइ छै। त्यों लोह मांहि नष सिष लगै गरकाब छै।

१०५—जु रुकमणीजी का साथ कों रष्यां को पाइदल पाइक बिदा हुया छै। हलवलीया कहतां घणो उतावला छै। हाथी जु साध नैं मोजूद कीया छै। हालीया छै आगें होइ सु किसा देषिजै छै। ठौड़ ठौड़ चाल्या छै मदि बहता देषिजै छै त्यां का गात्र जिसा पहाड़ गति जिसी सरप (?) की सी छै।

१०६—घोड़ा छै सु महावेगवंत छै। रथ छै सु महा अंतरिष वहे छें। चन्दाणणि कहतां रुषमणीजी कै साथि ए चालीया। सु किसा दीसे छैं। जिसा अयोध्या का वासी बैकुंठ तैं। देही चालता दीसै छै। सारा दधि मांहि सनान कीयो। अर विमांण बैसि बैकुंठ ने चालता दीसै छै। इसी सोभा दीसै छै।

१०७—अंबिका कौ पारस पाषाण को जु देहरो छै। त्यैं कौं जु सेन्या वेरि रही छै सु किसी देषिजै छै। जैसी चन्द्रमा कै पासि जलहरी सौभै छै। कि सुमेर पाषती नषत्रां की माला सोभै छै। किना महादेव कै कंठि जैसी रुंडमाला सोभै छै।

१०८—रुषमणीजी देवाला माहि पधारि अंबिकाजी कौ दरसण कीयो। पूजा की घणैं भावसूं। घणीं प्रीति सूं। अंबिकाजी

आपणा हाथ सूं पूजि । जु वस्त आपणा मन नइ प्यारी थी । सु वस्त अपणै हाथि की । पूजा कौ फल हाथि आयो ।

१०९—रुषमणीजी जाण्यौ पहिली ही लड़ाई पड़सी। ठाकुर कौ दरसण विणहीं कीयां तब पहिले ही रुषमणीजी सेन्यां चितलाया । देवालाथें बाहरि आइ । समस्त सेनां दिसि द्दष्टि करि देष्यौ । पाछें क्यों थोड़ो सो हस्या । पछै क्यों थोड़ो सौ आलस कीयौ । अंग विस्फोटता कीयो । जंभाई आई पाछें क्यों थोड़ा थोड़ा (?) चाल्या गति दिषाई । पाछै क्यों एक संकुच्या । ए पाँचों बाण सेनां नें लागा । देषतां ही मन आषर षिलीयो । हस्तां वस्य होइ गयो । आलस्य कै मोड़ि वै मतवाला हुआ । चलिवें जेती सेना हुंती तेती सहु पघलि गई । सकुचि वै सबही की देह सोषी । निरजीव हुआ देहरा कै द्वारि आइ । ए तौ उद्यम कीयौ ।

११०—रुषमणीजी के देषतां ही सगली सेना जि हुती तितरां मन पंग हुआ । सहु सेना मूरछित हुई । देषतां ही कहुंने संग्या रही नहीं । सु उवै किसा देष जै छै मांनु जिंहि दिन देवालो करायो थौ । तिन दिन एही पाषाण का घड़ि कै बणाय राष्या छै ।

१११—तितरै श्रीकृष्णजी घोड़ा तेज षड़ि कै । सत्रु की सेन्याकों मंडल थौ ते माहि आया । यों न जाण्यौ जु पृथ्वी कै पेंडै आया कि आकास कै पेंडै आया । एसै तेजि आया तीन लोक का नाथ कै रथ की आवाज सुणी कि द्दष्टि ही देष्यौ । इसी तेजि आया ।

११२—वलि को बंधणहार । सब ही बात सामर्थ । श्रीकृष्णजी रुषमणीजी कौ बांह पकड़ि रथ उपरि बैसाणी । तबै वाहर

वाहर हुई। कहण लागा जु कोई होय सु दोड़िज्यौ। हरणांषी कहतां रुषमणीजी हरि कहतां कृष्ण हरि ले गयो।

११३—जहाँ जहाँ बैठा धवल् मंगल् सर सांभलि्ता था। तहाँ तहाँ पुकार सांभल्ो। जिके अलवेला ठाकुर जुवांन तिके केसरिया वागां पहिरे बैठा था त्यांह वेगिदे सघल्ां ही बगतर पहिर्या। ताको दृष्टांत। जैसैं बहुरूपिया सांग बदलैं। त्यँसैं सांग बदलि् गया। केसरियां पहर्यां था सु बगतर पहिर्यां दीसै लागा।

११४—चढि दौड्या छै। बडा बडा जे जोधा आगै पाछैं जु दौड्या छै। सु असवार किसा दीसै छै। जिसा चित्रामइ लिषीया। निहषरता कहां तेजि जावै छै। मुहडै बकता आवै छै। जु हिवैं जानीजसी।

११५—धूलि् जु ऊडी छै। त्यँ षेह माहे। सूरज किसौ देषिजै छै। जैसे वद्दलिया (वधूलिया ?) माहे पात दीसै। निवै हजार वाजित्र वाजै छै। सु सूणिजै न छैं। सु कुण वासतैं जु घोडांरी नासा वाजै छै। त्यांहरो आघात सबद होइ छै। जु इतरों कटक भेल्ौ हु आयौ छै।

११६—जु घणी छैती हुंती बिहु कटकां सु घोड़े तेज चालते नैड़ी कीधा। बिहूं फोजां आय देठाल्ौ हुऔ। जब कृष्णजी के साथि घोडां का मुंह फेरि साम्हां किया। तब वाहरू तेज उतावल्ा आवता था। सु वागां पाछा सु साम्हा हुआ।

११७—धिकै चाली। आम्ही साम्ही सुतौ जाणे काल्ी घटा मेघ कै हुई। सु मेघ को आड़ंग जाणे जोगिणी आवी छै। रत कहतां लोही वरससी वेपुड़ी कहतां वादल को पणि बेपुड़ी बहै छै। सु

दोवड़ा वादल आम्हां साम्हां हूया। तव कहे जु मेघ वरससी तैसे फौज पणि बेपुड़ी वहै छै। सु जाणीजै जु रगति वरससी।

११८—हयनालि हवाई कुहक बांण यांको सेर आघात होण लागौ वीरजु वडा वडा जोधा। त्यांकी वीर हाक होण लागो। गय हस्ती त्यांकी गहणि हुई। गहण कहतां भीड़ हुई। सिलह का लोह ऊपरि। जु बीरां का लोह लागौ छै। सु मेघ की बूंद समुद्र माहि पड़ै। ज्यों पाणी माहे पाणी मिलतौ जाय। त्यों लोह माहैं लोह तीरां को मिलतौ जाय छै।

११९—बरछीयांरा अणी चमचमाट जु करै छै। सु ए जाणौं किरणां तपइं छै। जबलग तपइ नहीं तबलग वरसै नहीं। किरण तपै छै सु बरछी किरण हुई कलि कहतां लड़ाई उकलिवा लागी। काइरता थी सु दूरि करी। जैसैं वाउ थंभै तो मेह वरसै। त्यों अठे असषपणौ दूरि हुऔ? (संवत् १८२६ में की गई इस टीका की नक़ल से इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार है—"त्यौं अठै विसिष कहतां तीर चलावणौं रहि गयो—" जो शुद्ध और स्पष्ट है)। धड़ां उपरि ऊजली धारां तरवार्यां की चमकण लागी। सु याही मानों बीजली चमकण लागी छै। औठै काला जीणसालिया का डोलइ है वादला। धड़ां उपरि तरवारि चमकै छै सुइ है वीजुली।

१२०—कायर छै त्यांका हांथ कांपिवा लागा। जु असुभकारी यो वरसण लागौ। ढोल दमामां नीसाण वाजै छै। सु योही मेघ गाजै छै। ऊजल धारां जु वरसै छै। सु जांणे मेघ धारां छै। शसत्र वृष्टि होय छै। परनाला सु एही जोधां का अंग त्यां जु लोही पड़ै छै। सु योही जल। (सं० १८२६

की नक़ल में इस प्रकार दिया है—"अवै संग्राम अरु वर्षा बराबरि करि वर्णवै छै। अठै कायर छै त्यांह का उर कांपण लागा। धड़धड़ाट करण लागा। उठै वर्षा विषै असुभ कारिया कहतां वाणीया जिके दुकाल़ हुवौ चाहै धांन संचै करै यौं जाणै दुकाल़ पड़ै तौ अन्न रो घणो द्रव्य उपजै। त्यांहरा मेह वरसतां उर कांपण लागा। अठै नीसाण कहतां जुद्धरा वाजित्र वाजता। उठै मेघ घड़ड़ाट करतां। उठै ऊजल़ी धार कहतां तरवारां सूं लोही पड़ै छै। उठै ऊजल़ीधार कहतां जल़धारा त्यांसूं परनाल़ां विषै पाणी पड़ै छै।")

१२१—रुधिर षेत माहे एकठो हुऔ छै। अर ऊपर जु रुधिर की बूंद पड़ै छै। त्यांह की जु ऊँची बूंद ऊछल़ै छै। सु चोटीयाल़ी कहावै इहै चोसठि योगणि हुई। हरषत हुइ नाचै छै। माथा छिटकि पड़ै छै। अर धड़ उठि उठि ऊभा हुआ छै। अनंति जु श्रीकृष्णजी अरु ससिपाल़ औझड़ां कौ झड़ लागौ छै।

१२२—रणि का अंगण कै विषै घणो जु रुधिर वहि चाल्यौ छै। सु कुण वासतै। जु घणा हाथां थे घणा जोधा पड्या। इसी लोही की नदी वहि चाली। त्यां ऊपरि जोगण्यां का पत्र ऊंधा पड्या वह्या जाय छै। सु किसा दैषिजै छै। मानों नदी माहि पाणी का बुदबुदा दीसै छै। त्यंसे जोगण्यां का पत्र वहिया जाय छै।

१२३—आंपणा जु बेली कहतां साथी था तांहने बलिभद्रजी पचार्‌या। कहीयो जु देषां अजैलग सत्रां रो साथ सावतौ ऊभौ छै। वूठै उपरि वाह देणरी इहै वेल़ा छै। सेई जीपसी जु हाथ वाहसी।

१२४—बलिभद्रजी फिरि दूसरौ जु लोहीरौ (?) उथलौ दीयौ। सु जाणे वाह उपरि बीज नै अर जसरौ बीज बीजजै छै। सु धरती किसी बीजजै छै। जु दुसमनां नै षारो जहर लागै छै। बलिभद्रजा कां हलां सुं दुसमनां का माथा टूटै छै। जैसें बीजां हलां सों रूषां का मूल जड़ त्रूटतां आघात होय। इणि भांति हलिधरिजो कौ हल वहै छै।

१२५—घणां डोला जोधां कां घणां घाउ लागा। घणां घावां तैं घणौ लोही नीसरीयो। घणां धड़ां थै ऊंची छींछ ऊछलै छै। षेत मांहि जु लोहो भेलो हुश्रौ छै। सु लोही नहीं छै मानों प्रवाली को षेत नींपनौ छै। अर ऊंची छींछ ऊछलै छै सु जाणे प्रवाली की कांवां छै। जहां षेती पाकै तहां सिरा नीसरै सु ऐ जोधां का हंस नीसरै छै। सु मानों सिरा नीसरै छै।

नोट:—दो० १२६-१२७ की टीका छोड़ दी गई।

१२८—षेती नीपजै तहां तौ कण आवै। सु वडा वडा जोधा मार्‌या सु एही मानुं कण लीया। भाजि गया सु जाणे कण कण किया। फोजां का समूह भागा सु एहि नाज का गाडा षांच्या। भर षंच्यौ। जहां षलौ होय तिहां चुणिवानै आय बैठै। बलिभद्र रै षलै। वल कहतां दुरजनां ऊपरि ग्रीध आणि बैठी छै। मांस चुगै छै। ग्रीधणि ही चिड़ी हुई। अर मांस ही नाज हुश्रौ।

१२९—समस्त लोक यो कहै छै। जु जरासंधि ससिपाल सरीषां। बलिभद्र सो लोंहे साहीयै। अनै वडै विरध ऊपजतै भागा छै। तौ श्रौ श्रौषाणौ साचो छै। जु वडां वडी प्रथमी एक

वडां थें बडा पणि छै। जरासंधि नै ससिपाल भागा छै। तौ यौ ओषाणौ सही।

१३०—बलिभद्रजी जुध कीयो। कृष्णजी रथि बैठा रुषमणीजी नै लीयां आगैं अकेला ही लीया जाता था। रुषमइयो रुषमणीजी को भाई। अकेलौ ही फिर आगै कृष्णजी नै पुहतौ। मुंहडा थी यों वाक्य बोल्यौ। अवला असत्री नै लियां घणी भोंय अहीर तूं आयौ छै। अब हूं आयौ छूं। पगमांडि नहीं जाण पावै। कृष्णजी सौं कहतो हुऔ।

१३१—जब रुषमइयै कृष्णजी वाकारे। तव कृष्णजी को मुहडो तेजि होय आयो। धनुष हाथि लीयौ। वाण पुणच सुं सांध्यो। सु काहे कौं बाण सांध्यों। रुषमइयां का बाण काटिवाकी तांई। सिस्ति बांधी। अणी मूठि द्रिढि एक सिस्ति की।

१३२—जब कृष्णजी रुषमइयै ओड देष्यें छैं। तब तो मन तपि उठै छै। जाणै छै जु मारूं। अरु रुषमणीजी की ओड देष्यैं छैं। तब मन ताढो (सं० १८२६ 'सीतल') होइ छैं। जाणै छै जु ए का भाई नै क्यों मारूं। ताको दृष्टांत। जैसे लोहार लोहा घड़े छै। जब आगि माहे लोह पकड़िनै संडासी देई तबतो बहुत तप आवै। अरु ढिग पाणीं को वासण राषै छै। तिहि मांहि दे संडासी ताढी करै। सु लोहार कौ जु वामो हाथ। सोइ कृष्णजी रो डील हुऔ। रुषमइया की तरफ देषै छै तब तपि आवै। रुषमणीजी की तरफ देष्यें सीतल होय आवै।

१३३—एकतो सगाई की सनस मन मांहि आवै लागी। और रुषमणीजी गोडि वैठा छै। सु मारिवा कौ तौ मतौ छोड्यो।

जु न मारूं इह अदभुत ज वात छै। जोई बांग रुषमइयौ सांध्यौ। सोई बांग सुं काटि नाषै।

१३४—सोना कौ नाम छै रुषमइयो निराउध कीयो। आवध काटि नांष्या। पकड्यो पकड़ि केस उतार्या। तब विरूप दीसै लागौ। आंपणों जीव षिज्यां थका जु रुषमइया कौ जीव छोड्यौ स्रु रुषमणीजी को अंतकरण जाणि कै। जु ए दुष पावसी। रुषमणीजी का मन राषिवा कै आंटै जीव न मार्यौ।

१३५—इहि समै बलिभद्रजी लड़ाई जीति कै आय पुहता। स्रु अग्रज वडो भाई कहावै। अनुज लहुड़ो कहावै। बलिभद्रजी कृष्णजी नै कहै छै। जु या अयोग्य वात करी। तिहि नै इसी सजा दीनी। दुष्ट सासना कहतां बुरी सजा दीन्ही। तिहिं की बहिन पासि वैसारी छै। भलो काम कीयो भलेंजी। यों कहि उलाहणो दीयौ।

१३६—जब बलिभद्रजी आई उलाहणो दीयौ। तब कृष्णजी लजाय कै नीची दृष्टि करी। पुंडरीकाष षहतां कंवल नयण प्रसंन हुआ। कुण कारण प्रसन्न हुआ। प्रथम तौ बलिभद्रजी की आज्ञा मानी चाहियइ। बीजौ रुषमणीजो कौ मन राष्यो चाहिजै।

१३७—करता अकरता कीयो होय सु मेटे सबही बातां सामर्थ। कृष्णजो जु हाथ साला नैं महकम करि लगाया था सेई हाथ माथा ऊपरि दीया। थाप्यौ निवाजि चाल्यौ।

१३८—एक तो बडी लड़ाई जीपजै। तब बडो आणंद होय छै। अर एक रूड़ो विवाह होयै छै। तब बडो आणंद हुयै छै। सु दून्यो ही आणंद एक ही दिन भेला हुआ। जरासंधि ससपाल जोता अर रुषमणीजी सारीषी परणी। इसौ आणंद देषि कै कटक माहे थै वधाऊहार आगें वादोवादि दौड्या

१३९—द्वारिकाजी मांहि। लोगांनें घरां का कारज भूलिगा घरघर कै विषै महाग्रह सौ पड्यौ छै। जोई आवै छै। त्यांनै पूछिजै छै। महा चिंतावंत हुआ छै। सघलां ही को मन उवै पेंडै लागौ छै। जिहि पेंडै श्रीकृष्ण पधार्‌या छै। समस्त प्रजा उंच्यां अटाल्यां चढि चढि मारग जोवै छै। मनां मांहि जाणै छै। सु थोड़ा साथ स्युं पधार्‌या छै। अर आगें दुसमण घणा छै। तिण द्वारिकाजी माहें लोग चिंतातुर हुआ वाट जोयै छै।

१४०—पेंडौ देषतां केई जु घणू तेज उतावला आवता देष्या। तब पेट मांहे झल उठी। जु ए उतावला आवै छै। न जांणां कांई कहसी। तब उणांरे हाथां नीली डाल देषी। तब कुसस-थली कहतां द्वारिकाजी का वासी नींलाणा कहतां षुसी हुआ। मन मांहि आनंद हुऔ। सही नीली डाली हाथां छै सु कुसल छै। जब कोई बधाईहार भली वधाई ल्यावै। तब नीली डाल हाथि लै। इह रीति हद सदाही सुषकरि कितना एक आदम्यां नै जवाब दे। डाल देष्यां सब ही को मन आंणंदति होय।

१४१—कृष्णजी कौ आगम सुणि। नगर मांहिं सहु किंही लोगा नै। उदम हुऔ छै। कृष्णजी रुषमणीजी का वधावण कै कारणै। सहु कोई नगर मांहैं फिरै छै। महा आणंद हुऔ छै। सु किसौ देषिजै छै। जिसौ पूर्णिमासी कै विषै दिन चंद्रमा कै दरसणि। समुद्र लहरें लेतौ देषिजै। तैसौ नगर देषिजै छै।

१४२—जके वधाईहार आया था। तांहारे घरे द्वारिकारा वासीयां दलिद्र कौ दलिद्र दीयौ। बांरे घर विषै दलिद्र न रह्यो।

उछव मंगलाचार हुआ। अषत हरी द्रोब केसरि हलिद्र स्युं लोग षेले छै। घर घर मंगल हुआै छै।

१४३—एकैं मारगि पुरष येकै मारगि स्त्री। उछाह करि कै साम्हा चाल्या छैं। श्रीकृष्ण रुषमणीजी साम्हां चाल्या छै। जाण्यौ ए साम्हां नहीं चाल्या छै। ये द्वारिकाजी दून्यो बाहां पसारी छै। कृष्णजी ने मिलिवा नै।

१४४—छत्र जु रंगरंग का ऊभा कीया छै। त्यांह का डांडा जु जड़ाव का। तिणि का नग चमकै छै। सु याही मानुं बीजली चमकै छै। मोती झालरियां थें झड़ि पड़ै छै। सुही मानु मेघ की बूंद पड़ै छै। छत्र रंगरंग का इतना उभा हुआ छैं सु आकाश आछादित हुआै छै। सु जाणे अनेक रंगरंग का बादल हुआ छै। रंगरंग का बादल छै सु येही मेघ हुआै।

१४५—जहां जहां प्रोलि छै तहां आरसी ही की प्रोलि। जितना मारग छै तितरां सघलां प्रोलि छै। पैंडा जितना छै। तितना सघलां ही रंगरंग का अबीर बिछाया छै। रज उडै सु अबीर ही उडै। सैन्या सहर मांहे पेसती किसी सोभै छै। ताकौ दृष्टांत। जैसें समुद्र मांहे नदी आय मिलै छै।

१४६—धवलहरां चढी गीत गावै छै। नागर कहतां चतुर स्त्री छै। सु जसि करि कृष्णजी उजल हुआ छै। आवता देषि गीत गावै छै। सु धण रुषमणीजी सहित कुसल सहित। बलि-भद्रजी सहित। सिघली ही सेना सहित। इसा श्रीकृष्णजी आया देषि ऊपरि पुहप वृष्टि होय छै।

१४७—सिसु कहतां बालक बेटौ। तिकोई जुध रे विषै। ससिपाल नैं जरासंधिनें जोति ने घरे आया छै। तब आरती उतारै

छै। अर वसुदेव देवकी श्रीकृष्णजी को मुष देषि। वार वार पाणी उआरि पीयै छै।

१४८—यथा विधि छै त्यां करि वधावो कीयो। वाजित्र अनेक बजाया। समस्त मनुष्यां कै मुष एक भाँति मंगलाचार बोलै छै। कहे छै इह जोड़ी अविचल होहु आदर करै छै। राजांन छै सु तो श्रीकृष्णजी री भगति करै छै घर कै विषै पधराया छै।

१४९—समस्त जोतिगी बुलाया वसुदेव देवकी मुंहडा आगा बुलाय बूझ्या। जु लगन नीको देखि देउ जोतिष ग्रंथ देषि विचार कहो। जु रुषमणीजी कौ किसै दिन विवाह होय।

१५०—जु वेदवंत भला ब्राह्मण था। त्यां वेदरो वेदोकित विचारयौ। वात पणि कही चाहीजै अर मन मांहे भय उपनो छै। मत वसदेवजी बुरौ मांनै पणि जरूर हुई। ब्राह्मण जु कछु धर्म्म होय कहै। तब कह्यो एक स्त्री सु वार वार पाणीग्रहण न होय हथलेवो एक ही वार होय।

१५१—ब्राह्मण जके त्रिकालदरसी हुँता। ज्यां नै तीन काल री बात सूझै। भूत भविष्यत् वर्तमान। भूत स पहिलो होय गयो। भविष्यत सो जु पाछै होसी। वर्तमान सु जु हिवै होवै छै। ऐ तीन्यो काल जांनै सूझता था तिए निरणै करि कह्यो। जब रुषमणीजी रो हरण हुओ छै। तव सगला दोषे रहित निरमलो साहो थौ।

१५२—वसुदेवजी सौं देवकी सौं ब्राह्मणे आप माहे विचारि कह्यो। हथलैवो तो हरण कै समै होइ नींबड्यो। और जकेई संस-कार करणा होइ सु करौ।

१५३—अब विवाह कौ आरंभ भयौ। ब्राह्मण विवाह करण नै किसा आणि बैठा छै जिसा साच्चात मूर्तिवंत वेद। वेदी छै सु रतन

जड़ित छै। नीला बांस छै। अरजन (अरण ?) कहतां रूपा का कलसां की वेह छै। काष्टमयी ततकाल अगनि काढी छै सु अगनि। लाकड़ी अगर की छै। आहुति देण नै घी अर कपूर घणौ होमज्यै छै।

१५४—पछिम दिसा अरु पूरब सनमुष पाट मांड्यौ छै। ऊपरि छत्र ऊभा कीया छै। मधुपरक आदि दे। अर सब सहसकार सासत्र कीया। वर कन्या तहां बैठाड़ि सब विधि कीधो।

१५५—समस्त मनुष्य छै त्यां सिघलां हरी आंषि श्रीकृष्णजी रा मुष सों दृष्टि लागि रही छै। ताकौ दृष्टांत। जैसें समुद्र कै विषै चंद्रमा का प्रतिबिंब नै मछली सब लागि रहैं छै। आंगि पासि घेरि रहै छै। इह भाँति सबही का नैत्र कृष्णजी का मुषारविंद नै आरोपित कीया छै। अर अटाल्यां चडिचडि यौं मुष देषै छै। अर मुषि करि मंगल गीत गावै छै।

१५६—त्रिण्हि फेरि फैरीया। चौथे फेरे दुलह आगें हुऔ। दुलहणि पाछी हुई। हथलेवौ कृष्णजी आंगुंठा सहित पाकड़्यो। जैसें हाथी सुंड सूं कमल पाकड़ै। इह दृष्टांत।

१५७—तब रुषमणीजी डावै पासै बैसाण्यां। ज्यों विधि छै त्यों बोल वाचा लै। ज्यों कही छै त्यों करि नै विवाह पूरण कीयो। तिहि वेलां वेद का पठणहारां। मुंहमांगी सु नव ही निधि पाई।

१५८—श्रीकृष्णजी आगै। रुषमणी जी पाछै होय रहवा कौ महल थौ तेनें चाल्या। चोंरी छोड़ी हथलेवो छौड्यौ। अंचल गांठि दीधो छै। सु जाणे या मन की गांठि छै। अंचल नहीं वांध्या छै। सु जाणे कि मन बांध्यो छै।

१५९—सषीयां आगै जाय केलिगृह कहतां रहस्य मंदिर सयन मंदिर तिहिकौ अंगण मारजण कहतां संवारयो। सेज विछाई छै। सु मानो षीर समुद्र छै। ऊपरि फूल बिछाया छै सु मानो समुद्र का फेण छै।

१६०—आभा कहतां सोभा सु तौ महल माहें। अनेक अनेक रंग का चितराम छै। त्यांह की कांति सोभै छै। मणि छै। वडा-वडा रतन छै। एही मानो दीपक हुआ। मनि सहि करि कीया छै। चंदूआ ऊपरि ऊभा कीया छै। सु एही मानो सेष नाग का फण छै। जलसाई पोढै छै। तब सेष नाग फणकरि छाया करै छै।

१६१—इहां कृष्णजी केलि मंदिर विषै बैठा छै। रुषमणीजी नैं सषीयां बीजै मंदिर पधराया छै। जुदा तौ कीया छै। पणि वेगा मिलवा के अर्थि। चतुर सषी छै त्यां मिलिकै विवाह रौ सहंसकार समस्त पूरण कीयौ। अब रति कौ सहंसकार करिवा कै अरथि सषीयां उद्यम कीयौ छै।

१६२—संध्या कौ समय हुऔ छै। कृष्णजी रति वांछै छै। जिहिं संध्या कै समय इतरी वात संकुड़ी छै। ज्यांका भरतार परदेसी था। त्यांह की दृष्टि पंडा दिसे पसरी थी सु संकुड़ी जाण्यो जु आज नाया। बीजी पंषीयां की पांष पसरी थी सु संकुड़ी। कमलां की पांषुड़ी विकसी थी सु संकुड़ी। सूरज की किरण पसरी थी सु संकुड़ी।

१६३—कृष्णजी छै। सु रुषमणीजी का मुष देषण नै। अति आतुर हुआ छै। रात्रि कौ मुष चाहि करतां नीठ पायौ छै। ज्यों पहिला दुआला (दोहला) माहें कही जु च्यारि वात पसरी थी। सु संकुड़ी कही। त्यों ये दुआला माहे च्यार

वात संकुड़ी थी सु पसरी। चांद किरण संकुड़ी थी सु पसरी। कुलटा कहतां विभचारिणी की दृष्टि संकुड़ी थी सु पसरी। निसाचर कहतां राति कै विषै जु विचरै छै। त्यांह की दृष्टि पसरी। अभिसारिका कहतां जिह नै सहेट वदी थी। त्यांह की दृष्टि पसरी।

१६४—बीजा तौ पंषी छै। तितरा भेला होय संजोग होय। चकवा छै सु बीछुड़ै। नेस कहतां घरां कै विषै। राति अर दिन की संधि। कामनी जु स्त्री तहां जु दीपक जगाया छै। सु ए मानुं दीपक नहीं छै। जके कांमी पुरुष छै। तिण कौ कामागनि करि मन जगायक छै। त्यांह का मन जगाया छै।

१६५—जठे सृणहर छै। तठा नैं रुषमणीजी नै सषी पधरावै छै। मन माहे भय उपनौ छै। तिहिं कै लीयै उभा हुइ रहीया छै। सषी प्रसंसा करै छै। सु रुषमणी कृतारथ तो हुई छै। आपणा प्रीय मिलण रौ कृतारथ रह्यौ छै। रुषमणीजी तो इह भाँति छै। अर कृष्णजी छै सु षवास पासवान सब दूरि कीया छै। वाट चाहै छै। एक वार तौ द्वारे आय कान दे आहाट सुणै छै। बहुरि सेज छै। तठै पधारै छै। ग्रैसें द्वारि अर सेज विचि पधारिबो करै छै। वार वार फिरै छै। कब जुं सिज्या आय वैसै छै। कब जुं द्वारें आय कान दे सुणै छै।

१६६—हंसागति जु रुषमणीजी। तिहि नै देषवा कै तांई आतुर हुआ छै। श्रीकृष्णजी जैसें कोई आणि वधाई दे छै। तइसें सोंधा कें वासि। अर नूपुर कै सब्दि। आँणि वधाई दीन्ही। आगम कह्यो।

१६७—सषा जु लीयाँ आवै छै। तांह का हाथ षांचि षांचि उभा रहै छै। ज्यों मदिवहतौ हाथी ग्रोष (पैंड) दोय चलै। अर

वले मुरड नै ऊभो रहै। त्यौं रुषमणीजी ऊभा रहता जाय छै। अर सषी चलावै छै। लाज का लोह लंगरां लगाया। ज्यों मदवहतो हाथी आणीजै। त्यों गजगमणी रुषमणीजी नै सषी ले आई।

१६८—जब देहली भीतर रुषमणीजी आया। तब देहली लांघतां पग आघौ दीयौ। तठे जेहड़ि पग की श्रीकृष्णजी की नजरि पड़ी। जे हरि देषतां जु कोई आणंद उपज्यौ। तिहि की मरजादा नहीं। इतरौ आणंद अधिक उपज्यौ। जेहड़ि कै दैषत हीं कृष्णजी कै रौमांचि हुऔ। सो ए मानों रोम ऊभा नहीं हुआ छै। ये आदर देण कूं आपही ऊभा हुआ छै। जैसैं कोई ओर भी वल्हम हित आवै छै। त्यों ते ऊभा हुव्यै छै। त्यों इहां रुषमणीजी कै आयां तै कृष्णजी रोमांच कै उठिवै आदर दीयो।

१६९—जिंह घड़ी नै घणु' वांछता था घणा दिन लगैं। सु घड़ी आण मिली। आंपण कृष्णजी अंकमाल भरि कै रुषमणीजी सेज ऊपरि पधराया।

१७०—कृष्णजी को आंषि जु रुषमणीजी कै रूपि करि प्रेरी छै। सु आष्यां नै देषिवा की त्रिपति होय नहीं। जदपि मननै त्रिपति हुई छै। वारंवार मुषकी ओड देष्यै छै। जैसें निरधन कौ धन प्रापति होय। अर वारवार देखिवौ करै।

१७१—जु रुषमणीजी कै पट घूंघट छै। तिं माहि एक बार कटाछि करि देषै छै अर बहुड़ि दृष्टि दुरावै छै। कटाछि एक वार उहां जाय छै एक वेर फिरि इहां आवै। तौ जाणिजै छै इह दुहुं का मन दंपति छै तो ये कटाछि नहीं छै। ए दूती छै विचि फिरै छै। यांने मेलि एक करणा। यां दुहुं का मन सूत छै तौ या नली छै। तौ पणि वणाई एक करसी।

१७२—ये जु पासि सषी त्यां जब श्रीकृष्णजी अर रुषमणीजी कौ आंषिया थें अर मुष का विलास थें अंतहकरण जाण्यौ। तब ये भ्रुहां ही में थोड़ो थोड़ो हसि। अर एक एक होय गृह थें स जु वाहरि गई।

१७३—एकांति कै विषै जु विधि छै। तिह करि क्रीड़ा कौ जु आरंभ हुऔ सु न किन ही देवतां दीठौ। न किन ही रिषीस्वर दीठौ। तौ कवि कहै छै। अणदीठौ। अणसुण्यौ क्यों वरण्यौ जाय। उहि सुष नै वे ईस्वर ही जाण्यौ।

१७४—तब श्रीकृष्णजी पवन चाहै छै। धौलहर कै छाजै आय ऊभा हुआ छै। रुषमणीजी सिज्या विषै पउढ्या छै जिसौ कोई निजीव मार्‌यो थकौ पड्यो होय। सुरत कै अंति सिज्या विषै पौढ्यां किसा देषिजै छै। जैसैं मदोन्मत्त हस्ती समुद्र माहे षेलतौ थकौ कमलनी नै त्रोड़ि जाई। अर कमलनी पाछें पाणी उपरि थरकि रहै। इसी सिज्या विषै रुषमणीजी देषजै छै।

१७५—रुषमणीजी का लिलाट कै विषै। जु कुंकुं की विदुंली छै। अर आसि पासि प्रसेद का कण चढ्या छै। सु किसा देषिजै छै। जैसे मध्य नायक तौ मांणिक छै। अर कुंदण के बीचि जड्यो छै। आसि पासि हीरा लागा छै। इसौ निलाड़ सौभा पावै छै। जु तौ कुंकुं की बिंदली उहै तौ माणिक हुऔ। रुषमणीजी कौ निलाट उहै कुंदण हुऔ। आसि पासि प्रसेद का कण छै। उहै हीरा हुआ। अर उही कों कारीगर जड़णहारो कामदेव हुऔ।

नोटः—दो० १७६ की टीका छोड़ दी गई है।

१७७—तिहि समै सषी कै गलि लागि सिज्या थें रुषमणीजी उठ्या छै। ताकौ दृष्टांति। जैसैं भमर आई बैसैं। अर भमर

का भार सूं वल्ली की लता धरती पड़ै। केलि का पेड को अवलंब लहि। पेड सों लपटाय वल ऊंची चढै। तैसे रुषमणीजी सषी कै गलि लागि ऊभी हुई।

१७८—मंदिरांतर विषै सषी श्रम मेटिवा नै ले गई थी। सु प्राण-नाथ श्रीकृष्णजी त्यां कन्है वल रुषमणी कों ले आई। कैसी लाज भय प्रीति। तीन्यों वातां सहित ले आई। माथा का केस मुगता हुआ। छूटी छै मुगता निबोल हार थी सु छूटो छै। कंचुकी की कस छूटी छै। अर कटि मेषला बंधण थे छूटी छै।

१७६—केलि कहतां क्रीड़ा त्यें कौ घणौ सुष पायो। स्याम कृष्णजी। स्यामा रुषमणीजी के संगि। सषी जु मन की राषणहार त्यां कौ घेरउ जुड़ रह्यो छै। मनयै समयै उपरि बात कहि के जु हासि करै छै चित्रसाली कै विषै येक कह-कहाट होय रह्यो छै।

१८०—येक तौ तत चिंता सों राता छै। परमेस्वर स्यूं लीन हुआ। अर दूसरा रति सौं राता छै। जु स्त्री विषै आसक्त हुआ छै। वे तौ गिरि कंदरि विषै। अर ये आंपणा गृहि विषै। ये बिन्है गण जांहरा। समस्त संसार निद्रा कै वसि हुआ छै। महा निसि कहतां अर्ध राति कै विषै सब कोई सोयै छै। तब कै जोगीस्वर जागै छै। कै कामी जागै छै। वांका मन परमेस्वर सों लागा छै। यांका मन रति सों लागा छै। ये दून्यो जागै छै।

१८१—लषमी जु रुषमणीजी श्रीकृष्णजी का हरष आणंद का समूह माहे मगन होय रहें छै। ज्यों २ राति घटै छै। सु जाणे आउरदा (आयु ?) घटै छै। मत प्रभात होय अर घड़ी ही

को विछोड़ो होय। इह बीचि अरणौद होण लागौ। मुरगो बोलि उठ्यो। जांह नै विषै रसि करि षेलिवो प्यारौ लागतौ थो। त्यांह नै मुरगा कौ साद किसो लागौ। जिसौ जांह नै घणो दिन जीव तौ प्यारौ बहुत होय। घणो दिन जीवौ चाहित होय। तिहा नै जिसौ घड़िया वलि को साद लागै। यैसौ बुरौ किरीट कहतां मुरगा को साद बुरौ लागै छै।

१८२—प्रभां कहतां जोति सो चंद्रमा की गई। जब राति वितीत होण लागी। तब चंद्रमा किसौ दीसै छै। जिसौ भरतार असमाध्यां थकां सती कौ मुष देषिज्यै। जब पिउ वै माहे सक्त छै। चंद्रमा माहि ज्योति छै। श्रौ दुष का मारयां अर ये दिन की जोति नजीक आयां। दून्यो बिसोभित सा देषिजै छै। दीपक समीप सांझ जिसौ जलतौ थौ तिसो ही जलै छै। पणि सोभा न पावै किसो देषिजै छै। सफरिम पाषै ? (विना) जिसो सूरतन मरद कै डोलि देषियै। दीवा पाछिलो राति इसौ झांषो दीसै छै।

१८३—अरणोदे कै विषै चकवां की साध (कहतां वांछा) मिलो संजोग हुश्रौ। अर कोक का रमणहार। तांह की साध रहित हुई। प्रभात हुश्रौ। श्रौर ही उद्यम लागा। फूल जु संकुच्या था। अर वास नै ग्रही रहीया था। त्यांह तौ वास छोडी। विकस्या। अर ग्रहणा हुता तेहै सीतलता ग्रही ठंढा हुआ।

१८४—संष धुनि अर भेरि सबद जु हुआ। येही मांनुं अनाहत सबद हुश्रौ। अरणोदे हुश्रौ सु इहि जोगाभ्यास

हुऔ। जैसै जोगेस्वरां कै माया का पटल दूरि वै छै। तैसैं ही तो रात्रि दूरि हुई छै। अर प्राणायाम योगेस्वरां का इहै जोति प्रकाश हुऔ।

१८५—जांह का भरतार तो घरे था। तांह स्त्रीयां का तौ वस्त्र रई कहतां मथाणी जिहि सुं दही मथिजै। चंद्र विकासी कमल। त्यांह की श्री कहतां सोभा। ये तीन्यों वस्तु छूटी थी सु सूर्य कै उदै बांधी। अने घरां हाटां का ताला भमरां की पांष। अनै गऊ ये तीन्यो वस्तु बांधा था। सु सूर्य कै उदै छूटो। अर वे तीन्यो छूटी थी सु बांधी।

१८६—जके व्यापार करै छै। त्यांह की स्त्री गाय अर बछड़ा। बिभचार ही करणहारी स्त्री अर लंपट। ये तीन्यो रात्रि कै समै भेला हुता त्यांह नै वियोग हुऔ। चोरां की स्त्री अर चोर चकवा अर चकवी ब्राह्मण अर तीरथां का जल। ये तीन्यों बीछड़्या था सु सूरिजि कै उदै मिल्या। अर वे तीन्यो मिल्या था सु बीछड़्या। सूर्य कै प्रकासि मिल्या था। त्यांह वियोग हुओ। वियोगी था त्यांह नै मेल हुऔ।

१८७—नदी अर दिन वधन लागा तलावां रो पाणी अर राति घटण लागी। धरा कहतां प्रिथी गाढ पकड़्यौ कठोर हुई। हेमाचल पर्वत परघल्यौ। जगत कहतां संसार का सुष था सु रूंषां की छाया माथे राषण लागा। सीतकाल माहै सूरिज तिरछै पैंडे चलतौ थौ। सु धूपकाल कै विषै सूरज माथा ऊपरि चालण लागौ। तैं आंटे माथा रूंषां की छांह नीचै राषण लागा। राह कहतां पैंडौ सूधौ आकास पाकड़्यौ।

१८८—मनुष्य जु गरमी करि व्याकुल हुवै छै। अर रूंषां की छाह वांछे छै। सु ये वात रौ न्याउ छै। इसी गरमी हुई छै। जु सूर्य पणि हेमाचल कौ सरणौ पकड़ै छै। अर सूरज हो वृषि आया छै। और तौ सब मनुष्य तौ रूंषे आवै ही आवै। मानुं सूरज वृष रासि नहीं आयौ छै। व्रिष कहतां रूंष की छांह आयौं छै।

१८६—जलक्रीड़ा कौ वर्णन हुग्रै छै। श्रीषंड कहतां चंदण कौ कादो छै। कमकमौ गुलाब तै कै पाणी तलाउ भर्‌यौ छै। ग्रहणा सब मोतीयां ही का छै। जेठ मास कै विषै इ भांति जलक्रीड़ा श्रीकृष्णजी करै छै।

१६०—आसाढ का दिनां को तपन कहतां सूरजि। इसो अधिक ताप्यौ छै। दुपहरा की वरीयां यैसौ नीजण होय गयो छै जु कोई मनुष्य फिरै डोलै न छै कैसी भांति जैसी माह की राति होय। मेघ बरसतो होय। अर अंधारो पष्य होय। वैसी आधी राति जौ कोई फिरतौ देषिजै तो कोई आसाढ की दुपहरी फिरतौ दैषिजै छै। इसौ धूप तप्यौ छै। नीजणि कहतां कोई मनुष्य चलै न देषीयौ। वैसी माह की अधराति जैसी नीजणि होय छै। तिण थी अधिक दुपहर आषाढ कौ नीजणि हुग्री छै।

१६१—निरति कूण कौ वाउ वाजै छै। जु निरधन छै। सु परवतां का झरणा छै। तहां जाय वास कीयौ छै अर धनवंत छै सुषी छै। सु आंपणे गृह कै विषै। अस्त्रीयां का पयोधर सेवै छै। सु जिसी अग्नि की लपट होय। तिसी लू वाजै छै।

१६२—मंदिर किसा छै। कसतूरी की गारि। कपूर की ईंट। नित नित नवा महल सवारिजै। फूलां की माला सों

चौगरद आछादित कीया छै। इसा महल माहें श्रीकृष्णजी क्रीड़ा करै छै।

१६३—धूलि उठी छै। अंबर कहतां आकाश जाय लागी। षेत्री छै जु किसांण त्यां षेत्री रौ उद्यम कीयौ छै। षाडा नाडा भरीया देषि। सहु किसाण षेत्री कौ उद्यम करण लागा छै। मृगसिर नक्षत्र वाउ वाज्यौ सु मृगां कौ वइरी हुऔ छै। त्रिषा करि व्याकुल हुऔ छै। इहि बीचि आद्रा बूठौ छै। सु भुंइ सहु आली कीधी छै।

१६४—बग रिषीसर राजा। ये तीन्यो पावसि वैठा। सुर कहतां देवता पौढ्या। मोर बोलण लागा। बाबीहा (पपीहा) बोलण लागा। बुगली फिरण लागी। उद्यम कीयो चाहो जै। अनेक रङ्ग २ का जु सिहर उठै छै। सु ये मेघ मानुं आपणा घर संवारै छै। भांति भांति की विचित्र रचना करै छै।

१६५—काली काली घटा करि। उजला वादल। वाउ सौं डोलता उवै आगै। श्रावण का मेह धारां वरसण लागा। दिसा दिसा हुता जु जलग्रभ गलि पड़ै छै। सु थंभै नहीं छै। जिसी विरहणी का नेत्र विरह व्याकुल थका थंभै नहीं। इहि भांति श्रावण की धारा वरसै छै।

१६६—मेघ जु वरसण लागा। तांह का पाणी पर्वतां कां कंदरा थें अर नालां थें पाणी चाल्यो छै। सु आघात सबद हुयै छै। गुहिरै सादि मेघ गरजै छै। सु समुद्र माहे पांणी समावै नहीं। इतरां जल हुआ छै। बीजुली सहरां मांहे समावे नहीं छै। सहरां बाहरि झब झबाट करि रही छै।

१९७—मेघ घणौ वूठो। धरती अजें नोली नहीं हुइ छै। त्रिणि अंकुर नहीं हुआ छै। जहां कहीं ऊंठै ची भुंइ छै। तठै भुंइ उघाड़ी छै। नीची भुंइ जहां छै तहां पाणी भरि रही छै। कहुँ ठोड़ उघाड़ी छै। तहां भुंइ गोरी छै। कहां ठै पाणी झलकै छै। जैसें प्रथम समागम कै विषै। नाइका का वस्त्र उतारि लीया हुइं। अर· कहुं। कहुं गहणा रहि गया हुइं। तैसी प्रिथवी देषियै छै जु तै उघाडी धरती छै सु तै जांणे गौरा आंग हुऔ। अर पांणी छै सु तै जांणे ग्रहणो पैहिर्यो छै। इसी सोभित छै।

१९८—रूषांवलीयां पल्लव फूटा। विणा अंकुर हुआं धरती नीली दीसै लागी। सु मानों प्रथमी नीला वस्त्र ऊढ्या छै। ठोड़ ठोड़ थें नदी चालै छै। सु ये ही मांनो कंठ विषै हार पहिर्या छै। दादुर कहतां मींडका बोलै छै। सु येही मांनो प्रिथवी पगां नूपुर पहिर्या छै।

१९९—जु तै कालां पर्वतां की धार छै सु प्रथमी का काजल की रेषा हुई। समुद्र एही प्रथमी कटि मेषला हुई। मांमोल्या रातो सोई प्रथवी कै कुंकुं की बिंदली हुई।

२००—दूनों तटां जु नदी उपरि वही छै सु जाणे चोटी विथुरी छै। विथुरी काहे तै। पृथी जु स्त्री त्यैंने धाराहर मेघ जब भरतार मिलीयौ छै। तब चोटी विथुरी। जमुनांजी रै स्यांम जल। सु तै जाणे केस हुआ। गंगाजी रो जल ऊजल सु फूल हुआ। जाहां त्रिवेणी हुई तहां जाणे चोटी गुंथी इह पृथ्वी की चोटी हुई।

२०१—धरती जु पृथी तैसो स्यांम जु तर वृक्ष। जलधर मेघ गर्ज रव कीया। आपसमै मिल गया छै लपटाय रह्या छै।

ऐसौ अंधारौ हुय गयो छै। जु रषीस्वर छै सु संध्यावंदण कौ समय चूक चूकि जाय। रिषीसर पणि राति अर दिन की षवर नहीं पावै छै।

२०२—जके नाइक नाइका आपस मांहे रूठा था। तांह तै पगां लागि लागि मनावणो कीयौ। कह्यो देही लाधी को तै लाहो ये ही छै। जु इसी हवा माहे मिलीयै। परसपर आलिंगन देन लागा। जब आकास अर धरती आंपण मांझ आलिंगण देन लागा।

२०३—जल़ रा जु वादल। सु जल़ां नूं श्रवै छै येक स्यांम येक सेत। येक पीला। येक लाल। इसा जु रंग रंग का वादल़ छै। महलां का दुहुं तरफां लागि लागि नै चलै छै छाजां सों। ताह करि महाराज श्रीकृष्णजी का महल धवल़हर छै। सु विराजै छै। महल किसा छै।

२०४—नीलमणि की ईंट। कुंदण की गारि। लाल का थंभ। पाचि का पाट। सु धरीया छै। जु थिर छै। मंदिरां विषै गोषा छै। सु पदमराग मणि का छै। धरां ऊपरि मोर नृत्य करै छै। आणंदित हुआ बोलै छै। सोभित दीसै छै।

२०५—वसत्र जु पहिर्‌या छै सु कुमकुमै कहतां गुलाब। तिंह सों धोईजै छै। अनेक सुगंध वस्त सुं अरगजा सों षवलित कीजै छै। महलां कै विषै अनेक सुष भोगविजै छै। श्रावणि अर भाद्रवै कै विषै रुषमणीजी अर कृष्णजी इह विधि विलास करै छै।

२०६—वरिषा रित हुती सु गई। सरद रित आवी। कवि कहै छै। तै को वर्णन करौं छों। पृथी समस्त जल़मई होय

रही थी। सु पांणी छोड़ि कै तलाव माहे जाय रह्यो। नोषरि कहतां धरती निर्मल हुई। ताकौ द्रष्टांत। जैसे निधवन कहतां सुरत सु भोग के विषै अस्त्री की लाज सर्व सरीर छोड़ि कै नेत्रां माहे जाय रहै छै। तैसें पृथी छांडि तलावां पाणी जाय रह्यो छै।

२०७—धरती हरी थी सु पीली हुई। त्रिण अन्न समस्त पाका। सरद काल कै विषै पृथी की सोभा किसी देषिजै छै। कोकिला बोलती रही। कोकिला जु बोलती रही। सु मानों नायका रति समै घणौ बोलती सु बोलती रही। औस जु पड़्यो छै सु मानुं नायका नै प्रस्वेद का कण हुआ छै। सुरत कै अंत जिसी नायका को मुष देषीयै। तिसी सरद कै समै पृथी देषिजै छै। नायका कौ मुष पीलो हुऔ सुरत कै अंति तैसे पृथी की पीलाई की। कोकिला बोलती रही। सोही जाणे निसुर हुई। ओस कां कण इहे मानों प्रसेद का कण छै। इह आरिष करि पृथी नै नायका कौ द्रष्टांत कीयौ।

२०८—आसोज आवतां ही नभ कहतां आकास थै वादल दूरि हुआ। पृथी तै पंक कहतां कादौ दूरि हुऔ जल की गुडलता दूरि हुई। निर्म्मल हुऔ। ताकौ द्रष्टांत जिम सत गुरु मिल्यां थै। जाणीजै छै मनुष्य कौ सत गुरु मिल्यां ग्यान की दीपति हुई। इहां आसोज मिल्या थै आगनि माहे जोति अधिक हुई छै। सु इहै मानों ग्यांन की दीपति हुई छै।

२०९—गऊ छै सु अधिक दूध स्रवै छै। धरा कहतां प्रथी अनेक भांति का रस दे छै। (पोइणी विषै भली सोभा हुई छै)। अन्नादिक सुं पितर छै तिणि कौ मरतलोक प्री लागै छै।

२१०—मुहरमुह कहतां बारंबार हंस अर हंसणी बोलें छै। विरह ऊपजै है सु बोलि बोलि कै विरह टालै छै। सरदकाल की इसी उजली राति छै जु एकठां बैठा हंसणी हंस नें न देषै। हंस हंसनी नें न देषै। जब न देषे तब विरह होइ। जाणै कि इहां तो नहीं। जब बोलै हैं तब विरह जाय छै। सबद करि जाणे छै जु इहां छै।

२११—उजली जु वसत छै सु काई निजरि आवै नहीं। इसो उजल राति और घणो किमो वषाण कीजै। जो सोलह कला संपूर्ण पूर्णिमा को चंद्रमा थो। सु पणि आपणी उजलता करि आकास सों मिलि गयो है। एती विगति नहीं लाभै छै। जु इह आकास छै। कि चंद्रमा छै। सरदकाल की इसी रात्रि उजल छै।

२१२—सूर्य तुल संक्रांति आयो। तेज कहतां दिन। तम कहतां राति। ए दून्यों बराबरि तुलीया। अर राजा छै सु सुवर्ण सों तुलै छै। नाना भाँति कै। तातें दिन तों नित नित संकुचिवा लागौ। अर राति वधिवा लागी। सु काहेतें। दिन कों तो इह संकोच भयो। जु मोकों राति बराबरि तोल्यो। ताते घटिवा लागौ। अर राति कौं इह फूलि भई। जु देषो हौं दिन की बराबरि जुषी। इहि हरष तै रात्रि बढिवा लगी। अर उहिं दुष तैं दिन घटिवा लागौ।

२१३—मणि मै जु मंदिर छै। तां मांहे जु कात्तिक कै विषै दीपक जो छै। छै तो वे घरां मांहे पणि वांकी जोति बाहर देषीयै छै। जैसे सषियां का समूह बोचि बैठी नाइका लज्या करि आपणो सोहाग दुरावें छै। अर उवें की झलक मुष विषै पाईयै। तैसैं घर मांहे थकां दीपकां की जोति बाहिर

देषिजै छै। जैसें नायिका लज्या करि दुरावैं छै। अर उवह सोहाग की कांति मुष कै विषै जैसें प्रगट होइ छै। ज्यों घरां मांहे थका दीपक बाहरि दीसै छै। सु दुरावे काहे तें। जु अपणी समाणी सषी। तांह का समूह माहे छै। तांह का लीयां दुरावै छै।

२१४—नवी नवी सोभा सहित पृथी कै विषै नवा नवा महोच्छव। आणंदमई हुई छै। इसों जु कात्तिक छै। तिंहि कै विषै आपणा आपणा जु मंदिर छै। तांह कौं जु चित्राम करैं छै। सु वे कुमारिका। आपणा आपणा घर का द्वारां चित्राम करती उवे ही चित्र की सी लिषी देषिज्यै छै।

२१५—नाना प्रकार का जु सुष। नित नित नवा नवा। संसार का सुषां कै मिसि वैकुंठ का सुष छै। सु द्वारिकाजो का वासी भोगवै छै। अर रुषमणीरमण श्रीकृष्णजो। सरद रिति की जु राति छैं। सु तौ रास की क्रीड़ा करि समस्त वितीति हुअैं छै। राति रासां करि दिन भगति करि।

२१६—अरजण अर दुरजोधन सहाव मांगिवा कै काजि। श्रीकृष्णजी कन्हे आया। तब पणि इहै विधि हुई। कह्यो थो जु कोई पहिलो आणि मिलसी तेंह की भीर हों आविस। श्रीकृष्णजी पौढ्या था। दुरजोधन पहिलौ ही सिरहांणा दिसि आइ बैठो। अरजुन पगां की तरफ आइ बैठो। जागतां ही पहिलें अरजुन दृष्टि पड़्यो। तब अरजुन की सहाइ हुआ। अरजुन ही कौ अधिकार हुऔ। तैसैं चौमासे ठाकुर पौढ्या था। अर कार्त्तिक सुदि एकादसी कौं जाग्या। जागतां ही मासां मांहि मागसिर पहिले हीं

आयौ। तौ मागसिर भलो मास। तौ न्याय बडाई पाई उहां अरजुन बडाई पाई। इहां मागसिर बडाई पाई।

२१७—सरद कै विषै पछि वाउ जु वाजतौ सु थंभीयौ तिणि थंभ्या उतर वाउ वाजै लागो। तब सूहव जु नायिका तांह का उरस्थल वैकुंठप्राय हुई रहोया छै। अर उहि रिति कै आवणे भुजङ्ग जु सर्प था। अर धनवंत मनुष्य था त्यां पृथी का पुड़ विवरण करि ऊंडी ठौड़ां सबांरि तहां ए दून्यों वरग विवर कहतां भुंहिरा निखात ठोड़ तहां जाइ रहवासि कीधा।

२१८—नदी जु पूर वहतीं थी सु घटि होण लागी। अर हिमांचल् पर्वत का श्रृंग वधण लागा। जैसैं जोवन कै आयें नायिका की कटि षीण होइ। त्यों नदी षीण हुई। अर नितंब कहतां जंघस्थल् अर उरस्थ कुच ए वढे। ज्यों कटि षीण होइ। त्यों नदी षीण हुई। ज्यों जंघस्थल् अर उरस्थल् वधैं। त्यों हेमाचल् का श्रृंग वधै लागा।

२१६—मनुष्य छै सु सबै कोई घर सेवै छै। हेमंत जु महा सीत तेंकै डरि कोई निसि कहतां राति कै पैंडै नहीं चालै छै। कोई कोमल् नरम वसत्रां करि अर कोई कांबल्ां करि। सब कोई मनुष्य भार लीयां फिरै छै सीत की रिष्या निमित्त।

२२०—दिन तौ यैसें संकुचिवा लागौ जैसें रिणाई को देषें दाम कौ देणहार संकुचै। क्रमि क्रमि यों दिन सकुचै छै अर पोस कै विषै रात्रि छै सु आकास कों निठि छोड़े छै। जैसें प्रऊढा नाइका नाइक कौं। आकर्षे मोड़ा छांडै। (सं० १८२६ की नकल में इस प्रकार—"जैसैं प्रऊढा नायिका को वस्त्र भर्त्तार आकर्षे कहतां षैंचे सु मौड़ौ छुटै") तैसैं रात्रि आकास कौ मौड़ौ छांडै छै।

२२१—सीतकाल् कै विषै श्रीरुषमणीजी अर कृष्णजी आपणा तन-मन उलझाया कहतां लपटाया छै। सु एक हु रह्या छै। कैसें वाणि कहतां सबद नै अर्थ। पराक्रम नै पुरुष। पुहप नै वास। गुण नै गुणी। ज्यों औ एक होय रह्या छै। त्यौं नाइक नाइका आपणा तनमन एक कीया छै।

२२२—अहिमकर कहतां सूर्य जब मकर सक्रांति आणि चढ्यौ। तब उतर को वाउ प्रबल् वाजण लागौ। तिणि वाउ कमल् था सु बालि इसा कीया जु। जिसौ विरहणी कौ मुष। आंब था सु इसा कीया जिसा संजोगिणी कौ उरस्थल्।

२२३—कृपण नैं जब प्रारथ्यै मांगजै छै। तब उहिका मुह माहें थे वचन कुण नींकलै। उतर। तिहि दिसा कौ पवनि आंबा विना जितना वृष्यथा तितना सब जल्या। माघ कै लागतां हीं। लोगा नै पाणी थौ सु इसौ लागै छै। जिसी अगनि छै। अर अगनि यैसी लागै छै जिसौ सीतल् पाणी।

२२४—नांम कहावै सीत अर जल्लावै नीला रूंष। अर पाणि मांहि थकी नलिनी जालै, असौ कपटी नाम सीत कहावै। तें दोष कां लीयां द्वारिका जी तांई पुहचि न सकै। (हि) रिदा कौ मल् दूरि करि न सकै। कपट दूरि न करै तैं वासतें द्वारिका लगि सीत जाण न पावै।

२२५—ठाकुर को प्रताप ज हुऔ तिणिही तौ सीत पाल्यों आघौ आवण न दीयौ। रुषमणी अर श्रीकृष्ण ऊपरि दसौ दिसा आपणौ सरीर उवांरें छै। औार अगनि अर सूरज ए आपणो सरीर उवांरे छै। अगनि धूप कै मिसि सरीर उवांरे छै। सूर्य दीपक कै मिसि सरीर उवांरे छै। रात्रि दिन उवांरै छै।

२२६—सूरज कल्सि बैठौ सु कुंभि आयो। रिति पालटि होण लागी। समस्त सीत बाल्या था सु ठंढा होण लागा।

भमर छैं सु उडण नै पांष संवारी छै। कोकिला बोलिवा नै कंठ संवारि रही छै।

२२७—वीणा। डफ। महूअरि वंस बजावै छै। पंचम राग मुष करि सुर नीकै करि गावै छैं। तरुणी स्त्री अर तरुण पुरष। जु फागुण विरही जण नै दुस्तर छै। तें फांगण कै विषै घरि घरि फाग षेलें छै।

२२८—वृष्यां कै विषै अजहुँ फूल नहीं हुआ छै। पल्लव नहीं नीकल्या छै। थुड़ कहतां पेड़ डाल ए गादरित कहतां हस्या हुआ छै। सोभित दीसै लागा छै। जैसें भरतार कै आगमि। विना सिणगार कीयां स्त्री सोभा पावै। तैसें पानां फूलां विना हीं वसंत कै आगमि सकल वृक्ष सुंदर देषिज्यै छै।

२२९—वनसपती गर्भवती जु हुई थी सु दसमास पूरा हुआ। जु वनसपती गर्भ धार्यो थौ। जारां गर्भ पूरण हुई छै। तब गर्भवती को मन व्याकुल हुयै छै। ए जु भमर बोलिवा नै मणणाट करै छै। सु मानुं गर्भवती व्याकुलता जणावै छै। जब वेयण लागै छै प्रसूत हुइवा की तब गर्भवती कूजै छै। विलाप करै छै। सु ए कोकिला बोलै। सोई मानूं वनसपती ने वेयण लागी छै। अर कूजै छै। इहिं समै वनसपती वसंत जायो।

२३०—वसंत कौ जनम जब हुऔ। तब जैसैं दाई नै वसत्र द्रव्य देहि अर उहिं की पूजा करैं छै। तैसें इहां होली सोई दाई हुई। अर वनसपती कौ कष्ट भंग हुऔ। तब पकवान पान फूल। जु होली ने चढ़ावें छै। सु ए होली नहीं छै ए दाई छै। वनसपती कौ कष्ट भंग हुऔ छै। सु ए दाई नें संतोषै छै। मनुहारि हुवै छै। होली नहीं पूजै छै।

२३१—दल् कहतां सरीर ए जु बालक जब उपजै छै तब कलि रो जु वाउ लागै छै तब ही उह बालक नुं भूष त्रिस लागि छै । श्रैसै त्रिगुण कहतां । सीत । मंद । सुगंध । मलयानिल लागौ सोई । त्यांही वसंत नै जनमत ही भूष त्रिस लागी छै । ए जु भमर बोलै छै । सु ज्यों बालक रोवै छै । त्यों वसंत रोये छै । श्रर वनसपती जु रस चुवै छै । सु जाणो माता दूध श्रवै छै ।

२३२—श्रब वसंत जनमी त्याका वधाईहार दोड़ै छै । वन वन कै विषै । नगर नगर विषै । घर घर कै विषै । रूंष रूंष कै विषै । सरोवरां कै विषै । पुरष करि । श्रसत्री करि । नाक कै पेंडै । वसंत जायां की वधाई । वास ही वधाई दीनी । श्रौर वधाईहार रथि चड़ि दौड़ें यें कै पवन ही रथ हुश्रौ । पवन ही चड़ि दौड़ी श्रौर वधाई कांन कै पैंडै सुणिज्यै । इह वधाई वासकरि नाक कै पैंडे मालूम हुई । समस्त ही जाण्यो । सु वसंत जनम्यो ।

२३३—घणां जु श्रांब मोर्‍यां छै । सु एही तोरण । कमल की जु कलीं नीकली छै । सोई कलस हुश्रा । वेलि जु एक रूंष थें दूसरै रूंष जाइ लागि छै सु वंदरवाल बंधाणी छै ।

२३४—वांनरे जु श्रालि करतां जु काचा नालेर फाड़ि २ नाषीया छैं । सोई दधि मङ्गलिक हुश्रौ । कुंकुं श्रर श्रषित चाही यैं तहां पराग श्रर किंजलिक । एही कुंकुं श्रर श्रषित हुश्रा । कमल कै विषै पराग श्रर कंजुलिक हुयै छैं एही कुंकुं श्रषित हुश्रा । कोकिला श्रानंदित श्रतिही बोलै छै । सोई मानुं गीत गान करै छै ।

२३५—वसंत जनमीयो छै। तैनें वधावण नें आवै छै। पोइण्यां का जु पत्र छै ता उपरि पाणी की जु बूंद छै। सु जाणे भामिनो कहतां असत्री सेई मानूं मोतीए थाल भरि काच का आंगणा कै विषै आणंदित थकी वधावानै आवी छै।

२३६—नाना प्रकार का जु वनसपती फल दियै छै जैसें कामधेन मनवंछित अर्थ देइ। तैसैं पुत्रवती वनसपती मन प्रसन्न हुआ। जोई जिसौ फल मांगै छै। तैनें तिसौ दे छै। करणाकार केसु कहतां। वनसपती नाना प्रकार का। रङ्ग रङ्ग का फूल हुआ छै। सोई वसत्र पहिर्या छै। अर केसू फूल्या छै। सु प्रसवती नें पीला वसत्र पहिराया छै।

२३७—कणेर वृत्त करणी सेवंत्री। कूजा जाय। सोवन जाइ। गुलाल। जु फूलि रह्या छै। सु वनसपती कै पुत्र प्रसव हुऔ। सु मानो रङ्ग रङ्ग के वसत्रे आपणो परिवार पहिरायो छै। वरण २ का वसत्र पहिराया छै।

२३८—इहिं विधि सों वसंत को बधावौ कीयौ। दिन दिन भलाई का समूह वडता गया। ए जु फाग लोक षेले छै। अर फाग का गीत गावै छै। सु मांनो वसंत हुलाइजै छै। तरु कहतां जि वृत्तां गहवर पाकड़्यो छै। सु वसंति तरुणिता पाकड़ी छै।

२३९—हिबै वसंत की साहिबी वरणै छै। वसंत महीपति कहतां राजा हुऔ। कामदेव मंत्री प्रधान हुऔ। पर्वतां की सिला आछी सुन्दर रहि गई छै। यही सिंघासण हुआ। आंब जांह की बराबरि साषा मिली छै। छत्राकारि जु हुइ रह्या छै। एही मानों माथे छत्र धरे है। वाउ का

झकोल्या। आंबा का मंजर गिरि गिरि पड़ै छै। एही मानूं चमर हुआ।

२४०—पाका दाड़िमां का बीज। जु छिटकि पड़्या छैं। एही वसंत पाट बैठे नै निवछावलि कीया छै। सु ए मानूं नग जवाहर विथुरौ छै। और जु भांति भांति का फल वृष्यां कै विषै लागा छै। तांह ने पंषी पगां की नहरां सों तोड़ै छै। मुषि चांचां सों करि तोड़ै छै। तांह को जु रस चुइ पड़ै छै सोई मानों छिड़काव होइ छै। मार्ग छांटिजै।

२४१—हिरणां का जु जूथ देषीजै है सोई मानों पाइदल हुआ। वृक्षां का जु कुंज वण्या छै। एही रथ हुआ। हंसां की माल पंकति देषीयै छै। एही घोड़ां की पाइगह हुई। पर्वतां कै ऊपरि षजूर चढी छै। एही जाणे हाथीयां उपरि ढाल मांड़ी छै। अर ए जु पर्वत छै सोई हस्ती सिणगारी या छै।

२४२—ताड़ का वृक्ष जु वध्या छैं।. सु अति ही ऊँचा वधीया छै। जु सरग ने पसर्‌यौ चाहे छैं। ए मानों ताड़ नहीं छै। वसंति पाटि बैठै। ए जगहथ ऊभीया छै संसार ऊपरि हाथ उठायौ छै। जु मेरी बराबरि। कहीं बात कोई करि सकै नहीं।

२४३—अब वसंत कै आषाड़ौ होत है। तिहिं आषाड़ा कौ वर्णन होति है। आषाड़ा को मंदिर चाहिये। वृक्षां कौ वन समूह इहि तौ मंडप घर हुआ। पाणी का नीझरणां चलै छैं। ताह को जु सबद छै। इहै मानों पषावज हुऔ। नाइक चाहीयै। सु कांम का पंचबाण छै। इहै नाइक

हुआ। कोकिला ही गायण हुई। पृथ्वी पै रंग भौमि हुई। पंषी है इंहै मेलगर हुआ। मेलगर इहै जु आषाढ़ी की सब सामग्री ताइफौ।

२४४—हंस तौ सब विधि कौ जाणनहार हुऔ। मोर नृत्यकारी नाचै। पवन तालधारी हुऔ। रूंषा का पत्र एही ताल हुई। आडि जु बोलै छै इहै तंति कौ सुर हुऔ। भमर बोलत है। सोई उपंगी हुउ। चकोर बोलै छै सोई जांणे तेवरि उघटत है।

२४५—विधि बतावै छै सूआ इहै पाठक वकता हुऔ। सारस छै स रस वांछक छै। श्रोता छै। कोविद कहतां चतुर। इसा जु षंजरीट कहतां कौडीया। सौई गति-कार हुआ। गति नींकी चाले छैं। प्रगलभ कहतां विस्तीर्ण लाग दाट परेवा ल्यैछैं। भांति २ की। जैसें नटवा संगीत की लाग दाट ल्यैं। तिहिं तिहिं भांति की मानों पारेवा ल्यै छैं। लाग। दाट। जु रमई। दीं की। अडवाई। तिरप। उपर ? (उरप)। सुलप। वाली। मुरू। डलथा। पलथा। ए संगीत का भाव छै। सु समस्त गति प्रगट करै छै। विदुर वेस कहतां। चकवा कहें। इहै विहार हुआ। विहार कहतां विचित्र चालि चालता हुआ।

२४६—आंगण माहें जल छै। सु पवन कौ प्रेरयो चालै छै। इहै तिरप उरप हुई। मरुत चक्र कहतां वाउ कौ चक्र वघूलियौ। इहै मुरू हुऔ। रामसरी बोलै इहै मानों धूवा माठा हुआ। घूमरी बोलै छै। इहै मानों चन्द धुरू संगीत का सबद हुआ।

२४७—अब आषाढ़ौ राति बूझियौ। सु जु वृक्षां को समूह घमंड छै त्यांह को जु छाया सोई राति हुई। रात्रि माहे दीवो चाहीजै सु पलास फूल्या छै केसूं छै। सोई मानों दीवा हुआ। जहाँ आषाढ़ो होइ तहां कोई रीभ्या चाहियै। अर जहां रीभै तहां रोमांचित होइ तो ए अंब मोरया छै। सु ए रीभ कै रोमांच हुआ छै। अर बहुरि रीझि माहे हास्य चाहियै। तौ ए कमल विकस्या छैं सु ए मानों वसंत हरषि नै हस्यौ छै।

२४८—मधिकोक कहतां वसंत प्रगटि वै संगीत अनेक भेदां करि प्रगट हुऔ छै। जब आषाढै पात्र आवै छैं। तब जवनिका छै परीयछि को नाम। सु आडी दीयां राजा कै आगे पात्र आवै छैं। सु रिति छै ससिर इहै जवनिका हुई। पात्र पुहपां सुं अंजलि भरि। अर मन्त्र पढै छैं। बोचि थें परीयचि षांचि ल्यैछैं। तब पुहपांजली होइ छै। सु राजा उपरि नाषै छैं। ससिर रिति थी जवनिका सु तो दूर कीधी। या रिति ही पात्र हुई तिणि मन्त्र पढि अर पुहपांजली वनसपती उपरि नांषी छै।

२४९—उदभज कहिजै रूंष एही तो प्रजा हुई। सुसिर जु रिति जैं का राज मांहे। प्रजा नै दुसमन थकौ दुष देतौ थौ। सु उतर वाउ असंत कहतां दुष्ट सु तौ उथापीऔ। दूरि कीयौ। जु वनसपती सरूपिणी। प्रजा नै दुष देतौ थौ। जु रूड़ौ राज हुऔ छै। नै पहिल का राज की अनीत मेटि नें प्रजा नें सुष दै छै। त्यों इह प्रसंन वाउ वाजै छै। वृक्षां नै सुष देई। सु जाणे प्रजा माहे न्याव प्रवरत्यौ छै। त्यों जाणे वसंत वन वन कै विषै राज करै छैं। नें प्रजा ने सुष दै छैं।

२५०—एक तौ वृक्ष फूलीया छैं। एक ज्यां उपरि पांन था सु पानां करि. हर्या हुआ छै। राज जब बुरो होइ। तब द्रव्य सब कोई गाडि राषै छै। राजा को डरपतौ। सु ए जांणे फूल्या छै। अर ए पांन नहीं छै। ए द्रव्य जु आपणो आपणो डर का लीयां गाडि मेल्हयो। सु भलौ राज जाणि नैं। द्रव्य उषेलीयो छै। बारै काढि मांड्यो छै। ए जु चंपा फूल्या छै। सु ए लषेस्वरी छै। त्यांरै लाष उपरि दीवा बलै छै। अर ए जु केलि का पान फहरावै छैं। सु कोड़ि द्रव्य ज्यांका घरां मांहै छै। त्यें कै कोड़ि उपरि धजा बांधी छै। या कहावति छै। जै रै लाष द्रव्य होइ। तेहंरै लाष उपरि दीवो बलै छै। अर कोड़ि द्रव्य होइ। तै कै कोड़ि उपरि धजा बंधाई छै।

२५१—मलयाचल पर्वत छैं। तहां थे पवन आवै छै। सु मलयानिल पवन कहीजै। सु वाज्यो छै। अर वसंत कौ भलो राज हुऔ छै। वनसपती नें डर थौ सु भागौ। रूड़ो राज हुऔ। ग्रहणा काढि काढि प्रजा पहिरै लागी. वृक्ष छैं एही पुरष हुआ। वेलि छैं सु अस्त्री हुई। सु वेलि नैसंक हुई। आप आपणा भरतार नें आलिंगण देण लागी। वेलि छैं एही नाइका हुई। फूल छै एही ग्रहणा हुआ। वृक्षां कों लपटाणी छै सु जाणें भरतारां नें आलिंगन देये छै।

२५२—सुसिर रिति कै विषै। हेमंत कहतां सीत। तिणि वृक्षानें बहुत पीड्या था। दुष दीयौ थौ। सु वसंत आइ हित देनें दुष दूरि कीयौ। वेली थी सु व्याई। साषा वृष्यां की पसरी छै। सु जाणां बाहां की औलादि वैसाष हुई। वैसाष मासि साषां कौ विसतार हुओ।

२५३—इहि वनसपती नें कोई डंक न देयै छै। जैसें प्रजा नें सुराज मांहे डंडै नहीं छै। मवरित रूंष छै। एही तौ लेषागर हुआ अर भमर छै एही उगाहा हुआ। अर भला भला फूलां का वासल्यै छै। सु एही हांसिल कर लीजै छै।

२५४—वृक्ष पुहपां रै भारि भारिया था सु भार उतर्‌यौ। पुहप छै सु काम रा बांण छै। सु काम आपणा बाण हाथ लीया। रितिराइ कहतां वसंत तें कै पसाइ करि जन मनुष्य आगि सें सपरस करता था सु तें दुषतें रहता हुआ। समस्त नर जगत्र वैसानर परसतौ रहीयौ।

२५५—वरिषा ज्यो सरवत्र वरसै। अर चात्रिग नें नचाहै त्यां वसंत रै विषै कोई भूष्यौ तिस्यौ न रहै छै। पंषी जु वसंत कै विषै पांषां फूलावै छै तांह आपणी सेवा को फल पायौ छै। राज हुअै छै तठै वंदीजन बोलै छै। सु इहां पंषी बोलें छै। सु जांणे वंदीजना कौ कोलाहल होइ छै।

२५६—कुसमित कहतां फूली। कुसमायुध कहतां कामदेव तें कै उदै करि केलि विलास षेल तें कै अरथि जांहका भरतार घरै छै। सु तौ वसंत विषै फूली छै। काम कौ उदौ देषि देषि। अर जहां का भरतार परदेसी छै। सु षीण हुई छै। संजोगिणी कहें छे ए फूल्यां सु केसू छै। अर विरहणी कहै छै ए पलास छै। पलास राक्षस कौ नाम छै संजोगणियां ने प्यारा लागै छै। अर विजोगणियां नै ते राषस सारीषा लागै छै।

२५७—जांह का सरीर कै विषै केसरि का रंग कौ वासौ छै। केसरि कौ सो ज्यां कौ रंग छै। केसरि किसी वास छै। करपल्लव कहतां हाथां की आंगुली किसी छै नरम जिसा

फूल इसी। (इसी) जु मालिण छै सु वनि वनि रै विषै केसरि चुणै छै। त्यांह का इसा उजला नष छैं। ज्यां मांहे केसरि की पांषुड़ीयां री प्रतिबिंब दीसै छै। तांह कौ उवां नै भ्रम उपजै छै। जांणे छै ए केसरि ही की पांषुड़ी छै। तांह नैं भूलि हाथ वाहें छैं।

२५८—कांम को दूत जु प्रधान महादेवजी कन्है जाइ छै। पवन जाइ छै। प्रसन्न कहतां संतुष्ट करण नैं जाइ छै। तीन गुण सहित। सीत। मंद। सुगंध। ए तीन्यों गुण कहै छै। जल पीवन ने साथि लीयो छै। यौ ही तै सीत हुश्रौ। भेट के तांई सुगंधता ले चाल्यो छै। अर मन मांहे डरे छै। जु महादेवजी कांयुं कहसी। सु इसो डगमगाट करै छै। इहै मंद गुण हुश्रौ। ए तीन्यों गुण सहित। मलयाचल हुता। पवन हेमाचल नै चाल्यौ छै।

२५६—पवन जु चाल्यो छै। सु नदिनदि कै विषै तिरतौ श्रावै छै। रूंष छै त्यां कै विषै विलंबतौ श्रावै छै। वेल्यां सौं लपटातौ श्रावै छै। दक्षण हुंता जु उत्तर दिसा ने चाल्यौ छै। सु पवन का पग श्राघा नहीं पड़ै छै। नदी का परस तें सीत हुश्रौ। वृक्ष वल्ली का परस ते सुगंध हुश्रौ। लतां कां मन मांहे संकोच छै। पग न वहै इहै मंदता हुई। एही त्रिगुण कहिजै।

२६०—केवड़ा केतकी कुंद। यांका वास को भार लीयो छै। सगंधता तै भार ही मांझ हुई। श्रम हुश्रौ छै। एही सीतता हुई। अर घणौ भार कांधे लीयौ छै। तिहिं थी मंदगति हुई छै। ए तीन्यों गुण सहित पवन चाल्यौं छै। यां दून्यों दुवाला को भाव एक हा छै।

२६१—वनसपती कौ वास लीयौ छै। इहैं रसलोभ हुऔ। रेवा नदी कै विषै जल परस कीयौ है। सोई जांणे सौच कीयो है। दत्तण दिसा का पवन उत्तर दिसा नें आवै छै। सु मंद भाव सों आवै छै। जैसें सापराध नाइक नाइका सनमुष आवै। इहां तीन्यों भाव आया। सीत मंद सुगंध।

२६२—लता जु पुहपवती छै। सु ए रजस्वला कही छै। तांह सों पवन परस करै छै। इह मतवाला को अंग छै। जु वेलियां सों परस करै। सु आलिंगन दे छै। पग डगमगाट करैं छै। सु एही मतवाला को भाव छै। मतवाला का पग आघा पाछा पड़ैं। रस जु लीयौ थो वनसपती कौ। तें कजु वास का झोला नांषतो जाइ छै। सोई मांनूं पवन वमन करै छै। परस ल्यै छै त्यों ही पांन करतो जाइ छै। ए मतवालो करि वर्णयो। एही तीन्यो गुण करि वर्णया।

२६३—इहां पवन हस्ती करि वर्णयौ छै। जहां पाणी का झरना छै। तहां डील छांटै छै। इहै सीत गुण आयो। मलयतरु चंद (न) का वृत्तां सौं घसै छै। इहै तै सुगंध गुण आयौ। पराग जु पुहपां सों लागौ छै। इहै हस्ती धूलि धूसर हुऔ छै। (मकरंद लै छै पुहपां को रस) इहै हाथी मदि चुऔ छै। मंदगति वहतो मारुत कहतां पवन हस्ती करि वर्णयो।

२६४—इहां पवन उपरि वाद हुऔ छै। जु संजोगिणी छै। सु कहे छैं चंदन छै। विरहणी कहे छै जु ए विष वाउ छै। सर्प गिल्यो थो सु पाछौ नांख्ये छै। एक कहे छै सुगंधकौ गुण छै सु ग्रह्यो छै। दूसरी कहै छै। ए विष गल्यौ थौ सु पाछौ उगल्यो छै। ए दुहुँ वात को वाद होइ छै। श्रीषंड कहतां चंदन सु संजोगिणी कहै छै ए चंदन को संजोग छै। विरहणी कहै छै भुजंग कौ विष छै। वाउ नहीं छै।

२६५—एक रिति इसी छै जु दिन कै विषै रस पाईजै छै। कोई रिति राति कै विषै रस पाईजै छै। किंहि रिति संध्या कै विषै रस पाईजै छै। कवि यौ कहि गया छै। विहुँ पषां। बिसुध। बिहुँ मासां। बिहुँ राति दिन। वसंति सारीषौ रस निरवाह छै।

२६६—निमिष पल वसंत रै विषै रात्रि अर दिन सरीषा निरवहै छै एकै थे एक कहुँ वात जणावै नहीं छै। ताकौ दृष्टांत। जैसे नाइक रै गुणि करि नाइका वसि हुऔ नाइका रै गुणा करि नाइक वस हुऔ। अैसैं राति दिन वसंत रै बिषै एकसा रस दाईक छै।

२६७—वसंत रै विषै। श्रीकृष्ण रै घर पुहुप ही का छै। ओढणा विछावणा पणि पुहपां ही का छैं। पुहपाहिं कै हींडोलै श्रीकृष्ण हींडइ छै। सषी छैं सो भी सब पुहपां माहैं छै।

२६८—मूरतिवंतौ नाद छै। सोई तौ पौढाड़ै छै। वेद मूरतिवंत छै सु जगावै छै। रातिदिन वाग कै विषै। विहार कहतां विलास करें छैं। अनेक रस को माणिक मयण कहतां कामदेव की सी मूरति इसा जु श्रीकृष्णजी अर रुषमणीजी वसंत रिति रै विषय विलास किया (करै छै)।

२६९—इहिं समै कै विषै रुषमणीजी सौं श्रीकृष्णजी कै महा प्रीति अधिक वधी छै। मन लीन हुऔ छै। जेता एक नाइका का हाव भाव कह्या छै। तांह करि कै मोहित हुआ छै। सु कुणी रै हाइ भाइ करि मोहिआ छै। कामदेव का अंग अंग जु टूट टूट जुदा हुआ छै। जें के पेट वसि नें उवै जुड़ीया। अनंग जु काम तें का अंग महादेव जुदा जुदा कीया

था। सु जे का जठर कहतां पेट कै विषै वसि ने जुड़िया। श्री रुषमणीजी कै हाइभाइ करि। श्रीकृष्णजी मोहित छैं।

२७०—वसदेव पिता हुआ तेंके घर बेटो हुऔ तौ वासदेव श्रीकृष्णजी हुऔ। देवकी सासू हुई। त्येंके घरि बहु हुई तौ रामा कहता लषमी तैं को अवतार रुषमणीजी कै घरि बहु हुइ तौ रति हुई प्रदमनजी की स्त्री।

२७१—लीलाधण कहतां ईश्वर जग का वसावण हार। सु मानुषी लोला को संग्रह करि। अर जगती रै विषै वसीया सु कोण पितामह तौ जगदीस श्रीकृष्ण। पिता तौ प्रदिमन पोत्रौ अनिरुध। उषा कौ पति जें कै भारज्या उषा हुई।

२७२—कवि कहैं छै तों कितौ एक कहिसि अहि जु सेष देव जेंके दोइ हजार जीभ छै। सोई कहि कहि थाकौ छै। नारायण जु निरलेप निराकार। तेंकौ वर्णन कौण करि सकै। रुषमणि प्रदिमन अनिरुध का नामां कौ संषेप मात्र। अर सषीयां कौ नाम कहै छै।

२७३—समस्त रुषमणी का नाम। लोकमाता। सिंधु कहतां समुद्र की सुता। श्री। लिषमी। पद्मालया। अपर गृहे कहतां और घर कै विषै अथिर छै। थिर रहे नहीं। इंदरा। रामा। हरिवल्लभा। रमा। ये रुषमणीजी का नाम कह्या।

२७४—ए प्रदिमन का नांम जु कामदेव कौ अवतार। दरपक। कांम। कुसमायुध। संवरारि। रतिपति। तनसार। समर। मनोज। अनंग। पंचसर। मनमथ। मदन। मकरधज। मार। ए प्रदिमन का नाम।

२७५—ए अनिरुधजी का नांम। चतुरमुष। चतुर वरण। चतुरातमाविग्य। चतुर जुग विधायक। सर्वजीव विस्वकेत। ब्रह्मसू। नरवर हंस देहनायक।

२७६—ए समस्त सषीयां का नाम। अष्टादस सषीयां का नांम कह्या।

२७७—अषिल जु संसार रौ धणी। तिणि जब ग्रह संग्रह कीयौ छै। तें द्वारिका माहें। ए पांच चंडाळी करि राषी छै। एक तौ गाळि। एक मदिरा। एक रीस। एक हिंसा। एक निंदा। ए पांचो चंडाळीं करि मूंकी छै।

२७८—परमेश्वर की भगति की चाहे। हरिणाषी जु नायिका कौ रस समझ्यो चाहै। षेत्र चढ़ि दुसमन जीत्यो चाहै। पराई सभा माहै वैसि बोल उपर कीयो चाहे। इतरी बात चाहै छै तौ वेलि पढ़ि।

२७९—कहै छै। वेलि पढ्यां इतरा थोक हुऐ। कंठ रै विषै सरसती को वासौ होइ। आगें अनायास ही मुगति पावै। घरि लषमी होइ। मुष रै विषै सोभा होइ। मुगति हाथि होइ। उदर विषै ग्यान पावै? आतमा छै सु परमेस्वर की भगति सौ लवलीन छैं। वेलि पढ्यां इता पदारथ पावै।

२८०—अब ए वेलि पढ़िवा की जुगति कहै छै। छ मास लगि धरती सयन करै। सवारौ ही उठि प्रात स्नान करै। अपरस थको इंद्रिजित। इहि प्रकार जो वेलि पढै। स्त्री पढै तौ मन वांछित भरतार पावै। पुरष पढै तो मन वांछित स्त्री पावै।

२८१—वांछित वर पायां पाछै। आप माहे प्रीति राति दिन इसी उपजै। जिण सों सुष पावै। अर भलां पुत्र पावै।

२८२—इतरा थोक वेलि पढंतां बधै। परिवार पूत पोत्रां करि पड़पोतां करि। घोड़ां करि द्रव्य करि। जन जु मनुष्य सु जो रुषमणि अर कृष्णजी की वेलि पढै तौ। इतरा थोक यो वधै। ज्यां वेलि वधै।

२८३—कवि कहै छै। केई एक दोइ मनुष्य आपमाहे वातां करै छै। कहुँ कै घरि अनेक मङ्गलचार। अनेक सुष एकठा देषि। अर कहै छै यें इतरा सुष एकठा लाधा छै। सु कुण पुण्य कीयौ थौ। दूसरौ कहै छै जाणिजै सु वेलि पढ़ै छै। तिंहि पुन्य हुंता इतरा पदारथ पावै।

२८४—चारि विधि की चिकिछा वेदै कही छै। जितनां एक सरीर मांहे रोग छै। त्यां सिघलां ऊपरि। सु कोण चिकछा। एक तौ ससत्र कर्म जासौं चीरें। पाछै दागै। दूजै प्रकार औषध अनेक प्रकार का। तीसरौ मन्त्र। चैाथौ तंत्र। सु कहै छै ए च्यारों विधि की चिकिछा सरीर नैं उपचार कीजै छै। अर जु फल गुण होइ छै। तिसों एकही वेलि जो पढै तौ चिहुं बराबरि को एकली वेलि थें गुण होइ।

२८५—आधिभूतग। आधिदैव। अध्यातम। ए तीन्यों ताप छै। संसार माहै कफ वात पित। ए तीन्यौं रोग छै। सु कहै छै जिकोई नित उठ कै वेलि पढै तौ। ए तीन्यों ताप न होइ। अर तीन्यों रोग न व्यापें।

२८६—मन सुध एकाग्रचित करि रुषमणीजी कौ। जु मङ्गल वेलि तैनै जौ पढै तौ इतरा थौक होइ। निधि संपति होइ।

सदा कुसल होइ। इतो वातां हुए। अर इतरी वातां दूरि हुअै। दुर दिन कहतां बुरा दिन जांइ। बुरा ग्रह होइ त्यांकौ नास होइ। बुरी दिसा होइ सु जांइ। बुरा सुपना दीठा होइ सु टलै। और ज कोई बुरा निमित्त होइ सु टलै।

२८७—मन्त्र तंत्र जंत्र। अमङ्गल। वेलि पढतां कोई न होइ। कोई विघन करि सकै नही। थलि जलि आकासि कोई छल छिद्र होंण न पावै। डाकिणि साकिणी। भूत प्रेत समस्त उपद्रव वेलि पढतां भाजै।

२८८—संन्यासिए जोगीए तपसिए। ए वडा हठ निग्रह काहे कों करै। जु प्राणी मात्र छैं। ते नें जु संसार स्वरूपी यौ सागर छै। ते नें जु वेलि पढै छै हतां ई तौ संसार सागर पार हुइ। और हठ निग्रह काहे कौ करै। वेलि पढै थें पार होइ।

२८९—जोग काहे कूं साधे। ज्याग काहे कों करै। जप तप तीरथ। व्रत। दांन। आश्रम। वरण धरम। ए किती एक वात। जु रुषमणी कृष्ण रौ मंगल जु वेलि। त्यें ने मुष करि निरंतर पढिवौ करै। प्राणी नें कहै छै। रे प्रांणी कृपण तूं काहे कों कलपै छै।

२९०—गंगाजी की निन्दा करी छै। ताके लीयां या दुवाला कौ अर्थ में नहीं लिष्यौ छै। (टीकाकार ने इस दोहले में गंगाजी की निन्दा होना समझ कर इसका अर्थ देना उचित नहीं समझा। परन्तु यह कहने में कि गंगा एक-देशीय है और 'वेलि' सार्वदेशिक है, गंगा की कोई निन्दा नहीं दिखाई देती। सं० १८२६ की टीका में इस दोहले

का अर्थ इस प्रकार दिया है—हरि कहतां श्रीकृष्ण। हर महादेव। इयां बे ऊँनैं सेवै छै। अतारू नै बौड़े। गंगाजी री लघुता अर वेलिरी बडाई मोनैं कहणो युक्त न थो। पिण गंगाजी एक देश वहै। नै वेलि सगलै देस पसरी छै। तिण वासतै कहूं छूं। जु भो भागीरथ राजा तू गंगाजी आणी यैरो मन में अहंकार मत करे। जु गंगा एक देस बाहणी छै। नै म्हारी कीधी वेलि सिगलै देस प्रसरै छै। तिण करि नैं सुरसरि वेलि बराबर नहीं। किउं कि वेलि अधिकी)

नोट—वेलि की संवत् १६७३ की ढूंढाड़ी टीका में केवल २९० दोहले तक की टीका पाई जाती है और इससे आगे १४ दोहलों का मूल पाठ दिया गया है—टीका नहीं की गई। इस प्रति में केवल ३०४ दोहले पाये जाते हैं। इसके अन्त में संवत् और कवित्त इस प्रकार दिये हैं—

संबत १६७३ वर्षे मार्गशिरमासे शुक्लपक्षे पूर्णम्यां तिथौ भूमवासरे घटी १९ पल १२ मृगसिरनषित्रे घटी ३६ पल ३ शुभ नामा योग घटी २४ पल ३६ महाराजाधिराज महा श्री २ सूर्यसिंहजी विजै राजे ॥श्री॥

कवित्त

वेलि बाज जल विमल सकति जिणि रोपी साद्धर
पत्र दोहा गुण पुहप वास लोभी लषमीवर ॥
प्रघटी दीप प्रदीप अधिक गुहिर आडंबर
जे जांणे मन शुद्ध उच्च फल पांमे अम्मर ॥

विसतार कीध जुग जुग विमल
धणी क्रिसन कहणार धन ॥
अम्रृत वेलि पीथल अचल
ते रोपी कल्याण तन ॥

संवत् १८२६ की प्रति में इसकी टीका इस प्रकार है—

वेद तौ बीज हुऔ। वचन रूपी यौ जल़ हुऔ। जसरूपी यौ मांड हौ हुवौ। ड्राल़ा जिके पत्र हुआ। गुणरूपी या फूल हुवा। फूल़ां री वासना रा लैणहारा श्रीकृष्णजी हुवा इसी वेलि दीप प्रदीप रै विषै प्रगट हुई छै। जिके इण वेलि नै मन सुद्ध समरण करै। तिके अमर फल़ कहतां स्वर्ग फल़ पावै। जुग जुग विस्तार कीयौ छै। इसी अमृत वेलि अचल। तै पृथीराज कल्याणमल्ल रा पुत्र। वेलि रोपी छै। यह कल़श किण ही कवीश्वर चहोड्यौ छै।

संवत् १८२६ की प्रति में ३०२ दोहले पाये जाते हैं और सबकी टीका भी दी गई है। परन्तु आगे के दोहले सरल होने के कारण १८२६ की प्रति में की हुई उनकी टीका देना यहाँ उचित नहीं समझा गया।

———

परिशिष्ट (ख)

"सुबोधमंजरी" संस्कृत टीका

परिशिष्ट (ख)

सुबोधमंजरी (संस्कृत) टीका

श्रीपार्श्वजिनमानम्य गोपेऽयं दशजन्मकम् ।
पृथ्वीराजः शुभावल्लीं विवव्रेऽर्थफलाप्तये ॥१॥

गुणिनो बहवः सन्ति संस्कृतज्ञा महाशयाः ।
परं प्राकृतलोकोक्तिभाषास्वल्पधियो बुधाः ॥२॥

तेषां प्रार्थनयाऽऽरम्भो मया स्वमतिसारतः ।
हर्षप्रकर्षमाश्रित्य कृतो ब्राह्म्यनुभावतः ॥३॥

लाक्षाभिधेन भाषायां चतुरेण विपश्चिता ।
चारणेन कृतो बालावबोधोऽर्थसुलब्धये ॥४॥

परं न तादृगर्थोक्ति-पटुत्वं वितनोत्ययम् ।
तेन संस्कृतवाग्युक्तां टीकामेनां करोम्यहम् ॥५॥

चतुःश्लोके सम्बन्धः—

१—तत्रादौ प्रथमे द्वाले तावद् ग्रन्थकर्त्ता मङ्गलादिचतुःप्रकार-कथनाय, प्रथमं मङ्गलार्थं च, चत्वारि मङ्गलाचरणान्याविःकरोति । मङ्गलरूपो माधवो मया गीयते वर्ण्यते इत्यन्वयः । किं कृत्वा परमेश्वरं प्रणम्य अलक्ष्यरूपं नत्वा । 'आदरेण वीप्सेति वचनात् प्रत्येकं नमस्कारवाक्यम् । पुनः सरस्वतीं प्रणम्य, सद्गुरुं विद्यादातारं च प्रणम्य । एतानि त्रीणि तत्त्वसाराणि इहलोक-परलोक-सुखदायीनि । चतुर्थं मङ्गलं मङ्गलरूपः साक्षात् माधव एव गीयते । अतश्चत्वार्येपि

मङ्गलाचरणानि अभिधेयानि परमेश्वरसरस्वतीगुरुमाधवानां नामानि, सम्बन्ध: तत्त्व-प्ररूपणं, प्रयोजनं श्रीभगवद्गुणवर्णनम्। यदुक्तम्—

मङ्गलं चाभिधेयं च सम्बन्धश्च प्रयोजनम्।
चत्वारि कथनीयानि शास्त्रस्य धुरि धीमता ॥

इति प्रथमद्वालकार्थः।

२—कवि: स्वगर्वपरिहारं कुर्वन् द्वालकत्रयमाह—येनाऽहं उत्पादित: तं गातुं, तस्य यशो निरूपयितुं, मयाऽऽरंभ: कृतोऽस्ति। तं कर्त्तारं कीदृशं, गुणनिधिं समस्त-गुणयुतं सत्त्वरजस्तमोरूपम्। कीदृशेन मया, निर्गुणेन न किंचिदपि ज्ञानवता। अतो विपरीतविधिकरणे दृष्टान्तं दर्शयति—**किरीति** उत्प्रेक्ष्यते, काष्ठघटिता चित्रपुत्तलिका स्वकरेण, स्वहस्तेन, स्वचित्रकारं चित्रितुं लग्ना, प्रवृत्ता, इति असंभावनं इति रहस्यम्।

३—कमलापते: श्रीपते: कीर्त्तिकथनं मयाऽऽदरं कृत्वा आदृतं तदा किमारब्धमिति दृष्टान्त:—अहं एवं जाने वाग्हीनेन मूकेन वागीश्वर्या सरस्वत्या सह स्वयं जेतुमनसा वाद: प्रारब्ध इवेत्यपि असंभावना।

यदुक्तम्—

मन्ये जाने ध्रुवं शङ्के यथा खलु वतिव वा।
नन्विवेतीति तु प्राज्ञाः उत्प्रेक्षारूपकं विदुः ॥

४—अथ सर्वथा सर्वेषां असामर्थ्यमाविर्भावयितुं कथयति—सरस्वत्या यत्र शुध्यति, वागपि स्तोतुमशक्ता, तद्यश: कथनं त्वं शोधयसि अंगीकरोषि तदा **रे वावला** त्वं किं गर्ग इव जात:। तत्र दृष्टान्त:—मनोवेगेन धावन् उद्यायन् मेरुगिरि-

मुद्दिश्य पथि मार्गे पंगुः पादहीनः कथं मेरुं यावद् गच्छति, एतदपि असंभाव्यम्।

५—यस्मिन् शेषनागे सहस्रफणाः, फणे फणे द्वे द्वे जिह्वे, जिह्वायां जिह्वायां नवं नवं पृथक् पृथक् यशः संस्तौति तेनापि हे त्रिविक्रम, तव यशः पारो न प्राप्तः, तदा वचनैः मण्डूकानां, यशः प्ररूपयितुं किं वशित्वं किं सामर्थ्यं, न किंचिदपि मण्डूकानां **जिह्वैरिव** नाऽस्ति इति कविसमये लोकोक्ति-रवधार्या।

६ पुनर्विज्ञप्तिद्वारेण वदति—हे श्रीपते हे प्रभो, स कः कविः तव गुणान् यः स्तौति इति। स कस्तारको नदी तडागादिजल—तरणज्ञो यः समुद्रं तरति। कश्च पक्षी बहूवुच्चैर्गतिकारः परं गगनांतं ज्योतिष्कादिमंडलं यावद् याति। को रंकः लघुपर्वतमुत्पाटयितुमशक्तः, कथान्तरे गोवर्धनं कैलाशं कृष्णेन रावणेन उत्पाद्य दोर्भ्यां धृत इति श्रूयते, मेरुमुत्पाटयितुं को रंकः करं प्रसारयति न कोऽपि इति तत्त्वार्थः।

७—इदानीं कीर्त्तिकरणे स्व श्रमं सफलं कर्त्तुमग्रेतनं द्वालकं वक्ति येन कृष्णेन भवभ्रमणतो जगति दुष्प्राप्यं सर्वोत्तमं नरजन्म दत्तम्। मुखे जिह्वां दत्त्वा निष्पाद्य तथा आनिषेकान्मातृजठरवसतिं मर्यादीकृत्य भरणमाहारादिपूरणं, ततो जननानंतरं पोषणं शरीररक्षादि। भुक्तिवस्त्रसमृद्धिप्रदाने सावधानत्वमंगीकृतं, तस्य कीर्त्तनकथनाय कीर्त्तिकृते स्वजिह्वां सफलीकर्त्तुं श्रमकरणं विना कथं **सरइ** इति अलं कथं भवेदित्युपदेशः परेषामपि। यदुक्तम्—

दूहा—सैंण वयणि न संतोषीयइ। षट मिठ लीन न साउ।
जिहीं जगदीस न जंपीयइ। सु रसना किन जरि जाउ॥

८—अथ चास्मिन् ग्रंथे प्रथमं रुक्मिणीवर्णनं कृतम्। तत्र स्वकामुकत्वसोल्लुंठवचनप्रपंचं निराकरोति।

शुकदेवः व्याससुतः व्यासोपि अथ च गीतगोविंदकर्त्ता जयदेव इत्यादयोऽन्येऽपि विष्णुभक्तिपरायणाः सुकवयः अनेके वाल्मीकिशनकशंकराचार्यादयः सर्वेऽपि एक **ग्रंथ** इति एकः केवलः पुरुषप्रधानः श्रीगोविंदः तस्यैव स्तुतिं कृतवन्तः, आदौ भगवद्रूपवर्णने कृतोद्यमाः, परं मया तावत् स्त्रीवर्णनमतः क्रियते यतः श्रृंगारग्रंथो ग्रथ्यते, यदुक्तं श्रृंगारे स्त्रीप्रधानत्वम्, अतो मह्यं दूषणं न देयम्।

९—अथ च प्रकारान्तरेण पुनः स्त्रीवर्णनं दृढयति।

हाँ इत्यकस्मादाश्चर्यामंत्रणे। 'हे सुजन, त्वं पश्ये'त्यध्याहारः, प्रतिभूकरणवचनं विचारय चेतसेत्यपि शेषः। पुत्रोपरि हेतु स्नेहकारणं समीक्षतां नृणां पितुः स्वभावात् मातेव **वडीति** पूज्यत्वेन मान्या। तत्र हेतुमाह। या माता मासदशकं यावत् उदरे धरति कष्टेन रक्षति। पुनः प्रसूत्यनंतरं दशवर्षं लालनपालनं करोतीत्याधिक्यम्। यदुक्तम्—

पतिता गुरवस्त्याज्या माता नैव कदाचन।
गर्भधारणपोषाभ्यां तेन माता गरीयसी॥

पुनश्च।

सुधा मधु सुधा ज्योतिर्मृद्वीका शर्करादपि।
वेधसा सारमुद्धृत्य जनितं जननीमनः॥

१०—अथ पारंपर्येण ग्रंथे कथाप्रसंगं वक्ति।

दक्षिणस्यां दिशि विदर्भनामा देशः दीप्यतीति सर्वोत्कर्षेण शोभते। तत्र देशे कुंडिनपुरं नगरं राजतेतरां सर्वर्द्ध्या पूर्णम्। तत्र भीष्मकाभिधो राजा राजते राज्यं करोति।

कीदृशो राजा । अहय: शेषनागादय: तेषामपीत्यनेन पातालवासिनामपि मान्य:, नरा: मनुष्या: असुरा: भूतव्यंतरादय: अथ च दैत्यराक्षसादय: सुरा: देवा: स्वर्गवासिन:, एतेषां **सिरहर:** स्वयश: प्रसिद्धया प्रकटनामान्वय: कारणविशेषे मान्योऽपीतितत्त्वार्थ: ।

११—तस्य राज्ञ: पुत्रा: पंच, षष्ठी पुत्री । अनुक्रमेण पुत्राणामभिधानानि प्रथम: कुमारो रुक्मनामा नामांतरेण विमलकथोपि कथ्यते । द्वितीयो रुक्मबाहु: पुनस्तृतीयो रुक्ममाली । चतुर्थो रुक्मकेश: । पंचमो रुक्मरथ:, एते पंचापि ।

१२—षष्ठी पुत्री स्त्रीलिंगत्वावतारेण तस्यां नाम रुक्मिणीति प्रसिद्धो लक्ष्म्या: अवतारोऽपि द्वितीयोऽर्थ: । तत्र जननसमयबाल्यं वर्णयति । 'हे लोका: यूयमेवं जानीते' त्यध्याहार्यम् । उत्प्रेक्षते । मानसे सरसि तत्कालोत्पन्ना हंसबालिकेव । किंवा, मेरुगिरौ निर्गता कनकवल्लीव अंकुरिता, पत्रद्वयसंयुता जातेव । अतो भाविनीवृद्धि: समीचीना संभावयतेति ।

१३—अन्या कन्या वर्षेण यावन् मात्रं वर्द्धते शरीरावयवान् पुष्णाति, तावन्मात्रमियं मासेन वर्द्धते पुष्टा दृश्यते । अन्या मासेन वर्द्धते तद् वृद्धया प्रहरेण वर्द्धते । अधिकं सामुद्रलक्षणैर्द्वात्रिंशता युक्ता केनाप्यंगगुणेनान्यूना सती बाललीलामयी बालक्रीड़ापरायणा राजकुमारी **ढूलड़ीभि:** वस्त्रादिपरिकररचितपुत्तलिकाभि: रमते स्मेति । शैशवे सर्वोऽपिजनश्चञ्चलत्वमावि: करोतीति वय:स्वभाव: ।

१४—साऽथ किमेकाकिन्येव रमते, इति शङ्कानिराकरणायातो वक्ति । संगे स्वसार्थे सख्य: सन्तीति । कीदृश्य: शीलमाचार: कुलं **वेश** इति वय:, तै: समाना सादृश्य: ताभि: क्रीडतेस्मेति

सुसंगतिदर्शनम् । तत्समयं वीक्ष्य जनाः एवं जानन्ते स्म । पद्मिनी कमलिनी केलिकाभिवृ तेव उपमा । तथा राजकुमारी राजांगणे रमती राजते एवं शोभते, ननु उडुगणे तारकगण-मध्ये अंबरे नभसि **बीरज** इति द्वितीया चंद्रस्य लेखेवेति शिशुत्वं दर्शितम् ।

१५—अधुना वयःसंधिं वर्णयति । ऊमायानमिति (?)

शैशवं बाल्यं तत् तनौ शरीरेण सुसुप्तं गतप्रायमिति, तथा च यौवनं न जाग्रतं न तादृशं प्रकटितम् । अतो वयः-संधिः समुत्पन्नः कियद्वारं स्थायी **सुहिणा सुवरीति** स्वप्नप्रायः यथा **वरि** शब्द औपम्ये स्वप्नं दृष्टं स्तोककालं तिष्ठति तथा वयोयुगांतरमपि तल्लक्षणं चेदम् । यदुक्तम् ।

न दंतुरमुरस्थलं वचसि नाश्रिता चातुरी ।
विकारि न विलोकितं भ्रुवि न वक्रिमोपक्रमः ॥
तथापि हरिणीदृशो वपुषि कापि कांतिच्छटा ।
पटावृतमहामणिद्युतिरिवाभिसंलक्ष्यते ॥

परमेवं ज्ञायते । सांप्रतं यौवनं पलेन पलेन घटी-षष्टिभागमात्रेण वृद्धिं करिष्यतीति । कविः स्वनाम्ना **पिथमेति** पृथ्वीराजस्येदृशं ज्ञानं परिस्फुरतीति परोपदेश-वृत्त्या स्वसंदेहनिराकृतिः ।

१६—अधुना तत्कालागतं यौवनं व्याख्याति । प्रथमं मुखे रागो रक्तत्वं प्रकटितं तत् ज्ञायते प्राची भागः सरागो जातः इति । समये प्राक् पूर्वदिशि रक्तत्वं भवति । उत्प्रेक्षते । अंबरे गगने अरुणोदय इव रविसारथिरुदित इव । ततः प्रातः प्रभातं ज्ञात्वा प्रेक्ष्य । उच्छ्रितौ पयोधरौ ऋषीश्वराविवेति साम्यम् ।

प्रात: संध्यावंदनार्थ ऋषय: समुत्तिष्ठन्तीति नित्य-कर्मप्राधान्यम् ।

१७—वय:संधौ जीवस्य **जंप इति** स्वास्थ्यं नास्ति तत्कथमित्याह । यौवनरूपं प्राघूर्णिकं जनं यायिनं स्तोककालं स्थायिन**मिव** चलनपरं इव ज्ञात्वा विचिंत्य यातु मनसा सार्द्धं का प्रीति: । बालमित्रे इव बाल्यत्वे गतवति सति एषा बाला बहुतरं विलक्षिता उन्मनीभूता । यतो बालकालिकवयस्य विरहे चिंतातुरत्वं युक्तमिति । उभयोरपि प्रीत्यलब्धौ मनसि उद्वेग: ।

तथाहि—

मातर्मे न भृशं शरीरपटुता, कार्श्यं कटौ रक्तता-
ऽऽस्ये श्यामं भृकुटीयुगं कुटिलितं नेत्रद्वये दीर्घता ।
द्वौ जातौ हृदि गोलकावतितरां गुर्वी नितम्बस्थली,
वैद्यस्ते दयित: सुतेतिचतुरस्तस्मै तनुं दर्शय ॥

१८—अथ च पुष्टं जातं तारुण्यमिति लज्जा प्रकारं कथयति । प्रथमं बाल्ये मातृपित्रोरग्रे यथाकथमुद्घाटितदेहावयवा सत्यरमत क्रीडामकरोत् । अधुना कामस्य विरामा उल्लसितानि नवनवांगानि, तेषां गोपनकृते दर्शयितु-मनिच्छती सती लज्जावती जायते । यत: शरीरांतर्भावानां वस्त्रादिभिराच्छादनं तदेव प्रथमं लज्जानिदानं मां गोपितांगां दृष्ट्वा किं वितर्कयिष्यत: पितराविति त्रपाप्रसंग: ।

१९—अथ यौवनं वसंतोपमं प्रदर्श्य वर्णयति । यत् शैशवं व्यतीतं तत् शिशिर ऋतुरिव गत: । तन्निर्गतं ज्ञात्वा विगणय्य सर्वं स्वकीयं परिग्रहं समुदायं नवकुसुमभ्रमरकोकिला-जल्पनादि लक्षणं लात्वा, यौवनपक्षे तु शरीरावयवचिह्न-

लक्षणसामग्रीं, गृहीत्वा तारुण्यं देहांतरलक्षणे वने ऋतु-राड्रूपं समागतमिवेति द्वयोः साम्यम् ।

२०—अधुना तयोश्चिह्नान्युपक्रमान्युक्त्या दर्शयति । वसंते वने दलानि नवपल्लवानि पुष्पाणि च विमलानि सद्यस्कानि जायन्ते तथास्याः शरीरे नयनकमलदले प्रफुल्ले निर्मले दीर्घे-प्रादुर्भूते । कंठे वाग्मधुरत्वं कोकिलवत् जल्पनमेव कोकिला । स्त्रीणां मधुरस्वरत्वं प्रसिद्धम् । पुनः **पांपिणीति** नयन-पद्मरूपाः ता एव पक्षाणि सज्जीकृत्य । नवीनयुक्त्या भृकुटीद्वयं भ्रमरवद् भ्रांतम् अतएव श्यामत्वं कुटिलत्वं सुशोभितमिति द्वयोः सदृशचिह्नोपमानम् ।

२१—पुनरुभयोः साम्यम् । अस्या रुक्मिण्याः शोभना तनुः सैव मलयाचलस्तत्र मनः मलयजं चन्दनमिव **मुकुरितं** सुष्ठुतया प्रादुर्भूतं कुचद्वयोत्थानं किंचित्तीक्ष्णाग्रभागं कामांकुरस्य कलिके इव निर्गताग्रभागवत् । तथास्याः ऊर्द्ध्वश्वासः दाक्षिणात्यपवन इव । कीदृशः पवनः, गुणत्रयमयः शीतो मंदः सुरभिश्च चिन्त्यः, उच्चः ऊर्ध्वः स्थित्यावहमानः । श्वासे सौरभ्यं पद्मिनीलक्षणम् ।

२२—अत्र चन्द्रोदय साम्यरूपतया मुखस्यैवोपमानं वदति । मनस्यानंदो यौवनस्वभावोऽयमेवासन्नोदयः । अथ च हास्यं स्मितरूपं अवकाशः अदृष्टे चन्द्रे प्राक् प्रकाशः तत्र रदाः दंताः स्मितेन प्रकटिता एव, **रिखपंति रुखेति**, नक्षत्र-तारापंक्तिसदृशा राजन्ते । तत्र नयने कुमुदिनीप्राये चन्द्रोदये प्रफुल्लिते । नाशिकादीपशिखेव दीपोपमेया । **मेनकेसेति** । केशाः रात्रिरूपाः इत्यपि । मेनशब्देन चारणभाषया भुजङ्गसदृशाः, प्रायः शरदि दीप्तिमति रवौ

दिने सर्पाणां बहिर्न निर्गमः रात्रावेव प्रकटनं पश्चाद्भागे स्थिताया वेण्या अदर्शनेन। नाशादीपस्य विच्छायत्वं न स्यादिति नौपम्ये दोषप्रसंगः। मुखं राकेश इव विशेषेण शारदी पूर्णिमा चन्द्रसदृशम्।

२३—तनुरूपे सरसि सरोवरे वर्द्धिते वयसि यौवनरूपजलस्य **जोर इति** बलेन कामिन्याः करणाः हस्तद्वये दशांगुलीरूपाः कामस्य वाणाः वर्द्धिता इव यतः कामस्य बाणाः कुसुममयाः करयोरपि कमलोपमा सौकुमार्येणेति, एकैकस्मिन् हस्ते पंचांगुलीरूपं बाणपंचकं व्याख्येयम्। अथ चोपरि भागे बाहुद्वयस्य **डोरिणोपमानमिति** किं दृढ़रज्जु सदृशमिव आलिङ्गनसमये श्रीकृष्णस्य कंठे बंधनं कृते आनीतमिवोत्प्रेक्ष्यते वरुणस्य प्रचेतसः पाशाविव। वरुणस्य शस्त्रं पाश एव तं दूरीकर्त्तुं जगतापिन शक्यते तदिवेदमपि बंधन कृष्णस्य दृढं भावीति रहस्यम्। यदुक्तं कुमारसंभवे—

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः।
पराजितेनापि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन॥

२४—क्रमेण कामिन्याः कुचौ स्तनौ पीनौ जातौ। कीदृशौ कठिनौ उत्प्रेक्ष्यते। करिणः गजस्य कपोलौ कुंभाविव। कदा, **वेस नवीति** चटितयौवनवयसि अतो विधिनादृष्टरीत्या वाण्या वचनचातुर्येण व्याख्यानं वर्णनं क्रियतामिति शेषः अथ तयोरुपरि अतिश्यामता श्यामचूचुकयुगं किमिव भाति। उत्प्रेक्ष्यते। यौवनेन कुंतारूपेण दानं मदः प्रदर्शितम्, प्रादुः कारितं पुंतारास्तु करिणां भैषज्यादिप्रयोगेण असदपि दानं मदं प्रकटयन्तीति सत्यम्।

२५—अथ तस्याः अंगेषु तीर्थभावं दर्शयति। तस्याः पीनौ पयोधरौ स्तः कीदृशौ धराधरः पर्वतः तस्य शृंगे इव।

प्रायो गिरिशृंगं देवतीर्थमयं स्यात्। अत: कीदृशौ स्तनौ सधरौ माहात्म्यवंतौ, स्पृष्टौ दुष्कर्महारिणाविति। **कवि** (कवेः) राधिक्ये सदृशोपमाने स्थूलवर्त्तुलोच्चत्वगुणेन अतिशयाश्चर्यकारि वाक्येन न दोष:। कवीनां वर्णनसमये सविशेषभावादिति। घनं क्षीणा मुष्टिग्राह्या। यदग्रे वक्ष्यति **कृशाङ्गि मापित करलेति,** पुनरतिसुघटातिसुन्दररूपा, कटितटं गिरितटमिव चिन्त्यं तदपि पुण्यक्षेत्रमिव ज्ञेयम्। अथ च पद्मिन्या: नाभिमण्डलं गभीरं प्रयागतीर्थम्। यदुक्तं सौन्दर्यलहरी स्तोत्रे।

तत लिङ्गाकारं किमपि तव नाभीति गिरिजे।
बिलद्वारं सिद्धेर्गिरिशनयनानां विजयते॥

विलोकनयोग्यं न त्यजनयोग्यमिति। तदुपरि वलित्रयं त्रिवेणीनां गंगायमुनासरस्वतीनामेकस्थाने मेलस्तत् सदृशम्। श्रोणिर्नितंब: नदीनां तटमिव सेवनयोग्यं पापदुष्कहरम्। एतत् कथनेन, स्वमात्रा सदृश्यां रुक्मिण्यामकामुकत्वेन, तीर्थभूतोपमा पातकश्छेदनीति विज्ञाय। श्रृंगाररसभावं पुपोषेति कवे: निष्पापत्वम्।

२६—नितंबिन्या: जंघायुगं लोकोत्तया ऊर्वोर्युगं कीदृशं **करभवत्** करभोस्यादाकनिष्ठं मणिबंधादारभ्य कनिष्ठांगुलिं यावत् चटाहोत्तारेण साम्यम्। अथवा अधोमुखीकृतौ रंभास्तंभाविव द्वितीयोपमा। कीदृशं निरूपमं आभ्यामप्यतिसुंदरं तदध:स्थं जंघायुगलम्। **जुग्गलिनालीति** नाम्ना लोकप्रसिद्धं, कीदृशं, तस्या: कदल्या: गर्भसदृशं विशेष-सौकुमार्येण नीरोमत्वमपि प्रकाशितं अतो विद्वांस: शास्त्रज्ञा: एवं वर्णयन्ति व्याख्यायन्ति।

२७—पदपल्लवानां चरणांगुलीनामुपरि पुनर्भवा: नखा: प्रतिभान्ति। तत्र किमुपमानम्। यथा निर्मलं स्वच्छं, कमलपत्राणामुपरि, नीरं जलविंदव: तेषां तेज: सुश्रीकत्वमिव विराजते इत्यर्थ:। अथ च नखानां तेजस्वितया रक्ताश्वेतत्ववर्तुल्यादिगुणैरुत्प्रेक्षाषट्कम्। तदेवाह। उत्प्रेक्षते। रत्नानीव, तारं रौप्यमिव, तारका इव, **हरिहंस**श्चारणभाषया सूर्यनाम: हरिहंस-सावका: सूर्यस्य लघ्वपत्यानीव अरुणसूर्या:, शशधराश्चंद्रा इव, हीरा: वज्ररत्नानीवेति। स्वस्वगुणस्वभावो विचार्य:।

२८—अथ रूपातिशयोपेता परमपठिता विद्याविहीना तदा किं वर्ण्यते। यदुक्तं—

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवा:।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गंधा इव किंशुका:॥

अथ चातुर्यमूलं विद्यापठनमावि:करोति। व्याकरणान्यष्टौ, पुराणा: अष्टादश, स्मृतयोऽष्टादश, अन्य: शास्त्र-विधि: धर्माधर्मकाममोक्षमय: चत्वारो वेदा:, अंगानि षट्, तेषां विचार: अर्थरीत्या विवेचनं संख्या**मील**नेन तया ज्ञानवत्या चतुर्दशापि विद्या: चतु:षष्टिसंख्या: कला: अपि ज्ञाता: तासां मध्ये अनेके अनेकेऽधिकारा: स्वयं ज्ञातुं योग्यास्तेपि शिक्षिता: इति बुद्धिमत्त्वं प्रकाशितम्।

२९—सांप्रतं वर-प्राप्त्यवसरो जातस्तदा किमजनि। कदाचित्कयापि सख्या हरिर्वसुदेवपुत्रो वर्णित:। तद्गुणान् श्रुत्वा तदुपरि अनुरागो वरणेच्छा जात:, वरवांछत्या: रुक्मिण्या:। हरिगुणभणनेन या **हर:** मनसि वांछा उत्पन्ना तया वांछया

गौरीं पार्वतीं हरं शंभुं च वंदते स्म। अद्यापि होलिकानंतरं कन्याभिर्गौरीपूजिते व्रतं वितन्यते ईप्सितवरप्राप्तिनिमित्तम्।

३०—पिता च माता चेदृशान् देहावयवान् दृष्ट्वा विवाहकृते विमलं सम्यक् सुख-कारिणं विचारं विमर्शनं कुरुतः स्म। सांप्रतं कुत्रापि पुत्री विवाह्यते तदैव चारु। यदुक्तम्—

माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयोऽपि नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजःस्वलाम्॥

तत्र विचारणे। कन्यानिमित्तं नाथो वरः कृष्णतोऽधिकः न मनसि परिस्फुरति कीदृशः कृष्णः सुंदरः रूपवान् सूरो बलवान्, शीलं आचारस्तेन शुद्धः, सदाचारवान् कुलेन वंशेन शुद्धः सुवंशजातः करेण शुद्धः त्यागवान् एतैर्गुणैः पूर्णः अयमेवेति निर्णीतम्। यदुक्तम्—

"कुलं च शीलं च सनाथता च विद्यां च वित्तं च" विचार्य ज्येष्ठपुत्राय निवेदितम्। आवाभ्यामिदं विचारितम्। तदाकर्ण्य पुत्रः किं प्रस्तुतमाचचक्षे तदेवाह।

३१—पुत्रा वदंति मातरं पितरं प्रति चैतत्। किमित्याह—हे पितरौ! अस्माकं पंचानामपि पुत्राणामीदृशी वासना मंत्रबुद्धिः यद् राज्ञां क्षत्रियकुलजानां नृपाणां ग्वालानां गुर्जरजातीनां परस्परं च का ज्ञातिः किं सज्जनत्वम्। तथा जात्यंतरेण का कुलपंक्तिः एकत्र जेमनादिकं कथं स्याद इति मंत्रो दर्शितः।

३२—पुनरपि पुत्राः कथयंति। यौ मातापितरौ एतानि षड्त्रिंशद्राज-कुलानुल्लंघ्य अवगणय्य यद् अहीरैर्गुर्जरैः सार्कं सज्जन-

वत्वं कुरुत:, तदैवं ज्ञायते वृद्धत्वे कस्यापि केनापि न विश्वसनीय: विश्वासो न कार्य: तत्कृतो मंत्रो वृथा भावीति। कथमित्याहु: यदास्माकं मातापितरौ अपि **पांतरीत्रा** इति बुध्या विहीनौ जातौ तथा चलकाख्यानं......। साठीका सरकलीया (?) इति सत्यम्। परं एतेषां सोल्लुंठत्रचनमवधार्यम्। यदुक्तम्—

> यदेकः स्थविरो वेत्ति न तत्तरुणकोटयः।
> यो नृपं लत्तया हंति वृद्धवाक्यात् स पूज्यते॥

३३—एतद्वचनं श्रुत्वा बहुहठकरं ज्येष्ठपुत्रं प्रति मातापितरौ प्राहतु:। रे पुत्र रे रुक्म ! त्वं मा **पाँतरीति** मा मुह्यथा मा मूर्खो भव। तत्र कारणमाह। यस्य कृष्णस्य सुरा: देवा: नरा: मनुष्या: नागा: पातालवासिन: शेषादय: सेवां कुर्वन्तीति त्रिभुवनपतित्वमुक्तं तस्य निंदाकरणं वृथेति मूर्खत्वहेतु: तत्र परिणीता रुक्मिणी कन्या लक्ष्मी समाना वधूर्भवित्रा यत: वसुदेव-पुत्र: वासुदेवो वैकुंठवासी तेन सम: सदृश:। यदुक्तम्—'अन्येत्वंशावतारास्तु कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।'

३४—तथापि मूर्खोपदेशो न श्रेयानिति।

मातृपित्रो: मर्यादां मान्यलक्षणरूपां विमुच्य मुखे एवं जल्पितवंत: किमिति। अद्य पृथ्वीमंडले शोभनो वर: शिशुपालापर: प्रधान: कोऽपि नास्तीति। तदाहमेवं जाने। कुमारोऽतिकोपेनैवमुच्छलित: करौ प्रास्फाल्योच्छ्रित: यथा वर्षाकाले अंबुबलेन **वाहल**स्तुच्छनदी बहिस्तटं वहतीति भावार्थ:।

३५—अथाकथनकरं पुत्रमवेत्य गृहकलिमाकलय्य पितृभ्यां मौनमालंबितम्। यदुक्तम्—

> धिक्कष्टं जरसाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽपि नाज्ञायते।

पुत्रस्तु तदा किं कृतवानित्याह। रुक्मनामा सुतः स्वगुरुः पुरोहितो दमघोषनामा नृणामानंदकरः तस्य गेहे सद्मनि गतः किं कृत्वा गुरोः पितुः **गुरुचूकमिति** महामौर्ख्यं ज्ञात्वा। तं गुरुं प्रत्येवमवादीत् हे पूज्य, एकं महत् हितं सुखदायि कार्यं भवति यदास्माकं स्वसारं भगिनीं शिशुपालो वरति परिणयति, अतस्तत्र—भवता गंतव्यमित्यादेशो निवेदितः।

३६—विप्रेणेति वचः श्रुत्वा विलंबो न कृतः। तत्कालं चलितुं प्रवृत्तः। येन कारणेन सत्वादेशवशः। यदुक्तमुपाख्यानम्। आदेशेन ज्योतिषमिति। परं भव्याभव्यत्वमविचार्य नो विमृश्य। यदुक्तं—आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया। प्रथममेव लग्नं लात्वा पुरोहितश्चंदेरीनामनगरीं प्राप्तवान्।

३७—शिशुपालेनोदंतं श्रुत्वा किं कृतमित्याह। जातहर्षभरेण संजात-निवड़ानंदं यथा स्यात्तथा भूत्वा शिशुपालश्चलितः। ग्रंथे माघादिशास्त्रे यथोक्तस्तथैव। परं को जानीते, कः संख्ययति, यत् कियंतो देशदेशानामधिपा सार्थेऽभूवत्।

३८—अथ चागामिनं शिशुपालं ज्ञात्वा किं जातमित्याह। शिशुपालस्यागमं प्राक् कुंडिनपुरे उत्सवो मंड्यते स्मेति विवाहवर्द्धापनकं प्रारब्धम्। किमिति। विविधवादित्राणां निर्घोषः समजायतेति। पटमंडपाः छायार्थं यत्र तत्रोद्भाविताः, पुनः कांचनमयाः कुंभाः कलशाः मंगलार्थं स्थाने स्थाने निवेशिताः।

३९—अथ गृहाणि वर्णयति। गृहगृहाणां भित्तिनिस्पादने, गारि शब्देन प्रलेपनोपायः, हिंगुलूकस्यैव कृतः, इष्टिकाः स्फटिकमया- **[illegible]ताः** खचिताः कीदृश्या **अस्तंभाः** (?) सुघटिताः, पट्टाः

सुचंदनतरुमयाः, कपाटान्यपि चंदनजानि, स्तंभतले **खुंभी-पना** नाम्नो रत्नदलस्य तदुपरि स्तंभा प्रवालीमयाः। एवं पुरस्य बहुसामर्द्ध्यं निवेदितम्।

४०—जोइ इति स्त्रीपर्यायः। स्त्रीणां श्यामोज्ज्वलरक्तपीतनील-रंगानि वस्त्राण्येव, उत्प्रेक्ष्यते, जलदपटलानीव पृथक्वर्णा-न्यभ्रवृंदानीव। तत्र वादित्राणां निनादः स एव घनघोरो गर्जनमिव। प्रतोल्यां प्रतोल्यां तोरणानां परिष्ठापनं बंधनम्। तत् उत्प्रेक्ष्यते। मेघागमे हर्षिताः मयूराः एव गिरिषु तांडवं नृत्यं मंडयंतीव। अत्र सर्वत्र मेघागमेन साम्यं पुर-रूपवर्णनं ज्ञेयम्।

४१—अथ च शिशुपाले नगरासन्नसमागते किं वितर्कणमभूदिति दर्शयति। ये राजानः शिशुपाल राज्ञः **जानीति** परिणयन-समये स्वजनसंबंधिबंधुवर्गसमुदायः तत्संगे मेलायके आगता आसन् ते तु नगरं दूरतो दृष्ट्वा ललाटे करं धृत्वा एवमवदन् इदं नगरं दृश्यते वाथवा **कोरण** नवीनमेघवर्षणसमया-त्प्राक् सरजोवायुशुभ्राभ्रदर्शनमिति शंकात्वमंगीकुर्वंति साश्चर्यविलोकनेन मतिभ्रमः। तथा किं धवलगिरि-र्हिमाचलो दृश्यते। किमथवा एतानि धवलगृहाण्येव। त्रिचतुःपंचसप्तभूमिकानि सुधाधवलितानि हर्म्याणीत्यपि मनो-भ्रांतिः। किमित्युत्प्रेक्षापदम्।

४२—तत्रस्थाः पुरस्त्रियः मंगलाचारपुरःसरं गवाक्षे चटित्वा समारुह्य गायंति गानमारभंते ताः स्त्रियो दृष्टमात्रे शिशुपाले तन्मुखं सूर्यसदृशं मन्यंते प्रोद्दामतेजसूचनया सूर्यदर्शनमिव जानंति अतः पद्मिन्य इव प्रफुल्ल्यंते स्म हर्षविकाशमाप्नु-वंत्यः। तथा केनाप्युपायेन रुक्मिणी शिशुपालवदनं

रविरूपं पश्यंती कुमुदिनीव विलक्षीभूता। कुमुदिन्याः रविदर्शनं म्लानिजनकमिति तत्त्वार्थः।

४३—अथ च रुक्मिण्या चिंतातुरया तदा किमकारीति। सा कुमारी गवाक्षजालिकामार्गे वारंवारं चटित्वारुह्य भुवने जगति सर्वतः पांथं प्रेष्यरूपं नरं विलोकयति। यतस्तया सुतनुना, मानसेन तस्मै हरये मिलितया, नखरूपया लेखिन्या कृत्वा साश्रुनेत्रकज्जलरूपमस्या कद्गलं लिखित्वा पार्श्वे-रक्षितमासीत्। कंचित् दृष्ट्वा प्रदास्यामि इति वितर्कितम्।

४४—तस्मिन्नेव क्षणे एकस्तु प्रेष्य वेषभाक् पवित्रः षट्कर्मच-तुरो **गलिब्राग** इति विप्रो दृष्टः। तस्मै प्रणिपतिं कृत्वा एवं जल्पिवती वक्तुं लग्ना। किमुवाचेत्याह हे वीर! इति भ्रातृ-पर्यायवचनं हे भ्रातः हे **वटाऊ** हे प्रवासिन् आदरेण वीप्सेति हे ब्राह्मण मत्प्रेरणाया त्वं द्वारिकां यावत् गत्वा मम संदेशं भगवते देहि समर्पयेति।

५५—ब्राह्मणेनापि तस्या महत्त्वदानेन अविमर्शितकृत्यं यथा स्यात्तथा पत्रं गृहीतं तदा रुक्मिणी तं शिक्षयति। हे देव, त्वमेतत्पत्र-प्रदाने विलंबं मा कृथाः। संप्रत्येकचित्तवृत्तिमाश्रित्य यत्र यादवेंद्रः श्रीमुरारिस्तत्र याहि, गत्वा च मम मुखात् श्रुतं चरणवंदनं त्वया स्वमुखेन कथयित्वा पत्रं देयम्। इति शिक्षा।

४६—अधुना रविकिरणाः गताः लंबमानाः जाताः, ग्रहेषु तारकेषु **गहमहेति** ज्योतिः प्रादुर्भूतम्। रहःरहःइति यो यत्रोषितुमनाः स स तत्र गंतुकामो भूत्वा चिन्तितं स्थानमाश्रयत्। अतो मार्गवहनं लोकैर्निरस्तम्। सोऽपि द्विजः पुरान्निर्गत्य चलचित्तो बहिः सुप्तः। निशा पतिता, तेन न चलितः।

४७—तत्र शयनादनंतरं गतनिद्रश्चिंतापरोभूत । यदुक्तम् ।

अष्टौ मनुष्याः न लभंति निद्रां । प्रवासिको व्याधिजनः सरोषी ।
विद्यार्थवांछी परनारिरक्तः । प्रियासुसक्तश्च वियोगितोऽपि ॥

इत्यनिद्रताहेतुः तत्किंचतानित्तं (?) इत्याह । सांप्रतं विप्रेण विमर्शितं । लग्नस्यांतरे त्रीणि दिनानि । पुनः द्वारावती तु दूरेऽस्ति बहुदिनैर्गमनयोग्या । **भऊ** इति सभयाश्चर्ये, कया रीत्या प्रकारेण अहं प्राप्स्यामीति । स द्विजः संध्यायां शोचयित्वेति विचिंत्य कुंडिनपुरे सुप्तः । परं श्रीपुरुषोत्तम-प्रभावतः प्रभाते जगति द्वारिकायामजागरीत् समीपं प्रबुद्धः एष महतामतिशयः ।

४८—अधुना द्वारिकास्वरूपमाह । कुत्रचिद्वेदध्वनिं शृणोति । कुत्रचिच्छंख-स्वनं च । कुत्रचित् झल्लरीनिनादं । कुत्रचित् वादित्राणां निर्घोषं । एकतः कथाप्रसंगं **कहकह भूतं** एकतः **हीलोहलं** जनानां संघट्टविधिं समाकर्णयतीति सर्वत्र योजना । सागरस्य च नगरस्य च सदृशः शब्दः । पार्श्वे स्थितस्य जलधेर्गर्जनं लहरीभिर्जलोत्पतनं जलचरजीवनिनादै-र्व्याप्तं । ईदृशं स्थानमस्तीति । सादृश्यवर्णनं विचार्य ब्राह्मणस्याश्चर्यप्रसंगः ।

तदा द्विजेनोत्थाय सविशेषमालोकनं कृतं । यावत् द्विजः पश्यति पुरं, तावत्

४९—जलहारिणीपटलं समूहस्तस्यापि यत्र तत्र दलं लारिबंधं पश्यति स्मेति बहुजलाश्रयवत्वं यासां वर्णाश्चंपककुसुमोपमा मस्तकेषु कुंभाः कलशाः समीचीनाः बहुमौल्याः सौवर्णिकाः रत्नखचिताः इति यावत् करे कमलानि कृत्वा मंदं मंदं चलंतीतिशेषः । तथान्यार्थे, करा सौकुमार्येन कमलसदृशाः इत्यपि । पुनश्च

तीर्थे तीर्थे जंगमतीर्था इति योगध्यानलीना योगीश्वरा: अथ च ब्राह्मणा: विमला: वेदशास्त्रपाठका: निष्पापा: । जलमपि विमलं पापहरं गोमतीसमुद्रसंगमजम् ।

५०—गृहे गृहे यज्ञान् गरयंति याज्ञिका: शाश्वताग्नि निर्धूमं प्रकाशयंति । यज्ञे यज्ञे जपा:तपांसि च क्रियंते । मार्गे मार्गे वायु दक्षिणत: आम्रा: मंजरिता: आम्रे आम्रे कोकिलानामालाप: कुहू कुहू शब्द: मधुरजल्पनमिति पुर्या: विशेषशोभावाचकोक्ति: ।

५१—तदाश्चर्यैनिरीक्षणे विप्रश्चिन्तयति । इदं सांप्रत्यक्षं द्वारकादर्शनम् । किमिति वितर्के । एनं स्वप्नमहं लभे किंवामरावत्यामागतोऽस्मीति चिन्तते । कश्चित्पुमान् नगरवासी दृष्ट: तस्मै इति पृष्टं इयं का पुरी । ततस्तेनोक्तं हे देव, एषा द्वारावति संदेहनिराकृति: ।

५२—अथ च मार्गहिंडनं विना चिंतितस्थानप्राप्त्या किं जातमित्याह । एतद्वचनं पूर्वाभिसकाशात् श्रुत्वा मनसो अंत:सुखं समजायत । तस्य नरस्य प्रणतिं कृत्वा अग्रे क्रमितश्चलित: पुरांत: पृष्टं पृष्टं श्रीकृष्णस्यांत:सभासन्मुखं गतवान् । तत्र हरे: सुष्ठुतया दर्शनमजनि ।

५३—तत्र श्रीहरिं दृष्ट्वा विप्रेण किं विचिंतितमित्याह । श्रीगोविंदस्य वदनकमले वीक्षिते सति विप्र: स्वयमात्मना सहालोचयति । अहो मम भाग्यं, यत: रुक्मिणी अत: परं कृतार्था सफलजन्मका भाविनी, परमहमस्या: प्रेष्यभावेन संप्रति प्रागेव कृतार्थोऽभूवं सफलजन्मा जात: मम सकलपापक्षयोऽभवदिति ।

५४—अथ च विप्रं दृष्ट्वा अंतर्यामिना परमेश्वरेण ज्ञातमयं रुक्मिणीदूत इति विचिंत्य किमकारि तदाह । श्रीजगतपतय: आसना-दुत्थिता: पूज्यत्वे बहुवचनं कीदृशा: अंतरयामिन: पर-चित्तवार्त्ता ज्ञानविशेषत: जानन्तीति शंकानिराकार:, किं कृत्वा, दूरांतराद् द्विजं आगच्छन्तं दृष्ट्वा उत्थाय च वंदनं नमस्कारं कृत्वा अतिथिधर्म: प्राघुणिकायमहत्त्वदानं यथाविधि वेदोक्तं कृतं । ब्राह्मणाय क्षत्रियाणां वंदना अर्घपूजादिकरणं न्याय्यम् ।

५५—अथ च संस्कृतभाषया श्रीकृष्णदेवो भूदेवं परिपृच्छति स्म । किमुवाचेत्याह । हे मित्र त्वं कस्मिन् पुरे वससि, किमर्थ-मिहागम:, केन सह तव कार्यं; अग्रे कुत्र परियासि, तत्त्वं ब्रूहि ममाग्रे निवेदय तव करस्थं पत्रं केन जनेन कस्मै प्रेषितम् इति देवभाषा, संस्कृतमेव प्रश्नम् ।

५६—अथोत्तरं । वयं कुंडिनपुरादिहागमाम:, आगतास्म:, तत्रैव वसाम:, इति आत्मनि बहुवचनं पामरोक्ति: । एवमुक्त्वा कद्गलं श्रीकृष्णाय प्रदत्तं । दत्वावक् । रुक्मिण्या भीष्मकपुत्र्या भवत: सकाशे पार्श्वेऽहं प्रेषित: सर्वे समाचारा: कार्यसाधका: अस्य पत्रस्य मध्ये संतीति प्रस्तुतप्ररूपणम् ।

५७—आनंदलक्षणे रोमांचे जाते सकरकंपं सहर्षाश्रुनयनत्वेन श्रीकृष्णस्य कद्गलं वाचयितुं **न वणइ** इति न शक्यत्वं संभवति तेन कारणेन करुणाकरेण तस्यैव द्विजस्य करे तत्पत्रं वाचनाय प्रदत्तम् ।

५८—अथ देवाधिदेवस्य आदेशं प्राप्य ब्राह्मण: पत्रं वाचयितुमारेभे । किं किं लिखितमिति कथयति । हे अशरणशरण, विधि-

पूर्वकं मम जन्मनि-जन्मनि तवैव शरणं अन्य: कोऽपि रक्षाकरो नास्तीति स्वदीनत्वं विज्ञप्तम् ।

५६—अथ च स्वविज्ञप्तिविधि: लिख्यते। हे बलिबंधन, एतदामंत्रणे नारिमर्दकत्वमुक्तं । यदि मां कोप्यन्य: परिणयति तदा जंबुको बलं बद्ध्वा सिंह **ग्रासद्** इति खादेदित्यनाहूतविधि संभावनं। वाक्यं पुन: । कपिलाधेनु: शौनिकाय पात्रं मत्वा समर्प्येत इति चिंतनं घटमानमेव। अथवा चंडालस्य करे तुलसीमोचनमित्यप्ययोग्यम् ।

६०—अथ च स्वभ्रातरमुद्दिश्य पैशुन्यवचो वक्ति । हे स्वामिन् मदर्थं त्वां परित्यज्य ये अपरमन्यं वरं शिशुपालसंज्ञमानयंति ते उत्प्रेक्षते अग्नौ उच्छिष्टं होतद्रव्यं होमयंति जुहुयुरिवेति, अग्निस्तु साक्षाद्देवमुखं तत्रानुच्छिष्टं हुतं देवानां प्रीत्यै। तत्र वैपरीत्यं नोचितं । पुनरनुचितकर्मारंभं वक्ति । शालिग्रामं गल्लकीनद्युत्पन्नं शूद्रगृहे संग्राहयंति ददते इव, म्लेच्छानां मुखे वेदमंत्रपाठनं, तदप्ययुक्तं इति भ्रातृणां दोषनिदर्शनम् ।

६१—अधुना लेखोदंतै: स्वार्थविधिकृते हरिं प्रेरयति । हे हरे, त्वया वाराहरूपेण तृतीयावतारं भूत्वा हरिणाक्षं (क्षं) दैत्यं हए इति हत्वा पृथ्वीरूपाहं पाताले गच्छंती दाढाग्रेणोद्धृता स्वस्थानं स्थापिता। हे केशव, हे करुणामय, हे कृपानिधे, त्वमेव कथय तदा भवतां केन शिक्षा प्रदत्ता। यद्यूयमेवं कुरुत दीनबंधुत्वेन स्वयं कृतवान्। इति कारुण्यं दर्शितं। पुन: स्वभक्तरक्षातत्परत्वं वक्ति ।

६२—सुरांश्च असुरांश्च आनीत्वा एकत्र मेलयित्वा शेषनागं नेत्रकरूपं **नहि** इति प्रकल्प्य चर्मरज्जुवत् कृत्वा। मंदरोमेरु: **रई**

इति मंथे च रक्षित: जलांत: क्षिप्त: एवं विधिना **महण** इति समुद्रं प्रमथ्य हे **महमहेणेति** कृष्णनाम्ना त्वयाहं लक्ष्मी-रूपा बहिर्निष्कासिता **तई** इति तदापि यूयं केन शिक्षिता: न केनापीति स्वत: कार्यकारित्वं प्ररूपितम् ।

६३—अथ पुनर्वक्ति । रामावतारे **वेलाहरण** समुद्रं बद्ध्वा सेतु-बंधं रचयित्वा रणे संग्रामे रावणं **वहे** इति हत्वा च अहं सीतारूपा त्रिकूटगढ़तो लंकादुर्गाद् उद्धृता पश्चादा-नीता तदापि हे कृपानिधे युष्मभ्यं कस्य शिक्षा न कस्या-पीति तत्त्वम् । प्रधानपुरुषभावेन सर्वत्र बहुवचनम् ।

६४—हे चतुर्भुज, त्वं मम चतुर्थ्यामपिवारं वेलायां **वाहरि** गृह्यमाण-**वस्तुन: पश्चाद्वालनोपायं** कुरु शंखं चक्रं गदां कमलं च धृत्वा इति भुजचतुष्टये आयुधग्रहणं वीररससूचकं । अथ हे माधव मया मुखेन कृत्वा किमालोचनं मंत्रणं कथ्यते त्वया सहेति, यत: कीदृशेन, अंतर्यामिना सर्वेषामंतर्वर्त्तिवार्त्तां जानता, इति स्वलज्जाप्रतिपादकवच: ।

६५—तदांतर्यामित्वं जानंत्या त्वया पत्रं कथं अप्रेषीति शंका-निराकरणाय पुनर्लिखति । जानंत्यप्यहम् अधृतिमती सती तेन कारणेन **बकु** इति स्वदीनत्वं प्रकाशितवती येनाहं स्त्रीत्वधारिणी प्रायश्चपलवृत्ति: अन्यच्च प्रेमणातुरा व्याकुली-भूता यत: श्रीकृष्ण: मम कार्यविधये नायात्यपीति वितर्कवशत: । पुन: हे राजन् हे प्राणनाथ भवानपि द्वारि-कायां विराजमानोऽस्ति । अनासन्नवसनेन चेतसि भ्रांति-रिति । अयं मम लग्नसमयस्य दिवसो समीपमायातोऽस्ति कीदृश: सांप्रतं दुरीति दुष्कोत्पादक: त्वदागमनमन्तरेति अस्वास्थ्येन सरणरणकं कद्गलं प्रेषितमिति स्वदोषनिवारणं साभिप्रायं वाक्यम् ।

६६—दिनस्य आसन्नत्वं श्रावयति । तस्य लग्नस्य वेलाया: अंतरे त्रीणि दिनानि वर्त्तन्ति इत्यवधिदर्शनं । किं बहुनोक्तेन । या **घात** इति अयमेव मम शीघ्रचिंताकरणसमय: तत्र मिलनार्थं संकेतस्थानं दर्शयति । मम नगरस्य आरात् निकटं बहि: अंबिकायतनमस्ति । तत्राहं पूजाव्याजेन । अर्चन-मिषेणायास्यामीति । निश्चितम् मया गन्तव्यं भवदागम-श्रुत्यनंतरम् ।

६७—अथ च श्रीकृष्ण एवं निशम्य किमकरोदित्याह । शार्ङ्गधनु: । शिलीमुखान् बाणान्, गृहीत्वेतिशेष:, एकसारथिसहाय: सन् कृपानिधि: कद्गलस्य परमार्थं श्रुत्वा पुरोहितं पथो मार्गस्य ज्ञातारं रथे स्थापयित्वा स्वयमपि निर्विलंबं रथेऽतिष्ठत् विलंबो न कृत: । यदुक्तं ।

कार्याकार्यविचारणा यदि कृता स्नेहाय दत्तोऽञ्जलि: ।

६८—चारणेनैवमुक्तमस्ति । सुग्रीवसेन: १ मेघपुष्प: २ वेगवान् ३ बलाहक: ४ एते कृष्णस्य रथे चत्वारोऽश्वा: । परं मम मनसि नैवं स्फुरति यतो ज्ञायते सर्वमप्येतद्रथस्य चपलगति-वर्णनं । तेन रथ: कीदृशो वहति यादृशम् वानरसैन्य-मुत्सुकं । अथ च **नद मेघ पुहप** इति नदीजलं पूरसमये यादृग्वहति । अथवा बलाहकानां वर्षाभ्राणां यादृशम् वेगवत्वं इति रथगतिराधिक्यं । तत्र सारथिं दूरं कृत्वा स्वेच्छया त्रिभुवनपति: स्वयं रथं खेटयितुं लग्न: । अतो ज्ञायते धरापृथ्वीगिरय: पर्वता: पुराणि मार्गनगराणि श्रीकृष्ण-सन्मुखं............समागच्छंतीव । महति जने अभ्या-गतवति सन्मुखमागमनं महत्त्वप्रदानं । अनयोक्त्या महा-वेगवत्तया रथस्य निर्गमोऽवगंतव्य: ।

६९—अत्र श्रीकृष्णातिशयानुभावत: तत्कालं मार्गातिक्रमो जात: तदा कृष्ण: किं कृतवानिति। हे सारथे, त्वं रथं **थम्भि** चलंतं रक्ष। हे विप्र त्वं रथं **छंडि**·········· · · । एवं श्रुत्वा विप्रे साश्चर्ये जाते पुन: हरिरेवोचत् किमिति हे विप्र इदं तव पुरं समायातं इति············त्वं गत्वा रुक्मिणीं प्रति अस्माकं नामोक्त्वा कथय यत् हरि: आगत: इति श्रावयित्वा श्यामाया: सुखं देहि।

७०—तत्प्राक् समये रुक्मिण्याश्चिन्तनं कविर्वक्ति। रुक्मिण्या-चिन्तितं। हरय: स्थिता: अत्र नागता: तत्कथं। पूर्वं रक्षा-समये एतावन्मात्रो विलम्ब: कदापि न कृत:। इति चिन्तातुरा चेतसि चिन्तयंती कयापि कृतां छिंकां क्षुतं श्रुत्वा धीरा जाता। विश्वस्ता छिंकाशकुनं सत्यमवगम्य। कृष्णागमने प्रत्यय: समागमिष्यंतीति निर्णीतम्।

७१—तल्लक्षणं चेदं दूतो विप्रो दृष्ट: तदा किंजातमित्याह। द्विजं दृष्ट्वायांतं तस्याश्चित्तं चलपत्र: पिप्पलतरु: तस्य पत्रवत् चपलं विह्वलं समभूत्। तदा मौनमवलंब्य स्थातुमपि न शक्नोति। अहं पृच्छामीति व्याकुला परं प्रष्टुमपि न शक्ता। येनाग्रे वक्ष्यति। महत्तराभिर्वेष्टितेति। तदा किं कृतवती यथा यथा स दूत: आसन्नो निकटं समायाति तथा तथा अस्य मुखस्य धारणां कांतिं तर्कयति सविशेषं पश्यति। दूतस्य मुखे निर्मलता कार्यसिद्धिर्लक्षणं। प्रतीतं सुमुखं विप्रं वीक्ष्य हर्षितेति तत्त्वार्थ:।

७२—दूतोऽपि चतुर: समयोचितमाह च। रुक्मिण्या: संगे पार्श्वे सखीजन: तथा पूज्यस्थानीया: महत्तरा: स्त्रिय: संतीति समयं विचार्य मंदवचसा एवमवादीत्। किमिति। सांप्र-

तमेवं श्रूयते किंवदंत्या यत् लोका: वदंति। कुशस्थलीत: द्वारिकात: श्रीकृष्णदेव: समागतोऽत्रेति। वाग्युक्त्या अन्यासां मनसि शंकानिवारणम्।

७३—एतत् श्रुत्वा रुक्मिणी प्रसन्नास्या स्वकार्यसिद्धिमवेत्य किंकृतवतीत्याह। उत्थाय ब्राह्मणमिषेण सन्मुखदिशमुद्दिश्य वंदते परं हेतुरन्य: कृष्णाय नमोऽस्तु, ब्राह्मणेनोक्ता कथा प्रियागमरूपा वार्त्ता श्रवणे श्रुता:। किंचित् किंचिदपि लघुरीत्या पुन: स्वयमपि परिपृच्छ्य निर्णीतं। ततोऽनेन दूतेन किं प्राप्तमिति। यदा साक्षाल्लक्ष्म्येव रुक्मिणी नतिपूर्वं चरणयोर्लग्ना पतिता तदार्थलब्धे किमाश्चर्यं परिपाद्यं प्रियागतो (?) बहुधनप्राप्तिर्लब्ध्वा। तथा च लोकोक्ति: स ब्राह्मणो जात्यानंदबाणक: अद्यापि तेषामयाचकव्रतमिति प्रसिद्धं दृश्यते।

७४—अथ च कियत्कालानंतरं हरिं श्रीकृष्णं चटितं श्रुत्वा संकर्षणबलिभद्रोऽपि चटित:। परं कटकबंध: सेनासमुदायो बहुर्न कृत: कीदृशा: सार्थे गृहीता एके ये **उजायरद्द** इति संग्रामे धीरा:, पुन: **एवाहा** इति अग्रेसरणयोग्या:, स्वामिभक्ता: **आखाढसिद्धा** इति द्वित्रिचतुर्वारं जितशत्रुपक्षा:। एवमवधार्य, तेन रामस्यातिशयसेवा भक्तित्वं ज्ञेयं।

७५—पथि मार्गे अग्रत: पश्चात् पृथक् पृथक् चलनेन वीराविति द्वावपि भ्रातरौ। भिन्नावमिलितावेव समायातौ परं कुंडिनपुरमध्ये एकत्र भूत्वा प्रविशत: स्मेतिबलिन: विशेषेणोत्सुकतया गमनमुक्तं। प्रविष्टौ तौ प्रति, जना: आगमनहृष्टा: लोका: सज्जना: अथो दुर्ज्जना वीक्षणेन बाढमुद्वेजिता। सर्वेऽपि विलोकयितुं लग्ना: साश्चर्यं दृष्टवंत: आसन्, पुन: के नरा: अन्यग्रामवासिन:, नार्य: स्त्रिय:, नागरिका: कुंडिनपुरीया:, नरेशा: स्थानस्थानादागता: नरेशा: राजानोऽपि।

७६—तदादृष्टमात्रे यदुनाथे लोकानां का भाषा संजातेत्याह । कामिन्य: तरुण्य: कथयंति अयं किं काम: । **केवी** दुर्ज्जना: कालं यमरूपं कथयंति । अपरे नरा: श्रीनारायणं ब्रुवंति । वेदविदो द्विजा: साक्षाद्वेदार्थ एवागत इति वदन्ति । योगीश्वरा: जितेंद्रिया: योगतत्वं स्वप्रणिधानफलमेवामन्यन्त ।

७७—पुन: किं किं जल्पंति जना: । जना: द्रष्टारो लोका: **आप पर** इति परस्परमेवं **पुखिं** (?) इति कथयंति शृण्वन्ति चान्योक्तिं । किं कृत्वा । वसुदेवपुत्रस्य मुखं वीक्ष्य विलोक्य । किं किमित्याह । रुक्मिण्या: वर: परिणेता सांप्रतमयं समागत: अतोऽन्ये राजान: शिशुपालादय: **हर** इति वांछा मा कुरुध्वं । अन्येषामागमनं निष्फलं तर्कितम् ।

७८—अथ च भीष्म: सन्मुखं गत्वा प्रविश्यानन्तरं आवासस्थित्यां अवतार्य राजसार्थ: सर्वेऽपि जना: तस्य सर्वजनानामग्रे करान् संयुज्य नमस्कृतिपूर्वं कर्मकरा इव स्थितवन्त आसन्, यत: रामकृष्णौ द्वावपि... ... ...
यदुक्तं । दूहा ।

आइति सारू आंपणी, कीजइ त्यांकी सेव ।
जिके जिआंरइ पाहुणा, तिके तिआंरइ देव ॥

७९—अथ च रुक्मिणी हरिमागतं श्रुत्वा किमकरोत्तत्कथयति । तत्क्षणे रुक्मिण्या: सख्य: विज्ञप्तिद्वारेण स्वयं शिक्षितास्ता: गत्वा जननीमेवं प्राहु: । हे राज्ञि, तव पुत्री पृच्छति हे मातर्यदि यूयं कथयत तदाहं स्वयं अंबाया: यात्रायै चैत्यं गत्वा त्वरितमागच्छामीत्यादेशमार्गणम् ।

८०—**राज्ञा** तदादेशो दत्तः पुत्रीप्रेमवत्त्वेन । किं कृत्वा पतिं राजानं सुतं रुक्मनामानं दृष्ट्वा (पृष्ट्वा)। पुनः परिवारं स्वजनवर्गमापृच्छय । अथ च प्राप्तादेशया तया श्यामाया रुक्मिण्या—(यदुक्तं श्यामालक्षणं—

श्यामा च श्यामवर्णा च श्यामा मधुरभाषिणी ।
अप्रसूता भवेत् श्यामा श्यामा षोडशवार्षिकी ॥
या शीते चोष्णशरीरा उष्णे शीतशरीरिणी ।
मध्यकाले भवेन्मध्या सा श्यामा इत्युदाहृता ॥

प्रस्तावाल्लिखितं श्लोकयुग्मं) पूजाव्याजेन अर्चनछद्मना प्रयस्य कृष्णस्य दर्शनकृते मिलनार्थं तया शृंगाराः समारब्धाः, यतश्चतुराः स्त्रियः प्रायो मंडनप्रिया भवंति तथाहि, "आदौ मज्जन चारुचीर", प्रसिद्धं ।

८१—अथ शृंगारपद्धतिः । प्रथमं जलस्थाने **कमकमेन** सुगंध पुष्परसविशेषेण मज्जनं स्नानं कृत्वा । ततो धौतान्युज्ज्वलानि वस्त्राणि परिधाय । स्थिताचेति शेषः । तदा चिकुरेभ्यो बालेभ्यो जलबिंदवश्चोतितुं चरितुं लग्ना ता इति वितर्क्याहमेवं जाने । गुणमुक्ता चीर्णैर्निर्बलैर्मकतूलगुणैः श्यामपट्टदवरकैः छिन्नोहा इति शिथिलं प्रोताः छुटिता इव पतितुं लग्ना इव । सादृश्ये उत्प्रेक्ष्या ।

८२—अथ केशेषु धूपनकं ग्रहीतुकामा रुक्मिणी स्वयमेव द्वाभ्यां कराभ्यां केशपाशस्य पृथक् करणे प्रवृत्ता । बालान् भिन्नं कर्त्तुं लग्नेत्यपि उत्प्रेक्ष्यते। मनोरूपमृगस्य बंधनकृते मदनस्य कामस्य वागुरायाः जालिकायाः विस्तरणमिव केशपाशो विरलीभूतः संलक्ष्यते प्रियस्य गमन एव मृगं वशीकर्त्तुमिति ।

८३—अनुक्रममासनादुत्तीर्य राजकुमारी **गादीति** वस्त्रमयी सतभृता तस्यामासीना किमर्थं । शृंगाररसकृते । तस्मिन् चणे सेवा-परायणा एका आली इति सखी आननाग्रे मुखसन्मुखं आदर्शं लात्वा आगतोद्र्ध्वं स्थिता ।

८४—कंठे प्रथमं सौभाग्यचिह्नं पोतशब्देन **चीडोउ** इति नामाभरणं बद्धमितिशेष: तदुपमां वर्णयति । उत्प्रेक्ष्यते । कपोत: पक्षि विशेषस्तस्य कंठ इव कंठो भातीव श्यामलत्वेन सादृश्यं । अथवा हरस्य शंभो: कंठ इव विषावस्थानात् श्यामत्वयुगिति । तथा **वडगिरौ** हिमाचले कालिंदी यमुनापरितो वलितेव । अथवा श्रीशंखधरेण एकया तर्जिन्यंगुल्या समभागेन मध्य-भागेन शंखो गृहीतस्तोलित इव । कंठस्य कंबुनासाम्यं कवीनामिति उत्प्रेक्षा चतुष्टयं वाच्यम् ।

८५—अथ च । कुसुमैर्मिश्रिता कबरी इति वेणी ग्रथिता बद्धेति । उत्प्रेक्ष्यते । जगत्पावन्या गंगाया: फेनयुक्तया यमुनेव तत: **उतमंग** इति उत्तमांगं अर्द्धार्द्धं समभागत: कृत्वा मध्ये सीमंतो मुक्तामयो रचित: तत्रोत्प्रेक्ष्यते । अर्द्धे अर्द्धेऽम्बरे आकाशसमभागार्द्धे कुमारमार्ग: स्वर्गदंडक इव आश्विने-कार्त्तिके मासि नीरजस्के गगने श्वेतदंडो दृश्यते ।

८६—अथ लोचनवर्णनं । नयने आकर्णांते तीक्ष्णाग्रे तस्या:, किमिति, बाणाविव । कीदृशौ बाणौ । कुंडलरूपेण **खरसाणेन** सज्जिता-वुल्लिखिताविव, पुन: रंजनशलाकारूपशिलया सविशेषं निघृष्योत्तेजिताविव । तदनु कज्जलरूपं जलं वालितं दत्तमिव । अतएव विशेषलक्ष्यभेदकत्वेन नयनयोर्बाण-साम्यम् ।

८७—अथ च कामिन्या: आत्ममुखे शंभूपमे तत्र ललाटे रोल्या: कुंकु-मस्य तिलकं उद्भासितं, कलंकं धूम्रं च द्वयमपि **काट** शब्देन

दार्पं निःकास्य। अतस्तदेव विवृणोति तदैवं तर्क्यते। रक्तत्वेन शंभुतृतीयलोचनरूपे तिलके अग्नौ तदंगो धूमो निर्द्धारितः। निर्धूमस्तृतीयलोचनाग्निः। कृत इव। अथ च ललाटरूपे ऽर्द्धचंद्रे कलंकः श्यामत्वं दूरीकृतमिवेति भावार्थः।

८८—मुखशिखा**संधै।** मर्यादायां तिलकोर्द्धं रत्नजटितं तिलकं मंडितं बद्धं तत् दृष्ट्वैवं वितर्क्यते। इदं रुक्मिण्याः भाग्यमिव **भलिग्रलि** इति ललाटे समायातमिव। किमिति यत् शिशुपालागमे भाग्यं नष्ट्वा पृष्ठौ कंधरास्थाने स्थितिमकारीत्। यथालोकोक्ति। "निलाड सुं गुदड़ो गयुं"। इति। तत् कृष्णे समायाते **मांगमगि** इति सीमंतमार्गेण पश्चाद्वलित्वा सांप्रतं पुनर्ललाटे स्थितं। अनेन शुभदशासमयो निरूपितः।

८९—अथ च पूर्णमुखं वर्णयति। भ्रुवौ **भ्रूंसरे** इव नयने मृगाविव युक्तः स्मैव वक्राः अलकाः ललाटोपरि सद्यः पृथक् निर्गताः विषधराणां **राशिः** रज्जुरिव। बाल्यः स्वर्णमय्यः कर्णारोपिता बांकिया इति रथस्यैकतरमंगमिव। चंदरथी इति चंद्रस्य सारथिसादृश्यं ताटंक युगलं कर्णकुंडले चक्राविव पेटकाविवेति। पूर्णमुखस्य सर्वांगैः रथेन सादृश्यं। यदुक्तम्। "जूत्रा वणावत चंद्रमा। चपल होंति सारंग"। इति। "रथ बेठउ मांनुं इंदु"।

९०—अथ स्तनवर्णनं। तया कंचुकी निविड़बंधैर्बद्धा परिहिता। तत्रोपमितिः। उत्प्रेक्ष्यते। गजकुंभोपरि **अंधारी** इति शुंडाच्छादनविशेषाभरं ढालितमिव। अथवा शंभुना हरेण कामेन सह कलिं कर्त्तुमनसा कवचः सन्नाहो धृत इव। प्राकृत कविसमये कुचस्य शंभूपमा प्रसिद्धा।

अथवाहमेवं मन्ये । उत्प्रेक्ष्यते । हरेरागमे मंडपौ छायागृहे चवरकरूपं निस्यदिताविव । तथा च **बारगह**शब्देन पटकुटीयुगलं रचितमिव उत्प्रेक्ष्या चतुष्टयं ।

९१—अथ च । हरिणाक्ष्याः मृगनयनायाः **मुक्तासरी** आभरण-विशेषः मौक्तिकमयः । अथापि । **कंठसिरी** सापि पृथक् रचना विशेषतः मौक्तिकाभरणं । द्वयमपि कंठे स्थितमेवं प्रतिभा-सते स्म । उत्प्रेक्ष्यते । **अंतरिखहुंता** इति पूर्वं कंठांतर्गुप्ते अदृश्ये अधुना तु सद्भाग्यभाविते द्वे अपि बिंबरूपे रूपांतरिते बहिः प्रकटं । एका सरस्वती द्वितीया हरिकीर्तिः गुणस्तुतिः प्रकटिते आविर्भूते इव दत्तदर्शने इव । यतः कविः सरस्वतीं कीर्त्तिं च उज्ज्वले वर्णयति इति ज्ञेयम् ।

९२—द्वयोर्गौरयोर्बाह्वोरुपरि **बाजूबंधौ** अंगदेव द्वे श्यामपट्टसूत्रेण ग्रथिते । अतस्तयोःस्थितिः कीदृशीं श्रियं दत्ते । उत्प्रेक्ष्यते । मणिमय **हींड** इति दोलयोः हिंडोलयोरुपरि श्रीखंड-श्चंदनं तस्य शाखयोर्बद्धयोः मणिधरौ कृष्णसर्पौ: हींडूल इं इति प्रेंखतः हिंचत इव सर्वांगिणोपमेयम् ।

९३—नवीन **गजरेति** सोहतीनामाभरणं मुक्ताखचितं हस्तबाहुसंधौ कलाचिकायां नवीनं सद्यस्कं महोज्ज्वलमिति यावद् आरोपितं । पुनः **प्रंचीया** इति मकतूलमया तथा च वलयः श्यामपट्ट-सूत्रग्रथितः **विधिविधि** यथास्थानं निवेशिताः चंद्रेण हस्त-नक्षत्रं विद्धमिवेति । **गजरा** हस्तसंगोपमा । अथवा पुनः उत्प्रेक्ष्यते । कमलार्द्धं अलिभिर्भ्रमरैरावृतं व्याप्तमाच्छादित-मिव । हस्तकमलप्रोंचिकवलयसंयोगोपमा ।

९४—अथ चोरसि हारे मुक्तामये आरोपिते सति । अद्येति तस्मिन् समये उरः स्थलः—कुंभस्थलयो साम्योपमेययोः । परं

बह्वंतरमति पृथक्त्वं जातमिति कथमिति। तत् भद्रजातिक-करिकुंभद्वयं **सुजु मोती लहि** इति अंतर्गुप्तानि मुक्ता-फलानि लब्ध्वा बहि: प्रकटं लोकावलोकनयोग्यां शोभां नालभत, स्तनद्वयेन स्वत: असत्तयापि मौक्तिकानां श्रीर्लब्धेति दुष्कदुखित: करी स्वशिरसि रज: क्षिपतीवेति चिन्त्यम्।

९५—अत: प्रथमं धृतान्याभरण्यान्युत्तार्य विशेषशोभानिमित्तं नवीनानि धृतानीति। तेषां भूषणानां कविरत्र ग्रंथे किं व्याख्यानं कुर्यात्। अत: कथाश्रोरितिसूचनं। तथापि किंचिदाह। रुक्मिण्या: गात्रं वल्ली च भूषणानि पुष्पाणीव पयोधरौ **फलभति** इति फलसदृशौ वस्त्राणि पत्राणि वेति वल्लीसाम्येन। ग्रंथस्यापि नाम वल्ली प्रसिद्धम्।

९६—अथ च श्यामया कट्यां कटिमेखला विविधरत्नखचितेति शेष: समर्पिता। कीदृशी कटि:। अंगेन कृशा तन्वी अतो **मापित करल** इति मुष्टिग्राह्या। किमेतदिति। शंका-निराकरणाय वक्ति। उत्प्रेक्ष्यते। भावीसूचका: अनागत-भाग्याविर्भावकथका सिंहराशौ ग्रहगणा: सकल इति सर्वे ग्रहा: अवस्थिता: इव कट्या: **सिंहकटि**साम्ये सिंहराशित्व-मेवोक्तं। यतो रुक्मिण्या: तुलाराशि: तस्या: सिंहस्था: सर्वे-ग्रहा: एकादशा: ज्योति:शास्त्रे श्रेष्ठफलदायिन: मनो-वांछितं ददते। अत: श्रीकृष्णस्योत्संगे निवेशनं भावीति महद्भाग्योदयत्वं दर्शितं अयमेकोर्थ:। एकस्यां राशौ स्थिता सर्वे ग्रहा: जन्मसंज्ञका:। भावीशोचका: इति पाठे दुर्दशा दर्शका:। तस्या: राशे: क्षीणत्वप्रतिपादक: अत: कटिक्षीणा जातेतीदमपि वितर्कणं न्याय्यं। ग्रहाणामपि विविधवर्णत्वं अवगंतव्यम्।

९७—चंद्रानना रुक्मिणी स्व चरणयोः चामीकरं स्वर्णं तन्मये नूपुरे मंजीरे पुनश्च घूघरा इति लघुघंटिकाः विनस्य स्थिते- तिशेषः। उत्प्रेक्ष्यते। ये श्यामाः स्वाभाविकाः भ्रमरास्ते तु कमलरसग्राहिणः अतः स्ववशीकृतवस्तु दूषकाः, एवं वितर्क्य रुक्मिण्या पदकमलमकरंद रक्षार्थै नवीना पीताः भ्रमरा रक्षितारो यामिकाः कृता इव। यतोऽननुभूत स्वादु- रसिकतः सुवस्तुनि न दोषः संपद्यते इत्यवसेयं। द्वितीयेऽर्थे उत्प्रेक्ष्यते। पदकमलस्य रक्षितारो भ्रमराः श्यामाः कंजेन कमलेन स्वयं मकरंदेन पीताः वर्णांतरं प्रापिता इव यथा कश्चित् सुस्वामी स्वभक्तिपरायणान् सेवकान् यथाकथंचिद्रंजयति अवस्थांतरं प्रापयतीत्यपि तत्वार्थः।

९८—अथ च नासाग्रे मुक्ताफलं वेसरसंज्ञकं लटकदासीत् तत् दधितः समुद्रात् चुणित्वा चारुज्ञात्वा ग्रहीतं। शोभमानं सुश्रीकं साक्षात् त्रिगुणरूपं श्वसत् इतस्ततश्चलदृष्टं ततः उत्प्रेक्ष्यते। शुकदेव मुखे भागवतं शास्त्रं भजते इव। यथा शुकमुखनिर्गतं भागवतं पुराणं रसदायि जातमिति श्रूयते। मुक्ताफलं भागवतोपमं नासाग्रं शुकमुखोपमं तत्वार्थः।

९९—कोकनदं रक्तकमलं तदुपमे मुखेन्तः तंबोल इति सकाथचूर्ण- पूगार्द्ध चर्बितानि नागवल्ली दलानीति व्याख्येयः स एव मक- रंदरससदृशः तत्र दंतद्युति किञ्जल्कं परागः तदिव दीप्यते। अथ यद् वामा रुक्मिणी करे बीटिकां कृत्वा पुनः स्वमुखे सन्मुखं ऊर्द्ध्वं नयति तत् किमिव दृश्यते। उत्प्रेक्ष्यते। बीटकरूपः कीरः शुकः तस्य मुखकमलस्य मध्ये स्वजात्या नाशारूपया शुक्या सह क्रीडां कर्त्तुमुद्यतोऽस्ति। करकमलस्थः शुकः मुखे स्थितनाशा-शुक्या स्वेच्छया रंतुं प्रवृत्त इवेति

चिंत्यं। तथा द्वितीयेऽर्थे। वामायाः करे बीटकं शुकरूपं तस्य मुखकमलस्य जात्या करकमलरूपया क्रीडते इत्यपि।

१००—श्यामया शृंगारं कृत्वा देव्याः प्रासाददिशि गमनकृते मनः कृतं मनसि चिंतितं। तदा पादयोः **पनहीति** उपानहयुग्मं मौक्तिकखचितं परिधृतं। तत्किमिव। उत्प्रेक्ष्यते। स्वगतिगर्वं परिहृत्य हंसावेवाचरणयोर्लग्नाविव। अतस्वगति-साम्यं लब्धुं हंसाः अशक्ताः इति नतिकृतिर्निरूपिता। अथ चोत्थिता सा गंतुमुद्यता तत्समयं निरूपयति।

१०१—आभरणानामुपरि अबलाया महर्घं स्वच्छं नीलांबरं भातिस्म। बहिः प्रकटं उदितं पृथक् पृथक् नगं इति अंगे अंगे जटित-रत्नानां शोभा बहिः प्रत्यक्षं दृश्यमाना। किमिव दृश्यते। उत्प्रेक्ष्यते। मुदितेन मदनेन स्वगृहाभ्यंतरे आलके आलके दीपमालिका दीपसमूहः संयोजितेव मुक्तेवेति। रुक्मिणी-शरीर मदनगृहमिव। आभरणद्युति दीपमालिकेति तात्पर्यम्।

१०२—अथ च सखीसमूहः सार्थे चलितस्तं वर्णयति। कस्याः सख्याः करे **कमकम** इति सुगंधकुसुमरस कुंपकं, कस्या-श्चित्करे कुंकुमं तिलककृते रोलीति प्रसिद्धं अथवार्चनार्थं केशरं सचंदनमित्यपि, कस्याः करे कुसुमानि पुष्पाणि, कस्याः करे कर्पूरं, कस्याश्चित् करे पत्रभाजनं, कस्याः करे **अरगज** इति सुगंधवस्तुमिश्रितं भाजनस्थं विलेपनं, कस्याः करे **धोति** इति देवीपूजनयोग्यानि वस्त्राणि, ता एतानि धृत्वा सार्थे चलिताः। अत्र राजकुमार्याः समृद्धिमत्वं दर्शितम्।

१०३—सा तु कियंति पदानि पद्भ्यां चलिता इति पृष्टः शङ्कानिरा-करणे वक्ति। ततः सा चकडोलं नरवाह्ययानं यावद्

परित: सखी परिकरमनया पूर्वोक्तं रीत्या सम्राष्ट पदमात्र चलिता। तद्गति वर्णनार्थं मम मतिर्न स्फुरति यत: गतिर्नितरां मनोहरा मे मतितुच्छेति, परं, स्वमत्यनुसारेणाहमेवं जाने। अन्त:स्थिता सैवं शोभते। उत्प्रेक्ष्यते। शील: सदाचारता लज्जाभिरावृत्ता वेष्टितेव।

१०४—पृष्ठतो विघ्नरक्षाकृते तस्या: सार्थे ये केचिदागमिष्यंतीत्यादेशितास्ते शीघ्रं चटित्वा समायाता:। किं कृत्वा। स्वस्वयोग्यान् तुरगान् वेगवन्तोऽश्वान् प्रथमं वितर्क्य ततो गृहीत्वा ते योधा उत्तेजित सन्नाहांत: तथा **गरकाब** इति प्रतिमग्नासंत: परस्परमेवं विध्या दृश्यन्ते। उत्प्रेक्ष्यते। मुकुरेषु दर्पणेषु प्रतिबिंबितरूपा इव।

१०५—अथ च। पद्मिन्या: रक्षितार: केचित् पदातिकसमूहा इतस्ततो भ्रमणशीला पदचारिण:, पुन: केचित् पादिका: अग्रेसंचारका: पद्गा: **हिलविलीया** इति बहुसघनं विस्तृता: पुन: हस्तिन: छावका: प्रचलिता **गमेगमे** वामदक्षिणमार्गे केचित् गर्ज्जारवं विदधत: मदोन्मत्ता: करिण: ये तु गात्रै: अत्युच्चत्वेन गिरिवरप्राया: गत्यानागा: इव सर्पवत् घूर्णमना: गंभीरवेदिन: मंदं मंदं गमनपरा: चलिता: इति कन्याया: सभयताविःकरणं प्रदर्शितं। यदुक्तं। "श्रेयांसि बहु विघ्नानि।"

१०६—अथ च क्रमेणा...अश्वा: वेगवत्तया वहंति रथा: सारथिभिरंतरे कृता: वहंति संकटे भङ्गभयत्वात्... । एवं सर्वेऽपि चंद्राननाया: रुक्मिण्या: मार्गमनुलक्षीकृत्य चटिता:। ते के इव। उत्प्रेक्ष्यते। अयोध्यावासिनो नरा: सरयूनदीमध्ये मज्जनं कृत्वा वैकुंठवासमुद्दिश्य चलिता: इवेति ज्ञेयं।

१०७—सर्वं सैन्यसंघं परित: प्रासादं परिवेष्ट्य स्थितं। किमिव इति। अहमेवं जाने। उत्प्रेक्ष्यते। मृगांकश्चंद्र: **जल-हरीति** परिवेषेण वेष्टित इव। अथवा मेरो: पार्श्वे प्रदक्षिणी-भूता नक्षत्रमाला तारकमंडलमिव, पुनश्च शंकरेण धूमाला नर-कपालहार: धृतेवेत्युत्प्रेक्षा त्रयमपि कार्यम्।

१०८—अथ च। रुक्मिण्या: स्वमनो वांछितं फलं श्रीपतिसंयोग-लक्षणं हस्तप्राप्यं स्वहस्ते समागतकल्पं कृतं। किं कृत्वा। देवालये देवीगृहे प्रविश्य अंबिकां दृष्ट्वा बहुभावेन बहु-हितेन च पवित्ररीत्या बहुप्रीत्या एकचित्तवृत्तिव्यापारेण स्वहस्तेन तां पूजयित्वेति प्रसन्नकरणविधित्वे चिंत्यम्।

१०९—अधुना निर्गत्य प्रासादद्वारे समायाता। तदा किंजात-मित्याह। चतुर्दिक्षु नयनप्रक्षेपणेन कामस्य पंचापि बाणा स्वांगेऽगीकृता:। किमिति पंचबाणनामानि। आकर्षणं १, वशोकरणं २, उन्मादनं ३, द्रावणं ४, शोषणं ५ एते पंचशरा: कुत्र कुत्र परिठिता:। प्रथमं चिंतनतया मनोधारणया। हास्यकरणेन द्वितीयं। लसणि स्वांगमोटनेन तृतीयं। स्वतनुदर्शनेन चतुर्थं। सकुचणीति अथ स्वशरीराच्छाद-नेन पंचमं इति परिपाद्या। संच: प्रपंच: कृत:।

११०—अथ च सर्वं सैन्यं मनसा पंगुरचैतन्यवत् मूर्च्छितं जातं, कथमिति रुक्मिणीवीक्षणेन तेषां शरीरे **तह** इति शक्तिर्न स्थिता शक्यत्वं गतमेव। उत्प्रेक्ष्यते। सर्वमपि सैन्यं प्रासादनिष्पत्तिसमये निकुटीए इति सूत्रधारिभि: मठपूतली-रूपं पाषाणमयं रचितमिवेति सैन्यस्तंभो निवेदित:।

१११—तत्क्षणे किं जातमिति कथयति। अश्वान् खेटयित्वा अरि-सैन्यमध्यं प्रविश्य हरि: समायात:। किमिति पृथवीगत्या

किंवाकाशपथ्या गगनादुत्तीर्णः अतस्तद्वेलायां त्रिभुवन-नाथस्य रथस्य रवः शब्दः श्रुतः किंवा रथ एव दृष्टः। इति न संदेहनिराकृतिः। अकस्मादागमनमेवेति रहस्यम्।

११२—बलिबंधकः कृष्णः समर्थतया रुक्मिणीकरं स्वकरेण संगृह्यानंतरं तां रथे स्थापयित्वा एवमुक्तवानासीत्। यतः अजल्पनग्रहणं क्षत्रियाणामधर्मः। रे लोकाः यूयं शृणुत यः कश्चिद्वरः परिणयनार्थमागतोऽस्ति। स **वाहर वाहरिति** रुक्मिणीं प्रतिवालयितुमादरं कुर्यादिति निःशङ्कप्रेरणे वीप्सा। हरिः हरिणाक्षीं हृत्वा स्वाधीनां कृत्वा यातीति बाढमुक्त्या श्रावणं सर्वेषां कृतमिति।

११३—अथ च तदा किमभूदित्याह। तत्र लोकैरपि पूत्कृतं (?) ये राजानो धवलानि मंगलगीतानि श्रुतवंतः आसन् ते **साहुलिं** कूकू रवं श्रुत्वा **अलला** इति बहवः **आलूदाः** सज्जीभूताः कैशरिकवस्त्रस्थाने पिंडे २ स्वदेहे २ गृहीत किंगला परिधृतसन्नाहा मूल वेषरूपं परित्यज्य बहुरूपाः योगींद्ररूपाः जाताः इवेति वेषपरावर्तनमुक्तम्।

११४—सांप्रतं तत्समये अश्वाः **लारोवरि** इति श्रेणिबंधेन निसृताः भान्तीतिशेषः। उत्प्रेक्ष्यते। चित्रे लिखिता इव। तत्कारणमाह। नखैः खरतरैरुत्पत्यमानैरश्वैर्नराः नरं वृण्यते ते प्रेरयंति स्मेति स्वस्ववेगाधिक्यदर्शनं। तत्र मुखे योधा एवमवादन्। हे माधव इयं ग्वालिन्याः अग्रतः **मांखणस्य** नवनीतस्य चोरी स्तेयं नास्ति। इमां रुक्मिणीं **महीयारीं** गूर्जरीमिव हे **महर** इति हे गूर्जर त्वं मा मन्यथा। अस्याः ग्रहणं दुष्प्राप्यमस्मत्सकाशादिति स्वगर्वत्वम्।

११५—उत्पतितरजोन्तरे अर्कः एवंविधो दृश्यते स्म। उत्प्रेक्ष्यते। वातचक्रे वातूलिकमध्ये वसत् स्थितिमत्पत्रं शुष्कं तरुपर्ण-

मिव। विच्छायतया ईषद्दर्शनं। तथा **वरिहासां** इति चाश्व-नाशास्फुरणैः नवतिसहस्रवादित्राणां स्वरो न श्रूयते स्मेति सैन्यबाहुल्यम्।

११६—दूरं स्थितापि भूमिः सोत्सुकं वहद्भिरश्ववारै **नेडी** रासन्ना समीपं कृता द्वयोरपि दलयोरन्योन्यं **द्रेठालउ** इति दृष्टि-प्रसरत्वं परस्परप्रेक्षणं जातं। ततो **वाहरिकैः** पृष्टसंप्राप्त-योधैः **वागां** इति वल्गुरज्जवः **ढेरवीयां** इति शिथिलं मुक्ता। मार्गिकैः स्तैयं विधायाग्रे गच्छद्भिर्भटैः मुखानि प्रतिपक्षिभ्यः **फेरीया** इति सन्मुखं मंडितानीति। दृष्टो दृष्टे साम्प्रतं गमनं क्षत्रियाणां लांछनमिति सैन्यद्वयस्य योजना।

११७—द्रे अपि घटे सैन्यरूपे **कालाहणीति** कृष्णावर्ण-मेघाभ्युदयसामथिक्याविव सन्मुखं कठठी इति उत्पतिते सज्जीभूमस्थिते। अथातो मेघसैन्ययोः सादृश्यं। तत्र च योगिन्यः **आडङ्ग**मिति वर्षणासमयं रुधिरमयमिव विज्ञाय तत्र रक्तवर्षणं वर्षतिस्म कोदृशम्। स्थानद्वयेऽपि वहनशीलम्।

११८—**हथनालि हवाई कुहक** बाणाः सर्वाण्यपि **आतसबाजी** लक्षणानि तेषां **हुवि**रित्युच्छलनं जातं। वीराणां सुभटानां **हक्का** (इति) स्वस्वबलवत्तायाः बाढस्वरेण प्रकाशन-मभूत गहणमिति रणभूमिः सूरैर्गृहीता। तत्र वहत्सु आयुधेषु सन्नाहलोहानामुपरि शस्त्रलोहानि वारं वारं पतंति दृशानि दृश्यंते। उत्प्रेक्ष्यते। **माहीं महण** इति समुद्र-मध्ये मेघस्य बिंदव इवेति परस्परं लोहमोचनं। तथा च प्रथमं मेघोऽपि उत्कलयित्वा वर्षति तथात्र किमिति।

११९—कुंतानां भल्लानां किरणाः तेजांसि झात्काराः इदमेव कलकलन-मुत्कलनं कलौ रणे **वरजित विशख** इति शरमोक्षणं तस्य

पश्चवात: स एव वात: उत्तरदिग्ज: इव । तथा **धड़े धड़े** पिंडे पिंडे योज्वलधारा: लोहधारा धारया मिलितां सैव जलधारेव । तासां लोहधाराणामुद्योत: स्फुरणं तदेव **सहरे** २ अभ्रे २ पृथक् २ **संमरवि** इति विद्युतं **सिलाउ** इति विस्फुरणमिवेति साम्यम् ।

१२०—तद्वेलायां कातराणां निर्बलानां उरांसि हृदयानि कंपितानि सभयं चकितानि आसन् तैर्ज्ञातमयं समयो कालिकसमेत मेघवत् अशुभकारी उत्पातिक: कथं येन गर्जद्भिर्वादित्रै: **गडड्ढ** इति सगर्ज: सन्नधिकमधिकं वर्द्धते उज्वलाभि **उवडीउ** इति वर्षितुं लग्न: प्रणालेष्विवोच्च स्थानान्निम्न-प्रदेशेषु जलं स्थानीयं रुधिरं पततीति कंपनिदानम् ।

१२१—अत: **चोउंडीआल्यु** इति छुटितवेणिका: विरलकेशा: चतु:षष्टियोगिन्य: चाचरे रणभूम्यंगणे कूदंति नृत्यंति स्वाशापूरणत्वेनेति तत्र ध्रुवे शिरसि पतिते सति धड़: कबंध: **ऊकसति** योद्धुं प्रवर्त्तयति शूरताधिक्यमिदं । तत्रानंत: कृष्ण: शिशुपालश्च तयो: परस्परं **उभ्भडां** इति शस्त्रमोक्तविवादे **झडमातउ** इति वर्षा: ।

१२२—तत: प्रवृद्धे संग्रामे रणांगणे रुधिराणि **रलतलीया** इति बहुतरं चलितानि अतो योगिनीनां हस्तेभ्यो बहुश: पतितानि पत्राणि पानभाजनानि प्रवाहे वेगवत्तयाधोमुखानि जातानि अतस्तरीत्वा तत्तरीत्वा गच्छंति । कीदृशानि दृश्यंते स्म । उत्प्रेक्ष्यते । जलप्रवाहे बुद्बुदाकारा: पंपोटकरूपा: इव तेऽपि संभूता: बहुवृष्टिं सूचयंति वर्णतोपि श्वेता: पत्राण्यपि नृकपाला-न्येवेति साम्यम् ।

१२३—तदवसरे कृष्णेन किं कृतमित्याह । स्वयं रुक्मिणीं गृहीत्वा निर्गंतुं प्रवृत्त: । तदा बलभद्रं भ्रातरं **बेली** इति

आत्मनः द्वितीयं साम्येन धूर्धरं बलवंतं पौरषणं व्याख्याय स्वयं कृष्णेन बापूकारितः सज्जीकृतः हे हलधर सांप्रतं भवत्समयोऽस्ति । अद्यापि यावत् शत्रुसार्थोरिसैन्यं अविनष्टं युद्धं कर्त्तुं तत्परः त्वयापि निःशङ्कं योद्धव्यं यतो **बूठइ बाहवीइ** इति वृष्टे मेघे हलधराणां हलं वाहयितुं या वेला सा दुष्प्राप्या प्राप्तास्तीति । **हिव** इति अधुना यो हस्तौ वाहयिष्यति स एव जेष्यतीति प्रतिबोधनम् ।

१२४—अथ च द्विवारं खेटनं कृत्वा आत्मनः क्षेत्रे यशसां बीजानि विस्तारितानि वाप्यंते स्म बीजानां वपनं भविष्यतीति ज्ञेयं । कदा हलधरस्य हले वहत्सु सत्सु आयुधस्याक्षयत्वात् बहुवचनं द्वितीये । शत्रूणां पक्षे तद्बीजं खलानां दुर्जनानां हालाहलावत् महाविषवत् कटुक्षयकारि स्वरूपं संभविष्यति । तत्रारिवर्गस्य स्कंधान् प्रहारेण त्रुट्यंति ते तु मूलात् निःशेषं जड़ाः इतस्ततः प्रसृताः अपि जटाः हलवहने त्रुट्यन्ति स्मेतिभावः ।

१२५—तत्र बीजवपनानंतरं । निक्तिकृते नारस्थाने रक्तानि निःसंख्यं अतिप्रचुरं वहंति स्म ऊर्द्धवं **अचचंच** इति विप्रुषोत्यंतमुच्छलंति । उत्प्रेक्ष्यते । **पिडोति** रणभूम्यां प्रवालानां क्षेत्राणि निष्पन्नानीव ततः हंसाः जीवाः निःसरन्ति किमिति । तत्र शिरो नामानि फलानि इव तत्रापिधान्या विभवि शिराः निस्सरंति । कथं । सत्वेन सारवत्तया ।

१२६—रणभूमिक्षेत्रे नवीनविधिना भुजाबलेन कृत्वा महाबले महारथोपमे बलदेवे प्रहारं कुर्वति द्वितीयेऽर्थे जागरूकत्व सतीत्यपि तानि क्षेत्राणि **बेजड़ां मुहे** करवालानां धाराभिः प्राक् **बेडिता** निकर्त्तितानि शिरपुंजाः शीर्षसमूहाः यै चर्या कृतैस्तु सवरीति एकत्रकृता धान्यशिरां राशिः नाम प्रापिताः ।

१२७—रामे भुजाभ्यां रणं **डोहमाने** खला'''स्थाने रणे सपरीवारचरणा: स्थिरा: कृतास्ते एव **मेढी**भूता: यत: चेत्र-गाहटनस्थाने मर्यादार्थं स्तंभोऽपि तस्य नाम **मेढीति** प्रसिद्धं। पुन: पुनस्तत्र चटनेन संहारं **फेरयति** सति वृषभ-स्थानीय वाजिपादै: सुष्ठु गाहटं कृतं।

१२८—गाहटकरणानंतरं किंजातमिति। तत्र कणनिष्कासनसमये गृद्धिणी पक्षिणां विशेषरूपा: चटिका: बलिभद्रस्य खले चेत्र-धान्यराशौ खलानां वैरिणां शिरस्सु शीर्षेषु इव समागतास्ताभि: किं कृतम्। तत्र पल मांसमेव चारउ इति भक्ष्यं गृहीतं। पुन: के कणा: इत्यनेन सैन्यनायका: भक्षिता:। केचित् **कणकण-कीत्रा** इति पृथक् पृथक् विरलीकृता: रणे भारं **खंचयित्वा भिड़** इति शत्रुसंघट्टरूपो धान्यसमूहो भंजित: शिथिलीकृत: अत: शत्रुसैन्ये विमनस्कत्वं दर्शितम्।

१२९—अधुना पुनर्बलभद्रं वर्णयति। तदा बलभद्रो युधि संग्रामे सधरैर्महारियोधै: सार्द्धं नि:कासितेन खड्गे पुन: **वडफरि ऊळजीइ** इति हृदयाग्रन्यस्तखेटके गृहीतेषु परमुक्तलोहेषु सत्सु विरुद्धो यमो भूत्वा लग्न: यत एवं ज्ञायते। ननु सत्वेन बलेन **भलाभली पृथ्वी**त्याख्यानेन एकस्मादेकोन्योधिको भवतीति सत्यं चिंत्यं। तदैव बलिना। युधि संग्रामे जरासंधशिशुपालप्रभृतयो राजानो भंजिता: जिता एव।

१३०—अथ च शिशुपाले सदले भग्ने सति अतितीक्ष्णत्वेन रुक्मनाम्ना किं कृतमित्याह। **रुक्मिणीवीरो** रुक्मनामा एकाएक-मित्यकस्मात् **आडोअडीति** तिर्यक् तिर्यक् भूत्वा हरि-

मापतित्वा कृष्णं समीपं प्राप्य बाढमेवमवादीत् । किमुवाचेत्याह । रे अहीर, रे गूर्जर, सोल्लुंठमामंत्रणं, त्वं अबलां मद्भगिनीं गृहीत्वा बहुभूम्यंतरमाऽगतोसि । परमधुना मा पलायथाः अरणौ मंडय, वीरत्वं धरेति यावत् । यतोहमागतोस्मि अतस्तव गमनं दुष्करमवेहीति आवितम् ।

१३१—यदा तेनैवं **वाकारितः** सरोषप्रेरितः तदा कृष्णो वदनेन **विलकुलितो** रक्तत्वमाश्रितवान् सन्मुखं स्थित इति शेषः । किं कृत्वा । धनुराततज्यं करे सशरं संगृह्य गृहीत्वा शर-मोक्षणे तत्परो जातः । पुनः किं कृत्वा । रुक्मणः आयुध-वेधनकृते **बेलकं** पुंखस्थानं अणी शराग्रभागं मुष्टिं च दृढं बंधयित्वा पाणिं षटिकामुखी कृत्वा तेन महाधनुर्धरत्वं दर्शितम् ।

१३२—माधवेन तत्क्षणे स्वमनः **संडसीति** उद्धारयोग्यं शस्त्रं लोह-कारस्य तत्सदृशं कृत्वा । किं कृत्वा । रुक्मकं लोहमिव रणरूपे **आरणे** लोहकृन्महानसे तप्तमसूया ज्वलितमिव दृष्ट्वा । पुनः पार्श्वस्थां रुक्मिणीं प्रसन्नजलं विध्यापनार्थं जलभृतकुंड-कामिव निरीक्ष्य आत्मना निजतनुना लोहकारसदृशेन वामकरेण तप्तं लोहं विध्यापयितुं शीतलीकर्त्तुं मनसा नीरोषो जात इति भावः ।

१३३—सज्जनतायाः **संनसि** लज्जया अयं श्यालको लगतीति लज्जया, अथ रुक्मिण्याः **सन्निधि** इति पार्श्वस्थायाः मुखं सन्मुखं प्रेक्षणेन श्रीकृष्णेनैषा आख्यातिराश्चर्यं कृता स्तुति-योग्या वार्त्ता चेति यदायुधं रुक्मकः सज्जं करोति तदेव स्वेनायुधेन धनुःशरेण हरिः छिनत्ति खंडयतीति । किमिति । ममायं न वध्य इति वितर्केण आलोचनाभिप्रायः उक्तः ।

१३४—एवं क्रमेण सोनानामी रुक्माभिधो निरायुधो भग्नशस्त्रः कृतः कृष्णेनेति शेषः। ततो गृहीत्वा केशानुत्तार्य शिरो मुंडयित्वा विरूपः कृतः दुर्दर्शनकः कृतः परं चणिके जीविते स्वाधीने तज्जीविते यदयं जीवनमुक्तः तत् हरिणाक्ष्याः हृदयं शांतिवृत्तिं वीक्ष्येति स्त्रियो दाक्षिण्यं कृतम्।

१३५—अग्रजो ज्येष्ठभ्राता बलो अनुजं लघुभ्रातरं कृष्णं एवमभाषत। हे अनंत त्वयैतदुचितं कृतमिति सोपालंभवचनं वक्रोक्त्या दुष्टस्य भव्यावासना महत्त्वं दत्तं, परं यस्य भगिनी पार्श्वे स्थापिता: तस्यैतत् कृत्यं किं भव्यमित्यपि वक्रोक्तिः। हे भव्य भ्रातः भवतैतदयोग्यं कार्यं कृतमिति भावार्थः।

१३६—(१३८)—तदा हलिना स्वयं नोक्तं मया जितमिति। स्वकीर्त्ति-कथनं नकार्यमिति दर्शयन्नाह। तत्क्षणे वहतः कटकस्य मध्ये वर्द्धापयितारो वर्द्धितुं लग्ना अहमहमिकया। उद्यातुकामा **आसद** इत्यनेन जयोज्ञपितः किं कर्तुमनसः परदलं वैरिवर्ग जित्वा रुक्मिणीं परिणीय शत्रुणां शिरस्सु अधिकं सारं लोह-धारां वाहयित्वा विजयिनः संतः समागच्छंतीति वक्तुं द्वारिकां प्रति गंतुमनसः अन्योन्यं स्पर्द्धित्वमकुर्वनित्याध्याहार्यं।

१३७—(१३६)—श्री पुंडरीकाक्षः प्रसन्नोऽभूत् हास्यमिषेण सुस्मितं त्रपया सुनमितं सज्जनवत्तया सुप्रीतं वदनं कृत्वेतिशेषः रुक्मोपरीति। तत्कथमित्याह। प्रथमं तु अग्रजस्य ज्येष्ठ-भ्रातुः आदेशं पालयितुं कथनं सफलं कर्तुं। अन्यच्च मृगाक्ष्याः रुक्मिण्याः मनः रक्षितुं मनसि सुखं दातुमिति।

१३८—(१३७) तदा कृष्णेन किंकृतमित्याह। कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुसमर्थः प्रभुरिति सर्वैः प्रकारैः समर्थेन प्रभुणा परमेश्वरेण

हा इतिखेदमाकल्प्य ये केशाः अलगाया हुंताः दूरीकृताः आसन् ते तु शालकशिरसि स्वहस्तं फेरयित्वा स्वहस्तेन शिरः प्रस्पर्श्य आलीया इति धरित्रीभाषया पश्चाद्दत्ताः पुनर्नवीकृता इति भावार्थः अथवा हालीया इति देशविशेष-भाषया प्रकटिताः इत्यपि ।

१३९—अथ च बहुकालं विलम्बमवगत्य प्रजाभिः किं चिंतितमित्याह । लोकानां गृहकार्याणि विस्मृतानि । गृहे गृहे गणकान् ग्रहगतिं ग्रामस्वामिदशां प्रष्टुं परायणा यतश्चिंता जाता किं भविष्यतीति वितर्क्यमानाः प्रजाः ओटे उच्चकैः स्थाने चटित्वा विलोकयितुं लग्नाः । किं कृत्वा । हरिमार्गे आगमदिशि मनः अर्पयित्वा चित्तैकाग्र्यं कृत्वाऽपश्यन्निति ।

१४०—तत्रावसरे किं जातमिति वक्ति । दूरात् पथि मार्गे पथिकं उल्ललंतमागच्छंतं दृष्ट्वा जनाः झंखाणा इति विलक्षीभूताः उरसि कराला ज्वालोत्थिताः यतः किं वक्ष्यत्ययमागमिकः तत आसन्ने समायाते करे **नीलां डालीं** इति सुतरु शाखां गृहीतां वीक्ष्य लोकाः अपि नीलांणा इति सानंदाः प्रोत्फुल्लचित्ता जाता यतोऽनेनाभिज्ञानेन कुशलमस्तीति कुशस्थली द्वारिकापुरी कुसुमैर्वासिता कमलोत्करैः सुगंधाकृता ।

१४१—अथ च तन्मुखात् हरेरागमनं श्रुत्वा सर्वमपि नगरं सोद्यममभूत् । किमर्थं । रुक्मिणीं कृष्णं च वर्द्धापनस्या-रशि इति वांछया वर्द्धापयितुकामाः सन् **लहरी** आनंदलीलाः गृह्णाते स्मेति । क इव । लहरीरवः समुद्र इव यथा समुद्रः राकायाः दिने चंद्रस्य दर्शनं दृष्ट्वा लहरीकल्लोलान् **प्रकट** (यति) इति ।

१४२—वर्द्धापनदातॄणां गृहे गृहे पुरवासिभि . . . तद्दलि-द्राय अकिंचन पक्षे दरिद्रं विनाशोदत्तः । अतस्तेषां दरिद्रं

दूरीकृतं । पुनर्लोकानां गृहे आनंदाः मंगलाः............
गीतगानादिप्रारब्धं । यत्र तत्र अक्षता उच्छलिताः
हरोद्रोब आर्द्रदूर्वाकेशर हरिद्रादि यथाविधि स्थापित-
मिति ।

१४३—अथ च प्रवेशसमयं वक्ति । नरा नार्यश्च एकैकमार्गे वाम-
दक्षिणमुद्दिश्य **क्रमया** इति पृथक् चलिताः । किं कृत्वा ।
विशेषेणोत्साहं शृंगारं वेषपूर्वं जवारककुंभध्वजादि सज्जी
कृत्येति । उत्प्रेक्ष्यते । हरिनगरेण स्वस्वामिने अंकमालं
आलिंगनं इति आलिंगितुमिच्छुना द्वे बाहू प्रसारिते इव ।

१४४—तदा विविधवर्णैः छत्रैः गगनं आकाशं एवमाच्छादितं निर-
वकाशीकृतं । उत्प्रेक्ष्यते । नवीनान् बहून् वर्णान् कृत्वा
मेघाः समागता इव । अतो मेघलक्षणसाम्योक्तिः छत्राणां
दंडद्युतिः रत्नखचिता । उत्प्रेक्ष्यते । विद्युदिव । तेषां
झालरीतः मुक्ताफलच्यवनं वर्षाबिंदव इव ।

१४५—अथ च हरिसेनापुरे एवं प्रविष्टा । तत्कथं । प्रतोल्या
मुकुरमया बद्धैः आदर्शैः शोभमानाः । मार्गाः **प्रोलिमयाः**
यत्र तत्र स्तंभान निवेश्य तोरणैः कांश्यमयैउद्भासिताः मार्गाः
अवांतरसरणयः अबीरमया अतिरंगगुलालादिचूर्णैः प्रतिनिधी-
कृताः । उत्प्रेक्ष्यते । **नीरोअरि** इति समुद्रपर्यायः नद्यः समुद्रे
प्रविशन्तीव नदीरूपाः सेनाः नगरं समुद्रसदृशं इत्युपमापि ।

१४६—नागरिका स्त्रियः धवलगृहेषु उज्ज्वलं यशः समुद्दिश्य **धव-
लानि** मंगलगीतानि ददते गायंति स्म । किं कृत्वा । स्वामिनं
सुधर्ण सुश्लोकं परिणीतं समीक्ष्य दृष्ट्वा । पुनः उपरिष्टात्
श्यामलस्य कृष्णास्येति वधूवरयोः सकिशलयं सदलं **सबलम-
संख्यं** पुष्पवर्षणं समपतत् ।

१४७—अधुना स्वकीयं गृहं प्राप्तौ वधूवरौ। तदा किमभूदित्याह। वसुदेवदेवक्यौ वारं वारं अपि पुनः **वारि** पानीयं अर्थाल्लूणपानीयं **उवारि** यतः शिरसः उपरि परिभ्राम्य दूरं क्षिपत इति दृष्टिनिवारणोपायः। किंकृत्वा। प्राक् वधूवरयोरुपरि आरार्तिकां समुत्तार्य। तत्किं कारणे नेत्याह। यतः युधि संग्रामे शिशुपालं जित्वा तथा च जरासिंधुं निर्जित्याक्षमेण सर्वे गृहमागताः इति।

१४८—अथ चान्ये नराः राजानः राजराजश्च कृष्णस्य रुक्मिण्याश्च भोजनाच्छादनरूपां भक्तिमातन्वते स्म। किं कृत्वा। प्रथमं विधिवत् द्रे वर्द्धापयित्वा। पुनः वादित्राणि वादयित्वा भिन्नां भिन्नां वाणीं नवीनां नवीनां गुणस्तुतिं अभिन्नां मंगलरूपामेव मुखेन संजल्प्य तदनु स्वस्वगृहे निमंत्रणपूर्वकं रक्षयित्वेति महत्त्वप्रदानहेतुः।

१४९—वसुदेवदेवक्यौ सुसंगतौ दैवज्ञान् ज्योतिषिकानाहूय प्रथमं एतत् प्रश्नमकार्ष्टां। किमित्याह। हे गणकाः ज्योतिषग्रंथान् निरीक्ष्य सुदृष्ट्या विचारयित्वा लग्नं दद्ध्वं यूयं कथयतेति। रुक्मिणीं कृष्णः कदा **परणइ** इति अनयोर्विवाहनं कदा क्रियते इति पृच्छा।

१५०—ते तु किं प्रस्तुतमाचचंते स्मेत्याह। वेदोक्तधर्मं विचार्य ते वेदविदो ब्राह्मणाः कंपितचित्ताः सभयं एवं जल्पितवंतः आसन्। एकया स्त्रिया सार्धं पुनः पुनः पाणिग्रहणं कथं भवतीति प्रश्नोत्तरं।

१५१—ते दैवज्ञास्त्रिकालदर्शिनः भूतभविष्यवर्त्तमानवार्त्ताज्ञाः तत्कालं रुक्मिणीहरणसामायिकं क्षणं निरीक्ष्य पुनः शास्त्रदृष्ट्या निर्णीय मनसा निर्णयं विधाय कथयितुं लग्नाः।

हे पितरौ यदा रुक्मिण्याः कन्यायाः हरणं जातं तत्समये सर्वैः दोषैर्विवर्जितं लग्नमपि सत् आसीत् इति सत्यं ।

१५२—अथ च ब्रह्मपुत्रै राजराज्ञोरग्रे एवं परस्परमालोच्योक्तं । तत्किमित्याह । हस्तमेलको हरणसमये एव जातः स एव प्रमाणं ! अतः परं स्वसमृद्धितानुरूपं यथा स्यात्तथा शेषाः संस्काराः आरिमकारिमाः लोकप्रसिद्धाः भवंतु । इति शिक्षावचः श्रुत्वा तावपि हृष्टौ ।

१५३—अधुना नवीनरीत्या विवाहस्तस्य सामग्रीं निरूपयति । विप्रो मूर्त्तिमान वेद इव मान्यः । **वेदी** सा तु रत्नैः पूरिताः । वंशाः आर्द्रा वेहीति । मंगलकलशा अर्जुनं स्वर्णं तन्मयाः । अग्निः अरणीतस्त्वरितमुत्पादितः, इंधनानि अंगारकाष्ठान्येव घृत . . . घनसारः कर्पूरं **आहुतिः** होतद्रव्यं **अछेहु** यथेच्छं नतु स्तोकमिति भावार्थः ।

१५४—पश्चिमायां दिशि पृष्टं, पूर्वसन्मुखं, स्त्रीवरं पट्टके आसने निवेश्य द्वयोरुपरि आतपत्रं छत्रं धृतं । ततो मधुपर्कादयः सर्वे विवाहसंस्काराः मंडिताः प्रकटीकृताः ।

१५५—तस्मिन् समये सर्वेऽपि नरनारीजनः हरेराननें चक्षूंषि समारोपयंति स्म ददते । उत्प्रेक्ष्यते । समुद्रस्य गर्भे मध्ये स्थितः शशी मत्स्यैर्गृहीतो वेष्टितः इव । कृष्णशरीरं समुद्रमध्ये शशीमुखं । मत्स्यसदृशानि जनलोचनानि । तत्र प्रजासुखांगणेषु तथा **ओटेषु** उच्चवर्तिषु स्थानेषु स्थित्वा पश्यंति । पुनः मंगलानि कृत्वा मुखे गीतानि गायंति स्म ।

१५६—त्रीन् वारान् चवरिका पार्श्वे स्त्रीमग्रेसरीं कृत्वा हुतं हुताशं प्रदक्षिणीकृत्य चतुर्थे आरंभे अग्रे पतिः पृष्टे स्त्रीति विधिवद्विधाय विवाहः प्रारब्धः । किं कृत्वा । स्त्रियः सांगुष्ठस्य

करस्य ग्रहणं कृत्वा भ्रांतवान्। उत्प्रेक्ष्यते। करी हस्ती करेण शुंडदंडेन कमलं चंपयन् परामृशन् भ्रमतीवेतिशेषः। पुरुषस्त्रीकरयोः सुकुमारकाठिन्यकथनं।

१५७—अथ चतुर्थे मंगले पूर्णे किं जातमित्याह। स्त्री प्रत्युक्ता वामे पार्श्वे स्थापिता। तेन प्रायः स्त्रियो नामवामांगी। तत्र दम्पतीयुगलं निवेश्य परस्परं वाचं ग्राहिताः उभयोर्निविड़ा प्रीतिरस्तु इत्याशीर्वचः। तत्र लब्धायां प्राप्तायां वेलायां प्रस्तावात् याञ्चाकाले निगमपाठकैः परिणापितुं प्रवृत्तैः शास्त्रज्ञैः नवापि निधयो लब्धाः इति निःसंख्यदानं प्राप्तमिति भावार्थः।

१५८—ततः समुत्थाय सांप्रतं वरः अग्रे भूत्वा कन्या पृष्ठे भूत्वा द्वाभ्यां क्रमाश्चरणाः शयनगृहदिशि दत्ताः। चवरिकां त्यक्त्वा हस्त-मेलो मुक्तः परं परस्परमंचलबंधने अन्योऽन्यं मनोयुगलं बद्ध-मेवेतिप्रीतिप्रवृद्धिर्दर्शिताः।

१५९—अथ च सख्यश्चतुराः अग्रतो गत्वा केलिगृहांतरे शयनगृहांतः करैः अंगणमार्जनं कृत्वा शय्या सज्जिता उज्ज्वलवस्त्रावृता। उत्प्रेक्ष्यते। क्षीरसमुद्र इव उपरि पुष्पाणि विरलीकृतानि। उत्प्रेक्ष्यते। तस्य फेनानीव। अत्र व्याजशब्दः उत्प्रेक्षा वाचकः।

१६०—तत्र गृहे चित्रैः रचिता यादृशी आभा शोभा विविधवर्णा तैरेवरंगैः विविधवर्णा मणिमया रत्नान्येवं दीपाः मुक्ता उपरि उज्ज्वलउल्लोच चंद्रोदयो बद्धः। कामुकानां सर्व-मप्युज्ज्वलं प्रियं। अतः उत्प्रेक्ष्यते। सहस्रफणः शेषः सहस्रं फणानि शुद्धमनसा सुभक्त्या मंडयित्वा प्रसार्य स्थित इव।

१६१—अथ च अन्यगृहांतरे विचित्राभिः सखीभिः क्षणांतरे मेलनार्थं समावृता परिवृता सा पुनस्ताभिः प्रथमं विवाहसंस्कारे

कौरयमलकादि परिधापनरूपे कृते । अधुना पतिसंगाय रतिसंगाय रतियोग्याः **संस्काराः** शृंगारविधयः कार्या इति मत्वा सुतनुरिति रुक्मिणीशृंगारितेति भावार्थः ।

१६२—अथ च रुक्मिणीरमणो रतिं सुरतं वांछति । स कः समयः, यस्मिन् संध्यासमये एते पदार्थाः **समसमा** इति युगपत् संकुड़िताः अप्रसरणशीलाः जाताः । के ते । पथिकवधूनां दृष्टयः चक्षूंषि किंचिन्मिलिताः । पुनः पक्षिणां पक्षाः पिच्छानि । अथ च कमलानां पत्राणि । सूर्यस्य किरणाः । अतो दिवसान्तः रात्रिमुखं वर्णितं ।

१६३—संसारे पतयो रसिका रमणीं स्त्रीमुखं निरीक्षितुमुत्सुकास्तैस्तु निशामुखं **निठ इति** कथमपि दृष्टं । पुनश्चंद्रकिरणैः अथ च कुलटाभिः स्वेच्छाचारिणीभिः स्त्रीभि निशाचरैः रात्रिचरैः पशुपक्ष्यादिभिः **द्रवड़िकै**श्चौर्यधाटीकारकैः अभिसारिकादृष्टिभिः । यदुक्तं

> या दूतिकागमनकालमपारयंती ।
> सोढुं स्मरज्वरभरार्त्ति पिपासितेव ॥
> निर्याति वल्लभजनाधरपानलोभात् ।
> सा कथ्यते कविवैररभिसारिकेति ॥

एषां रात्रौ बलवत्त्वं ।

१६४—अन्येषां पक्षिणां पक्षौ बद्धौ उड्डीतुमशक्यौ । चक्रवाकयुगलं **असंधे** इति अमिलितं रात्रौ वियोगित्वात् । अहोनिशमपि प्रदोषे दम्पतीव मिलितौ कालद्वयसंधित्वात् । कामिकामिनीनां मनसां कामाग्न्योऽनान्तर्भूता बहिः प्रकटिता इव केन दीपकोद्योतमिषेण । अयं न दीपोद्योतः परं दम्पतीमनोग्निः ।

१६५—अथ च सकलसखीभिः प्रशंस्य प्रेरयित्वा। हे सखि, त्वं अतिकृतार्था संसारसुफलमनुभाविनी यस्याः पतिः श्रीकृष्णः। एवमुक्ता प्रियस्य मिलनकृते ऊर्द्धवीकृता। परं हरेःगृहं समीपमाश्रिता आसन्नं गतापि शय्याद्वारांतरे श्रुतिं दत्वा किंचित् कम्पमाकल्प्य **आहुटूयेति** पश्चाद्वलित्वा पुनस्तत्र गंतुकामा भवतीति कुललज्जा निदानं।

१६६—अथ च वर्द्धापनदायकाविव वहित्वा शीघ्रं पुरतो गत्वा एकः सुगंधवासः द्वितीयो नूपुरशब्दः हंसगामिन्याः रुक्मिण्याः आगमं वक्तुं गताविवेत्यन्वयः। उत्प्रेक्ष्यते चेयं। केन सह वक्तुं। हरिणा सह। कथं भूतेन। आतुरीभूतेन विह्वलेन यत् कदा समागमिष्यतीति तन्मार्गान्वेषणं कुर्वता चिंतापरेणापि। वांछितवस्तुवर्द्धापनया मनसः संतोषावाप्तिः।

१६७—अथ च गजवत् गजगामिनी कथंचित् सखीभिः शयनगृहांतरे आनीता। तत्कथं। पदे पदे सखीकरमवलंब्य ऊर्द्ध्वस्थितिमती यथा मदं चरन् हस्ती पदे पदे करिणीकरमवलंब्य ऊर्द्ध्वं स्थितो मंदं मंदं प्रयाति। हस्ती लोहलंगरैर्वेष्टितः इयं तु लज्जया वेष्टिता अतएव शनैः शनैः सर्पतीति साम्योपमा।

१६८—अथ च **देहली** उंबरं तत्र स्थापिते चरणे हरिणा **जेहड़ीति** चरणाभरणविशेषं दृष्टं। तदा **ऊमाप** इति कोप्यनिर्वाच्यः आनंदः समुद्भूतः। तेनानंदेन स्वयं रुक्मिण्याः आदरः कारितः। किमिति। आत्मनि रोमांचरोमोद्गमं समुत्पाद्य। अतः रोमणा आदरार्थं ऊर्द्ध्वीभूतं।

१६९—तदा कृष्णेनैवं चिंतितं। तदाह। मम सा घटिका वेला मिलिता या वेला मया बहुतरं वांछिता। बहुदिनानामंतरे

स्वगृहे लब्धा वेलेति निःशंकं स्वेच्छया रमणं मनोवांछितं हेलायामेवाविलंबं अंकमालमित्यालिंगनं दत्त्वा सरणरणक-मुत्थाय स्वयमालिंग्य स्त्री शय्योपरि सुस्थापिता पार्श्वे नीतेति ।

१७०—तदवसरे यद्यपि मिलनेन माधवस्य मनस्तृप्तं जातं । परं तस्याः रूपेण अतिशयेन प्रेरिते नेत्रे न तृप्ते सत्तुधार्त्ते एवास्तां । अतः कृष्णो वारं वारं तथा स्त्रीमुखस्य विलोकनं कुरुते यथा रंको वारं वारं धनं विलोकयति ।

१७१—घूंघटपटांतरे कटाक्षरूपा दूती आयाति च पुनर्याति गतागतं करोति दम्पतिमनसोरमिलितयोर्मेलनार्थं एकीभूतकर-णार्थं । अथवा द्वयोर्मनसि सूत्रिते तांणवाणकरूपे कटाक्ष-मोक्षो नलिकाक्षेपणं इति वस्त्रगुंथनविधिः ।

१७२—वरनार्योः निजनेत्राणां वदनयोश्च विलासैश्चेष्टितैः यदांतः-करणं चित्ताभिप्रायेण ज्ञातं तदा सर्वाः अपि सहचर्यो भ्रूभिः भृकुटी संज्ञया परस्परं हसित्वा हसित्वा गुप्तमनस्कतया मौन-मवलंब्य एकैका पृथक् पृथक् निर्गत्य गृहाद्बहिर्गताः । यतः उक्तं च ।

> आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
> नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥

१७३—ततः किंजातमित्याह । एकांते जाते यः कश्चित् क्रीड़ाया आरंभः सुरतलक्षणः स तु केनापि देवेन अथवा द्विजेन तयोर्न दृष्टः यत् केन विधिना तत् कृतं । तदा मया अदृष्टमश्रुतं वस्तु किमिति कथयितुं शक्यते । ममाकथ्यमिति गोपन-

त्वाभिप्राय: । परं तत्सुखज्ञानारो तावेव दंपती । अत: महत् सुखं संजातं भविष्यतीत्युक्तमपि । यदुक्तं ।

अभिनव सुरतारंभे । जं सुक्खं होइ पोढ महिलाणं ।
नवरस विलास हासं । जाणंत न जंपए जीहा ॥

१७४—अथ सुरतांते स्त्रीशय्यायां निर्गिश्वासमिव भूत्वा निपतिता। कीदृशी । पत्या पवनेन वातकरणेन प्रार्थिता दत्तसुखोपाया । तत्समये तस्या: श्री: स्वरूपं कीदृशं भाति यथा नीराशये सरसि गजेन्द्रक्रीड़ितेन मर्दिता अध: पतिता कमलिनीव पद्मिनीव । अतिसुरतप्रसंगेन प्रथमसमागमे विचेतनत्वम् ।

१७५—तत्र सुरतश्रमात् श्यामाया: ललाटे स्वर्णवर्णा स्वेदकणा: प्रस्वेदबिंदव: संजाता: तन्मध्ये कुंकुमबिंदु: टिकिका भाति स्म । तत् सर्वमपि कीदृक् विराजते । उत्प्रेक्ष्यते। मिलितेन मदनसंज्ञेन स्वर्णकारेण कुंदनरूपस्वर्णे मध्ये माणिक्यं रक्तरत्नं कृत्वा विरच्य हीरका: जटिता इवेति नवीननिष्पन्नाभरणविधि: ।

१७६—पुन: रतांतस्वरूपं वर्णयति । स्त्रिया वदने पीतत्वं । चित्ते व्याकुलता विह्वलत्वं । हृदये **धिगधिगीति** अति विस्फुरण-मुच्छलनमिति यावत् । स्वेद: श्रमेण श्रांतत्वमर्जनं चक्षुर्लज्जा धृता । अतो घुंघटादिकरणमिति । चरणयो र्नूपुरध्वनि-निवारणं । कंठे कुहुरवस्य निवृत्तिरिति नि:स्वरत्वम् । सर्वाण्यपि लक्षणानि समुत्पन्नानि ।

१७७—अत: सहसत्कारेण समुत्थाय बहिर्गता तत्र किं कृतमित्याह । तस्मिन् क्षणे सा श्यामा सखीकंठमालिंग्य बाढं विलग्ना सती शोभते स्म । उत्प्रेक्ष्यते । **भरेण** स्वतनुभारदानेन वारिजमा-श्रित्य भ्रमरो विलग्न: इव तथेयमपि विलीयस्थितेति । पुन:

ऊर्द्धीभूत्वा प्रचुराण्यंगुलीवलकानि निविड़ं कंठे निक्षिप्य स्थिता । उत्प्रेक्ष्यते । कदल्याः अवलंबं समीपवर्त्वं प्राप्य लतेव यथा तदाधारं प्राप्य तंतुभिर्वल्ली विलगति न त्यक्तुमिच्छतीति तात्पर्य ।

१७८—सखीभिः पुनरपि समाश्वास्य शिक्षां दत्त्वा प्राणपतेः कृष्णस्य समीपे मुक्ताः । सा कीदृशी । लज्जया भयेन प्रीति **साव** इति स्वादु पर्यायः स्वादुना संयुक्ता । लज्जया न यामीति चिंतनं । भयेन किं भविष्यतीति । प्रीति-स्वादुना अत्र यत् सुखं तत् कुत्रापि न प्राप्यते इति त्रयाणामपि भिन्नभावः । तदागत-वत्याः तस्याः किं जातं । केशामुक्ताः विशेषं विरली-भूताः । मुक्तावली त्रुटिता । कंचुकबंधनानि छुटितानि । क्षुद्र-घंटिका पृथक् पृथक् पतिता इति निर्द्दयत्वेन निःशंक-सुरतरमणम् ।

१७९—श्यामया श्यामसंगेन क्रीडायाः सुखे लब्धे सति मनोरक्षकाभिः छंदोवर्त्तिनीभिः सखीभिः संघटं गुप्तनिरीक्षणं कृतं । तत्र किं ज्ञातं । चित्रशाला उपरि चतुष्के २ **कहकहाहट** इति प्रतिशब्दत्वं भूत्वा स्थितं निःशंकमेलो जातः इति तत्त्वार्थः ।

१८०—अथ रात्रिजागरणं । महानिशे अर्धरात्रिसमये जगत् सर्व निद्रावशं सनिद्रं जायते । परं तदापि यामिकैः यमोनियमः व्रतादिकं तत्पराः योगीश्वराः तैरिति पुनः कामिकैः काम-रसवद्भिः रात्रिजागरणं निद्रानिवारणं प्रारब्धं । कथंभूतै-र्यामिकैः । तत्त्वं ब्रह्मज्ञानं तदर्थं रक्तैस्तत्परैः । कथंभूतैः कामिकैः रतचिंतायै सुरत-क्रीडायै रक्तैः एकचित्तैः । तेषां स्थाना-न्याहुः गिरिकंदरासु कृतस्थानैः । गृहेषु अवस्थितैः । द्वयमपि गणयित्वा यथायोग्यं विचार्य ।

१८१—लक्ष्मीवरस्य हर्षगरभ इति निर्भरेण लग्ना इष्टा रात्रि: तस्या: त्रुटनमीदृक् **यथायुस्तुटि** आयुष: क्षये यावन्मात्रा दुष्कं तावद्दुष्कमस्या: त्रुटनेनेतिभाव: पुन: क्रीडाप्रियस्य नरस्य **किरीटी इति** कुक्कुटस्य पूत्कार कूकू जल्पनं दुष्करं अथ च जीवितप्रियस्य बहुजीवितुमनसो जनस्य घटी पूर्त्ति-समोऽयं झल्लरीध्वनि: दुष्कहेतु: अतोऽखिला अपि प्रकारा: रात्रिनिर्गमनवेलायां प्रादुर्भवंतीत्यवधार्य ।

१८२—अथ रात्रिं प्रान्तं वर्णयति। गलत्यां रात्रौ पाश्चात्येसमये शशी पक्वपलाशवत् गत प्रभो जात: यथा वरे पतौ मंदे रोगिणि सति **सइ** इति सत्या: स्त्रियो मुखं विलक्षं भवतीत्युपमा । तस्मिन समये दीप: प्रज्वलन्नपि न दीप्यति न शोभनो दृश्यते यथा **नास फरिम सूरतनि** अदातृत्वेन महानपि सूर: तेजसा ज्वलन्नपि यश:कारणविहीनो न तादृशो विराजते याचकजन-मनसामिच्छापूरणमंतरा शूरतरस्यापि नाम न प्रकटं भवतीति शोभाक्षति: । इयमप्युपमा ।

१८३—तस्मिन् समये विरहावध्यंतेन कोकस्य मनसि **साधिरिति** वांछा **मिलिता** प्रादुर्भूता । कामिकानां मनसि रमणानां चित्ते **कोकेन** चतुरशीत्यासनसूचकेन शास्त्रेण क्रीडाया: इच्छा निवृत्ता दूरीभूता । यतो दिवसोदयेऽधुनाभावीति कथं नि:शंकं रंतुं शक्यते इति । अथ च **फुल्लै:** कुसुमै**र्वास:** सुगंधत्वं त्यक्तं म्लानित्वात् । **ग्रहणै**राभरणैर्मुक्तामयादिकै: **शीतलता** शैत्यं गृहीतेति ।

१८४—अधुना योगमार्गमुद्दिश्य प्रात: काल्य-समयं वर्णति । अथ च **अरुणोदये योगाभ्यासे** इव जाते सति शंखपणवपटह-झल्लरी**भेरीणां** ध्वनिरुत्थिता प्रकटिता । उत्प्रेक्ष्यते।

अनाहत ध्वनिरिव सा तु देहस्था अंतरभूता स्वयमेव जायते अत: उद्योतं जातं। तत्किमिव। **प्राणायामै:** श्वास-प्रश्वासरोधनै: निशामयं रात्रिसंबंधरूपं **माया पटलं** अज्ञानतिमिरमिव प्रमृष्ट्वा दूरीकृत्य **ज्योति**: परमज्योति: हृदयाभ्यंतरे प्रकटितमिति।

१८५—अथ सूर्योदयवर्णनं। सूर्ये उदयं प्राप्तवति सति। एतेषां मोक्षितानां निर्बन्धानां छुटितानामिति यावत् बंधोजात: निग्रहणमजनि। केषामिति। **संयोगिनीनां चीरा:** परिधानवस्त्राणि **रई** इति मंथान: खजका:, **कैरवाणां** चन्द्रविकाशिनां श्रीविकाश: प्रफुल्लता, एषां पदार्थानां। तथा चैतेषां बद्धानां मोक्षो जात:। केषामिति। **गृहहट्टानां** रक्षाकृते तालकानि, कमलेषु **भ्रमरा:** षट्पदा:, **घोषे** गोकुले गाव: धेनव:, एतेषामिति।

१८६—पुन: सूरे प्रकटिते एषां मिलितानां विरह: अमेलो जात:। केषां केषामिति। **वणिजां** किराटानां वध्वा, गवां वत्सै:, तर्णकै:, असतीनां विटै: सार्द्धमिति सर्वत्र योज्यं तेषामिति। अथ चैतेषां विरहितानां पृथक्स्थितानां मेल: संयोगो जात:। केषामिति। चौराणां, चक्रवाकानां, विप्राणां तीर्थवेलया सह। अमिलितानां मेल:।

१८७—अथ ऋतुवर्णनं। तत्र ज्ञायते ज्येष्ठे मासि अनयोर्विवाहो जातस्तेन तावत् ग्रीष्मऋतुवर्णनं। जेष्ठे मासि नदीनीराणि वर्द्धितानि हिमगलनात्। कानीव दिनानि न्यूना भवंति। धरा पृथ्वी कठिना जाता नीरसवत्तया। हिमगिरिर्द्रवीभूत: गलनशीलत्वात्। तस्मिन् समये **जगति सिरि** इति द्वारिकाया: उपरि सुतरूणां चूतादिवृक्षाणां छाया दत्ता

ज्येष्ठमासेनेति अतः सुच्छायापुरी । पुनर्जगतो लोकानां शिरसि सूर्येण राहुरिव उत्पात इव कृतः महादुष्कावहो लगति । अन्यार्थे सूर्येण जगतिसरसि राहोर्मार्गः कृतः सर्वांगान्मस्तके तपनं बहुलं भवतीत्यवगन्तव्यम् ।

१८८—केचित् लोकाः घर्मेण व्याकुलीभूताः केचित् साश्चर्याः जाताः कीदृक् तपतीति वांछितछायायां विहिताः आश्चर्यं कृत्वा स्थिताः सूर्येणापि स्वकिरणोत्तापतया हिमवद्दिशः शरणं कृतं उत्तरायणवर्त्तित्वात् । सूर्योऽपि पुनर्वृषमाश्रितो वृषराशिं गतो यतोऽन्योऽपि आतपेन तप्तो वृक्षमाश्रयति छायालब्धौ लोक भाषायां वृषोपि वृक्षनामेति ।

१८९—तत्र मासि जगत्पतिः श्रीकृष्णो जलक्रीड़ायामनया युक्त्या वक्ष्यमाणविधिना रमते स्म । तत्कथमित्याह । श्रीखंड-चंदनं तस्य कर्दमं । कमकम रूपं जलं सरसि स्थापिते अतस्तस्य जलेनैव गृहदीर्घिका भृतेति, द्युतेः कांत्याः आहरणे आनयनार्थं पीठिकामध्ये मौक्तिकानि दलयित्वा संचूर्ण्य पिंडीकृतानि तत्पोठिका मर्दनेनांगस्य तेजस्विता शैत्यमपि ।

१९०—अधुना आषाढं वर्णयति । माघमासे यत् माहुटिः हिमगर्भो जातः षण्मासावधिः तस्य संभृतिः तेन गगनं मषीवर्णं श्यामं भाविवर्षालक्षणं मिलितं आषाढस्य सूर्यो बहुतरं परितप्य-यत् मध्याह्नं कृतं तत् जनैर्निरतरं मध्यरात्रिरर्ध-निशेव वर्त्तते इति ज्ञातं कस्मात् न्रीजणपण इति निर्जनत्वात् तस्यां वेलायां सर्वे लोकाः गृहं प्रविश्य स्थिताः अतः कोऽपि वहिर्नायाति तवैवंविधिः प्रति मध्याह्नं महानिशातोप्यधिकं ज्ञातमिति भावः ।

१९१—तत्र मासि **निर्द्धना:** गिरिनिर्झरप्रसरे वहत्पानीये **नेरंतीति** सुखमनुभवंति । **धनिन:** सामृद्धिमंत: स्त्री **पयोधरौ भजंते** सेवंते सबाहुकंठं निर्भरं स्त्रियं परिरभ्य स्वपंति । **वायुझोलैः** पवनस्फुरणैः **तरव झंखरा:** पत्रविहीना: कृता: **लूलहरीभि:** संतप्तवायुचलनै: **लवलीनां** लतानां **दहनं** कृतं अग्निज्वालावदुष्णता: प्रज्वालिता: ।

१९२—अथ च **हरि:** स रमणीकस्तस्मिन् **धवलगृहे** सुधाधवलिते मन्दिरे **क्रीडते स्म** । यत्र **गारिरिति** चुणनसमये लेपनं कस्तूर्या एव, इष्टिका: कर्पूरमय्य:, प्रतिदिनं नवे नवे निष्पादिते स्थाने पूर्वदिनभुक्तं परित्यज्य सद्यस्कमङ्गीचक्रे । **कुसुमानि** मालिती प्रभृतीनि **कमलदलानि** सरोज-दलानि तेषां माला समूहस्तेनालंकृते गृहे अथवा पुष्प-पत्रैर्ग्रथिता माला वनमालेत्युच्यते तयालंकृत: इति **कृष्णस्य** विशेषणमपि येन मालीत्यभिधानं ।

१९३—अथो वर्षासमयवर्णनं । उत्पतिता **धुडीरव** इति **वाउली** रूपा: तस्या: रज: अंबरे लग्नम् । चैत्रिकानां हालिकानामुद्यमो जात: हलसमुदायं सज्जीकुर्वंति । किंचित् किंचित् वर्षणे **खाद्रा:** लघुसरांसि भृतानि । मृगसिर-नाम्ना सूर्यभोग्यनक्षत्रेण वायुं मुक्त्वा मृगा: **किंकरा:** कृता: दुर्बलीकृता: विह्वलतया इतस्ततो भ्रमणशीला: । तत: आर्द्रया नक्षत्रेण वर्षयित्वा **धरा** पृथ्वी आर्द्री-कृता छंटितेति ।

१९४—**बका:** बलाका: ऋषयो योगीश्वरा: **राजान:** धरापतय-स्तयोऽपि **पावसबेठा** इति चतुर्मासावधिस्थिता: नान्यत्र

गमनपरा: । सुरा: सुप्ता: अतो हरिशयनं । मयूरेषु स्वर-संभव: । चातका: रटंते । जलप्राप्त्यै जल्पयन्ति । बक्यश्चपला स्वयं चुणकरणप्रवणा: । हरिरिंद्रो अर्थात् मेघांबरं गगनं शृंगारयति भिन्नभिन्नवर्णैः सुश्रीकं करोति । तदप्यग्रे वक्ष्यति ।

१९५—एकत: श्यामां **कंठलीं** मेघघटां कृत्वा एकत: **उज्ज्वलं कोरणं** वातयुतमभ्रं कृत्वा धाराभि: श्रावणे **धरहरीया** इति भूमिसिंचनकरोऽभूत् । **दिशोदिशीति** सर्वासु दिक्षु **गलितैर्गर्भैः** जलानि चलतानि प्रवाही भूतानि न स्तंभयंयंतीति नित्यं वहनशीलानि कानीव तद्वतौ । विरहिणी नयनानीव, यथा तान्यपि साश्रूणि न स्तंभयंति नित्यं वर्षत्येवं साम्यं ।

१९६—प्रचुरधाराभिर्वर्षति मेघे **अनड़ानां नड़ाः** पर्वतानां निर्झर-प्रवाहशब्दा: बाढं प्रादुर्भूता: सघनो जलभृतो मेघ: गंभीरशब्देन गर्जितं तदा समुद्रमध्येऽपि जलं न **समाति** न स्थिरीभवति बहिर्निर्गच्छति तदान्यजलाश्रयाणां का वार्त्तेति। पुन: **जलबाला:** विद्युत: जलदे मेघे न **समांति** सर्वथा विद्युन्मयं **सझात्कारं** जगज्जातमिति बहुवर्षत्वं ।

१९७—अत: स्त्रीपुरुषसंबधं कल्पयित्वा वसंतावधि पुत्रजन्मसमयं वक्ष्यति । **निहसे बूठउ इति** अत्यंतं वृष्टो मेघ: ततो वसुधायां नीलरंगत्वम् प्राप्तायां स्थले जलानि वसंति स्मेति । उत्प्रेक्ष्यते । पतिना सह प्रथमसंगमे वस्त्रेषु खंचितेषु उद्घाटितशरीरा: **स्त्री ग्रहणै**राभरणै: परिहिता मुक्ता सती यादृशी भाति तादृशी पूर्वोक्तलक्षणा वसुधापि विराजते स्मेत्युपमयापि साम्यम् ।

१९८—तदनंतरं समयं वर्णयति। तरवः वृक्षाः लताः वीरुधः पल्लविताः नवपत्रयुताः जाताः। तृणैः बालतृणैरंकुरितं अतः पृथ्वी नीलरंगा जाता केव नीलांबरा स्त्रीव। अथ च वहन्नदीमयो हारः परिधृतः। पादयोर्दादुररूपौ नूपुरौ परिधाय क्षिप्त्वा मोहिनीव जाता। शृंगाररहस्यं।

१९९—वर्षणेन अंजनाचलधाराश्यामत्वं तदेव मंजनं कज्जलीमिव कृतं। पयोधेः मेखलाः तटभूतैव कटिमेखलेव। **मांमोलु** इंद्रगोपः कुंकुमबिंदुरिव पृथिव्याः स्त्रिय इव ललाटपट्टे दत्तः। अत्र सर्वत्रोपमानं।

२००—धरायाः स्त्रियः धाराधररूपे स्वामिनि मिलिते सति नदीनां तटा उत्पटिताः पानो यैर्बहिर्निर्गतं तत् केशाः विरलीभूताः इति स्वरूपं दर्शयति। केशाः **लट**प्रायाः यमुनैव कुसुमैर्मिश्रत्वं गंगेव अग्रेवेणी समुदायः। उत्प्रेक्ष्यते। त्रिवेणीसंगम इव प्रतिभासते।

२०१—धरा पृथ्वी श्यामा स्त्रीव वर्णेनापि श्यामा। जलधरः पतिः सोऽपि स्यामतरः द्वावपि निवड़ं गलकंठपरस्परं बाहूर्निक्षिप्य **घेघुंचितौ** एकीभूतौ नांतरं दृश्यते। तेन भ्रमेण दुर्दिनप्रसंगेन ऋषयोपि नित्यकर्मरता अपि संध्यावंदनकृते **भूला** इति भ्रांताः दिवा रात्रिसंधिं न लक्ष्यन्ते स्म।

२०२—दम्पतीभिः अतः परस्परं आलिंगनं दत्तं। किमिति। तत्र हेतुमाह। किंकृत्वा। धरामेघं परस्परं आलिंगितं दृष्ट्वा। मेघागमे विशेषेण कामत्वप्रसंगः। किं कृत्वा। परस्परं रुष्टान् पादौ लगित्वा **मनावीति** मानयित्वा कथं पुनारसान् कामोद्दीपकान् पदार्थान् अंगीकृत्य। लब्धस्य देहस्यायमेव लाभः यत् प्रीत्या परस्परं मिलनं गणयित्वा मनसा विचार्येति।

२०३—अधुना मेघाभ्रवर्णान् व्याख्याति। अथ च अर्धमार्गे गगन-मध्ये उत्पतिताः मेघाभ्राः शुशुभिरे। उत्प्रेक्ष्यते। महाराजस्य परमेश्वरस्य **राजे महल** इति क्रीड़ायोग्यानि मुख्यगृहाणीव तेषां वर्णना। कीदृशानि गृहाणि। जलजालैर्जलयंत्रैरिव जलानि स्रवंतीव इति द्वयोः पक्षे, कानिचित् कज्जलवत् श्यामानि कोरणान्युज्ज्वलानि तान्येव सुधाधवलत्वं। कानिचित् पीतान्यभ्राणि हरितालितानि गृहाणीव। कानिचित् रक्तानि हिंगलूकरंगितानीवेति गृहमेघाभ्रयोः सादृश्यं पहलपर्यायैः अंतरे अंतरे पृथक् पृथक् स्थितान्यभ्राणीति ज्ञेयं।

२०४—तत्सदृशत्वेन श्रीकृष्णगृहाणामपि निरूपणं। नीलमणिमयाः इष्टिकाः **कुंदनस्य** रसीकृत स्वर्णस्य कर्दम लेपयोग्यं स्तंभान् **लाल**मयान् माणिक्यमयान् पट्टान् पाचिरत्नरूपान् स्थिरान् सुबद्धान् कृत्वेति सर्वत्र योज्यते। मंदिरेषु गवाक्षास्ते तु पद्मराग-रत्नमयाः उपरि स्थितानि शिखराणि गृहशीर्षकानि शिखरमयानि हीरकैः कृत्वा रचितानि। इति पूर्वद्रालकोक्ताः विविधवर्णाः। गृहेष्वपि अत्र राजर्द्धिरुदीरिता।

२०५—रुक्मिणीयुक्तेन वरेण श्रीकृष्णेन श्रावणभाद्रपदयोर्मासयोः **भरो** मध्यसमयः सुखेन योग्यवस्तुग्रहणेन **एहवी रुखि** इति अनया रीत्या **बो** भुज्यते स्म। तत्कथमित्याह। कमकमेन क्षालितानि धौतानि वस्त्राणि धृतानि सुगंधद्रव्यैः प्रबलितैः प्रकटवासनैः गृहे स्थित्वेति शेषः।

२०६—अतः वर्षानंतरं शरदं वर्णयति। वर्षार्तुर्व्यतीता शरत् समागता तस्याः वर्णनं वचनैः भूयो भूयोऽहं व्याख्यास्यामीन्यन्वयः। तत्र जलानि निर्मलीभूत्वा **निवाणे** सरोनदीलक्षणे जलाश्रये

स्थितानि। उज्ज्वलत्वं दर्शितं। कानीव। **निधुवने** नाति सुरतेन लज्जितानि स्त्रीणां नयनानीव। यतः सुरतांते नेत्राणि श्वेतानि भवन्ति।

२०७—अथातो धरा पृथ्वी पीतवर्णा जाता येनौषध्यः धान्यानि पक्काः तत्समये शरत्कालस्येदृशी श्री शोभा दृश्यते पुनः कोकिला निःस्वराः मौनधारिणीति **ओषकण**रूपाः प्रस्वेदबिंदवो जाताः। किमिव। सुरतांते स्त्रीमुखमिव। यथा रतांते स्त्रीमुखे पीतता कंठे निःस्वरत्वं श्रमात् स्वेदबिंदूद्गमः। साम्योपमा।

२०८—आश्विनमासेन संगम्य एतानि वस्तूनि **वितए** इति व्यतीतानि गतानि कानि कानि चेत्याह। नभसि आकाशे **वर्द्दलानि** अभ्राणि पृथिव्यां पंकश्च जले **गुडलत्वं** रजस्त्वं। यथा सद्गुरोः संयोगे मिलिते एवं जायते जनानां **कलिकल्मषानि** कलियुगपापानि नश्यंति ज्ञानोद्दीपकत्वं परमज्योतिः प्रकटनं। अथ साम्यं श्यामाभ्राणिपापरूपाणि निष्पंकत्वं ज्ञानदीप्तिः जलोज्ज्वलता ज्योतिः प्रकाश इति।

२०९—आश्विने मासि गावः क्षीराणि स्रवंति। धरा पृथ्वी रसान् **उद्गिरति** प्रकटयति। पद्मिनीभिः सरांसि सुश्रीकानि जातानि। पुनरपि शरदि श्राद्धकाले स्वर्गलोकवासिनां पितॄणामपि मृत्युलोकः प्रियो वल्लभो लग्नः। तत्समये दत्तपिंडग्रहणाय पितरः समागच्छंतीति लोकोक्तिः।

२१०—शरदो रजनी तादृशी शुक्ला वर्त्तते यत्र पार्श्वे स्थितां हंसीं हंसो न पश्यति समीपस्थं हंसं हंसी न पश्यति। सर्वं जगदुज्ज्वलं प्रतिभातीति चिंत्यं तदा तयोर्विरहोद्भूतिरितिशंका निराकर्त्तुमाह मुहुर्मुहुः वारं वारं जल्पंतौ शब्दं कुर्वाणौ दंपती-परस्परं विरहं गमयतोन्योन्यं जानंतौ संयोगमेवमकल्पयतां।

२११—तथापि पुनः कारणमाह । यतो महोज्ज्वलायां निशि उज्ज्वल-वस्तूनामदर्शनमिति बहुतरं व्याख्यानं किं क्रियते । यदधिकं वर्णनीयं तथापि किंचित् विशेषं वक्ति । उत्प्रेक्ष्यते । शशी चंद्रः षोडशभिर्कलाभिः भिन्नै भिन्नै पृथक् उद्योते समातिस्म मिलितोस्तीति ।

२१२—तरणिः सूर्यस्तुलायां राशौ अर्थात् तुलाकृते स्थितः काभ्यां तुलितः तेजोतमोभ्यां । अतस्तत्र दिनरात्रिसमसमे भवतः यथा कश्चिद्राजा कनकेन तुलते । भू पृथिवी तस्यामिति रीत्येदमपि तुलनं तेन कारणेन सदृशं तुलामारोपितौ तौ द्वावपि कीदृशौ जातावित्याह दिनं सर्वकार्यकरणेत्तमं ततो दिने दिनेऽमर्षतया लघुत्वं यातीव । रात्रिः स्त्रीरूपा लक्षणैः तुच्छा ततो गर्विता सती रात्रौ रात्रौ गौरवभावं प्रोत्फुल्लभावेन वृद्धत्वं यातीवेति । यदुक्तं । "संपूर्णकुंभो न करोति शब्दं" ।

२१३—समानाभिः सदृशवयोरूपावस्थाभिः स्त्रीभिः मणिखचितेषु मंदिरेषु कार्त्तिकदीपाः दीपमालिकाः गृहांतः गृहमध्यं दत्ताः । किमर्थं । सुखाय स्वमनः प्रसन्त्यर्थमित्यन्वयः । तेषु मध्ये स्थिता गवाक्ष जालिकादिविवरेषु बहिरेवं प्रतिभासंते । कानीव । **सुहागमुख** इति सौभाग्यवती मुखानीव । यथा मनसा चित्तेन लज्जंतीनां स्वाधीनपतिकानां मुखानि घूंघट—पटांतः स्थितानि बहिः प्रकटं प्रतिभांति तद्वदिमाः अपि ।

२१४—नवीना नवीना छविः शोभा मंड्यते नवान् नवान् महोत्सवान् कुर्वंति अतस्तन्मासि आनंदवत्यो हर्षकुमारिकाः अपरि-णीताः गृहगृहद्वारेषु स्थिराः निश्चलाः चित्राणि रचयन्ति । उत्प्रेक्ष्यते । बालिकाः चित्रलिखिता शालिभंजिकाः इवेति रूपसौंदर्यं ।

२१५—नवा: जना: अर्थात् नररूपेण देवा: इव जगतां त्रिभुवनानां नवानि अभुक्तान्यपि सर्वाणि सुखानि सेवंते स्मेति। जगद्वास-मिषेण। वयं द्वारिकावासिन: इति व्याजेन। यदुक्तं।

तम्बूलमन्नं युवतीकटाक्षं गवां रसो बालकचेष्टितानि।
इक्षुर्विकारा: मतय: कवीनां सप्त प्रकारा न भवन्ति स्वर्गे॥

पुन: सेवां दर्शयितुं रुक्मिणीरमणस्य शरदृतौ दीपालिका-नंतरं भुक्तिराशिभि: नवैर्नवै: पक्वान्नै: सुगंधद्रव्यादिभिर्वस्त्रैश्च निशिदिनं दिवारात्रौ भक्तिं कुर्वंते स्मेत्यर्थ:।

२१६—श्रीकृष्णस्यैषैव रीतिर्जाता यदा **सुयोधनं** दुर्योधनमुद्दिश्य आयोधनार्थं **धनंजय**स्यार्जुनस्य सहायत्वे समागतस्तदापि सुप्त एव जागरित: अनिद्रोऽभूत् तद्विधिना मासेषु मार्गशीर्ष: भव्यं समागतो मिलितो यत्र जनार्दनो निद्राविहायोत्थितवान् तत्र **"देवऊठणी"** इति लोकोक्ति:।

२१७—अतो हेमंत:। पश्चिमजं वातं निवार्य दूरीकृत्योत्तरादिग्वात: प्रसृत: तत्समये शीतागम **सहूए इति** सर्वेषां नराणां स्वस्त्रियामुरांसि हृदयानि स्वर्गतुल्यानि जातानीति। कुचापी-ड़मालिंग्य स्त्रीनरा: सुखं शेरते। ततोऽत्र भुजंगा: सर्पा: धनवंतो जनाश्च पृथ्वीपुटं भित्वा अधोध: स्थानं कृत्वा द्वयो-र्वर्गा: गणा: विवरेषु प्रविष्टा:। सर्पा: बिलेभ्यो बहिर्न नि:सरंति। जना: गृहाभ्यंतो भूमिगृहाणि सेवंते तत्रोषितुं लग्ना:।

२१८—हिमसमय हिमालयनद्यस्तुच्छजला: समभूवन विमला-न्युज्ज्वलानि हेमानि शृङ्गाणि वर्द्धितुं लग्नानीत्यन्वय:।

तत्रोपमा। यथा यौवनागमे स्त्रीकटयः कृशा भवंति नितंबाः स्तनाश्च स्थूला भवंतीति साम्यं।

२१६—हेमंते शीतभीत्या जनाः स्वगृहाणि भुंजंति न त्यजंतीति। स्वतनुना मलिना संतः केऽपि मार्गे वहंति। यतः आलस्येन स्तोकं स्तोकं स्नायद्भिर्जनैः तनौ मालिन्यमेवांगीक्रियते। **जिणि** इति येन कारणेन धनिनो जनाः सुकुमारैर्बहुमौल्यैर्वस्त्रैर्भारिताः आवृताः केचिदितरे निःस्वाः कंबलीभिरावृतास्तिष्ठंति। कुत्र सर्वस्मिन् जगति मृत्युलोके। इत्युक्ता। स्वर्गे पाताले न शीतमिति ज्ञातव्यम्।

२२०—अथ तत्र दिवसा क्रमेण क्रमेण प्रतिदिनं लघुत्वमाप्नुवंति के इव ऋणिन इव देयपरधना इव यथा तेऽपि स्वं धनदापिनं दृष्ट्वा क्षणे क्षणे **संकुचिति** दीनत्वमाप्नुवन्तीति यावत् तदा पौषी निशा कथंचिदम्बरमाकाशं त्यजति। रात्रीणां गौरवं दर्शितं केव, प्रौढांगनेव, यथा प्रगल्भा स्त्री पत्याकर्षण समये **पंगुरणम्** वस्त्रं कथमपि मुंचति दूरं क्षिपति यथा। "अस्त्री एह सुभाउ। नाना करंति बद्धे ए नेहो"।

२२१—रुक्मिण्या वरेण च स्वं देहं मनश्च परस्परं **अलुझाया** इति एवं ग्रंथिरीत्या निवडं बद्धं यथाशीतं **विहीतम्** दूरीकृतं। कथं तनुमनसी एके कृते इत्याह। अर्थेन संगता वागिव यथार्थेन वाग्मिलितैव भवेत्। यदुक्तं—"वागर्थाविव संपृक्तौ" यथा शक्तिमति शक्तिरवस्थिता यथा पुष्पेषु गंधः यथा गुणिनि गुणाः परस्परं मिलिताः वर्त्तते तथा तौ द्वावपि मिलितौ अत्र प्रमाणकल्पना।

२२२—अथ शिशिरः। कामस्य वाहनं मकरः तत्र राशौ अहिमकरः सूर्यश्चटितः उत्तरायणं जातं तत्रोत्तरदिशो वातो बाढं वातः

तेन कमलानि प्रज्वाल्य विरहिणी वदनानीव कृतानि तत्र विरहिणीमुखानि विलक्षाणि भवंति। आम्रा: मंजरिता: भव्यतया रक्षिता: कानीव संयोगिनीनामुरांसीव। तत्र प्रियतममिलनेन तासामुरांसि समुल्लसंति।

२२३—प्रार्थितस्य कृपणस्य किं वाक्यं। उत्तरमेव। नास्ति कथनं। तत: शब्दच्छलेन तन्नाम्ना दिक् उत्तरदिक् तस्या: पवनेन सहकारं विना अन्यानि वनानि ज्वालितानि। नित्यं वहति वायौ हिमानां संभव:। अतो माघे लग्ने सति लोकान् प्रति नीरमध्यात् शीतलोऽग्निरुत्थित: ज्वलनवत् लग्न इति यदुक्तं।

दूहा

ताढउ शीतल वन दहइ। जल पत्थर भेदंति।
अबल विरुद्धीतं करइ। जं देवो न करन्ति॥

२२४—निजनाम्ना: शीत: परं नीलानि वनानि ज्वालयति। जलस्थिता: पद्मिनी: पुन: **दहित्वा** (दग्ध्वा) अत: पातकी जात: तेन शीत: स्वमनो मलं मंजयित्वा दूरीकरणं विना द्वारिकांत:मध्ये नो प्रविशति। पापिनां द्वारिकाप्रवेशो दुर्घट: तत्र धर्मिजनस्यैव-निवासित्वात्। द्वारिकामध्ये शीत: स्तोकइति लोक प्रसिद्ध-मेव।

२२५—उद्गच्छन्नेवार्क: अग्निरूपं कृत्वा दिवारात्रौ संध्याद्वये दंपत्यो: श्रीकृष्णरुक्मिण्यो:, उपरि प्रथमं धूपं विधायारात्रिकामिषेण निजं शरीरं **वारयति** करद्वयेन भ्रामयित्वा तदधीनं करोति कथं दशसु दिक्षु आरात्रिक भ्रमणं। किं कृत्वा, स्वयं प्रतापं प्रतिहारीकृत्य शीतागमं निवार्य पश्चात् स्वयं सेवितुमना:

एवं विदधातीवेति एकोऽर्थः । द्वितीयार्थे लोकाः सूर्याय प्रत्युपकारकृते आरात्रिकामिषेण निजतनून् तदधीनान् कुर्वंतावेत्यपि ।

२२६—अथ सूर्यः कुंभे स्थितः तदा ऋत्वंतरं जातं । कथमित्याह **हिमं ठरितं** इति किंचिदूनीभूतं द्रहाः ह्रदाः **ठंठीकृताः** अकंपनपराः कृताः यतः 'कुंभे शीतं च जर्जरं' । अलयो भ्रमराः पक्षान् सज्जीकृत्य उड्डीयनार्थमुद्यताः । कलकंठाः कोकिलाः सुस्वरवत्तया कंठं गलं सज्जीकृत्य जल्पितुं सोद्यमाः बभूवुः ।

२२७—अथ होलिकागमः । तरुण्यस्तरुणाश्च फाल्गुने गृहे गृहे फागं गानविशेषं गायंति । किं कृत्वा । **वीणा डफ महु अरि**वंशकसंज्ञान् वाद्यविशेषान् वादयित्वा समुदीर्य । पुनः किं कृत्वा । मुखे रीरीति बाढंस्वरेण पंचमरागमालाप्य । तत्र कोकिलोक्तिसमये पंचमरागस्य प्राधान्यं । कथं भूते मासि । विरहिजनानां **दुरुत्तरै** दुरंते इति फाल्गुनविशेषणं ।

२२८—इयत्कालं यावत् तरुषु पल्लवा नवपत्रागमास्तादृशा न संभूता पुष्पाण्यपि न जातानि तथा नवांकुरा अपि न प्रादुर्भूताः । स्तोकं स्तोकं शाखा **गाःदरिताः** मंजरिताः तथापि वनभूमी राजते इति शेषः । केव । यथा प्रियस्यागमे विलासिनी अकृतेपि शृंगारे मनसि कृतहर्षा सती मुखकांत्यैव शोभते तथेयमपीति भावः ।

२२९—अथो वसंतः । प्राक्मासदशकं यावत्ऋतुसमयेनेव स्वपतिना गर्भो दत्तः वनस्पत्याः स्त्रीलक्षणायाः यन्मासे मासे भिन्नं भिन्नं चिह्नानि जायन्ते वनस्पत्यामिति गर्भवत्या

लक्षणं । सांप्रतं वनस्पतीरूपा वधू वसंतं सुतं **प्रसवंती** जनयंती किं किं चेष्टितं कुरुते । तदाह । मनसि व्याकुला सती तुच्छपीडयेवेषत् मन्मनतां विलंब्य विलंब्य कूकूरवं भ्रमर-झंकारमेव कृतवतीवेति तदनु कठिनवेदनया कोकिलाशब्द-मिषेण कूजतीव पूत्करोतीव इति प्रसवसमयचेष्टा ।

२३०—अथ **दाई** स्थाने प्रसूतिका प्रसवकारयित्री होलिकापर्वेति-ज्ञेयमिति वक्ति तां प्रति सुखं प्रसवकारितत्वेन विशेषेण वनःपत्या कष्टनिवर्त्तनसमयादनुपूज्यते । कैः कैः वस्तुभिः । पक्वान्नैः पुष्पैः फलैः पत्रैः तद्रूपैरेव सुरंगैर्वस्त्रैः नवीननवीन-वस्त्रपरिधापनैः दानैः सर्वैर्द्रव्यैः करणभूतैः होलिकामुद्दिश्य जनाः ईदृशाः सोत्साहाः पूर्वोक्तरीत्या कुर्वते तत् सूतिक-निमित्तमिति कल्पना ।

२३१—अथ च मधूकवृक्षमिषेण गलत्पुष्पतया वसंतपुत्रः शिशुरूपः रोदितीव कथं यतो दलेषु मलयानिले लग्ने सति **कल** इति रोगविशेषः समुत्पन्नः । कीदृशे मलयानिले । त्रिगुणे प्रसरति पानीयतृषेव लग्ना यथा तृषितो बालः कलितो भूत्वाश्रूणि मुंचति तथायमपि । ततो मातेव वनस्पती दुग्धमिव मकरंदं मधु श्रवति सप्रसवं क्षरति । रुदनरक्षणार्थं स्तनदानमिव । अन्यार्थे पाठांतरे मधुपो भ्रमरो **रिषरिषाट** रवमंगीकृत्य रोदितीवेति, शेषा व्याख्या सैव ।

२३२—अथ च । वासाः गंधाः पुरुषनारीणां नासिकापथमाश्रित्य पवनरथे चटित्वा रमंते स्म उद्यांतिस्मेवेति सर्वं जगद्वसंते सुवासितं जातमित्यभिप्रायः ।

२३३—अथ वर्द्धापनं । प्रवराः आम्राः अतिशयं तोरणानीव । याः अंबुजानां कमलानां कलिकाः ता एव मंगलार्थकलशाः कुंभा

इव। एकस्माद् वृक्षादारभ्य समीपस्थमन्यं वृक्षं याः लताः चटिताः ता एव बद्धाः **वन्नर** मालिका इवेति पुत्रजन्मोत्सवे सर्वेऽपि प्रकाराः ।

२३४—वानरैर्यानि स्फोटितान्यपक्वनालिकेरफलानि तेषां मज्जा मध्यस्थितोज्ज्वला। उत्प्रेक्ष्यते। मंगलार्थं दधीनीव महोत्सव-प्रारंभे दधिदर्शनं महाकार्यसिद्धिनिदानं। परागाः कुसुम-रजांसि किंजल्काः मध्यस्थितकर्णिकाः तत्कुंकुममिव अक्षताश्चेव। पिकाः कोकिलाः प्रमुदिताः उन्मत्ताः यद्वदंति ताः स्त्रियः इव गानं गायंतीव। सादृश्योपमा।

२३५—सरसि इति शेषः पद्मिनीनां पत्रेषु स्थितानि जलानि पृषतः एवं विभांति। उत्प्रेक्ष्यते। काचमये प्रांगणे भामिन्यः स्त्रियः स्थालेषु मौक्तिकानि क्षिप्त्वा सानंदं वसंतं पृथिव्यामागतं मत्वा वर्द्धापयितुमागता इव। कीदृश्यः। **वणे** इति कृत-श्रृंगाराः। सरः काचमयमंगणं मौक्तिकानि जलबिंदवः पत्राणि स्थालानि पद्मिन्यः स्त्रियः कुसुमानि श्रृंगारः इति रीत्या साम्यमनुभाव्यं।

२३६—अथ वनस्पती **कामा** कमनीया कामधेनुरिव वर्षती रस-मुद्गिरती अहं पुत्रवतीति मनसि प्रसन्ना जाता। तदा श्रृङ्गारार्थं किंशुकपुष्पाणि पीतानि तदासन्। उत्प्रेक्ष्यते। ते **करणि करि** वर्णक्रिययेति केसरिकानि वस्त्राणि कृत्वा परिधत्तानीव स्त्रीणां श्रृङ्गारविशेषे पीतवसनानां शोभास्तीति।

२३७—**कणवीर** पुष्पाणि रक्तानि करणपुष्पाणि श्वेतानि **सेवंती** पुष्पाणि घृतवर्णानि **कूजा** इति पुष्पजातिविशेषः **सुवर्ण**नाम्नी जाती पीतपुष्पा **गुलाला** ईषत्पाटलवर्णा यत्र वसंते आसन्। उत्प्रेक्ष्यते। सर्वोऽपि परिकरः विविध-वर्णैर्वस्त्रैर्यथायोग्यं परिधापित इव।

२३८—अनेन विधिना विधिवद्वर्द्धापनैः कृत्वा वसंतो वर्धापितः। स तु **भालिम** इति भाषया भव्यतया दिने दिने भरणेन बलेन चटितः वर्द्धितः। तत्र **गहबरिया** इति गर्वितैः पुष्पादि-समृद्धिमद्भिस्तरुभिः तरुणैरिव **फाग** दत्त्वा उल्लापितः यथा बालहाराः गानादि कृत्वा बालं रञ्जयन्ति।

२३९—अधुना राज्याभिषेकं वर्णयति। तत्र राज्ये मन्त्री प्रधानो मदनः कामः वसंतो महीपती राजा कृतः। किं कृत्वा। **सधरां** शिलामेव सिंहासनं धृत्वा। मस्तकोपरि आम्राः एव छत्राणि मंडितानि। वायुना चला मञ्जर्येव चामर-ढालनं। सर्वेऽपि राज्यसामग्री।

२४०—दाडिमीपक्वबीजानि बहुनिष्पत्तितया यत्र तत्र पतितानि दृश्यन्ते। उत्प्रेक्ष्यते। **निउंछावरि** कृते वर्द्धापनार्थे नगाः रत्नानि क्षिप्तान्युच्छालितानि इव। खगैः पक्षिभिः चरणै-श्चंचुभिः कृत्वा फलानि **लुंचितानि**। ततो मधुक्षरणं रसनिर्गमस्तद्रूपं मार्गछंटनं यथा राज्ञाग्रे रजोविनष्ट्यै धरासिंचनं क्रियते।

२४१—तत्र एणाः हरिणाः पदातयः पादचारिण इव राजंतेतरां कुंजाः कुडंगाः रथा इव। हंसानां मालाबंधः श्रेणिः हयानामश्वानां **लासि**रिति मन्दुरा। गिरिवराः गजाः इव कीदृशाः खर्जूरीरूपा ढल्ली पृष्ठाभरणं **पूठि ढलकावे** इति उपरि सज्जीकृत्य शृङ्गारिताः। पर्वतविशेषणम्।

२४२—अथ च **तडि** इति तटे मूलादारभ्य **तरलाः** स्थलाः उच्चा उद्र्ध्वीभूता **सरला** इति मध्ये अवांतरशाखारहिताः एवं-विधास्ताड़वृक्षाः उपरि **पत्रयुताः**, किं बहु कथ्यते, स्वर्गं यावत् प्रसृताः भांति स्मेति। उत्प्रेक्ष्यते। वसंते पट्टे स्थिते

राज्ञि जगतः उपरि **जगहथ** इति जगद्धस्ताः पत्रालंबनानीव बद्धा इव, अस्माकं यो जयतु तेनागंतव्यमिति स्वगर्वपूर्वकं रिपूणां भयोत्पादनं ।

२४३—अथ राज्ञोऽग्रे नाट्यारंभः । ऋतुराज्ञः (ऋतुराजस्य) वसंतस्याग्रे **अवसर** इति नाटारंभो मंड्यते। तत्कथमित्याह । वनमेवमंडपः, निर्भरशब्दः मृदंगः इव, पंचबाणः कामः स एव नायको रंगाचार्य इव, कोकिला गानकर्त्री अथवा पुंस्कोकिलस्तदा गायकः **गाइन** इव, विविधवर्णा वसुधा रंगसमुदाय इव, विहंगाः पक्षिणः **मेलगराः** कौतुकप्रेक्षको जनसमुदाय इव ।

२४४—कलहंसा **जाणगराः** भव्यभव्येति भाषकाः, अथ च यानं गतिः तत्कराः नानागतिकारिणः इत्यपि । मयूराः नृत्यकराः इव। पवनो वायुः तालधर इव। पत्राणि ताडवृक्षादिपर्णान्येव तालाः कांस्यमया इव । अथ **आरि**शब्देन काचित् चटिका जातिविशेषः तस्याः जल्पनं तंत्रीस्वर इव वीणेव । भ्रमराः उपांगिनः शरीरचालनचेष्टाकारिण इव। तत्र चकोराः पक्षिणः **तीवट उघट** इति शब्देन तालविशेषः तस्योद्घाटकाः कर्त्तारः ।

२४५—तत्र विधिपाठकः ईदृशं नृत्यनृत्येति शास्ता शुक एव । रसवांछकाः सारसाः इव। कोविदो विचक्षणः लीलया यानपरः **खंजरीट** खंजनपक्षो वेति। पारावतस्य **दाटिः** गुटकनं **प्रगल्भलागिः** भ्रमरीस्फुरणवृत्त्या मूर्च्छनाविष्करणं। चक्रवाकस्य विहारो गतागतं विदुरस्य शिक्षितस्य वेषपरावर्त्तनमिव ।

२४६—अंगणे छंटनजलं स्थितं तत्र भ्रमराः पिबंति ते कीदृशाः **तिरप उरप** तालस्वरभेदकारकाः इव। चक्राकारो

मरुत् अर्थाद्वातूलक: **तिमरू** मूर्च्छनाविशेष: अथवा ताल-भेद: तं गृह्णाति इति संभावना। **रामसरी खुमरी** द्वे अपि चटिकाविशेष: ते रटितुं जल्पितुं लग्ने। उत्प्रेक्ष्यते। **धूआ मीठा चंद्रा**स्तालहस्तकभेदास्तान् धरत इवांगो-कुर्वते इवेति।

२४७—तन् नृत्यं कदा भातीति कालं दर्शयति। **निगरभर** इति बाहुल्येन मिश्रीभूता तरूणां सघना निविडा छाया सैव निशेव रात्रिरूपा। पुष्पिता: पलाशा: दीपधरा: इव। मंजरिता: आम्रा एव रंजनेन रोमांचिता इव। फुल्लानां विकाश: उत्फुल्लनं तन्मध्ये उज्ज्वलतराणां दर्शनं तत् हर्षेण हास्यकरण-मिव।

२४८—अथो वसंते प्रकटिते कोकशास्त्रं संगीतशास्त्रमिव प्रकटितं तस्मिन्नवसरे रसिकानां कोकशास्त्रेष्वादर इति। रत्या क्रीडासुखरूपया पात्रेण नर्त्तक्येव शिशिरर्तुसंबंधिनी जवनिका परियष्टि: तां दूरं निक्षिप्य पश्चात्कृत्वा रहस्या-लोचनमेव निजमंत्रं पठित्वा वनराज्या: देव्या इव उपरि पुष्पांजलि: क्षिप्तेवोच्छालितेव नृत्यावसरे देवदेवी-प्रसत्त्यै समं आपुष्पांजलि: क्षिप्यते इति प्रवृत्ति:।

२४९—नृत्यारंभवर्णने यत्किंचिदप्यसंबद्धं तत् शास्त्रानभ्यासत: आगतं भविष्यति। तद्दोष: क्षम्यतां। यदुक्तं—"अनभ्यासे विषं शास्त्रमिति"। अथ नाटके पूर्णे अनंतरं सुराज्यभावं दर्शयति। पूर्वं शिशिरर्तुरूपो दुरीश: कुनरेन्द्र: अंबुजानि कमलानि तद्रूपा एव प्रजा इव पीडयन् दुखी कुर्वन् ज्ञात्वा उत्तरेणानंगीकारेण असत् दुर्जन इवोत्थापितो दूरीकृत: इवेत्युत्प्रेक्षा। तदा प्रसन्नोनुकूल: सुखदाता त्रिगुणमयो यो वायु: तत्प्रसरणमिषेण वने वने नगरे नगरे इव न्यायो

ढंढेरक: प्रवर्त्तते इव वादयतीव। किमुक्त्वेति। सांप्रतं राजा वसंतोऽस्ति केनाप्यन्याये न प्रवर्त्तितव्यमिति कारणं।

२५०—अथ सुराष्ट्रे जाते किं जातमित्याह। एकैर्वृक्षैर्व्यावहारिकैरिव पुष्पाणां मिषेण, एकैः पत्राणां मिषेण, तत्र तेषां बाहुल्यमिति उत्प्रेक्ष्यते, धरामध्ये संचितानि द्रव्याणीव निष्कास्य मंडितानीव। यतः प्राक् तेषामदर्शनमभूत् संप्रति दृश्यन्ते इति हेतोः। कैश्चित् चंपकवृक्षैरिव चम्पककुसुमान्येव लक्षधन सूचका दीपाः प्रदीपाः दत्ता इव। कदलीपत्रस्येतस्ततः स्फुरणमेव कोटीश्वरत्वसूचकाः ध्वजा इव। अतो निर्भयाः प्रजाः समजनिष्यतेति तात्पर्यम्।

२५१—अथ च वल्ल्यः स्त्रिय इव पुष्पाणां भारः समूहस्तद्रूपाण्याभरणानीव परिहित्वा परिधाय इति कारणात् प्रकटं तरुवराणां स्वस्वामिनामिव वेष्टनरूपतया गले कंठे अंके **भरि** इति आलिंगनमिव कृत्वा विलग्ना इव बाढमाश्रिता इव। इति मलयानलरूपपटहवाजनानंतरं मह्यां पृथिव्यां सुराज्ये जाते सति निःशंकिता इवाभवन्।

२५२—अथ च चिंतातुराणां दंपतीनां न तादृगपत्यसंभवो जायते इति दर्शयन्नाह—प्राक् राज्यद्वयं हेमन्तशिशिरलक्षणं तरुलतारूपप्रजानां पीडकं उद्वेगकरमासीत्। अतो वसन्तराज्ञा हितं प्रदर्श्य प्रजानां दुरकं त्याजितं दूरीकृतं तदा वैशाखमासि वल्लीभिर्वीरुद्भिः स्त्रीभिरिव कुसुमावलिं पुष्प-संचयं अपत्यमिव **व्याए** इति प्रसूय तरवः शाखा प्रशाखाभिर्विस्तारिताः परिवारपरिवृताः कृता इव संततिपरिपाट्या गोत्र-समुदायो वर्धित इति युक्तम्।

२५३—ये तरवः पूर्वं पुष्पैर्भारिताः संघनं भृताः ते तु भारं वहित्वा साम्प्रतं **छूटा** इति अपहरितभारा इव जाताः यतः कामेन

करे पुष्परूपा: बाणा: गृहीता इति चिन्त्यं । पुन: सुराज्ञ: प्रसादेनादेशित: वैश्वानरोऽपराधकारीव जनैर् **भरडीत** इति निवार्यमाण इव जगति तिष्ठति यतस्तदा वायुबाहुल्याद् वैश्वानरो लोके स्तोकमंगीक्रियते तस्य न्यूनत्वमेव वरं इति तात्पर्यम् ।

२५४—तत्र राज्ये तरुसमूहे मंजर्यादिषु ग्रहणे डंकनं स्तोकं स्वादुमात्रं दीयते, दंड: सर्वथा लुंटनरूपो न दीयते । कैरिति आह—**गानगरै:** कलूसंज्ञितैलिपिलेखकैरिति भ्रमरैरेव । पुनस्ते एव भ्रमरा गणनामाकलय्य करग्राहिण: सन्त: परिवृता: यत्र तत्रागता: राजदेयभागग्राहिण इव समागता: तेषां तरव: कृषिकृत इव कुसुमानां गंधो मकरन्दो रस: तद्द्वयरूपं करं स्वामिदेयभागं ददते ।

२५५—यथा वर्षाकालेन वर्षता दातुमुद्यतेन स्वामिनेव आशाकरा: चातका एव वंचिता: तृषार्त्ता एव रक्षिता: यदुक्तं—

> अदातरि समृद्धेऽपि किं कुर्युरुपजीविन: ।
> किंशुके किं शुक: कुर्यात्फलितेऽपि बुभुक्षित: ॥

तथा वसन्तस्य राज्ये कोऽपि न वंचित: नो निराश: कृत: यत् पक्षिभि: लघुपक्षिभि: सेवया कृत्वा सुकुमाराणि फुल्लानि स्वयं भक्षितुं योग्यानि लब्धानि कोलाहलं कुर्वद्भिर्महद्भि: पक्षिभि: वंदिभिर्भट्टचारणादिभिरिव महन्ति फलरूपाणि दानानीव लब्धानि अत: स्वं स्वं योग्यं दानं सर्वैरपि प्राप्तं इति भाव: ।

२५६—नारीद्वयं एकां वृक्षपंक्तिं पुष्पितां समकालं दृष्ट्वा अन्यदन्यद् वचनं नामग्राहं वक्ति स्म । किं तदित्याह—कान्तसंयोगिन्या स्त्रिया नाम्ना किंशुक: कथित:, किमिति वितर्के

दृष्टमात्रोऽपि सुखं करोतीति किंशुकः, सुखकारी अयम्। अथ विरहिण्योक्तम्—इदं पलाशवनं, पलं मांसं अश्नातीति पलाशो राक्षसरूपः, दृष्टोऽपि असुखं ददातीति द्वयोरपि भिन्नभिन्नवाक्यम्। अथाऽस्य पाठान्तरे—

कुसुमित कुसुमायुध ओटि केलिकृत
तह देखे थीउ खीण तन

इत्यपि पाठः तत्र—कुसुमायुधस्य कामस्येयं **ओटिः** आश्रय-विशेषो यतः कुसुमितं दृष्ट्वा सविशेषं कामक्रीडा समुत्पद्यते। अतोऽयं किंशुकः। तथा तं दृष्ट्वा वियोगिनीतनुः क्षीणा सेदुष्का (? स दुःखा) जायते अतः पलाशः।

२५७—अथ काचिन् मालिनी सुरूपा कमलकोमलकरा केसराणि केशरपुष्पाणि वने वने उपलक्षितस्थाने **वीणयन्ती** चिन्वन्ती स्वनखप्रतिबिम्बेन स्वनखानां प्रसृतच्छायया भ्रान्ता, ज्ञातमेतदपि केशररूपमेव यतः तस्य रंगः तत्सदृशः करनखा अपि रक्ताः केशराण्यपि रक्तानि तच्चुण्टनसमये नखानां वासो गंधोऽपि तत्सदृशः, करपल्लवा अपि कोमलाः रक्ताश्च, कुसुमान्यपि कोमलानि रक्तानि च, अतः सादृश्येन भ्रान्तिः। तदा प्राप्तेषु केशरेषु तत्स्थाने शंकानिराकारः।

२५८—अथ वायुं वर्णयति—वायुर्मलयाचलाद् हिमालयं प्रति प्रस्थितः यतो वसन्ते दाक्षिणात्यो वायुरुत्तरां दिशं प्रयाति। तत्र कविना वायुस् त्रिविधो वर्ण्यते शीतो मन्दः सुरभिश्चेति त्रिगुणत्वे उत्प्रेक्ष्यते—हरस्य शंभोः प्रसन्नकरः मिलयितु-मिच्छुः कामस्य दूत इव यतः शंभुना सार्धं मेलकृते प्रेष्यो मुक्तः कामेनेव इत्युत्प्रेक्षा। कीदृशो वायुः किं कृत्वेति सबलेन जलेन भिन्नो निर्झरादिमध्ये निर्गमाद् अतः शीतः स तु सुष्ठुवासः कुसुमानां परिमलः तं सज्जीकृत्वा स्ववशं

प्राभृतमिव विधाय अतः सुगंधः । परं हरक्रोधभयेन **डिगमिगित** पदैः मन्दं मन्दं गच्छन् अग्रे गतस्य मम किं भविष्यतीति चिंतावान् शनैः शनैः गच्छति इति मन्दत्वम् ।

२५९—दक्षिणात: उत्तरामागच्छत: पवनस्य चरणावुत्तालतया न वहत: शीघ्रं चलितुमुन्मना: इति मन्दत्वं । तत्र कारण-माह—किं कुर्वत: वायो: नदीं नदीं तरतोऽवगाहनं विदधत: तरौ तरौ चटित्वा उत्तरत: वल्लीनां गले गले मध्ये विलगतो निस्सरत: अतो जानातीदृशं स्थानं स्वेच्छया क्रीडनयोग्यं अत्रैव नाऽन्यत्रेति चरणावहनहेतु: ।

२६०—केतकपुष्पाणि कुसुमानि विविधानि च कुन्दा: मुचुकुन्दा: केतक्य: रंगेण किंचित्पीता: सर्वेषां गंधभारं परिमलभरं गृहीत्वा स्कन्धोद्वहनेन श्रान्त: सन् श्रवतां वहनशीलानां निर्झराणां शीकरान् स्वाङ्गैः प्रस्पर्श्य पुनश्चलितस्तथापि बहुभारभारितो गंधवाहो वायुस्तेन कारणेन मन्दगतिरासीन् मन्दं मन्दं चलितुं प्रवृत्त: अन्योऽपि भारोद्वाहक: शीघ्रं गन्तुमशक्य एव स्यादिति गुणत्रयमुद्भाव्यम् ।

२६१—दक्षिणाया: अनिलो वायुरुत्तरस्यां दिशि समागच्छन मंदं मंदं सरति चलतीति सपत्नीद्वयवेधवचनम् । क इव, सापराध पतिरिव यथा पति: अन्यां स्त्रियं परिभुज्य अन्याया: गृह-गमने सभयं शनैः शनैर्याति इत्युपमा । तत्कारणमाह—तस्या: अंगवासना देहविलेपगंध: तस्या: लुब्ध: मोक्तुमक्षम: तत्र चन्दनपरिमलाधिक्यात् पुनस्तस्यां रसमपि मोक्तुमक्षम: यतो दक्षिणदिक् भोगिनां रसदायिनीति प्रसिद्धि: । रेवाया: जले रत्या: सुरतक्रीडाया: शौच्ये कृते अत: प्रक्षालिते काम-लत एव ईषन्मजनं कृत्वा अत: शरीरे वासक्षयो न स्याद्

इति चिन्तनं स्वयमपराधी कृतापराधः सन् गतिमन्दत्व-माश्रितः इति भावः ।

२६२—पुष्पवतीनां लतानां परस्परमिति एकां मुक्त्वा अन्यां प्रति अंगे अंगे आलिंगनं ददन् ताः प्रस्पर्श्य प्रस्पर्श्य निच्छन् (?) स्वयं मत्तः मद्यप इव असिद्धस्थानवत्तया चरणौ न सिद्धौ वहन्मार्गे मण्डयति भ्रामं भ्रामं गतिं कुरुते । किं कुर्वन् पवनः, मधुपानं पूर्णकंठं कृत्वा आचमन्निव योन्योऽपि मद्यपानी बहुलं मन्दं पिबति सोऽपि वातिं करोत्येव । अथ वायुः नवं नवं सद्यस्कं मधुमकरन्दरसरूपं मद्यं पिबन् मन्दं मन्दं गच्छति ।

२६३—अथाऽयं वायुरुत्प्रेक्ष्यते । कस्यचिन्महीपतेः राज्ञः मदोन्मत्तः मातंग इव गज इव । कीदृशो मातंगः । तत्र लक्षण-साम्यता । निर्भराणां तोयानि जलानि परिभुज्य मुक्त्वा मलयतरुं चन्दनवृक्षं आश्रयन् देहं निर्घर्षयन् पुष्पपरागैः कमलरजोभिरतिधूसराङ्गः सन् पुनः मकरन्दरूपं मधुमदं स्रवन् सन् वातश्चलतीति सर्वचेष्टितः करीसाम्यम् ।

२६४—पवनमुद्दिश्य स्त्रीद्विकस्योभयपक्षाभ्यां सदसल्लक्षणाभ्यां वादः परस्परविरोधिवाक्यकथनमजनि अर्थादभूत् । एकयोक्तं—कीदृशोऽयं पवनः गृहीतगंधगुणः चन्दनादिवास-युक्तः प्रधानतरः । अन्ययोक्तं—विषोपमः यतो भुजंगैः पीत्वा पश्चादुद्गालितः अर्थात् वान्तः तेनायमपि गरलीभूत एव अत्र विरहिणीवाक्यं । संयोगिन्या एवमुक्तं श्रीखंड-शैलसंयोगी मलयगिरिसंगी अतो भव्यः विरहिण्योक्तं अयं भुजंगभक्ष्यं इत्यभव्यः । इति द्वयोर्वादः ।

२६५—कस्यांचिद् ऋतौ दिवसः सरसो लगति हिमशिशिरयोरेवेति । कस्यांचिदृतौ रात्रिः सरसा शरदि ग्रीष्मे च ।

कस्यांचिद्दतौ संध्यावेला सरसा लगति विविधवर्णाभ्ररंगैः वर्षा एवेति कवयः कथयन्ति । परन्तु वसन्तः पक्ष-द्वयेऽपि शुद्धः सदृशदिवसरात्रिभावेन द्वयोरपि पक्षयोः साम्यं मासद्वयेऽपि सरसवत्तया अहर्निशं सदृशो वहति दिवसेऽपि सुखकारी रात्रावपि सुखकारीति यथा सुपक्षो नरोऽपि सर्वकालं सुखदाता इति भावः ।

२६६—निमिषैर्पलैश्च घटिकाभिश्चाहर्निशं दिवानक्तं वसंते सदृशे समाने ईषद् घटनं वृद्धिः परस्परं **नरमादा**भावादित्यपि किंचिद् वीनाधिकत्वं (?) लोकेपि प्रसिद्धं अतः एकस्य एकाया परस्परं अन्तभिन्नत्वमसादृश्यं इति यावन्न दर्शयतः परस्परं स्नेहवृद्ध्या मिलिताविव उपलक्ष्येते परं प्रेमरीत्या-धिकमनुभवतः यथा दम्पतीव । कान्तस्य गुणै-र्वशीकृता कान्ता तथा कान्तायाः गुणैर्वशीकृतः कान्तः परस्परं स्नेहभेदलक्षणं अन्तं न दर्शयतः । सर्वदा सदृश-रीत्यैव तयोर्निर्वाहः ।

२६७—तस्मिन् वसन्ते गृहाण्यपि पुष्पैः कुसुमैः रचितान्येव । **ग्रहणानि** आभरणान्यपि पुष्पमयानि उपरितना पटी अपि पुष्पैर्ग्रथिता प्रस्तरणं तूलिकाः तदपि पुष्पमयमेव **हीजति** इति स्वेच्छया हिंडोलके हिंचनं । सापि दोला पुष्पवेष्टिता । सर्वासां पार्श्वस्थितानां सहचरीणामपि पुष्पाणामेव शरणं । येन तेन विधिना पुष्पाणां बाहुल्यमेव कामिजनप्रियमिति । श्रीकृष्णकृते सर्वाऽपि रचना समी-चीना इति भावः ।

२६८—रुक्मिणीयुतः कान्तः श्रीकृष्णः **माणग** इति सुखभोक्ता वसन्ततुं अनेन विधिना **माणयति** भुनक्ति । कथ-

मित्याह—यस्य नादाः गीतगानरूपाः स्वापयन्ति निद्रायै प्रेरयन्ति अतश्चतुर्षु प्रहरेषु गीतगानमिति भोगिनां लक्षणम्। पुनः प्रातर्वेदाः वेदपाठकथकाः प्रबोधयन्ति जागरयन्ति। नित्यं प्रतिदिनं निशायां दिने च वनवाटिका-गृहोद्यानादिषु विहारः क्रीडाकरणं। अतो विस्मृता न्यकरणीयः श्रीपुरुषोत्तमः कामसुखमनुभवतीति भागवता-मन्येषामपि सर्वेषां अयमेव व्यवहारः। यदुक्तम्—

सुगंधं वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजने।
सुख शय्यामलस्नानमष्टौ भोगाः प्रकीर्त्तिताः॥

२६६—तस्मिन्नवसरे वसन्तसमये मनसोर्द्वयोरपि परस्परं प्रीति-प्रसरणेन स्नेहाधिक्येन अवसरेण लोकोक्त्या आश्चर्येण नादाद्युपायेन पुना रुक्मिण्याः हावैः मुखमोटनकटाक्ष भ्रूभंगरूपैः, भावैः आभरणरचनादिभिः सर्वैरपि कर्तृभूतैः हरिः कृष्णो मोहितो वशीकृतोऽतः ज्ञातं हरक्रोधज्वालावली-ढानि निजान्यङ्गानि गतानि स्वयमनङ्गेन योजितान्येकी कृतानि तानि सर्वाणि पूर्वोक्तानि मोहनिमित्तानि कामाङ्गानि अवगम्यानि इति यतो मदनः प्रद्युम्नत्वमंगीकृत्य रुक्मिण्या उदरे उषित इति निवासं कृतवान् ततः श्रीनन्दन इति ख्यातः।

२७०—अथ परिवारं वर्णयति—पिता वसुदेवस्तस्य सुतो वासुदेव-स्तस्य सुतः प्रद्युम्नः यतः पिता कृष्णो जगत्पतिः। श्वश्रू देवकी वधू रामा रुक्मिणी अथ च रामा श्वश्रू तत्र रतिः वधूः। सर्वोऽपि परिकरः श्रेष्ठः।

२७१—अथ च यदुवंशे भाग्याधिकं वक्ति—लीलाधनो वैकुंठवासी परमेश्वरो जगवासको जगन्निवासो मानुषीं मनुष्य-

सम्बन्धिनीं लीलां सुखानुभूतिं मनसि विचिन्त्य अवतारं कृत्वा जगति द्वारकायां वसुदेवगृहे देवक्या उदरे निवासं चक्रे। प्रद्युम्नस्य पिताऽयमेव अतो जगदीश्वरोऽनंगस्य पिता पितामहस्थाने जात: । कृष्णस्यानिरुद्ध: पौत्र: पुत्रसुत: । कीदृशोऽनिरुद्ध:, उषानामस्त्रिय: पति: । इति वंशस्य महद् भाग्यं प्रतिपादितम् ।

२७२—तेषां सर्वेषां तस्यैव वा यश: अहं कवि: किं कथयेयं, संभावना, यस्य यश: कथयितुं शेषनागोऽपि श्रान्तो निरुद्यमो जातो न पारं प्राप्तुं योग्योऽभवत् । अतो भक्तिमात्रं नारायण इति वारं वारं नामग्राहं वदेत्युपदेश: । कीदृक् । निर्गुण: सत्त्वरजस्तमोमयैर्गुणै: स्वयं रहितो निरंजनरूपत्वात्पुनर् निर्लेप: पापैरस्पृश्यमान: । पुना रुक्मिणीं कथय प्रद्युम्नं कथय तथाऽनिरुद्धकं कथय अर्थाद् वर्णय सहचरीभि: स्वस्वपत्नीभि: सह नामसंक्षेपेण नाममात्रमेव प्रोच्चरेति गुणस्तुतावशक्यत्वं प्रकटितं । पूज्यानां परिवारोऽपि पूज्य इति सर्वेषां स्मरणं न्याय्यम् ।

२७३—अथ लक्ष्मीनामानि—लोकमाता १ सिंधुसुता २ श्री: ३ लक्ष्मी: ४ पद्मा ५ पद्मालया ६ प्रमा ७ अपराणां गृहे अस्थिरा इत्यपि ८ इंदिरा ९ रामा १० हरिवल्लभा ११ रमा १२ इति नामानि ।

२७४—अथ प्रद्युम्ननामानि—दर्पक १ कंदर्प २ काम ३ कुसुमायुध ४ शंबरारि ५ रतिपति ६ तनुसार ७ स्मर ८ मनोज ९ अनंग १० पंचशर ११ मन्मथ १२ मदन १३ मकरध्वज १४ मार १५ ।

२७५—अथ ब्रह्मणो नामानि—चतुर्मुख १ चतुर्वर्ण २ चतुरात्मक ३ व्यक्त ४ चतुर्युग-विधाता ५ सर्वजीवकृत् ६ विश्वकृत् ७ ब्रह्मसू ८ नरवर ९ हंस १० देहनायक ११ ।

२७६—ते सुष्ठु पदार्थाः—सुन्दरता सौन्दर्य १ लज्जा २ प्रीतिः ३ सरस्वती ४ माया ५ कान्तिः ६ कृपा ७ मतिः ८ सिद्धिः ९ वृद्धिः १० शुचिता ११ रुचिः १२ श्रद्धा १३ मर्यादा १४ कीर्त्तिः १५ महतिः महत्त्वं १६—एते पदार्थाः द्वारकाया-मवस्थिताः ।

२७७—संसारसुप्रभुणा परमेश्वरेण गृहसंग्रहं अर्थाद् द्वारकां कुर्वता रचितवता एताः पंचापि ज्ञानस्य विद्रुतायाः चंडालय इव अस्पृश्या इव कृत्वा मुक्ताः दूरीकृताः अतो यत्र ज्ञानं तत्रैतासां दूरीभावः एव वरं । ता आह—मदिरापानं १ **रीस** इत्यसूया २ हिंसा जीववधः ३ निंदामतिः परापवादजल्पनं ४ एताश्चतस्रः पंचमी गालिः विरुद्धशंसनं ५ । अतो द्वारकाया-मेतासां न स्थितिरित्यभिप्रायः । तत्र तु ज्ञानवत्त्वमेव प्रसिद्धम् ।

२७८—अथ श्रीकृष्णस्तुतिरूपा वेलिसंज्ञा कीर्त्तितः सा पठनीयेति । तस्याः वल्ल्याः वर्णने कवेर्गर्वो न चिन्त्यः इति तदाह । पुनः कविः परोपदेशमुद्दिश्य स्वात्मानं शिक्षयति—रे **प्राणिया** हे ममात्मन्, यदि त्वमेवं वाञ्छसि तदा त्वमिमां वल्लीं पठ इति मुखे कुरु । एवमिति किम् । प्राक् हरिस्मरणं १, हरिणनयनायाः मृगाक्ष्याः क्रीडारसावगमनं २, रणक्षेत्र-माश्रित्य खड्गेन खलानां वैरिणां खंडनं निर्वापणं ३, पुनः परसभायां राजसंसदि तथा गुरुजनसमुदाये वा स्थित्वा जल्पितुं ४, वाञ्छसि इति तत्त्वार्थः ।

२७९—पुनर्पुनर्वल्ल्या: स्मारणमिति दर्शयन्नाह—वल्लीं जपत: स्मरतो नरस्य अथवा यदा त्वं वल्लीं स्मरे: जपेस्तदा तुभ्यमेतेविधय: पदार्था: संभवन्ति । तदाह । कण्ठे सरस्वती, गृहे लक्ष्मी:, मुखे शोभा लोकवशीकरणं, भाविन्या: भविष्यन्त्या: मुक्तें: त्वत्करे भुक्ति: परिभोग:, **उवरि** अभ्यन्तरे ज्ञानं, आत्मनि हरिभक्ति: इति तात्पर्य्यम् ।

२८०—य: कश्चिज्जन: षण्मासावधि मह्यां पृथिव्यां सुप्त्वा भूमिशयनं कृत्वा पुन: प्रातर्जले तीर्थस्थाने मज्जनं कृत्वा स्नानं विधाय स्पर्शे जितेन्द्रियो अत: आत्मना स्वयमेकक: सन्नेकान्ते मौनावलम्बी इति यावत् अत्र जगति तत्कृत्यप्रभावत: स्त्रीवाञ्छक: पुरुषो यादृशीं स्त्रीमवाप्नोति स एव वल्लीं नित्यं वारं वारं पठन् तदेव फलमवाप्नोति इत्यलं प्रयासेन ।

२८१—अहर्निशं दिवारात्रौ आत्मनि आत्मनि दंपत्यो: परस्परं रुक्मिणीकृष्णयो: सदृशी रति: सुखाप्ति: संपद्यते । तत्कथम् । वल्लीं जपन्ती स्मरन्ती कन्या कुमारी वाञ्छितं वरं लभते परिणीता स्त्री पते: स्वामिन: सौभाग्यं मान्यतां पुन: पुत्रमपि लभते यत: स्त्री सद्भाग्या सौभाग्यवती पुत्रवती कथ्यते ।

२८२—रुक्मिणीहरिस्तुतिरूपां वल्लीं नित्यं पठतां जपतां जनानामेव परिवारो गोत्रसमुदायोऽस्मिन् जगति वर्ण्यो वर्द्धते दिने दिने सर्वाङ्गै: । कै: कैरित्याह—पुत्रै: पौत्रै: प्रतिपौत्रै: पुन: **साहणै:** गजाश्वरथरूपैर्भाण्डागारै: कोशै: इयन्मात्रं तेषां शाखा: वर्द्धन्ते । का इव । वर्षासु वल्लय इव यथा वल्लय: दिनेदिने पंचांगै: अंकुरेभ्य: समारभ्य पत्रपुष्पफलादिभिर्नित्यं दिनेदिनेऽधिकं वृद्धिं यान्ति इति तत्त्वार्थ: ।

२८३—पुनः समयं प्रेक्ष्य एकः कश्चिद् एकमन्यं कंचित् कथयति। किमित्याह—तत्रैकस्मिन् **वगि** इति पक्षे गृहे विमलानि मंगलानि कुर्विति प्रेरणेन एतानि आचरतां कुर्वतां जनानां किं शुभं कर्म भाग्यं भवेत् तत्कर्म वल्लीं जपतां जनानां जगति एवं भवति इत्ययमेव पाठो मुख्यमंगलमेव इति चिन्त्यम्।

२८४—आयुर्वेदे प्रणीता उक्ता चिकित्सा दोषप्रतीकारश्चतुर्विधा वर्तते या चिकित्सा शस्त्राणि लौहकर्माणि औषधानि क्वाथचूर्णादीनि मंत्राणि तंत्राणि **सुवइ** इति सूते जनयति अर्थात् दोषदूरीकरणाय प्रकटयति। केषां—कायाकृते शरीर-सज्जीकारे उपचारं कुर्वतां वैद्यानां इत्यन्वय-योजनं तैश्चतुर्विधप्रकारैः सुखमुत्पद्यते तत्सुखं वल्लीं जपतां त्वरित-मुत्पद्यते।

२८५—आधिभूतिकं स्यादाधिर्मानसीऽन्यथा शोकादि ततो जातम् १ आधिदैवं भूतोन्मादादिकं २ अध्यात्मकं पूर्वकर्मार्जितं ३ तापत्रयं, तथा पिंडे शरीरे दोषत्रयं प्रभवति जायते कफ-वातपित्तलक्षणं सर्वे रोगा न भवन्ति ये पुरुषाः नित्यं वल्लीं स्मरन्ति तेषां शश्वन्नीरोगता इति भाव्यं श्रीभगवत्कृपातः।

२८६—मनसः शुद्धभावेन रुक्मिणीमंगलं अर्थाद् वल्लीसंज्ञकां स्तुतिं जपतां जनानां निधयो नवनिधानानि, संपत् संपदा स्वर्णरौप्यरत्नवाहनादिलक्षणा, कुशलं कल्याणं च सदा संभवन्ति सम्पद्यन्ते तथा चैतानि नाशयन्ति तद्गृहं मुक्त्वा दूरं पलायन्ति। कानिकानीति आह—दुर्दिनं दुरक (? दुःख) दिवसं, दुर्ग्रहं ग्रहगणितगोचरे ग्रहाणां वैषम्यं, अथ च दुःसहा दुरन्ता दुर्दशा जन्मपत्र्यां रविराहुशनिभौमानां वर्षदशाः, तथा दुर्जनाः पैशुन्यकारकाः, पुनः पापकर्मणि मतिर्बुद्धिप्रसरः, एतानि वस्तूनि इति ज्ञेयम्।

२८७—अणिबलं, मंत्रबलं, तंत्रबलम्, यंत्रबलं तत्कृतानि अमङ्ग-
लानि अशुभकारीणि कर्म्माण्यादीनि न प्रभवन्ति न लगंति
कृतान्यपि विफलीभवन्ति। जले स्थले नभसि अवकाश-
स्थाने किमपि छलं छद्म देवदेव्यादिकृतं न भवति अथवा
डाकिनीशाकिनीभूतप्रेतानां भीतयोऽपि न प्रादुर्भवन्ति
नाऽभव्यं कर्त्तुं शक्यन्ते। पुनरुपद्रवाः द्विपदचतुष्पदकृता
विलायन्ते। किं कुर्वतां। वल्लीं भणतां नृणां इति
सर्वत्र योज्यम्।

२८८—सान्यासिकैर्दशनामधारिभिः, योगिभिः पृथक्पृथगासन-
धारिभिः, तपस्विभिर्येत्यादिभिः, तपसि तपोऽर्थं एतावन्तो
हठाद्गृहस्थाश्रमं परित्यज्य देशान्तरभ्रमण-गिरिकन्दरादिवास-
रूपाः अथ च निग्रहाः स्वात्मनो दुष्दुःखोपाया अधोमुखतया
अग्निसंयोगादिलक्षणाः किं कृताः यदा पारं स्थिताः
आसन्नभवकाः सन्तः यतो दूरभविनां वल्लीपाठोऽपि न
स्यादिति। वल्लीं पठन्त एव संसारसागरस्य पारमुत्तरन्ति
स्तोकायासेन वैकुंठं लभन्ते इति भावः।

२८९—अधुना स्वं मनः शिक्षयति—रे मम मनस्, त्वं कृपणान्
वांछितवस्तुदातुमसमर्थान् किं **कलपिसि** किं याचसे
यतः कृष्णरुक्मिणी-स्तुतिरूपं मंगलं अर्थाद् इमां वल्लीं
कंठे कुरु पठ इति शिक्षा। तेन योगेन आत्मध्यानरूपेण
किम्, जपेन मौनवृत्त्या जपमालया स्मरणेन किम्, तपसा
व्रतादिकरणेन किम्, तीर्थगमनेन किम्, दानतर्कणेन (?)
इति बाढं त्यागेन किम्, वर्णानां आश्रमैः ब्रह्मचर्यदीक्षा-
द्युपायैरपि किम्। सर्वाण्यपि श्रमकारीणि अत्र सर्वत्र।
किम् अव्ययः कुत्सिद्वाची। हरिचरणस्मरणमात्र-
मेव वरं अत्र कवेः स्वकृतिसंबंधिगर्वो नो गण्यः

श्रीकृष्णनामस्तुत्यंगीकारशिक्षावचसो दोषाभावः ।

२८०—वल्ल्याः सह सुरसरितो गंगायाः **समसरि** इति सादृश्यं अहं कथं आनयामि । अथ द्वयोर् लक्षणानि—द्वे अपि हरिहरौ भजतः वल्ली तु हरिभक्तिवाचका सुरसरित् शंभुमस्तकान्तः स्थिता तेन हरिभजनं मोक्षदायी इत्यतः इयमेवाधिका । गंगा तु सर्वेषां मान्यमपि पुनर् अतारकं तरीतुमशक्यं **बुडयति**, वल्ली तु अतारकं मुग्धमपि भक्तिमत्तया भवसागरं तारयति इति इयमेवाधिका। पुनर्भागीरथी एकदेशवाहिनी पूर्वसागरगामिन्येव, वल्ली तु सर्वासु दिक्षु प्रसृता अतः मा इत्यव्ययो निषेधवाची अपि तु नानयामि इति तत्त्वार्थः ।

२९१—अथाऽस्य ग्रंथस्य वल्लीस्वरूपमुद्दिश्य वर्णयति—इयं नाम्ना वल्लीति तत्र भागवतोक्तलक्षणं सुबीजं वापितं, मह्यां पृथिव्यां आलवालं पृथिवीराजमुखं, गानसमये तालो मूलरूपः, अर्थाः जटाः पृथग्भूताः, सुस्थिरकर्णरूपे मंडपे चटिता छायारूपं श्रुतिसुखम् ।

२९२—लघुपत्राणि अक्षररूपाणि, द्वालकरूपाणि दलानि वृद्धपर्णानि, ख्यातिर्यशः कृष्णसंबंधि तदेव परिमलं वासः, अस्यां नवरसपोषणं तंतुविधिः, अस्याः वृद्धिरहर्निशं दिवारात्रौ श्रवणेन पठनेन चेति, रसिकाः नराः मधुकराः इव, मंजरीरूपा हरिभक्तिः, फुल्लरूपं मुक्तिप्रापणं, फलं तु तत्र वैकुण्ठे अनन्त-सुखानुभवनं । इति सर्वमपि वल्लीसाम्यम् ।

२९३—पुनराधिक्यं वर्णयति—कलौ युगे पृथ्वीराजकविमुखकमले अक्षरावली वर्णपंक्तिस्तस्याः मिषेण व्याजेन पृथिव्यां एकत्र स्थाने भूत्वा चत्वारः पदार्थाः प्रकटिताः । तत्सर्वमपि

असंभावनीयं आश्चर्यवचनं विचार्य। ते के। कल्पलता कल्पवृक्षः १, कामधेनुः २, चिन्तामणिः ३, सोमवल्ली वांछितप्रदा वल्लीविशेषा ४, चत्वारोऽपि पदार्थाः वाञ्छितप्रदाः सत्ययुगयोग्याः इत्यस्याः वल्ल्याः सेवनस्य बहु माहात्म्यं प्रकाशितम्।

२९४—इयं वल्ली किमिति, पंचविधागमानां शास्त्राणां रसनिर्गमाय प्रसिद्धा प्रकटा अखिला अखंडा प्रणालीव। अथवा किमिति, मुक्तिं प्रति चटनाय आमिता दीर्घा पृथ्व्यां मंडिता **निसर-णीव**। अथो किमिति स्वर्गलोकारोहणकृते सोपान-पंक्तिरिव '**पावडियालु**' लोकप्रसिद्धम्।

२९५—मौक्तिकानां व्यवसाये व्यापारे एकतः एकमनुपमं दृष्ट्वा को मोक्तुं किंचिदपि त्यक्तुं प्रभुः क्षमः स्यात्, सर्वाण्यपि गृह्णाति तथा मम वचनानां कणरूपाणां किल इति सत्ये तेषां शोधनं ममैव मुखं न्याय्यं परमन्यसुकवयः कुकवयश्च शोधनकृते न चालिनीरूपा न शूर्प्परूपा तेनाऽत्र ग्राह्याग्राह्यत्वं नास्ति सर्वाणि वचांसि शोधितान्येव इति सगर्ववाक्यम्।

२९६—पिंडे शरीरे नखात्प्रारभ्य शिखां यावत् तेन आद्यन्तं यावत् भूषणैराभरणैरथाक्षररूपभूषणैः परिदधती सती **मह्यां** पृथिव्यां मम वाणी वाक् वेलिमयी वल्लीरूपा **असइ** असती इव कुलटेव जगतः संसारवासिजनस्य सर्वस्य गले कंठे लग्ना सती नित्यमहर्निशं स्थितवत्यास्ते परं दूषणानि कलंकान् न सहते आत्मनि दोषं नानयति। केव। सतीव यथा सती स्त्री दोषं नानयति ततः सर्वत्र प्रीतिपरा परं नो व्यभिचारपरा इति तत्त्वार्थः।

२९७—क्वचित् प्राकृतभाषया भणतः क्वचित् संस्कृतभाषया पठतो जनस्य मम भारत्यां वाण्यां इदं मर्म ऐषा रीतिः अवधार्यम्।

किमिति। रसदायिनीं सुन्दरीं रमयतां जनानां शय्यान्तरे सुखशय्योपरि अथ भूम्यां वा स्रस्तरेऽपि सदृशं सुखं स्यात्। अतो मम वाणी प्राकृतभणतैा संस्कृतभणतैा सदृशं रसं ददाति परं तत्र सुखासुखत्ववितर्कणं न चिन्त्यमिति तत्त्वार्थः।

२९८—हे रसिकाः, यदि यूयं वल्ल्याः विवरणं आमूलमूलाद् अर्थं वाञ्छयथ तदा कर्णं ममोक्तां कथां वाचं कुरुत। पूर्णैः सुबुद्धिभिस्तमर्थं पूर्णं प्राप्स्यथ पुनः ओछैः तुच्छमतिकैस्तमर्थं न्यूनं किञ्चित्सत्यं किचिदसत्यं प्राप्स्यथ इति साशंकं शिक्षावचः।

२९९—तदास्याः अर्थलब्ध्यै के के पृष्टव्याः इति शंकानिराकरणाय वक्ति—एतान् सर्वान् एकत्र कृत्वा संमील्य विचारपूर्वकं त्वमर्थं कथय इति विधिः। ते के। ज्योतिषिकाः गणकाः, वैद्याः चिकित्सकाः, पौराणिकाः पुराणवाचकाः, योगिनो योगाभ्यासपराः, संगीतिनो नाट्यशास्त्रज्ञाः, तार्किकाः प्रामाणिकाः, चारणाः, भट्टाः, सुकवयः पृथक् जातीयाः, भाषाचतुरा नानादेशभाषाज्ञातारस्तानिति योज्यं। एतेषां शास्त्राणां किंचित् किंचिद् रहस्यं अस्यां समागतं कुत्रचित्-कुत्रचिन् निवेदितं। तेनैकशास्त्राभ्यासी अस्याः अर्थकथने मुह्यतीति रहस्यम्।

३००—पुनर्ममायं ग्रंथो ग्राह्यः इति दर्शयन्नाह—ममाचरणां गुणस्य इति मर्म इदं रहस्यं यतोऽयं गुणः मुखमुखात् नवनवजन-मुखात् श्रुतमात्रो गृहीतः गिलित्वा पुनर्ग्रंथग्रथनरीत्या उद्गालितः पश्चान् निष्कासितः। अतो महतां पूज्यानां प्रसादो भुक्तशेषः भक्तिपरायणानां ग्राह्य एव। परमात्मनो

भुक्तशेषं समुच्छिष्टं मत्वा कोऽप्यधमो मूर्खः न ग्राह्यमिति कथयति तेनाऽत्र विषये शंका न कार्या इति बोद्धव्यम् ।

३० —अथ ग्रंथस्यान्ते स्वगर्वं परिहृत्य पंडितेभ्यो विज्ञापयति—हे पंडिताः, ममैषा विज्ञप्तिरेका तस्याः **मोख इति** भाषया विधिरिति तथा मोक्षः कथनमवधार्य इत्यध्याहारः । अस्माकं वचनानि सदोषानि लग्नदूषणानि विशुद्ध्यर्थं भवतां श्रवणरूपेषु कर्णलक्षणतीर्थेषु समागतानि । तीर्थे गमनं दोषनिवृत्त्यर्थं इति प्रसिद्धम् । अतो भवद्भिर्मम वचनानि श्रुत्वा तेषां दोषो दूरीकार्य इति विज्ञप्तिः । तदा निर्भावनया तीर्थगमने का फलाप्तिरिति शंकां निवारयति । कीदृशानि मम वचनानि । हरेः कृष्णस्य रसः तद्रूपं साहसं बलं अंगीकृत्वा चलितानि यदुक्तम्—हरि-भक्ति प्रसंगात् सपापा अपि निस्तरन्ति—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयाऽपि लोकानां स्पृष्टो दहति पावकः ।।

३०२—अथ..............यदुक्तमसमंजसं तदेदृशी कवेर्बहुतरं वक्तुं प्रवृत्तिरिति शंकितानां भ्रमं निवारयति—

रहसि एकान्ते रुक्मिण्या सह रममाणस्य जगदीश्वरस्य मयाऽयं रसो दृष्टमात्र इव निवेदितो जल्पितः । तन्मध्ये मिथ्यावचनं नाऽवगन्तव्यं सर्वं सत्यमेव चिन्त्यम् । तत्कथमित्याह—रुक्मिणीसहचरी पार्श्वस्थायिनी **सरसइ** इति सरस्वती तया मह्यं निवेदितानि गुह्यप्रकटमिव प्रकाशितानि मां स्वकीयं जनं मत्वा मदुपरि कृपापरयेति । तन्मुखान्मया श्रुत्वा तथैव कथितानि ग्रंथे क्षिप्तानि इति निर्दोषता यदुक्तम्—

सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मात् निश्चलभावेन पूजनीया सरस्वती ॥

३०३—अथ च ग्रंथप्रान्ते विशेषेण स्वमशक्यत्वं प्रतिपादयति—हे केशव हे स्वामिन्, त्वदीयानि कर्माणि करणीयानि विविधानि इति, पुनस् तव स्त्रियोऽपि कर्माणि कथयितुं वर्णयितुं कः शक्नोति कः समर्थो न कोऽपीत्यर्थः । ततो युवयोर्गुणस्तुतौ यद् भव्यं स तु भारत्याः शारदायाः प्रसादः कृपा, यत् किंचिद् अभव्यं अयुक्ततयोक्तं स तु ममैव भ्रमो मतिभ्रान्ति-मौर्ख्यं इति यावत् । परं च गुणेषु नाऽशुद्धता ।

३०४—अथ ग्रन्थान्ते मंगलार्थं स्वामिस्वामिन्योर्नामग्रहणम्—रुक्मिण्याः रूपं लक्षणानि गुणांश्च वक्तुं स्तोतुं कः समर्थ-तरोऽस्ति न कोऽपि परं मया स्वमत्यनुसारतः यादृशाः ज्ञाताः गोविन्दस्य राज्ञी तस्याः गुणाः तादृशा अत्र ग्रन्थे कथिताः निबद्धा जल्पिता इति यावत् । तेन मुग्धस्यापि ममोपरि कृपा कर्त्तव्या इति यदुक्तम्—

दूहा—वेंण विसम्मां केसवां के अपरम्म परम्म ।
घाट न जोवइ जग घडन जोवइ प्रेम परम्म ॥

तदा हरेर् येन तेन प्रकारेण नामग्रहणमेव वरम् । तथा हि—

जितं तेन जितं तेन जितं तेनेति निश्चितम् ।
जिह्वाग्रे वसति यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

इति श्रीकृष्णरुक्मिणीवेलिः पृथ्वीराजकृता समाप्ता ।

३०५—तत्र कदाऽयं ग्रंथः संजातस्तत् कथयति, द्वालकः—**वरसीति**।
इति सुगमम्।

इति संपूर्णायमस्याः टीका सुबोधमंजरी नाम्नी।
श्रीरस्तु। कल्याणं भूयाल्लेखकपाठकयोः॥
अथ च टीकायाः प्रशस्तिरवधार्या—

श्रीराठोड-कुलावतंस-विलसन्कीर्त्तिर्महादानकृत् कल्या-
णाभिधभूपतिः समभवत् श्रीविक्रमाख्ये पुरे
तत्सूनुर्गुणिनां वरो ननु पृथीराजो महीमण्डले
विख्यातः सुरसद्गुरूपममतिर्नीत्यां कविः सत्कविः

लक्ष्मीनाथक-भक्तितत्परतया कृत्वा गुणोत्कीर्त्तनम्
वल्लीसंज्ञमिदं स्वपातक-चयं हत्वा फलं जन्मनः
प्राप्तं येन सुतीर्थवन्मधुपुरि प्रान्ते पदं मौक्तिकम्
लब्धं तस्य कृते कृता च मयका टीका सुबोधाभिधा

श्रीमद्विक्रमराजतो वसुमुनि क्रौंचारितुंडावनी—
संख्ये संवतितुर्यमास्यधिकतां प्राप्ते सिते पक्षके
प्राक् तिथ्या मुशनोह्नि पाल्हणपुरे पेरोजनाम्ना नृपे
राज्यं शासति पद्मसुन्दरगुरोः शिष्येण टीका कृता

सारंगाभिधवाचकेन सुतरां शिक्षावचश्चातुरी-
मंगीकृत्य सुशिष्यवर्गकथनं श्रुत्वा तथेतिकृतं (?)
अस्मिन्न्यद्वितथं वचो विवरणे संशोध्य शुद्धाशयै-
स्तत्सत्यं क्रियतां ममाञ्जलिमिमां दृष्ट्वासुहृद्भर्थितैः (?)

(इति चतुर्भिः संबंधः)

श्रुती न कर्त्तुर्मुखतो कदाचिल्
लोकोक्तपाठेपि न भाति तादृक्
श्रुताश्रुतोऽयं रचितो मयार्थो
विशोधनीयो विबुधैर्वरेण्यै:

सुबोधमंजरी नाम्ना टीकोपकृतिकारणम्
गुणिनामर्थवत्येषां चिरं नन्द्यात्सुसौख्यदा

इति सुबोधमञ्जरी टीका संपूर्णं (संपूर्णा) कृता वांचक सारंगेण ।

[संवत् १६८३ श्रीवैशाखमासे कृष्णात्रयोदश्यां लिखितं सम्पूर्णम्]

शुद्धि-पत्र

हमारे सावधानतापूर्वक प्रूफ़ देखने पर भी हिन्दी प्रेस वालों का डिंगल भाषा और शब्दों की विशेषताओं से अपरिचय होने के कारण ग्रंथ में स्थान स्थान पर कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। उनका संशोधन निम्नलिखित शुद्धिपत्रद्वारा किया गया है।

कुछ साधारण भूलें ऐसी भी रह गई हैं जिनको इस शुद्धिपत्र में देना उचित नहीं समझा गया। उन्हें पाठक स्वयं सुधार कर पढ़ने की कृपा करें। वे साधारण भूलें ये हैं—

(क) डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में मराठी, गुजराती आदि की भाँति मूर्धन्य लकार—'ळ' (ल़) भी होता है। उत्तर भारत में हिन्दी प्रेसों में 'ळ' टाइप का प्रचार नहीं होने से अनेक स्थलों पर 'ळ' के स्थान में 'ल' छप गया है।

(ख) डिंगल और राजस्थानी भाषाओं में प्राचीन हिन्दी की तरह लिखित मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' होता है, यथा 'रुषमिणी' और 'षुधा' का उच्चारण 'रुखमिणी' और 'खुधा' होगा। हमने उच्चारण का अनुकरण कर ख ही रखा है, पर कहीं कहीं ष भी रह गया है।

(ग) भूमिका लिखते समय लेखक के सामने डा० टैसीटरी का छपा हुआ संस्करण था। अतएव प्रासंगिक उदाहरणों का पाठ उसी प्रति के अनुसार भूमिका में दे दिया गया है। पाठक वर्तमान संस्करण के मूल पाठ से मिला कर उस पाठ को शुद्ध कर लें।

सम्पादक

———

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	
६	१६	मिसर	मिश्रण
१२	२	राजा	राजाओं
,,	८	नहा,	नहीं,
१३	१	रुकमणी रा	रुकमणी री
,,	३	मिसर	मिश्रण
१४	२२	"पंजराज"	"पंचराज"
१६	१६	–in nay,	–nay, in
१७	१३	अदृश्य, ओजगुण	अदृश्य ओजगुण,
१८	११	बड़ा	बड़ी
,,	२५	"इस बात	इस बात
१६	१	अति	प्रति
२०	१६	पीवल	पीथल्
२२	१६	भक्ति-स्रात	भक्ति-स्रोत
२३	५	कृष्णदास, पयाहारी	कृष्णदास पयाहारी
,,	६	चित- स्वामी	छीत- स्वामी
२६	१३	दासों	रसों
,,	२२	चाहिए	चाहिए ।
३०	६	मिल	मिला
३१	१६	ग्रम	भ्रम
३५	१	कुटुम्ब की	कुटुम्ब के
३६	२२	नाश और समृद्धि	समृद्धि और नाश
४२	१४	अंवर	अवर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	२३	घरम	धरम
४५	४	सौख्य- समृद्धि	सौख्य- समृद्ध
,,	१४	वौलहर	धौलहर
,,	१६	बहलो	वालो
,,	२४	१६ सवारी के अभ्यास वाला	१६ प्यारा
४६	४	घड़ो घड़ी	घड़ी घड़ी
,,	६	राखत णौ	राख तणौ
४७	६	"पाचवाँ वेद"	"पाँचमो वेद"
४८	६	होने का	होने में
४६	१	चरण	चारण
५०	१४	जिसने	जिसमें
,,	१६	करता है।	किया गया है।
५१	१५	सं० १ × ७८ की	सं० १६७८ की
५३	१५	करके	करवा के
५६	१५	पञ्चसर	पंचशर
,,	,,	सरों	शरों
५८	१७	हेकार	होकर
६१	२०	तिण ताणौ	तिणि तणौ
६३	२१	बालकति किरि	बालकति करि
६६	१७	हिन्दी के श्रेष्ठ	डिंगल के श्रेष्ठ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६८	१९	हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ	डिंगल के सर्वश्रेष्ठ
७०	२१	अस्पष्ट	अस्पृष्ट
७७	१५	वरसति	वरजित
७८	१९	एवं	वरन्
८३	२४	भाव विभावादि	भावादि
८७	२५	रसस्योपि-निषत्परा	रसस्यो-पनिषत्परा
८८	२	दो हलों	दोहलों
,,	२०	जिसमें	जिनमें
९१	५	पड़े।	पड़ते।
९३	१४	उपमायें	उपमाओं
,,	१७	प्रर्याप्त	पर्याप्त
,,	२०	रीत-क्रीड़ा	रति-क्रीड़ा
९४	,,	काव्यगुण-सम्पादित	काव्यगुण-सम्पन्न
९५	१३	वे	ये
९६	७	एव	एवं
,,	१३	रुक्मिणी-पुत्र	रुक्मिणी, पुत्र
९७	६	उनकी	उसकी
९९	१-३	पहिली तीन पंक्तियाँ पृष्ठ ९७ की पहली तीन पंक्तियों से दुहरा दी गई हैं। अतएव अनावश्यक हैं।	
१०२	२	पद	पथ
१०३	८	लौलिक	लौकिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०५	१८	समाहार	उपसंहार
,,	२०	कुछ के	कुछ एक
१०७	२०	"अलंकृतम् असंक्षिप्तम्"	"अलं-कृतम्"
१०८	११	रसशङ्कर	रससङ्कर
१११	११	०, इ (३)	०, इ, ए
,,	१३	ए (८१, १६१)	ऐ (८१), ए (१६१),
,,	१७-१८	हूंती (९३) हूंतो (९१), प्रति (९)	हूंती (९३, ९१), हूंतो, प्रति (९)
,,	१९	०, रो (२३, ७८)	०, रा (२३),
,,	२०	तण (१३२)	तणु (१३२)
,,	२२	इ (५, ६),	इ (५)
,,	,,	मै (१३), महि	, माहि
११२	१७-१८	टिप्पणी (९) को शुद्ध रूप में इस प्रकार पढ़िए :—इकारान्त व ईकारान्त शब्द के आगे बहुवचन में याँ या इयाँ जोड़ देते हैं।	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	१९-२०	टिप्पणी (१०) को शुद्ध रूप में इस प्रकार पढ़िए:— उकारान्त व ऊकारान्त शब्दों का... ...उनके आगे वाँ या उवाँ या उआँ जोड़ देते हैं।	
,,	२४	ओ या एकारान्त	एकारान्त
११९	५	'मछ'	'मंछ'
१२१	२१	शब्दानुप्रास	आद्यानुप्रास
१२३	४	वणय-सगाई	वयण-सगाई
,,	१८	स्रीपति	स्रीपति
१२५	१	सर्वनाम अव्यय	सम्बन्ध-बोधक अव्यय
,,	१४	नीकुटेओ	निकुटीए
१२६	१०	प्रर्याप्तरूप में शब्दानुप्रास	पर्याप्तरूप में अनुप्रास
,,	१६	तिरय उरय	तिरप उरप
,,	१८	दरयक कन्दरय	दरपक कन्दरप
१२७	४	"अनलङ्-कृतिः	"अनलङ्-कृती
,,	१७	बिन ठौर ॥	बिन ठौरै ॥
१२७	२०	अपस ७ अमूभ्यौ	अपस ७ अमूझ्यौ
१२८	१३	न हो। रामचन्द्र,	न हो तो रामचन्द्र,
१२९	१५	कठ अर्थात् शब्दानुप्रास	कठ अर्थात् अनुप्रास
,,	२१	शब्दानुप्रास	अनुप्रास
,,	२३	शब्दानुप्रासहीन ॥	अनुप्रास-हीन ॥
,,	२५	शब्दानुप्रासयु ॥	अनुप्रास-युक्त ॥
१३१	५	श्रीजयमाल-सिंहजी	श्रीजगमाल सिंहजी
१३४	४	आदर करे जु	आदर करै जु
,,	१३	वाउवा	वाउवौ
,,	२५	किसो वस	किसौ वस
१३५	२	बि बि जीहे]	त्रि बि जीह]
१३९	२१	जागृति यौवन	जागृति,— यौवन
१४२	२३	दखिण दिसित णौ	दखिण दिसि तणौ
१४३	२१	[दो सु किरि	[दोर सु किरि
१४६	११	का प्राप्ति	की प्राप्ति
१६०	१७	चत्रभुजा	चत्रभुज
,,	२१	,,	,,

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६२	२	शारङ्ग, धनुष	शारङ्ग धनुष
१७०	८	के काट]	बे काट]
१७१	५	बाकिये हैं,	बाँकिये हैं,
१७८	६	चन्द्राणणि	चंदाणणि
१७९	१३	सुन्दरी	सुन्दरि
१८०	१८	बाहर	वाहर
१८४	४	[सिहर सिहर सिलाऊ समखै]	[सिहरि सिहरि सिलाउ समरवै]
१८५	२२	(प्रहारत)	(प्रहार से)
१८७	५	छिछ	छिंछ
,,	१३	सिरा से)	सिरों से)
१८८	१४	खलाँ सिर	खलाँ सिरि
१८९	४	उछजतै	ऊछजतै
,,	१६	[राजकुमार रुक्मि]	(राजकुमार रुक्मि)
१९०	२०	कियउ]	किउ]
१९३	१४	अन्नथा करण	अन्नथा करणं
१९४	३	वह तै	वहतै
१९६	४	उछाह	ऊछाह
१९९	५	[वेदविद वेदेगत .... कहण लागा]	वेदविद वेदोगत धरम विचारि]
२००	१७	ससकार	सँसकार
२०१	८	मंगल करि गीत गावैं]	करि मंगल गीत गावैं]
२०३	८	प्रासाद श्रेष्ठ के	प्रासाद-श्रेष्ठ के
२०४	१६	तत्पर था	तत्पर थीं
२०८	१५	आपही किरायौ	आपही करायौ
२१४	३	किरीटा	किरीटी
,,	२०	(हुकूमत) न रहने से	(हुकूमत न रहने से)
२१६	७	जगति सिर	जगत सिरि
,,	१६	सरण लाधौ]	सरण लीधौ]
२२५	१३	पृथ्वी-रूपिणा	पृथ्वी-रूपिणी
,,	१७	प्रतात	प्रतीत
२२६	६	(जिससे)	जिससे
,,	२२	आधो फरै	आधोफरै
२२७	४	महलां में	महलों में
,,	१४	[मन्दिर सिखर	[मन्दिर सिखरि
२३१	३	[तिणि राति राति रति	[तिणि राति राति राति
२३२	१२	भगति]	भुगति]
२४४	१२	(दर्शकगण) हैं	दर्शकगण हैं
२५४	१८	कन्ता	कान्ता

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५८	५	प्रमित-वाली	प्रमिति-वाली
२५९	१७	कृपामति,	कृपा, मति,
२६१	३	पामै	प्रामै
,,	६	त्री वंछित वर]	त्री वंछित वर प्रामै]
२६२	५	[जब पुड़ि	[जग पुड़ि
२६३	३	त्रिविधि मै	त्रिविधमै
२६६	२२	चविध	पँचविध
२६८	६	असली	असती
२७३	७	पाठान्तरों को	पाठान्तरों का
२७९	२२	सं० सु-कामिणि।	सं० सु० कामिणि।
२८१	१७	सं० सुर।	ढूँ० सर।
२८२	१३	("सोई" के	("सोइ" के
२८४	१७	मा० सु० तिणि।	मा० सु-तिणि।
२८८	१७	सिद्धि	सिद्ध
,,	२२	मा० मिलि।	मा० मिलि
२९०	२३	करि ('वरि' के स्थान में)।	सु० करि ('वरि' के स्थान में)
२९१	१३	सं० कुचकी।	सु० कुंचकी।
२९२	६	टैसी० उरुस्थल	टैसी० ऊरुस्थल
२९३	४	मा० संजोईन।	मा० संजोईत।
,,	१६	ढूं० सं० संयेषीयइ।	ढूं० सं० संपेषीयइ।
२९४	१	सु० मा० सं० करे।	सु० ढूँ० सं० करे।
२९५	१९	टैसी० उद्गमते	टैसी० ऊद्गमते
२९७	१६	ढूँ० सं० बलभद्र	ढूँ० सं० बलभद्रि
२९९	१२	ढूँ० सं० कीयज	ढूँ० सं० कीयउ
३००	२	सार (दूसरा	सार (दूसरी
३०२	१७	मा० कवि	ढूँ० कवि
३०३	६	ढूँ० सु० आनन।	सं० सु० आनन।
३०७	७	मा० सं० होयइ	मा० सं० हीयइ
३०९	५	सं० थिया।	मा० सं० थिया।
,,	१०	सं० कम-कमो।	सु० कम-कमो।
३१०	१६	ढूँ० सं० पदमिनी।	मा० सं० पदमिनी।
३१२	२३	। स्वगलोक।	। टैसी० स्वगलोक।
३१३	२२	टैसी० रुकमणी।	टैसी० रुकमणि।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१४	११	टैसी० हुश्रौ।	टैसी० हुश्रै।
२१६	२१	("सु०" के स्थान में)	("सु" के स्थान में)
२१७	१०	सु० वंन्नर०।	सु० वंन्नरवाल्।
३२१	१०	परन्तु टाका में ऊपर दिया साधारण	परन्तु टीका में ऊपर (मूल में) दिया हुआ साधारण
,,	१३	साधारण	सु० में साधारण
३२३	५	टैसी० संजोगणि,	टैसी० सँजोग, संजोगणि,
,,	८	('सरस' के स्थान में)	(प्रथम 'सरस' के स्थान में
,,	६	('सरस' के स्थान में)	(द्वितीय 'सरस' के स्थान में)
३२५	२३	सं० सङ्ग्रह।	सं० संगृह।
३२६	२	ढूँ० मूंको।	ढूँ० मूँकी।
३२६	४	सं० तंति।	ढूँ० तंति।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३१	१३	('ताइ' के स्थान में)	(प्रथम 'ताइ' के स्थान में)
,,	२२	टैसी० स्री०	टैसी० स्री,
३४२	१५	पुनः समय	पुनः, समय
३४४	५	रामावतार	रामा अवतार
३४६	१६	डि० सुहिण,	डि० सुहिणो,
३५०	१२	वाचक-लुप्तोपमा	धर्म-लुप्तोपमा
३५१	१०	(सं० विकल)	[(१) सं० विकल (२) सं० विलक्ष]
३५२	१२	(२) छेका-नुप्रास और लाटानुप्रास	(२) लाटा-नुप्रास
३५६	२	ये सात	ये ऋषि सात
३५७	२५	ज्यों राजहाँ	ज्यों राजहीं
३५८	४	डिं० दिख-लाना,— देखाल्ना।	डिं० दिख ल़ावणो, —देखा-ल़णो।
३६३	२	मणिरा-गाकर-ज्ञान	मणिरागा-कर-ज्ञान गाकरज्ञान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६३	७	निमित्त =ज्ञान	निमित्त = ज्ञान
३६५	७	हरि, हर, हरि, हरि में—	हरि, हर, हर, हर में—
३६८	६	वहला वरि=	वाहला वरि=
३७०	१४	हिं० बाजैं = बजते हैं।	हिं० बाजैं, बाधैं = बजते हैं, बाँधे जाते हैं।
३७६	१६	सप्तम्यान्त।	सप्तम्यन्त।
३८४	१	इम (डिं०)	इमि (डिं०)
३८६	१६	(सप्तम्यान्त)	(सप्तम्यन्त)
,,	२४	सऊँ उजियारे।	सहुँ उजियारे।
३८७	७	अनुभवों से	अनुभावों से
३८८	६	मिथ्या अनुकरण के	इसके मिथ्या-अनुकरण के
३९२	४	का 'म्ह' ही गया है।	का 'म्ह' हो गया है।
,,	२३	हिन्दू= इतर	हिन्दू तथा इतर
३९३	१०	=(सं० हतः)	=(सं० हन्)
३९५	२४	"सवेला	"स वेला
३९६	२२	"वाहर चढ़ने"	"वाहर चढ़ने"
३९८	१	पंक्ति में हिन्दी	पंक्ति में। हिन्दी
,,	२१	(सं० आगमिष्यति)	(सं० आगमिष्यसि)
४०१	१०	इ = वड़ी (डिं०)	इवड़ी (डिं०)
४०८	१४	'देव = यात्रा'	'देव-यात्रा'
४०९	२२	हिमकर का मारी"	हिमकर की मारी"
४१०	१५	डिं० धूपड़े	डिं० धूपणो
४१४	२	'वालना'	'वालनो'
४१५	१०	= लिलाट	= ललाट
४१६	२२	द्वितीय पंत्ति।	द्वितीय पंक्ति।
४१८	१०	"कंठसिरी"	"कंठसरी"
,,	१८	,,	,,
४२८	२१	नाले वर्ण	नीले वर्ण
४३१	१०	लागि =	लाग =
,,	१८	(सं० सं० + प्रेक्ष्य)	(सं० सं + प्रेक्ष्य)
४४०	१३	'बहु-रूपिया',	'बहुरूप',
४४३	२३	उनका	उनकी
४४६	१	"सिहरि" डा०	"सिहरि" —डा०
४५६	४	ऊपरा भाग	ऊपरी भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६८	२	"चालिया चंद्राणखि	"चालिया चंदाणखि
४७३	४	मिथ्या = सादरय	मिथ्या-सादृश्य
४७५	४	लाटानुप्रास, यमक ।	वीप्सा
४७६	१४	पूर्व = सम्बन्ध	पूर्व-सम्बन्ध
४७७	१३	विवाह = वेदी	विवाह-वेदी
४८०	१८	भाँवरें देती हैं	भाँवरें देते हैं
४८६	६	प्रेम-प्रताक्षा	प्रेम-प्रतीक्षा
४९०	२१	पर्याय—	व्याघात—
४९३	२	पर्याय—	पर्यायोक्ति—
४९९	३	कलंकार	अलंकार
५००	७	भौंर का भीर	भौंर की भीर
५०१	३	खभ को	खम को
५०८	८	अष्टांग = योग	अष्टांग-योग
,,	२५	मिथ्या = प्रतीति	मिथ्या-प्रतीति
५१३	३	परिकर—	परिकरांकुर—
५२२	१३	"त्रिण्हैं"	"त्रिण्हे"
५२९	८	'भोगणो'	डिं० 'भीगणो'
५३९	३	कवियों ने	कवि ने

पृ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४०	१८	संकु न	संकुड़िणि
५४४	१८	कर देना	करने देना
५४७	६	इस दोहा में	इस दोहले में
५४९	२०	प्रा० थोअ (डिं०),	प्रा० थोअ,
५५०	१८	ढूँढाड़ी टीका	ढूँढाड़ी प्रति
५५७	२०	बधावे बाजित्र बावै ।" दोहा १४८	वधावे वाजित्र वावे ।" दो० १४८
५५९	१७	इस दोहे से	इस दोहले से आगे
५६२	१३	डिं० उदा० तड़ी तड़ी कर...... ...बपु ।	डिं० उदा० धड़ी धड़ी ......बप ।
५६८	१३	तियगयति	तियगपति
५७०	१५	मौरिक =	मौरित =
५७१	१६	नाटक होता है ।	नाटक होता था ।
५७५	७	टाल्लौ =	टाल्यौ =
५७७	११	वह रहे वह ।"	वह रहे रह ।"
५८१	१३	विभक्ति = चिन्ह	विभक्ति-चिह्न
५८२	३	(१) "ज - भिन्न"	(१) "जल्ल सभिन्न"
५८३	३	प्रेयसा	प्रेयसी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५८५	३	कुमार सम्भवः	(कुमार सम्भव)
५८८	२०	पाथरण	पाथरणि
५९७	१७	कुसुमेपु रनन्यजः ।	कुसुमेपु-रनन्यजः ।
५९८	१२	संग्रह देखो,	—संग्रह । देखो,
६००	१	ज्वरि (डिं०)	ज्वरि (डिं०)=
६०६	२०	फारसा में	फारसी में
,,	२२	"जोतिखी वेद	"ज्योतिपी वेद
६१६	१३	=(डिं० वाहना (क्रिया)	=(डिं० वाहणो (क्रिया)
६२१	१७	जो जन चार	जोजन चार
६२२	१	ऐसा	ऐसी
६२६	१३	बड़े आदमा	बड़े आदमी
६२९	१८	=रु-कमणी ।	=रु-क्मिणी ।